विष्णु-सहस्रनाम-स्तोत्रम्

(सत्यभाष्यार्यभाषानुवादसहितम्)

प्रथमो भागः

सत्यदेवो वासिष्ठः

दिल्ली-विश्वविद्यालयीय
संस्कृत-विभागाय
शोध-पत्रे समीक्षार्थं
प्रदीयते

सत्यदेवो वासिष्ठः
२०/४/७२ ई.

❀ ओ३म् ❀

महाभारतानुशासनपर्वान्तर्गतं (१४९ अ०)—

विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्

(सत्यभाष्यार्यभाषानुवादसहितम्)

प्रथमो भागः

भाष्यकर्ता—

श्री १०८ पं० सत्यदेवो वासिष्ठः साङ्गवेदवेदचतुष्टयी

भूतपूर्व-लवपुर-दिल्ली-भिवानीस्थ-सनातनधर्मायुर्वेद-महाविद्याल-
यीय-प्रधानाध्यापकः, गुरुकुलझज्जरस्थायुर्वेदविभागाध्यक्षश्च,
सामस्वरभास्करः, वेद-व्याकरण-निरुक्त-छन्दः-साहित्य-
ज्यौतिषायुर्वेदाद्यनेक- ——शास्त्र——पारावारीणः
सत्याग्रहनीतिकाव्यस्य नाडीतत्त्वदर्शनस्य
च प्रणेता

अनुवादकः—

श्री पं० मुन्शीरामः शास्त्री

प्रकाशकः—
श्री १०८ पण्डितसत्यदेवो वासिष्ठः
देवसदनम्, महंममार्ग, भिवानी
जि० हिसार (हरयाणा)।

मूल्यम् १२.५०
प्रथमं संस्करणम् १०००
२०२६ वैक्रमाब्दे
१९६९ खिस्ताब्दे

मुद्रकः—
वेदव्रतः शास्त्री विद्याभास्करः
आचार्य प्रिंटिंग प्रेस, दयानन्दमठ
गोहाना मार्ग, रोहतक (हरयाणा)
दूरभाष (टेलीफोन) ५७४

अवतरणिका

विष्णोर्नामसहस्रस्य वेदोक्तास्ति प्रहेलिका ।
यस्या जिज्ञासया सम्यक् प्रायतन्त महर्षिणः ।१।

नष्टे कालेन तज्ज्ञाने सा तथैव प्रहेलिका ।
नृणां ज्ञानविशुद्धानां पुरतो झिल्मिलायते ।२।

यत्र तत्र यथाज्ञानं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।
विग्रहीतुं यतन्ते तां गूढ़ामर्थप्रहेलिकाम् ।३।

ज्ञानचक्षुषाम् ।
ःक् तत्त्वात्त्विकं पदम् ।४।

स्तोत्रमन्वहम् ।
कालेनाभूत्तिरोहितः ।५।

ातेन यौवने ।
तरुज्ज्वलतां गता ।२६।

:णिका

रक विष्णु के जिन सहस्र नामों का संग्रह है वे
दृष्टि से प्रहेलिका (पहेली) बने हुये हैं । यद्यपि
ने का बहुत प्रयत्न किया और समझा भी ।१।
। लुप्त हो गया, इसलिये विद्वानों के सम्मुख वह
।

विद्वान् उस निगूढ नामार्थरूप प्रहेलिका को

रश्रम तथा नामार्थ के वास्तविक ज्ञान की प्रतीति

के मुख से इस स्तोत्र को प्रतिदिन सुनता था, उस
कार समय पाकर तिरोहित हो गया अर्थात् दब

हो जाने से, मेरी उस विषय की स्मृति, तपाई हुई
सुवर्ण की शलाका के समान पुनः उज्ज्वल हो गई ।६।

अवतरणिकाशुद्धिपत्रम्

पृष्ठ ५, श्लोक १७, पाद २—
संश्रवात् पठनेन वा

पृष्ठ ७, श्लोक २७, पाद २—
संस्तौम्यानृण्यलिप्सया

पृष्ठ ७, श्लोक ३०, पाद १—
निजात्मोत्थानमालक्ष्य

पृष्ठ ७, श्लोक ३२, पाद १—
विघ्नश्च भाष्यनिर्माणे

पृष्ठ ९, श्लोक ४१, पाद १—
शैवराणो मनुर्देवो

अवतरणिका

विष्णोर्नामसहस्रस्य वेदोक्तास्ति प्रहेलिका ।
यस्या जिज्ञासया सम्यक् प्रायतन्त महर्षिणः ।१।
नष्टे कालेन तज्ज्ञाने सा तथैव प्रहेलिका ।
नृणां ज्ञानविशुद्धानां पुरतो झिलमिलायते ।२।
यत्र तत्र यथाज्ञानं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।
विग्रहीतुं यतन्ते तां गूढ़ामर्थप्रहेलिकाम् ।३।
परिश्रममिमं तेषां दुष्करं ज्ञानचक्षुषाम् ।
सङ्ग्रहीता विजानाति कीदृक् तत्त्वात्त्विकं पदम् ।४।
बाल्ये पितृमुखादेतदश्रौषं स्तोत्रमन्वहम् ।
तदाविर्भूतसंस्कारः कालेनाभूत्तिरोहितः ।५।
ग्रस्तस्य कालवेगान्मे सन्निपातेन यौवने ।
तापिता हेमरेखेव स्मृतिरुज्ज्वलता गता ।२६।

अवतरणिका

विष्णुसहस्रनामस्तोत्र में, भगवान् सर्वव्यापक विष्णु के जिन सहस्र नामों का संग्रह है वे सब वेदोक्त होवे से वैदिक हैं और अर्थज्ञान की दृष्टि से प्रहेलिका (पहेली) बने हुये हैं। यद्यपि महर्षियों ने इनके अर्थ को समझने और समझाने का बहुत प्रयत्न किया और समझा भी ।१।

किन्तु काल के प्रभाव से उनका वह ज्ञान लुप्त हो गया, इसलिये विद्वानों के सम्मुख वह प्रहेलिका आज भी उसी रूप में विद्यमान है ।२।

इस समय में भी सात्त्विकज्ञाननिष्ठ विद्वान् उस निगूढ नामार्थरूप प्रहेलिका को सुलझाने के लिये अत्यन्त परिश्रमशील हैं ।३।

संग्रहकर्ता विद्वानों के संग्रह निमित्तक परिश्रम तथा नामार्थ के वास्तविक ज्ञान की प्रतीति संग्रहीता को ही होती है ।४।

मैं अपने बाल्यकाल में, पूज्य पिता जी के मुख से इस स्तोत्र को प्रतिदिन सुनता था, उस ही समय से उत्पन्न हुआ इस विषय का संस्कार समय पाकर तिरोहित हो गया अर्थात् दब गया ।५।

किन्तु यौवन अवस्था में सन्निपात रोग हो जाने से, मेरी उस विषय की स्मृति, तपाई हुई सुवर्ण की शलाका के समान पुनः उज्ज्वल हो गई ।६।

श्रद्धावर्धत मे नित्यं विष्णुस्तोत्रजपे ततः ।
अग्निवेशो ज्वरघ्नेषु चास्य योगमुपादिशत् ।७।

तथा च चरके—

*"विष्णुं सहस्रमूर्द्धानं चराचरपतिं विभुम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति" ॥*

वर्षाणि बहुलानि मे पठतो वैष्णवं स्तवम् ।
व्यतीतानि तदायम्मे दिव्यो भावः समुत्थितः ।८।
विष्णोर्नामसहस्रस्य कुर्यां भाष्यं सविस्तरम् ।
विष्णोर्वास्तविकाख्यानं वेदवाक्यसमर्थितम् ।९।
विष्णुः स्वयं मदन्तःस्थं बोधयन्नात्मनः पदम् ।
स्पष्टं प्रेरयामास भाष्यलेखनकर्मणे ।१०।
बलं बुद्धिं वयो वीर्यं धनं साधनसम्पदम् ।
प्रादान्मे भाष्यनिर्माणे निमित्तं केवलं त्वहम् ।११।
नाहमालोचनां कुर्वे पूर्वभाष्यकृतामिह ।
स्वभाष्यं प्रणिनीषामि तेषामेव प्रसादतः ।१२।

उस ही समय से फिर मेरी इस विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र के पाठ में श्रद्धा हुई, तथा विष्णु सहस्रनामस्तोत्र से ज्वरादि रोगों का नाश होता है, महर्षि अग्निवेश के इस वचन से और भी बल मिला ।७। जैसा की चरक में कहा गया है ।—

सहस्रशीर्षा चराचरपति सर्वव्यापक भगवान् विष्णु की सहस्रनाम स्तोत्र से स्तुति करता हुआ सब प्रकार के ज्वरों से छूट जाता है ।

इस विष्णुसहस्रनामस्तोत्र का पाठ करते हुये, बहुत वर्ष बीत जाने पर मेरे हृदय में यह दिव्य भाव उत्पन्न हुआ कि ।८।

मैं विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र का एक विस्तृत भाष्य बनाऊं जो वेद मन्त्रों से प्रमाणित तथा भगवान् के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादक होवे ।९।

तथा स्वयं भगवान् विष्णु ने मेरे हृदय में अपने वास्तविक ज्ञान का उद्बोधन करके मुझे भाष्य बनाने के लिये प्रेरित किया ।१०।

और उस ही ने मुझे भाष्य निर्माणार्थ बल बुद्धि आयु वीर्य आदि साधन सम्पत्ति प्रदान की, मैं तो केवल भाष्य के बनाने में निमित्त मात्र हूँ ।११।

मैंने मुझ से पूर्व भाष्यकारों की आलोचना नहीं की और न करना चाहता हूँ तथा मैं उन ही के अनुग्रह से भाष्य के प्रणयन में प्रवृत्त हुआ हूँ ।१२।

मनोबुद्धी समाहृत्य त्यक्त्वा सर्वंसुखस्पृहाः ।
आत्मनो हितमुद्दिश्य मया भाष्यं विनिर्मितम् ।१३।
त्रिदोषदोषमुग्धस्य यदज्ञातं भवेन्मम ।
तत्र मन्ये भवेद्दोषः स दोषो मन्निमित्तकः ।१४।
शम्भो ! समर्पये तुभ्यं भाष्यं यत्तव कीर्तनम् ।
एतेन नामयज्ञेन विघ्नान् सर्वान् परासुव ।१५।
अनेकविधविज्ञानं कणशः सञ्चितं मया ।
यत्तज्ज्ञेभ्योऽद्य पर्यन्तं भाष्ये पश्यन्तु तद्बुधाः ।१६।
वासिष्ठोपज्ञभाष्यस्य श्रवणेन पठनेन वा ।
स्मरणेनाथवैकोऽपि साक्षरो व्यक्षरोऽपि वा ।१७।
स्वान्तःसन्तोषमाप्नोति विष्णोर्गुणगणं स्मरन् ।
तदा मे सफलं सर्वं यत् सोढं व्ययितञ्च यत् ।१८।
संक्षिप्तो नामनिर्देशो भवत्येव निसर्गतः ।
व्याख्या सविस्तरा तस्य भवेदेव स्वभावतः ।१९।

तथा चोक्तं चरके—

मैंने सब ओर से मन और बुद्धि को समाहृत (आकृष्ट) करके तथा सुखभोग इच्छाओं को छोड़कर, केवल आत्महित के उद्देश्य से भाष्य का निर्माण किया है ।१३।

मनुष्य स्वभाव से ही वात कफ आदि दोषों से मुग्ध अर्थात् विक्षिप्त रहता है, इसलिये इस भाष्य में मेरे अज्ञान से कोई त्रुटि रह गई हो तो उस में मैं अपना ही दोष मानता हूँ ।१४।

हे शम्भो ! यह तेरा कीर्तनरूप भाष्य, मैं तेरे ही अर्पण करता हूं, इस नाम यज्ञ से प्रसन्न होकर तू मेरे विघ्नों का निराकरण कर दे ।१५।

जो अनेक प्रकार का विज्ञान उसके पृथक् पृथक् तत्त्ववेत्ताओं से मैंने कण कण करके एकत्र किया है, वह सकल समूहित विज्ञान विद्वान् पुरुष इस भाष्य में देखेंगे ।१६।

मेरे बनाये हुये इस भाष्य के श्रवण पठन या स्मरण से, कोई विद्वान् या मूर्ख एक भी ।१७।

अपने हृदय में भगवान् के गुणों को स्मरण करता हुआ सन्तुष्ट होता है तो मेरा सब प्रकार के दुःखों को सहन करके किया हुआ परिश्रम, इस में खर्च किया हुआ धन सब सफल हो जाता है ।१८।

यह स्वभाव से ही सिद्ध है कि, नाम का संक्षेप से निर्देश होता है, तथा उसकी व्याख्या विस्तृत होती है ।१९। जैसा कि चरक में कहा है—

"विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम् ।
संस्कर्ता कुरुते ग्रन्थं पुराणञ्च पुनर्णवम्" ॥

गद्योक्तो यः पुनः पद्यैरर्थः समनुगीयते ।
तद्व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तः स न गर्ह्यते ।२०।
'भवती'तिक्रियायुक्त'चात्रास्माकम्' पदेन तु ।
संकेत्य दर्शितः सारः पद्यैरेकादिसंख्यकैः ।२१।
मर्त्यो दोषमयो दोषान् नैकः स्वान् द्रष्टुमर्हति ।
तस्माद्विज्ञैरपेक्ष्यन्ते ज्ञानिनः स्वसहायकाः ।२२।
तालुग्रामस्य वास्तव्यो 'मुन्शीरामः' सुधीरयम् ।
भाष्ये सहायको मेऽभूच्चिरमव्यग्रमानसः ।२३।
विशोध्य संस्कृताशुद्धीस्तद्भावं चार्यभाषया ।
प्रकाशयन् यथाभावं साहाय्यमकरोन्मम ।२४।
सोऽयं साधुवादार्हः सुखं जीव्याच्छिवाशिषा ।
विघ्नबाधाविनिर्मुक्तो नामयज्ञपरायणः ।२५।
'रुद्रदेवस्त्रिपाठी' च मन्दसौरभवः सुधीः ।
साहाय्यमत्र भाष्ये मे प्रादाच्छोधनकर्मणि ।२६।

संक्षेप से कहे हुये का विस्तार तथा विस्तार से कहे हुए का संक्षेप करके संस्कर्ता पुराने ग्रन्थ को नवीन रूप दे देता है।

गद्योक्त भाव का ही जो पुनः पद्यों में निबन्धन किया जाता है, वह गद्योक्त अर्थ को स्पष्ट करने के लिये होता है। इसलिये वह गर्ह्य अर्थात् निन्दनीय नहीं होता ।२०।

भवति चात्रास्समाकम्, इस वाक्य से सङ्केत करके मैंने एक या यथापेक्ष दो तीन आदि पद्यों से स्पष्टीकरण किया है। २१।

मर्त्य (मनुष्य) स्वयं दोषरूप होता है, इसलिये वह अपने दोषों को स्वयं नहीं देख सकता अत एव वह विद्वानों से सहायता लेता है ।२२।

हिसार मण्डलान्तर्गत हांसी तहसील में स्थित 'तालु नामक' ग्राम का रहनेवाला मुंशीराम शास्त्री मेरा बहुत समय तक सहायक रहा ।२३।

जिसने व्याकरण की अशुद्धियों का शोधन करते हुये संस्कृत का हिन्दी में अनुवाद करके मेरी सहायता की ।२४।

इसलिये मैं इनको धन्यवाद के योग्य मानता हुआ, इनको भगवान् शिव के अनुग्रह से सुख पूर्वक जीने की कामना करता हूं ।२५।

तथा मन्दसौर (मध्यप्रदेश) के रहनेवाले श्री रुद्रदेव त्रिपाठी ने इस भाष्य का पुनः संशोधन करके मेरी बहुत बड़ी सहायता की है ।२६।

स्तुतिगर्भवचोभिस्तं स्तौम्यानृण्यलिप्सया ।
अन्यानपि यथानाम युनज्मि शुभकाम्यया ।२७।

केशवदेव आत्रेयः—

भिवान्याम्मे सखा पूर्वः केशवः सत्यवाक् सुहृत् ।
क्षपयन् विफलं कालं यथाबुद्धिबलोदयम् ।२८।
सोऽयं बहूनि वर्षाणि व्यतियाप्य मदन्तिके ।
विष्णोर्नामसहस्रस्य पाठेन श्रवणेन च ।२९।
आत्मोत्थानमालक्ष्य जातो भक्तवरः सुधीः ।
साधनानि समुच्चेतुं सर्वयत्नपरोऽभवत् ।३०।

देवसदनस्य निर्माणार्थं केशवदेवात्रेयाय प्रेरणाप्रदानम्—

चिरसाध्यानि कार्याणि न पूर्तिं यान्ति कर्हिचित् ।
यदि स्थानं न लभ्येत स्वतन्त्रं दोषवर्जितम् ।३१।
विघ्नं भाष्यनिर्माणे स्थानाभावं विचिन्तयन् ।
उपेत्य केशवं सर्वमितिवृत्तं न्यरूपयम् ।३२।

इसलिये मैं स्वयं अनृण होने के लिये मैं उनकी भूरि भूरि प्रशंसा करता हूँ तथा जिस किसी ने भी मुझ को इस भाष्य के बनाने में कुछ भी सहायता दी है, उन सब की मैं शुभ कामना करता हूँ ।२७।

भिवानी में मेरा सब से प्रथम मित्र केशवदेव आत्रेय, जो मेरी संगति से पहले यथा बुद्धि समय को बिता रहा था ।२८।

वह मेरे पास बहुत वर्षों तक रह कर विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र के पाठ और श्रवण से ।२९।
अपनी उन्नति देखकर सद्बुद्धि सम्पन्न भक्त हो गया तथा भाष्यनिर्माणोपयोगी सब प्रकार के साधनों के जुटाने में लग गया ।३०।

इस देवसदन नामक स्थान को बनाने के लिये पं० केशवदेव आत्रेय को प्रेरणा देना—

बहुत समय में सिद्ध होनेवाले अर्थात् दीर्घकालापेक्षी कार्य निर्बाध स्वतन्त्र अपने स्थान के बिना सिद्ध नहीं होते ।३१।

इसलिये इस सत्यभाष्य के निर्माण में मैं स्थानाभाव को ही विघ्न समझकर पं० केशवदेव जी के पास गया और उनको मैंने अपना यह मानसिक समाचार स्पष्टरूप से समझाया ।३२।

मया संप्रेरितो भूमेर्दर्शने यत्नमास्थितः ।
सर्वथा सम्परीक्ष्यायं निरचैष्टैषकं स्थलम् ।३३।
अथारोपितभारोऽयं स्वयमेव शुभे दिने ।
संगृह्यादिमारम्भान् पूजयित्वादिमेष्टकाः ।३४।
मत्करेणेष्टकान्यासं यथाकालमकारयत् ।
येनात्र देवसद्मेदं शनैरात्मानमाबिभः ।३५।
व्ययः सर्वो मदीयोऽत्र केशवो मे सहायकः ।
भाष्यविघ्नविघाताय प्रायतिष्ट सदा शुचिः ।३६।
निर्बलस्य यथा यष्टिर्वृद्धायाश्च यथा सुतः ।
तथा केशवदेवो मे देवसद्मविधावभूत् ।३७।
तत आनृण्यकामोऽहं, तच्छुभाकाङ्क्षयान्वहम् ।
प्रार्थये देवदेवेशं चिरं जीव्यात्तदाशिषा ।३८।

और मैंने इनको गृहनिर्माणार्थं भूमि देखने के लिये प्रेरित किया, केशवदेव जी ने मुझसे प्रेरणा पाकर बड़े यत्न के साथ स्थान का अन्वेषण करते हुये सब प्रकार की सुविधाओं से युक्त इसी स्थान को गृह बनाने के योग्य निश्चित किया ।३३।

तथा इन्होंने स्वयं सब गृहनिर्माणोपयोग्य सम्भारों (साधनों) को एकत्र करके और सब से प्रथम स्थापनीय इष्टका (ईंटों) की पूजा करके मेरे हाथों से इष्टका (शिला) का स्थापन (न्यास) करवाया, जिससे अब यह देव सदन नामक स्थान अपने गृहरूप में स्थित है ।३४-३५।

इसके बनाने में जितना व्यय (धनखर्च) हुआ, वह सब मेरा हुआ, किन्तु इसकी देखरेख तथा इसके बनाने में आनेवाली रुकावटों के निराकरण करने में पं० केशवदेव जी बहुत प्रयत्नशील रहे ।३६।

निर्बल की यष्टि (लकड़ी) तथा वृद्धा (बूढ़ी) माता के पुत्र के समान ये मेरे इस देवसदन नामक स्थान के बनाने में तथा भाष्य के विघ्नों को हटाने में सदा सहायक रहे ।३७।

इसलिये मैं अपने आपको इन से अनृण अर्थात् इनके उपकार से मुक्ति चाहता हुआ, तथा इनके शुभ की इच्छा से भगवान् देवदेवेश (विष्णु) से प्रार्थना करता हूं कि वे इनको दीर्घायु प्रदान करें ।३८।

'शास्त्री वेदव्रतो' नाम वेदविद्याविभूषितः ।
प्रकाशयति यन्त्रे स्वे भाष्यं सद्भावमास्थितः ।३९।
सीसकाक्षरसन्धाने कियत् कष्टं भवेदिति ।
अहं वेद्मि स वा वेत्ति तं स्तौम्यानृण्यलिप्सया ।४०।
शंवराणो मनुदेवो वेदविद्याविभूषितः ।
सत्यभाष्ये सदोत्साहः सिद्धो मेऽभूत् सहायकः ।।४१।।
'श्रीमाननन्तरामो' मे पिता सर्वसुलक्षणः ।
ब्राह्मणः सत्त्वसम्पन्नः सश्रद्धो वेदवाङ्मये ।४२।
तथा मे 'द्रोपदी' नाम्नी माता गुणगणान्विता ।
पतिचर्यारता नित्यं साध्वी सत्यपरायणा ।४३।

स्थाननिर्देशः—

भिवान्या उत्तरेणास्मद् 'देवसदन'मारमम् ।
नृमनो नन्दयन्नद्या उपकूलं विराजते ।४४।
ज्वलता ज्योतिषाखण्डं विशुद्धान्तरभूपदम् ।
तमसास्पृष्टमद्यापि बिभ्रदादियुगश्रियम् ।४५।

प्रतीतपुरा (चिड़ावा) के निवासी वेदविद्याविभूषित श्री वेदव्रत शास्त्री अपने 'आचार्य प्रिंटिंग प्रेस रोहतक' में भाष्य को बड़ी सद्भावना से प्रकाशित (मुद्रित) कर रहे हैं ।३९।

सीसे (सिक्के) के अक्षरों को जोड़ने में कितना कष्ट होता है, इस का मुझे अनुभव है, इस लिये उनसे अनृण होने के लिये मैं उनकी पुनः पुनः प्रशंसा करता हूं ।४०।

श्री मनुदेव शास्त्री ने विष्णुसहस्रनामभाष्य के शुद्धिपत्र, नामसूची, प्रूफ संशोधन आदि में सदा उत्साहपूर्वक सहयोग दिया है ।।४१।।

वेद शास्त्र में श्रद्धावान् सब शुभ लक्षणों से युक्त तथा सात्त्विक कर्मनिष्ठ पूज्य पण्डित 'अनन्तराम' मेरे पिता का नाम है ।४२।

तथा गुणगणों से युक्त पति सेवा में रत सत्य परायण पूज्या श्रीमती माता जी का नाम द्रोपदी है ।४३। स्थान का निर्देश—

भिवानी नगर के उत्तर दिशा में नहर के तट पर विराजमान देवसदन नाम का मेरा स्थान है, जो अपने सौन्दर्य से आगन्तुक जनों के मनों को आनन्दित करता है ।४४।

निरन्तर अखण्ड जलती हुई ज्योति से पवित्र यह देवसदन तम=अज्ञान पाप वा अन्धकार से रहित होने से, आदियुग अर्थात् सतयुग की शोभा से सम्पन्न है ।४५।

तदालिङ्ग्य पुरस्ताच्च प्रवहन्ती सुनिर्मला ।
कुल्या साव्यक्तशब्देनाकर्षतीव मनांसि नः ।४६।
देवसद्मानुरागेण साक्षात् त्रिपथगेव या ।
विभज्य त्रिभिरात्मानं स्रोतोभिः शोभते भृशम् ।४७।
भूयः पुष्णाति तां शोभामुपकूलस्थितो वटः ।
प्रवयाः सापि तं पाति पयःपानेन पुत्रवत् ४८।

भाष्यनिर्माणसंलग्नकालनिर्देशः—

दैनिका नैशिकाश्चैव क्रिया व्युत्क्रम्य चिन्तयन् ।
हायनै रविभिर्भाष्यमनैषं पूर्णतामहम् ।४९।

स्थानपरिचयः—

नगरेऽम्भःप्रदानाय निर्मिताः सन्ति वापिकाः ।
तासां चाङ्गपथस्य वा पार्श्वेऽस्ति सदनं मम ।५०।
वटवृक्षो महानत्र सदने सघनः स्थितः ।
शाखाहस्तैरिहास्माकं सन्तापं शमयत्ययम् ।५१।

९ ५।१९६९　　सत्यदेवो वासिष्ठः

देवसदन से मिलकर पूर्व की ओर से बहती हुई, शुद्ध जलयुक्त नहर अपने अव्यक्त (कलकल) शब्द से हमारे तथा आनेवाले अन्य मनुष्यों के मनों को आकृष्ट करती है ।४६।

देवसदन के पास से तीन भागों में विभक्त होकर बहती हुई यह नहर देवसदन के अनुराग से आगत स्वयं त्रिपथगा गङ्गा के समान शोभित हो रही है ।४७।

इस के तट पर स्थित बहुत वर्ष का पुराणा वट वृक्ष इस की शोभा को और अधिक पुष्ट करता है, तथा नहर भी इस वट वृक्ष की अपने पयः पान से पुत्र के समान रक्षा करती है ।४८।

भाष्य के बनाने में लगे समय का निर्देश—

मैंने दिन और रात की समस्त क्रियाओं का उल्लंघन अर्थात् समयानुसार न करके, केवल भाष्य के ही चिन्तन में मग्न रहते हुये इस भाष्य को १२ वर्षों में पूर्ण किया है ।४९।

स्थान परिचय (पता)—

यहां नगर में जल के वितरण के लिये डिग्गियां बनी हुई हैं जो वाटर वर्कस नाम से प्रसिद्ध हैं, तथा यहां से ही चाङ्ग (महम) नामक ग्राम को एक मार्ग जाता है इस के पास में यह 'देवसदन' नाम का मेरा स्थान है ।५०।

इसी देवसदन में एक बहुत सघन बड़ का वृक्ष स्थित है, जो सर्वदा (विशेष करके गर्मी में) हमारे संताप का शमन करता है ।५१।

भक्तानां प्रीतये जापकानां सिद्धये च स-माहात्म्यं साङ्गविन्यासालंकृतं—

विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्

ॐ अथ माहात्म्यम् ॐ

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात् ।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥
नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते ।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ॥

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वा धर्मानशेषेण पावनानि च सर्वशः ।
युधिष्ठिरः शान्तनवं पुनरेवाभ्यभाषत ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम् ।
स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥ २ ॥
को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबंधनात् ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥ ४ ॥
तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।
ध्यायंस्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥ ५ ॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥ ७ ॥
एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥ ८ ॥

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥ १० ॥
यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे ।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये ॥ ११ ॥
तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते ।
विष्णोर्नामसहस्रं मे शृणु पापभयापहम् ॥ १२ ॥
यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः ।
ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ॥१३॥
ऋषिर्नाम्नां सहस्रस्य वेदव्यासो महामुनिः ।
छंदोऽनुष्टुप् तथा देवो भगवान्देवकीसुतः ॥
विष्णुं जिष्णुं महाविष्णुं प्रभविष्णुं महेश्वरम् ।
अनेकरूपं दैत्यान्तं नमामि पुरुषोत्तमम् ॥

ॐ अस्य श्रीविष्णोर्दिव्यसहस्रनामस्तोत्रमहामन्त्रस्य श्रीभगवान् वेदव्यास ऋषिरनुष्टुप् छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, आत्मयोनिः स्वयंजात इति बीजम्, देवकीनन्दनः स्रष्टेति शक्तिः, उद्भवः क्षोभणो देव इति परमो मन्त्रः, शङ्खभृन्नन्दकी चक्रीति कीलकम्, श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे सहस्रनामस्तोत्रजपे विनियोगः ।

अथ अंगन्यासः

ॐ शिरसि श्रीवेदव्यासऋषये नमः । ॐ मुखे अनुष्टुप्छन्दसे नमः । ॐ हृदि श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः । ॐ सर्वाङ्गेशङ्खभृन्नन्दकी चक्रीति कीलकाय नमः ।

अथ करन्यासः

ॐ उद्भवाय अंगुष्ठाभ्यां नमः । ॐ क्षोभणाय तर्जनीभ्यां नमः । ॐ देवाय मध्यमाभ्यां नमः ॐ उद्भवाय अनामिकाभ्यां नमः । ॐ क्षोभणाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ देवाय करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

अथ हृदयादिन्यासः

ॐ विश्वं विष्णुर्वषट्कार इति हृदयागमनः । अमृतांशूद्भवो भानुरिति शिरसे स्वाहा ॥ ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद्ब्रह्मेति शिखायै वषट् । सुवर्णविन्दुरक्षोभ्य इति कवचाय हुं ॥ आदित्यो ज्योतिरादित्य इति नेत्राय वौषट् । शारंगधन्वा गदाधरः इति अस्त्राय फट् ॥

अथ ध्यानम्

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम् ।
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम् ॥
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम् ।
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

अथ विष्णुसहस्रनाम-प्रारम्भः

ॐ विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः ।
भूतकृद्भूतभृद्भावो भूतात्मा भूतभावनः ॥ १४ ॥
पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः ।
अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च ॥ १५ ॥
योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः ।
नारसिंहवपुः श्रीमान् केशवः पुरुषोत्तमः ॥ १६ ॥
सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः ।
सम्भवो भावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः ॥ १७ ॥
स्वयम्भूः शम्भुरादित्यः पुष्कराक्षो महास्वनः ।
अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः ॥ १८ ॥
अप्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः ।
विश्वकर्मा मनुस्त्वष्टा स्थविष्ठः स्थविरो ध्रुवः ॥१९॥
अग्राह्यः शाश्वतः कृष्णो लोहिताक्षः प्रतर्दनः ।
प्रभूतस्त्रिककुब्धाम पवित्रं मङ्गलं परम् ॥ २० ॥
ईशानः प्राणदः प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः ।
हिरण्यगर्भो भूगर्भो माधवो मधुसूदनः ॥ २१ ॥

ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः ।
अनुत्तमो दुराधर्षः कृतज्ञः कृतिरात्मवान् ॥ २२ ॥
सुरेशः शरणं शर्म विश्वरेताः प्रजाभवः ।
अहः संवत्सरो व्यालः प्रत्ययः सर्वदर्शनः ॥ २३ ॥
अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः । १००
वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिःसृतः ॥ २४ ॥
वसुर्वसुमनाः सत्यः समात्मा सम्मितः समः ।
अमोघः पुण्डरीकाक्षो वृषकर्मा वृषाकृतिः ॥ २५ ॥
रुद्रो बहुशिरा बभ्रुर्विश्वयोनिः शुचिश्रवाः ।
अमृतः शाश्वतस्थाणुर्वरारोहो महातपाः ॥ २६ ॥
सर्वगः सर्वविद्भानुर्विष्वक्सेनो जनार्दनः ।
वेदो वेदविदव्यङ्गो वेदाङ्गो वेदवित् कविः ॥२७॥
लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षो धर्माध्यक्षः कृताकृतः ।
चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ॥ २८ ॥
भ्राजिष्णुर्भोजनं भोक्ता सहिष्णुर्जगदादिजः ।
अनघो विजयो जेता विश्वयोनिः पुनर्वसुः ॥ २९ ॥
उपेन्द्रो वामनः प्रांशुरमोघः शुचिरूर्जितः ।
अतीन्द्रः सङ्ग्रहः सर्गो धृतात्मा नियमो यमः ॥३०॥
वेद्यो वैद्यः सदायोगी वीरहा माधवो मधुः ।
अतीन्द्रियो महामायो महोत्साहो महाबलः ।३१।
महाबुद्धिर्महावीर्यो महाशक्तिर्महाद्युतिः ।
अनिर्देश्यवपुः श्रीमानमेयात्मा महाद्रिधृक् ।३२।
महेष्वासो महीभर्ता श्रीनिवासः सतां गतिः ।
अनिरुद्धः सुरानन्दो गोविन्दो गोविदांपतिः ।३३।
मरीचिर्दमनो हंसः सुपर्णो भुजगोत्तमः ।
हिरण्यनाभः सुतपाः पद्मनाभः प्रजापतिः ।३४।
अमृत्युः सर्वदृक् सिंहः संधाता संधिमान् स्थिरः । २००
अजो दुर्मर्षणः शास्ता विश्रुतात्मा सुरारिहा ।३५।

गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः ।
निमिषोऽनिमिषः स्रग्वी वाचस्पतिरुदारधीः ।३६।
अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान्न्यायो नेता समीरणः ।
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्रपात् ।३७।
आवर्तनो निवृत्तात्मा संवृतः सम्प्रमर्दनः ।
अहःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधरः ।३८।
सुप्रसादः प्रसन्नात्मा विश्वधृग्विश्वभुग्विभुः ।
सत्कर्ता सत्कृतः साधुर्जह्नुर्नारायणो नरः ।३९।
असंख्येयोऽप्रमेयात्मा विशिष्टः शिष्टकृच्छुचिः ।
सिद्धार्थः सिद्धसङ्कल्पः सिद्धिदः सिद्धिसाधनः ।४०।
वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः ।
वर्धनो वर्धमानश्च विविक्तः श्रुतिसागरः ।४१।
सुभुजो दुर्धरो वाग्मी महेन्द्रो वसुदो वसुः ।
नैकरूपो बृहद्रूपः शिपिविष्टः प्रकाशनः ।४२।
ओजस्तेजोद्युतिधरः प्रकाशात्मा प्रतापनः ।
ऋद्धः स्पष्टाक्षरो मन्त्रश्चन्द्रांशुर्भास्करद्युतिः ।४३।
अमृतांशूद्भवो भानुः शशबिन्दुः सुरेश्वरः ।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः ।४४।
भूतभव्यभवन्नाथः पवनः पावनोऽनलः ।
कामहा कामकृत्कान्तः कामः कामप्रदः प्रभुः ।४५।
युगादिकृद्युगावर्तो नैकमायो महाशनः । ३००
अदृश्यो व्यक्तरूपश्च सहस्रजिदनन्तजित् ।४६।
इष्टोऽविशिष्टः शिष्टेष्टः शिखण्डी नहुषो वृषः ।
क्रोधहा क्रोधकृत् कर्ता विश्वबाहुर्महीधरः ।४७।
अच्युतः प्रथितः प्राणः प्राणदो वासवानुजः ।
अपांनिधिरधिष्ठानमप्रमत्तः प्रतिष्ठितः ।४८।
स्कन्दः स्कन्दधरो धुर्यो वरदो वायुवाहनः ।
वासुदेवो बृहद्भानुरादिदेवः पुरन्दरः ।४९।

अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ।
अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः ।५०।
पद्मनाभोऽरविन्दाक्षः पद्मगर्भः शरीरभृत् ।
महर्द्धिर्ऋद्धो वृद्धात्मा महाक्षो गरुडध्वजः ।५१।
अतुलः शरभो भीमः समयज्ञो हविर्हरिः ।
सर्वलक्षणलक्षण्यो लक्ष्मीवान्समितिञ्जयः ।५२।
विक्षरो रोहितो मार्गो हेतुर्दामोदरः सहः ।
महीधरो महाभागो वेगवानमिताशनः ।५३।
उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः ।
करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहः ।५४।
व्यवसायो व्यवस्थानः संस्थानः स्थानदो ध्रुवः ।
परर्द्धिः परमस्पष्टस्तुष्टः पुष्टः शुभेक्षणः ।५५।
रामो विरामो विरतो मार्गो नेयो नयोऽनयः । ४००
वीरः शक्तिमतां श्रेष्ठो धर्मो धर्मविदुत्तमः ।५६।
वैकुण्ठः पुरुषः प्राणः प्राणदः प्रणवः पृथुः ।
हिरण्यगर्भः शत्रुघ्नो व्याप्तो वायुरधोक्षजः ।५७।
ऋतुः सुदर्शनः कालः परमेष्ठी परिग्रहः ।
उग्रः संवत्सरो दक्षो विश्रामो विश्वदक्षिणः ।५८।
विस्तारः स्थावरस्थाणुः प्रमाणं बीजमव्ययम् ।
अर्थोऽनर्थो महाकोशो महाभोगो महाधनः ।५९।
अनिर्विण्णः स्थविष्ठोऽभूर्धर्मयूपो महामखः ।
नक्षत्रनेमिर्नक्षत्री क्षमः क्षाम समीहनः ।६०।
यज्ञ इज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्रं सतां गतिः ।
सर्वदर्शी विमुक्तात्मा सर्वज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ।६१।
सुव्रतः सुमुखः सूक्ष्मः सुघोषः सुखदः सुहृत् ।
मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुर्विदारणः ।६२।
स्वापनः स्ववशो व्यापी नैकात्मा नैककर्मकृत् ।
वत्सरो वत्सलो वत्सी रत्नगर्भो धनेश्वरः ।६३।

धर्मगुब्धर्मकृद्धर्मी सदसत्क्षरमक्षरम् ।
अविज्ञाता सहस्रांशुर्विधाता कृतलक्षणः ।६४।
गभस्तिनेमिः सत्त्वस्थः सिंहो भूतमहेश्वरः ।
आदिदेवो महादेवो देवेशो देवभृद् गुरुः ।६५।
उत्तरो गोपतिर्गोप्ता ज्ञानगम्यः पुरातनः ।
शरीरभूतभृद्भोक्ता कपीन्द्रो भूरिदक्षिणः ।६६। ५००
सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित्पुरुसत्तमः ।
विनयो जयः सत्यसंधो दाशार्हः सात्वतां पतिः ।६७।
जीवो विनयितासाक्षी मुकुन्दोऽमितविक्रमः ।
अम्भोनिधिरनन्तात्मा महोदधिशयोऽन्तकः ।६८।
अजो महार्हः स्वाभाव्यो जितामित्रः प्रमोदनः ।
आनन्दो नन्दनो नन्दः सत्यधर्मा त्रिविक्रमः ।६९।
महर्षिः कपिलाचार्यः कृतज्ञो मेदिनीपतिः ।
त्रिपदस्त्रिदशाध्यक्षो महाशृङ्गः कृतान्तकृत् ।७०।
महावराहो गोविन्दः सुषेणः कनकाङ्गदी ।
गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः ।७१।
वेधाः स्वाङ्गोऽजितः कृष्णो दृढः संकर्षणोऽच्युतः ।
वरुणो वारुणो वृक्षः पुष्कराक्षो महामनाः ।७२।
भगवान्भगहानन्दी वनमाली हलायुधः ।
आदित्यो ज्योतिरादित्यः सहिष्णुर्गतिसत्तमः ।७३।
सुधन्वा खण्डपरशुर्दारुणो द्रविणप्रदः ।
दिवःस्पृक्सर्वदृग्व्यासो वाचस्पतिरयोनिजः ।७४।
त्रिसामा सामगः साम निर्वाणं भेषजं भिषक् ।
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठा शान्तिः परायणम् ।७५।
शुभाङ्गः शान्तिदः स्रष्टा कुमुदः कुवलेशयः ।
गोहितो गोपतिर्गोप्ता वृषभाक्षो वृषप्रियः ।७६।
अनिवर्ती निवृत्तात्मा संक्षेप्ता क्षेमकृच्छिवः । ६००
श्रीवत्सवक्षाः श्रीवासः श्रीपतिः श्रीमतां वरः ।७७।

श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः ।
श्रीधरः श्रीकरः श्रेयः श्रीमाँल्लोकत्रयाश्रयः ।७८।
स्वक्षः स्वङ्गः शतानन्दो नन्दिर्ज्योतिर्गणेश्वरः ।
विजितात्माविधेयात्मा सत्कीर्तिश्छिन्नसंशयः ।७९।
उदीर्णः सर्वतश्चक्षुरनीशः शाश्वतस्थिरः ।
भूशयो भूषणो भूतिर्विशोकः शोकनाशनः ।८०।
अर्चिष्मानर्चितः कुम्भो विशुद्धात्मा विशोधनः ।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथः प्रद्युम्नोऽमितविक्रमः ।८१।
कालनेमिनिहा वीरः शौरिः शूरजनेश्वरः ।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः ।८२।
कामदेवः कामपालः कामी कान्तः कृतागमः ।
अनिर्देश्यवपुर्विष्णुर्वीरोऽनन्तो धनञ्जयः ।८३।
ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद् ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः ।
ब्रह्मविद् ब्राह्मणो ब्रह्मी ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणप्रियः ।८४।
महाक्रमो महाकर्मा महातेजा महोरगः ।
महाक्रतुर्महायज्वा महायज्ञो महाहविः ।८५।
स्तव्यः स्तवप्रियः स्तोत्रं स्तुतिः स्तोता रणप्रियः ।
पूर्णः पूरयिता पुण्यः पुण्यकीर्तिरनामयः ।८६।
मनोजवस्तीर्थकरो वसुरेता वसुप्रदः ।
वसुप्रदो वासुदेवो वसुर्वसुमना हविः ।८७।
सद्गतिः सत्कृतिः सत्ता सद्भूतिः सत्परायणः । ७००
शूरसेनो यदुश्रेष्ठः सन्निवासः सुयामुनः ।८८।
भूतावासो वासुदेवः सर्वासुनिलयोऽनलः ।
दर्पहा दर्पदो दृप्तो दुर्धरोऽथापराजितः ।८९।
विश्वमूर्तिर्महामूर्तिर्दीप्तमूर्तिरमूर्तिमान् ।
अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शताननः ।९०।
एको नैकः सवः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम् ।
लोकबन्धुर्लोकनाथो माधवो भक्तवत्सलः ।९१।

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी ।
वीरहा विषमः शून्यो घृताशीरचलश्चलः ।९२।
अमानी मानदो मान्यो लोकस्वामी त्रिलोकधृक् ।
सुमेधा मेधजो धन्यः सत्यमेधा धराधरः ।९३।
तेजोवृषो द्युतिधरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
प्रग्रहो निग्रहो व्यग्रो नैकशृङ्गो गदाग्रजः ।९४।
चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः ।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेदविदेकपात् ।९५।
समावर्तोऽनिवृत्तात्मा दुर्जयो दुरतिक्रमः ।
दुर्लभो दुर्गमो दुर्गो दुरावासो दुरारिहा ।९६।
शुभाङ्गो लोकसारङ्गः सुतन्तुस्तन्तुवर्धनः ।
इन्द्रकर्मा महाकर्मा कृतकर्मा कृतागमः ।९७।
उद्भवः सुन्दरः सुन्दो रत्ननाभः सुलोचनः ।
अर्को वाजसनः शृङ्गी जयन्तः सर्वविज्जयी ।९८।
सुवर्णबिन्दुरक्षोभ्यः सर्ववागीश्वरेश्वरः । ८००
महाह्रदो महागर्तो महाभूता महानिधिः ।९९।
कुमुदः कुन्दरः कुन्दः पर्जन्यः पावनोऽनिलः ।
अमृताशोऽमृतवपुः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ।१००।
सुलभः सुव्रतः सिद्धः शत्रुजिच्छत्रुतापनः ।
न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थश्चाणूरान्ध्रनिषूदनः ।१०१।
सहस्रार्चिः सप्तजिह्वः सप्तैधाः सप्तवाहनः ।
अमूर्तिरनघोऽचिन्त्यो भयकृद् भयनाशनः ।१०२।
अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान् ।
अधृतः स्वधृतः स्वास्यः प्राग्वंशो वंशवर्धनः ।१०३।
भारभृत् कथितो योगी योगीशः सर्वकामदः ।
आश्रमः श्रमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ।१०४।
धनुर्धरो धनुर्वेदो दण्डो दमयिता दमः ।
अपराजितः सर्वसहो नियन्तानियमोऽयमः ।१०५।

सत्त्ववान् सात्त्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः ।
अभिप्रायः प्रियार्होऽर्हः प्रियकृत् प्रीतिवर्धनः ॥१०६॥
विहायसगतिर्ज्योतिः सुरुचिर्हुतभुग् विभुः ।
रविर्विरोचनः सूर्यः सविता रविलोचनः ॥१०७॥
अनन्तो हुतभुग् भोक्ता सुखदो नैकजोऽग्रजः ।
अनिर्विण्णः सदामर्षी लोकाधिष्ठानमद्भुतः ॥१०८॥
सनात् सनातनतमः कपिलः कपिरव्ययः । ९००
स्वस्तिदः स्वस्तिकृत् स्वस्ति स्वस्तिभुक् स्वस्तिदक्षिणः । १०९॥
अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः ।
शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्वरीकरः ॥११०॥
अक्रूरः पेशलो दक्षो दक्षिणः क्षमिणां वरः ।
विद्वत्तमो वीतभयः पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥१११॥
उत्तारणो दुष्कृतिहा पुण्यो दुःस्वप्ननाशनः ।
वीरहा रक्षणः सन्तो जीवनः पर्यवस्थितः ॥११२॥
अनन्तरूपोऽनन्तश्रीर्जितमन्युर्भयापहः ।
चतुरश्रो गभीरात्मा विदिशो व्यादिशो दिशः ॥११३॥
अनादिर्भूर्भुवो लक्ष्मीः सुवीरो रुचिराङ्गदः ।
जननो जनजन्मादिर्भीमो भीमपराक्रमः ॥११४॥
आधारनिलयोऽधाता पुष्पहासः प्रजागरः ।
ऊर्ध्वगः सत्पथाचारः प्राणदः प्रणवः पणः ॥११५॥
प्रमाणं प्राणनिलयः प्राणभृत् प्राणजीवनः ।
तत्त्वं तत्त्वविदेकात्मा जन्ममृत्युजरातिगः ॥११६॥
भूर्भुवःस्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः ।
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः ॥११७॥
यज्ञभृद् यज्ञकृद् यज्ञी यज्ञभुग् यज्ञसाधनः ।
यज्ञान्तकृद् यज्ञगुह्यमन्नमन्नाद एव च ॥११८॥
आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः ।
देवकीनन्दनः स्रष्टा क्षितीशः पापनाशनः ॥११९॥

शङ्खभृन्नदकी चक्री शार्ङ्गधन्वा गदाधरः ।
रथाङ्गपाणिरक्षोभ्यः सर्वप्रहरणायुधः ॥
सर्वप्रहरणायुधों नमः ॥१२०॥ १०००
इतीदं कीर्तनीयस्य केशवस्य महात्मनः ।
नाम्नां सहस्रं दिव्यानामशेषेण प्रकीर्तितम् ॥१२१॥
य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयात् किञ्चित् सोऽमुत्रेह च मानवः ॥१२२॥
वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥१२३॥
धर्मार्थी प्राप्नुयाद् धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात् ।
कामानवाप्नुयात् कामी प्रजार्थी चाप्नुयात् प्रजाम् ॥१२४॥
भक्तिमान् यः सदोत्थाय शुचिस्तद्गतमानसः ।
सहस्रं वासुदेवस्य नाम्नामेतत् प्रकीर्तयेत् ॥१२५॥
यशः प्राप्नोति विपुलं ज्ञातिप्राधान्यमेव च ।
अचलां श्रियमाप्नोति श्रेयः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥१२६॥
न भयं क्वचिदाप्नोति वीर्यं तेजश्च विन्दति ।
भवत्यरोगो द्युतिमान् बलरूपगुणान्वितः ॥१२७॥
रोगार्तो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
भयान्मुच्येत भीतस्तु मुच्येतापन्न आपदः ॥१२८॥
दुर्गाण्यतितरत्याशु पुरुषः पुरुषोतमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण नित्यं भक्तिसमन्वितः ॥१२९॥
वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥१३०॥
न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥१३१॥
इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
युज्येतात्मसुखक्षान्तिश्रीधृतिस्मृतिकीर्तिभिः ॥१३२॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥१३३॥
द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः ।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः ।१३४।
ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
जगद् वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ।१३५।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः ।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च ।१३६।
सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ।१३७।
ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ।१३८।
योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पादि कर्म च ।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् सर्वं जनार्दनात् ।१३९।
एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः ।
त्रींल्लोकान्व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ।१४०।
इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम् ।
पठेद्य इच्छेत् पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च ।१४१।
विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम् ।१४२।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विष्णुसहस्रनामकथने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।

विषय-सूची

प्रथमभागस्थ-नाम-वर्णानुक्रमणिका

क्र०	नाम	संख्या	पृष्ठाङ्कः
९२	प्रजापतिः	१९७	३०५
९३	प्रजाभवः	८९	१५८
९४	प्रतर्दनः	५९	१२५
९५	प्रत्ययः	९३	१६२
९६	प्रधानपुरुषेश्वरः	२०	७३
९७	प्रभवः	३४	९१
९८	प्रभुः	३५	९२
९९	प्रभूतः	६०	१२६
१००	प्रसन्नात्मा	२३७	३७२
१०१	प्राणः	६६	१३२
१०२	प्राणदः	६५	१३०
१०३	प्रांशुः	१५३	२३७
	ब		
१०४	बभ्रुः	११६	१८१
१०५	बहुशिराः	११५	१८९
	भ		
१०६	भर्ता	३३	९०
१०७	भावः	७	५०
१०८	भावनः	३२	९०
१०९	भुजगोत्तमः	१९३	२९८
११०	भूगर्भः	७१	१३८
१११	भूतकृत्	५	४८
११२	भूतभव्यभवत्प्रभुः	४	४७
११३	भूतभावनः	९	५७
११४	भूतभृत्	६	४९
११५	भूतात्मा	७	५४
११६	भूतादिः	२९	८६
११७	भोक्ता	१४३	२२३
११८	भोजनम्	१४२	२२२
११९	भ्राजिष्णुः	१४१	२२२
	म		
१२०	मधुः	१६८	२६२

क्र०	नाम	संख्या	पृष्ठाङ्कः
१२१	मधुसूदनः	७३	१४२
१२२	मनुः	५१	११८
१२३	मंगलं परम्	६३	१२९
१२४	मरीचिः	१८९	२९२
१२५	महातपाः	१२२	१९६
१२६	महाद्युतिः	१७६	२७४
१२७	महाद्रिधृक्	१८०	२८१
१२८	महाबलः	१७२	२६९
१२९	महाबुद्धिः	१७३	२७१
१३०	महामायः	१७०	२६५
१३१	महावीर्यः	१७१	२७३
१३२	महाशक्तिः	१७५	२७४
१३३	महास्वनः	४१	१०५
१३४	महीभर्ता	१८२	२८३
१३५	महेष्वासः	१८१	२८२
१३६	महोत्साहः	१७१	२६७
१३७	माधवः	७२	१३९
१३८	माधवः	१६७	२६१
१३९	मुक्तानां परमा गतिः	१२	६३
१४०	मेधावी	७७	१४६
	य		
१४१	यमः	१६२	२५०
१४२	रुद्रः	११४	१८७
१४३	योगः	१८	७१
१४४	योगविदां नेता	१९	७२
	ल		
१४५	लोकाध्यक्षः	१३३	२०८
१४६	लोहिताक्षः	५८	१२८
	व		
१४७	वरारोहः	१२१	१९५
१४८	वषट्कारः	३	४५
१४९	वसुः	१०५	१७७

* विशेष--सूचना *

इस सत्य भाष्य की "आलोचनात्मक भूमिका" तथा "लेखक परिचय" इस भाष्य के अन्त में दिया जायेगा।

विष्णुसहस्रनाम्नां सत्यभाष्यस्य, नाडीतत्त्वदर्शनस्य, सत्याग्रहनीतिकाव्यस्य च प्रणेता—

श्री १०८ पं० सत्यदेवो वासिष्ठः, साङ्गवेदवेदचतुष्टयी

जन्मकाल: १३ भाद्रपद १९६९ वि०, २४ अगस्त १९१२ ई०

विष्णुसहस्रनाम्नां सत्यभाष्य-
स्योपकरणोपचायकः—

भक्तवरः पं० केशवदेव आत्रेयः

(रायबहादुर पं० श्रीदत्तशास्त्रिणां पुत्रः)

यत्रेदं विष्णुसहस्रनामस्तोत्रस्य
सत्यभाष्यं सम्पन्नम्—

देव–सदनम्

(भाष्यकर्तुर्नैजं निवासभवनम्)
महममार्ग, भिवानी (हरयाणा)

विष्णुसहस्रनामसत्यभाष्यस्य
संशोधकः—

श्री पं० रुद्रदेवस्त्रिपाठी

प्राध्यापकः—
श्री लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय-
संस्कृतविद्यापीठ, दिल्ली।

विष्णुसहस्रनामसत्यभाष्यस्यार्य-
भाषानुवादकः—

श्री पं० मुंशीरामः शास्त्री

(विद्यामार्तण्ड सीतारामशास्त्रिणां शिष्यः)

विष्णुसहस्रनामसत्यभाष्ये प्रथमभागस्य शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ संख्या	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४	२६	देवसनन	देवसदन
१३	२	हृदयागमनः	हृदयाय नमः
१३	३	ब्रह्माण्यो	ब्रह्मण्यो
१६	१२	विरतो	विरजो
१६	२२	क्षाम	क्षामः
१८	१	श्रदः	श्रीदः
१८	६	सूरजनेश्वरः	शूरजनेश्वरः
१६	७	चतुधाहु	चतुर्बाहु
१६	१६	महाभूता	महाभूतो
२३	२७	असख्येयः	असंख्येयः
२५	६६	प्रधानपुकपेश्वरः	प्रधानपुरुषेश्वरः
२५	१०४	वभ्रः	वभ्रुः
२५	११०	भूगभः	भूगर्भः
२५	१२४	गरीचिः	मरीचिः
२६	२०५	सघाता	संघाता
२७	२२५	सहस्र ात्	सहस्रपात्
२७	२३६	सु साद:	सुप्रसादः
२	६	स्वानन्यभावात्तमहं	स्वानन्यभावान् तमहं
३	२३	अथ	अर्थ
४	१४	मति	मतिं
११	३	वेशम्पायनो	वैशम्पायनो
१२	८	शिशवृक्षफलं	शिशवृक्षफलं
१३	६	क	कं
१३	१७	लोक्यति	लोकयति
१४	६	वश्य	वैश्य
२२	१४	चराचर	चराचरं
२३	८	प्रज पतिः	प्रजापतिः
२३	१३	लोकनथं	लोकनाथं
२४	१७	अहिसया	अहिंसया
२७	४	पर	परं
३१	४	वुद्धि	वुद्धिं

पृष्ठ संख्या	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३३	२९	पचों	पंचों
३४	६	नून	नूनं
३४	९	कम	कर्म
३५	१	प्रसगप्राप्तं	प्रसंगप्राप्तं
३६	८	सगृहीतानि	संगृहीतानि
३७	१८	बत	बात
३७	२९	विशाएं	दिशाएं
१८	३	लभते	लभन्ते
३८	१५	वैदकं	वैदिकं
४०	२	नायजुवदधारिणः	नायजुर्वेदधारिणः
५१	१७	भावनामिति	भावानामिति
५४	११	सतत	सततं
५७	७	भूतभावनः—१०	भूतभावनः—९
५९	२६	ययोंकि	क्योंकि
६९	१५	शरीर	शरीरं
७०	१४	घ्यनायोगेन	ध्यानयोगेन
७२	१७	थी	जो
७२	२४	जानकर हैं	जानकार हैं
७५	१३	संजयामि	धनानि संजयामि
८०	७	समुद्रनिकर्टतिनि	समुद्रनिकटवर्तिनि
८८	१२	यच्चतर्विद्या	यच्चतुर्विद्या
८९	१२	शरीरोदयो	शरीरादयो
९५	१	व्यक्तव्तम्	वक्तव्यम्
९६	५	शन्भुः	शम्भुः
९९	२५	स्त्ररूप्रतिपादक	स्वरूपप्रतिपादक
१०१	२१	समाधानमेनेन	समाधानमतेन
१०३	११	प्राप्तुवन्ति	प्राप्नुवन्ति
११३	५	प्रत्यक्षप्रमाण	प्रत्यक्षप्रमाणं
१२२	३१	प्रत्य होने से	प्रत्यय होने से
१२५	२४	अयुर्वेद	आयुर्वेद
१२७	६	दिशस्त्रिस्त्रः	दिशस्तित्रः

पृष्ठ संख्या	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१३३	२१	परिगतिण	परिगणित
१३७	६	प्रभेदपरिज्ञान	प्रभेदपरिज्ञानं
१३७	११	वगस्यान्तः	वर्गस्यान्तः
१३७	१४	गीतायमाह	गीतायामाह
१३८	३	सर्वत्र रूप	सर्वत्र रूपं
१४१	१६	सवैज्ञेयम्	सर्वैर्ज्ञेयम्
१४५	२	छन्दोभिवदान्	छन्दोभिर्वेदान्
१४५	६	स्वाराँश्च	स्वराँश्च
१४७	११	सवत्र	सर्वत्र
१४८	६	यन्त्रा नाम्	यन्त्रादीनाम्
१४६	२	विशेषण	विशेषणं
१५१	४	जनातीति	जानातीति
१५१	१२	सज्ञां	संज्ञां
१५२	७	योन	योनिं
१५२	१३	न त	न तं
१५२	१६	मन्त्रलिंग च	मन्त्रलिङ्गञ्च
१५४	१	शरण शम	शरणं शर्म
१५४	२	सवदशनः	सर्वदर्शनः
१५४	६	ऋगशेन	ऋगंशेन
१५५	११	स्वय	स्वयं
१५५	१३	शरण	शरणं
१५७	१०	प्रयुक्ता	प्रयुक्तो
१५८	१	सर्वकर्तृ त्व	सर्वकर्तृ त्वं
१५६	२	लाके	लोके
१५६	५	नत्रपपदात्	नञुपपदात्
१५६	६	अह	अहः
१५६	१०	वश गतो	वशं गतो
१६३	१	प्रत्ययमात्रलभ्यः	प्रत्ययमात्रलभ्यः
१६५	६	दवादिकः	दैवादिकः
१६६	१३	वह्यचक्रम्	वाह्यचक्रम्
१७२	४	नलोश्च	नलोपश्च

पृष्ठ संख्या	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१७२	१२	अमुनव	अमुनैव
१७२	१३	घमण	धर्मेण
१७२	१५	उदर	उदरं
१७५	३	छन्दाभेदेन	छन्दोभेदेन
१७६	३	यदिद	यदिदं
१७६	३	कथविध	कथंविध
१८०	५	प्रतिष्ठतमिति	प्रतिष्ठितमिति
१८८	१२	नून	नूनं
१८८	१६	रुदंख	रुर्दु:खं
१८८	२६	दर	दूर
१८६	५	शिल्प	शिल्पं
१८६	५	विविध	विविधं
१६१	११	विविधेष्ठ्छबद्धा	विविधेच्छबद्धा
१६१	२५	बभ्र	बभ्रु
१६२	४	यानि:	योनि:
१६५	१८	शाश्वतस्थाण	शाश्वतस्थाणु
१६६	१२	सवग:	सर्वग:
१६७	७	मान:	सुवर्तमान:
२००	२	क्षत्तृड्	क्षुत्तृट्
२००	१४	———	मन्त्रलिंगञ्च–वेदोऽसि (य०२।२१)
२०३	१७	वद्	विद्
२०६	१५	तमनुपद	तमनुपदं
२०६	१६	दानों	दोनों
२१०	१०	सगृहीतम्	संगृहीतम्
२१०	२१	मत्रं	मंत्र
२१०	२३	मत्रं	मंत्र
२११	२८	सर्गाम्भ	सर्गारम्भ
२१५	२५	२ २०/८ (१	२०,१२) २०/८ शेष=
२१६	३	समस्त	समस्तं
२१६	१०	नाम्नेद	नाम्नेदं

पृष्ठसंख्या	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२१७	३	दष्ट्राभि	दंष्ट्राभि
२१७	२२	अश	अंश
२१८	१७	सति	संति
२१८	१६	प्रापयय	प्राप्य
२१६	१३	नपुसंक	नपुंसक
२२२	१३	पराङ्मुख	पराङ्मुखं
२२४	२२	भक्ता	भोक्ता
२२५	१६	वातु	वस्तु
२२५	१४	प्रसगे	प्रसंगे
२२७	६	विविघ	विविधं
२२६	२२	सज्ञक	संज्ञक
२२६	२८	ससार	संसार
२३०	१०	उन्पेद्रः	उपेन्द्रः
२३१	२०	लाघ	लांघ
२३३	२	मूल	मूलं
२३४	३	जल्	जलं
२३४	६	दृश्यमान्	दृश्यमानं
२३५	२३	असख्यात	असंख्यात
२३५	३०	होते होते हैं	होते हैं
२३७	२४	सतोष	संतोष
२३७	१४	यश्चक्र	यश्चक्रे
२३८	१२	ब्रुवाण	ब्रुवाणे
२३६	२	अमाघ	अमोघ
२३६	१७	समान	समास
२४०	१	स्थालिपलाकवत्	स्थालिपुलाकवत्
२४०	६	तद्विज्ञतयपि	तद्विज्ञातयंपि
२४०	१०	हानिभवति	हानिर्भवति
२४०	११	अमुग्घत्वत्	अमुग्घत्वात्
२४०	१२	यथामोघ	यथाऽमोघं
२४०	१४	कम	कर्म
२४०	१७	प्रतिपद	प्रतिपदं

पृष्ठसंख्या	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४०	३३	जगत् कब	जगत् में कब
२४१	५	भगवती	भगवति
२४१	१५	अग्रेर्चिषि	अग्नेर्चिषि
२४२	२	कम	कर्मं
२४२	२०	कम	कर्मं
२४३	८	सयोगश्च बल	संयोगश्च बलं
२४३	१०	उक्त	उक्तं
२४३	२३	गत्यंथाकर्मक	गत्यर्थाकर्मक
२४३	२९	देते वाली	देने वाली
२४४	३३	अर्थव	अथर्व
२४८	२०	भवनानि	भुवनानि
२४८	२५	भ्वादिगण	तुदादिगण
२५३	१	कृतषा	कृतैषा
२५३	६	यमस्यान्तभूतत्वात्	यमस्यान्तर्भूतत्वाद्
२५५	१	वेद्य:	वैद्य:
२५६	४	इत्युक्तं	इत्युक्तो
२५८	१४	त	तं
२५८	१४	स्वभावधर्माणि	स्वभावधर्माणं
२६१	३१	सगति	संगति
२६२	२४	इसलि	इसलिये
२६३	१४	इद्रियं	इन्द्रियं
२६३	२८	सज्ञक	संज्ञक
२६३	३२	न ीं	नहीं
२६४	३	इन्द्रिय	इन्द्रियं
२६४	३	अननैव	अनेनैव
२६४	५	एव	एवं
२६४	७	लिग	लिंगं
२६४	११	तमेवविध	तमेवंविधं
२६७	९	पुरुरूप	पुरुरूपं
२६९	१	वरेण्या	वरेण्यो
२६९	७	व्याख्यात	व्याख्यातं

पृष्ठसंख्या	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७१	८	दवादिकः	दैवादिकः
२७४	१०	विश्वमिद	विश्वमिदं
२७४	३१	शव्दसे दीप्ति	शब्द दीप्ति
२७५	२	सवत्र	सर्वत्र
२७५	२४	यहां हमारा यहां	हमारा यहां
२८१	१४	सत्तयारित	सत्तयास्ति
२८१	३१	विराजमाम	विराजमान
२८२	१२	परिभुजः	परिभुज
२८३	७	शिवो न	शिवो नः
२८३	१२	वति	भवति
२८५	१३	सभक्तौ	संभक्तौ
२९०	३	गोविदापति	गोविदांपतिः
३००	१	भुजगोत्तमा	भुजगोत्तमो
३००	२	भुजगात्तम	भुजगोत्तम
३०१	१२	ग्रहा स्वकन	ग्रहाः स्वकेन
३०१	१७	निबद्ध	निबद्धं,
३०२	२१	के	में
३०३	२३	कहता है	सहता है
३०४	४	बद्ध	बद्धं
३०७	६	क्रियाक्षम	क्रियाक्षमं
३०८	२७	नयम	नियम
३०९	४	मुपति	मुपैति
३११	६	सपश्चाग	सपश्चांग
३१३	४	शैथिल्य	शैथिल्यं
३१५	६	सामात्मकं	सोमात्मकं
३१६	९	मनेकाथंत्वात्	मनेकार्थत्वात्
३१९	९	चन्द्रमाश्च	चन्द्रमा च
३२०	१५	विहन्ति	जिघांसु (श्लोके)
३२५	१९	ज्ञानमात्रण	ज्ञानमात्रेण
३२७	११	वगन्तव्यूम	वगन्तव्यम्
३२७	१७	विष्णुहि	विष्णुर्हि

पृष्ठसंख्या	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३२९	१४	पराक्रमा	पराक्रमो
३२९	१७	व्यनति	व्यनक्ति
३३१	९	स्याष्टशो	स्याष्टादशांशो
३३२	१३	ब्राह्मण	ब्राह्मणं
३३४	१३	स वाचस्पति	वाचस्पति
३३६	१२	प्रापण	प्रापणं
३४०	२	प्रनिनक्षत्रं	प्रतिनक्षत्रं
३४०	११	समानथिके	समानार्थके
३४२	११	रित्युक्ता	रित्युक्तो
	१	नाम्नाक्ता	नाम्नोक्तो
३४४	१	लाकसम्मितोऽयं	लोकसम्मितोऽयं
३४८	१२	यन्त्र णां	यन्त्राणां
३४९	६	निमण	निर्माणं
३५०	३	लोकस्तथ (श्लोके)	पुरुषस्तथा
३५०	१०	चात्रव	चात्रैव
३५०	२३	प्रोतः	स्रोतः
३५१	१३	दृश्यमनं	दृश्यमानं
३५३	४	विज्ञापकाऽक्ष	विज्ञापकोऽक्ष
३५४	१३	भेदविभक्ताः	भेदैर्विभक्ताः
३५५	७	न्यस्तामदं	न्यस्तमिदं
३५६	१	सम्प्रमदनः	सम्प्रमर्दनः
३५६	४	वाह्निः	वह्निः
३५६	२८	पुमरात्मा	पुनरात्मा
३५७	७	जाता	जातो
३५८	९	वत्तने	वर्तने
३५८	१२	सगः	सर्गः
३६०	१२	अश्वाष्ट्र	अश्वोष्ट्र
३६०	१३	यानयः	योनयः
३६१	३	कुम्भकता	कुम्भकृतौ (श्लोके)
३६१	३	प्रमृदनति	प्रमृद्नाति (श्लोके)
३६[illegible]	८	सम्प्रमदन	सम्प्रमर्दन

पृष्ठ संख्या	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३६१	८	भवान्	भगवान्
३६२	३	संवत्तकः	संवर्त्तकः
३६३	४	स्व	स्वं
३६३	११	लाकान्तरेषु	लोकान्तरेषु
३६३	१३	निम्बा	निम्बो
३६३	१४	धम	धर्मं
३६५	८	परयणो	परायणो
३६५	३२	भवादिगण	भ्वादिगण
३६६	२	जीवन	जीवनं
३६६	३	कम जाति	कर्म जगति
३६६	१०	सवविधश्र्वर्याणामिति	सर्वविधैश्वर्याणामिति
३६६	१२	कर्त्तार	कर्तारं
३६७	२	मुपति	मुपैति
३६७	६	त्यनलः	त्यनिलः
३६८	९	उक्ता	उक्तो
३६८	१३	विश्वामदं	विश्वमिदं
३६८	१६	करणयाश्च	करणयोश्च
३६९	३	तस्मद्	तस्माद्
३७०	१५	समथयन्ति	समर्थयन्ति
३७१	४	सयोजितः	संयोजितः
३७१	५	लक्षण	लक्षणं
३७१	८	श्चाक्तः	श्चोक्तः
३७१	९	सज्ञा	संज्ञो
३७१	१४	एवंवधाभ	एवंविधाभि
३७२	१४	बिभ्यति	बिभेति
३७२	१३	आन दः	आनन्दः
३७३	२	व्यंजन्ति	व्यंजयन्ति
३७३	२०	पर	पार
३७४	१०	र्वा	सर्वा
३७४	१६	कालभेदः	कालभेदैः
३७४	२२	६३२ तथा ६३१	६३१ ६३२

पृष्ठ संख्या	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३७६	१५	प्रतिपद	प्रतिपदं
३७७	१५	गवान्	भगवान्
३८२	८	प्रतिपद	प्रतिपदं
३८२	८	सयुनक्ति	संयुनक्ति
३९०	९	गँधाधकि:	रौधादिक:
३९२	३	स्वय	स्वयं
३९३	२	प्रसिद्ध	प्रसिद्धे
३९४	२३	लोकोदाहरसम्पुष्ट	लोकोदाहरणसम्पुष्ट

श्रीविष्णवे नमः

महाभारतान्तर्गत–श्रीविष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्

[श्री १०८ सत्यदेव-वासिष्ठ-विरचित-"सत्यभाष्य"–समन्वितम्]

भाष्यकर्तुर्मङ्गलाचरणम्

श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रं व्याचिख्यासुर्निर्विघ्नं परिसमाप्तिकामो भाष्यकारो विष्णोर्नमस्कारात्मकं मङ्गलं कुरुते दशभिः पद्यैः—

अथाऽऽनियन्तारमजं परेशं, पुरातनं नूतनवद्विभान्तम् ।
विश्वस्वरूपैरभिव्यज्यमानमव्यक्तरूपं पुरुषं नमामि ॥१॥

अथ+आङ्=समन्तात् नियन्तारमिति विग्रहः । अजप्रभृतीनि विष्णोर्नामानि तानि यथास्थानं व्याख्यास्यन्ते ॥१॥

श्रीविष्णवे नमः

श्रीविष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्

भाष्यकारकृत मङ्गलाचरण

श्री विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र के भाष्य का प्रारम्भ करते हुये भाष्यकार भाष्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिये निम्नलिखित दश पद्यों से भगवान् विष्णु की वन्दना करते हैं ।

अथानियन्तेति—

अथ शब्द मंगलवाचक है, इसलिए भाष्यकार इसका अपने भाष्य के आदि में प्रयोग करते हैं जिससे यह भाष्य तथा इस भाष्य के पढनेवाले सब मङ्गल तथा सुख समृद्धि प्राप्त करें, यह भाष्यकार की हार्दिक इच्छा है । मैं उस पुरातन तथा अव्यक्त पुरुष को नमस्कार करता हूँ, जो पुरातन तथा अव्यक्त होता हुआ भी विश्व के विविध रूपों में व्यक्त होकर नूतन सा प्रतीत हो रहा है । जो परमैश्वर्यशाली तथा अजन्मा है । (अथ+आनियन्तारं) तथा जो समस्त जगत् को नियम में बांधनेवाला है । अज आदि विष्णु नामों का पाठक्रम से प्राप्त स्थानों में व्याख्यान किया जायेगा ॥१॥

योऽव्यक्तमात्मानमनन्तकर्मा, स्वाभाविकज्ञानबलक्रियाभिः ।
विलक्षयन्नूतनतामुपैति, सनातनं तं पुरुषं नमामि ।।२।।

यदुक्तं "नूतनतामुपैति" तत्र मन्त्रलिङ्गं यथा-"सनातनमेनमाहुरुताद्यः स्यात् पुनर्णवः । अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ।" [अथर्व १०।८।२३] ।।२।।

यः पापभाजोऽपि पुनाति सद्यो युनक्ति पुंसः पुरुपुण्यपंक्त्या ।
स्वानन्यभावात्तमहं दयालुं, वन्दे शिवं विश्वशरण्यमीशम् ।।३।।

शरणे=रक्षणे साधुः शरण्यः । शिव इति सप्तदशे श्लोके सप्तविंशन्नाम ।

स विश्वनिर्माणविधौ विधानं, सर्गादिकाले विहितं विधत्ते ।
यथाप्रतिज्ञं, न विधानभङ्गं करोति, तं विश्ववशं नमामि ।।४।।

विश्वविधानं यथा सृष्टेरादित आरब्धं तथाधुनाऽऽप्रलयञ्च विधत्ते, विधास्यते च, स्वारब्धविधानस्य भङ्गं न करोतीत्यर्थः ।

योऽव्यक्तमिति—

उस सनातन पुरुष को मैं नमस्कार करता हूँ जिसके कर्मों का अन्त नहीं, तथा जो अपने स्वभाव सिद्ध कर्मों ज्ञानों तथा बलों के द्वारा अपने आपको विविध भावों में व्यक्त करता हुआ प्रतिक्षण नवीनता को प्राप्त होता रहता है ।

इस पद्य में कथित "नूतनतामुपैति" इस वाक्यार्थ को "सनातनमेनमाहुरुताद्य स्याद पुनर्णवः" यह अथर्ववचन प्रमाणित करता है ।।२।।

यः पापभाज इति—

सकल विश्व के रक्षक शिव नामधेय भगवान् विष्णु की मैं वन्दना करता हूं, जो अत्यन्त पापी पुरुषों अर्थात् जीवों को भी अपने प्रति, या अपने में अनन्य भाव होने पर उन्हें अत्यन्त पुण्यशाली बना देता है ।

शरण्य नाम शरण देनेवाले का है । भगवान् विष्णु का २७ सताइसवा नाम शिव है ।।३।।

स विश्वनिर्माणविधाविति—

उस सकल विश्व के नियन्ता भगवान् विष्णु को मैं नमस्कार करता हूँ, जो सृष्टि के प्रारम्भ काल में की हुई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सर्व निर्माण क्रम को कभी भंग नहीं होने देता ।।४।।

पूर्णः स्वयं यो न कुतश्चनोनः, पूर्णं विधत्ते स जगद् यथात्मम् ।
पूर्णाततं वैश्वमथापि पूर्णं, प्रणौमि पूर्णं परिपूर्णतेप्सुः ॥५॥

"न कुतश्चनोनः" (अथर्व १०।८।४३।) पूर्ण इत्यर्थः । यच्चोक्तं स जगत् पूर्णं विधत्ते तत्र मन्त्रलिङ्गं यथा—
"पूर्णात्पूर्णमुदचति" (अथर्व १०।८।२९।) । अन्यच्च यदुक्तं पूर्णतेप्सुरिति तत्र मन्त्रलिङ्गम्—"यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः" (यजुः ३६।२।) ॥५॥

यशोबलस्थानविशेषवीप्सोः, कर्मार्थसक्तस्य च नैव काव्यम् ।
कवेः क्रियावद् भवतीति हेतोर्भूयाद्विरामो मम सव्य एकः ॥६॥

विशेषेण-ईप्सुर्वीप्सुस्तस्य । क्रियावत्=क्रियाकरं सफलमित्यर्थः । विराम इति पञ्चनवत्युत्तरं त्रिशततमं नाम विष्णोः ॥६॥

स्यादेकतो विश्वमिदं समस्तं, किन्तेन विष्णुर्यदि मेऽस्ति सव्यः ।
ज्वरारिविष्णोः पदमाप्तुकामो मन्ये स्तुवँस्तत्र जगत्तृणाय ॥७॥

पूर्णः स्वयमिति —

जो सर्वथा पूर्ण, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की कमी=न्यूनता नहीं है, वह इस जगत् को भी अपने समान पूर्ण ही बनाता है, इतना ही नहीं, किन्तु विश्व का प्रत्येक पदार्थ उस पूर्ण रूप परमात्मा से व्याप्त होने से पूर्ण है, उस पूर्ण को मैं पूर्णता प्राप्त करने के लिए प्रणाम करता हूँ। "न कुतश्चनोनः" यह अथर्ववेद का वचन उसकी पूर्णता का प्रतिपादन करता हैं। इस पद्य में जो कहा है कि, वह जगत् को पूर्ण बनाता है, इस अर्थ की पुष्टि इस अथर्ववचन से होती है "पूर्णात्पूर्णमुदचतीति । इसी पद्य में कथित पूर्णता प्राप्ति की प्रार्थना की "यन्मे छिद्रं चक्षुषो" इत्यादि यजुर्वेद मन्त्र से पुष्टि होती है ॥५॥

यशोबलेति—

जो कवि, यश, बल, स्थान, कर्म, अर्थ आदि प्राप्त करने की इच्छा से काव्य का निर्माण करता है, उसका किया हुआ वह काव्य वस्तुतः सफल नहीं होता, इसलिये मैं भगवत्प्रीत्यर्थ केवल निष्काम भाव से 'काव्य' भाष्य की रचना करता हुआ, भगवान् विराम की प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे इस भाष्य निर्माणरूप कार्य में अनुकूल होवें।

'विराम' यह भगवान् विष्णु का पाठक्रम से ३९५ वां नाम है ॥॥६॥

स्यादेकत इति—

भाष्यकार, भगवान् विष्णु के अनुकूल होने पर अपनी कार्य सफलता में दृढ विश्वास प्रकट करते हुये कहते हैं, यह सकल विश्व भी यदि मेरा शत्रु=प्रतिकूल बन जाये किन्तु भगवान् विष्णु यदि मेरे अनुकूल होवें तब मैं इस सम्पूर्ण विश्व को तिनके के समान भी नहीं समझता, इसीलिये मैं सब प्रकार के सन्तापकारक विघ्नों का नाश करनेवाले श्री विष्णु की स्तुति

सव्यः=अनुकूल इति विवक्षितार्थः। यदि भगवान् विश्वाध्यक्षो विष्णुर्मेऽनुकूलस्ततो जगत् तृणेन सममपि न मन्य इत्यर्थः। ज्वर इति रोगसामान्यवाचकः शब्दो, ज्वरारिः=ज्वरनाशकः। यदुक्तं चरके "विष्णुं सहस्रमूर्द्धानं चराचरपतिं विभुम्। स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति" [च. चि. स्था. अ. ३।३१२]। कायिक-वाचिक-मानसिक-रूपाणां तापानामरिर्नाशको विष्णुरेवौषधरूपेण भिषग्रूपेण च। औषधं भिषगिति च विष्णोरेव नाम्नी, क्रमशः-अष्टसप्तत्युत्तरं पञ्चशततमं, तथा नवसप्तत्युत्तरं पञ्चशततमञ्च ॥७॥

वाचस्पते! वाचि विराज मेऽद्य, वाग्लेखनीदोषमपाकुरुष्व।
स्पष्टाभिधानो मम बुद्धिवृत्तिं स्पष्टां विधेहि स्पश विघ्नवर्गम् ॥८॥

वाचस्पतिरिति विष्णोश्चतुःसप्ततितमे पद्ये, त्रिसप्तत्युत्तरं पञ्चशततमन्नाम। पञ्चपञ्चाशत्तमे श्लोके नवत्युत्तरं त्रिशततमं नाम परमस्पष्ट इति।

स्पश=बाधस्वेत्यर्थः ॥८॥

सदा समुद्रेषु नदीनदेषु स एव विष्णुर्गिरिगह्वरेषु।
सर्वत्र विश्वे सुनिगूढरूपो, मह्यं मतिं यच्छतु भाष्यकर्त्रे ॥९॥

सदेति पद्येन भाष्यकारो बुद्धिशुद्ध्यै भगवन्तं प्रार्थयते, तस्य सर्वत्र सत्त्वाद् बुद्धावपि तस्य सत्ता ॥९॥

करता हूँ, जिससे कि मुझे विष्णुपद की प्राप्ति होवे। ज्वर शब्द रोग साधारण का वाचक है. रोग, व्यथा=वेदना का नाम है, वह चाहे शारीरिक, मानसिक, वाचिक शत्रुजन्य, किसी प्रकार की भी हो उसका नाश श्री विष्णु ही करता है, जैसा कि चरक में कहा है—"विष्णुं सहस्रमूर्द्धानमित्यादि।" ज्वरनाश के लिये स्वयं विष्णु ही औषध तथा भिषक् है, विष्णु सहस्र नाम के पाठक्रम से ये औषध तथा भिषक् दोनों नाम ५७८ तथा ५७९ वें हैं ॥७॥

वाचस्पते इति—

हे वाचस्पते! विष्णो! आप मेरी वाणी में विराजमान होकर वाणी तथा लेखनी को सब प्रकार के दोष से निर्मुक्त करदें, तथा आपका एक नाम 'स्पष्ट' भी है, इसलिये यथा नाम तथा गुण के अनुसार सब काम क्रोध लोभादि विघ्न वर्ग का बाध करके मेरी बुद्धिवृत्ति को स्पष्ट=निर्मल बनादे। वाचस्पति यह विष्णु का ७४ वें पद्य में ५७३ वां नाम है, तथा परम स्पष्ट यह ५५ वें पद्य में ३९० वां नाम है ॥८॥

सदेति—

समुद्र, नदी, नद, तथा पर्वतों की गुफा आदि रूप विश्व के स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थान में अलक्षित तथा अन्तर्यामी रूप से विराजमान भगवान् विष्णु मुझ भाष्यकार के लिये भाष्यकरणक्षम बुद्धि प्रदान करें ॥९॥

न मामकीना मयि शक्तिरस्ति, ज्ञानात्मिका वापि धनात्मिका वा ।
त्वच्छक्त्यपेक्षस्तव दिव्यनाम्नां भाष्याम्बुधेः पारमियां सुखेन ॥१०॥

न मामकीनेति पद्येन भाष्यकारो भाष्याम्बुधेः तरणाय स्वनैर्बल्यं प्रकटयन् भगवत्साहाय्यमपेक्षते ॥१०॥

न मामकीनेति—

इस पद्य में भाष्यकार भाष्य करने में, ज्ञान तथा धन रूप सामर्थ्य की अपने में न्यूनता दिखलाते हुए कहते हैं, भगवन् ! न मुझ में इतना ज्ञान है, तथा न मेरे पास इतना धन है, जिसकी सहायता से इस भाष्यरूप महोदधि के पार पाने में सफल बनूं, किन्तु मुझे विश्वास है आपकी अनुग्रहरूप शक्ति से इस तेरे दिव्य नामों के भाष्याब्धि को सुखपूर्वक पार करलूंगा ॥१०॥

भाष्यकर्तुरात्मभावप्रकाशनम्

वेदाम्बुधेः समाहृत्य, ग्रथिता रत्नमालिका ।
विष्णोर्नामसहस्रस्य, श्रीव्यासेन महर्षिणा ॥१॥
ज्योतिर्मयी निर्गुण[1]नाममाला, सद्भावसद्भाव[2]गुणानुबद्धा ।
धृता हृदा हार्दतमो निरस्य, चकास्तु सा मे परमार्थ[3]दीपा ॥२॥

1– निर्गुण इति भगवतश्चत्वारिंशदुत्तराष्टशततमं नाम ।

2– सद्भावः=सत्स्वरूपे भगवति यो भावो=मानसोऽनुरागः स एव सद्भावरूपो गुणस्तेनानुबद्धाऽनुस्यूता=अनुगतेत्यर्थः ।

3—परम-अर्थं दीपयति=प्रकाशयतीति, परमतत्त्वप्रकाशिकेत्यर्थः ।

सहस्रनेत्रः स सहस्रशीर्षा, सहस्रपादश्च सहस्रबाहुः ।
सहस्रधामाथ सहस्रनामा, सनातनो मेऽस्तु सदा शिवाय ॥३॥

भाष्यकार का आत्म-भाव प्रकाशन

"सत्यभाष्य" के निर्माण में हेतुभूत अपने भाव को भाष्यकार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

परम पूज्य श्री महर्षि व्यास जी ने वेदरूप समुद्र 'रत्नाकर' से चुन चुन कर श्री विष्णु के सहस्रनामरूप रत्नों की माला का ग्रन्थन किया है ॥१॥

किस प्रकार की यह माला है ? इस पर भाष्यकार कहते हैं कि यह भगवान् निर्गुण के नामों की माला ज्योतिर्मयी है, भगवान् विष्णु का नामों के पाठक्रम से ८४० वाँ नाम निर्गुण है, सर्वगुण सम्पन्न होता हुआ भी भगवान् सत्त्व, रज, तम आदि प्राकृत गुणों के सम्बन्ध से रहित होने से निर्गुण है। तथा स्वयं प्रकाशमान भगवान् का ८७७ वां नाम ज्योति है, नाम और उसके अर्थ "वाच्य" का परस्पर अभेद सम्बन्ध होने से, उसकी नाममाला ज्योतिर्मयी है। भगवान् का ४७८ वां नाम सत् है, उस सत् में जो भाव=अनुराग, वह ही सद्भाव रूप सूत्र है, जिससे यह निबद्ध=ग्रथित की गई है, तथा नाम ही अर्थ का प्रकाशक होता है, इसलिये यह, परमार्थ जो सब का अर्थनीय=प्राप्तव्य परमतत्त्व है, उसकी प्रकाशिका है, ऐसी यह विष्णु नाममाला मेरे द्वारा हृदय से धारण की हुई, मेरे हृदय के सकल अज्ञान रूप तम का निरास=नाश करके, सदा देदीप्यमान रहे ॥२॥

सहस्र शब्द अनन्त का वाचक है, जिसके अनन्त नेत्र-शिर-पाद-भुजा-धाम=स्थान या तेज-तथा नाम हैं. ऐसा सनातननामा भगवान् मेरा कल्याण करे ।

यहाँ भाष्यकार सहस्र शब्द से भगवान् विष्णु की सकल जगद्रूप व्यापकता, तथा सदा नित्यैकरूपरसता को प्रकट करते हैं तथा उस अनन्त सनातन से ही कल्याण की प्रार्थना करते हैं। "भूल्येव सुखं नाल्पे" यह यथार्थ सिद्धान्त है ॥३॥

जगन्नियन्तुर्गुणगातुकामः करोमि तन्नामसहस्रभाष्यम् ।
सलोकदृष्टान्तसमन्त्रलिङ्गमध्येतृदुःखान्तकरं समूलम् ॥४॥

न कामये किञ्चिदिहत्यमर्थं, निष्कामयोगी परमार्थकामः ।
सदा यते विश्वजनीनबुद्धिरकाम[1]कामैकवितोषणाय ॥५॥

1—न कामयन्ते किञ्चिदित्यकामा भक्तास्तान् कामयत इत्यकामकामो भगवान् तस्य एकं=केवलं वितोषणं=प्रसादनं तस्मै ।

न मेऽस्ति मेरुर्बहुमाननीयः, सुवर्णरूपो [1]जनयोगहीनः ।
मन्ये महीखण्डमनल्पयोगं, यद्युज्यतेऽशेषपदार्थशुद्ध्यै ॥६॥

1. जनशब्दः साधारण्यतात्पर्येण प्रयुक्तो जनसाधारणसम्बन्धरहित इत्यर्थः ।

न मे प्रयासोऽस्ति यशोऽधिगन्तुं, नार्थं तथा काममथापि कञ्चित् ।
तथापि विश्वार्तिजिहीर्षयाहं, प्रावर्तिषीहातुल[1]भाष्यकार्ये ॥७॥

1. अतुलं=असमं=उत्तममित्यर्थः ।

मैं जगन्नियन्ता भगवान् विष्णु के गुणों के वर्णन की इच्छा से, लौकिक दृष्टान्त तथा मन्त्रप्रमाणों सहित इस अध्येताओं का समूल दुःख का नाश करनेवाले श्रीविष्णु सहस्रनाम के भाष्य करने में प्रवृत्त हुआ हूँ ॥४॥

भाष्यकार अपने वास्तविक अभिप्राय को इस पद्य से प्रकट करते हैं— मैं परमार्थरूप भगवान् विष्णु के प्रसादनार्थ, विश्वहित बुद्धि से निष्काम भाव से सम्पूर्ण कार्य करता हूँ, मुझे अपने लिए किसी लौकिक पदार्थ की आवश्यकता नहीं। इससे भाष्यकार का सत्यभाव यह प्रतीत होता है कि, मैं जो कुछ खान-पान या अन्य लौकिक कार्य करता हूँ, वे मेरे लिए नहीं, किन्तु भगवत्तोषार्थ, विश्व के हित की बुद्धि से करता हूँ ॥५॥

भाष्यकार के इस भाव की पुष्टि इनके निम्नलिखित पद्य से होती है—मैं सुवर्णगिरि (मेरू) महीधर को इतना आदर नहीं देता, जितना कि एक छोटे मिट्टी के ढेले को देता हूँ, क्योंकि मिट्टी के ढेले से साधारण जन का भी पदार्थ की शुद्धि आदिरूप कार्य सिद्ध होता है जब कि सुवर्णगिरि (मेरू) केवल सुनने में ही आता है, न कि किसी के काम में ॥६॥

मैं इस सर्वोत्तम भाष्य का निर्माण किसी यश धन या अन्य काम की प्राप्ति के लिये नहीं कर रहा हूँ किन्तु भगवान् विष्णु के प्रसादनार्थ तथा विश्व की पीड़ा के निराकरणार्थ कर रहा हूँ ॥७॥

भूमिकारूपाः पञ्चदशश्लोकाः

विश्वतः पाणिपादं तं, विश्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
वन्दे विश्वचरं विष्णुं, विश्वाद्यं विश्ववेदसम् ॥१॥

सर्वेऽथ ते ब्रह्मविदः पुराणा, वेदार्थसृत्यै कृतभूरियत्नाः ।
वेदार्थबोधे विमुखेषु सम्यग्, ग्लानिं प्रयातेषु मनःसु नृणाम् ॥२॥

नृणां मनोग्लान्यपनेतुकामा, वेदप्रसाराहितमूललक्ष्याः ।
तदर्थबोधौपयिकानि सर्वे, शास्त्राणि निन्युः प्र च ते बहूनि ॥३॥

धातून् परस्थानुत वागमादीन्, प्रकल्प्य विच्छिद्य दयालवस्ते ।
सज्ज्ञानकोशं निखिलाधिमोषं, वेदं ररक्षुः प्रणमामि तांस्तान् ॥४॥

भाष्यकार अपने इष्टदेव श्री विष्णु, तथा परम पूज्य महर्षियों की वन्दना करते हुये, अपने इस भाष्य के करने में प्रवृत्ति के उद्देश्य को इस प्रकार प्रकाशित करते हैं —

मैं उस भगवान् विष्णु की वन्दना करता हूँ, जो इस चराचर रूप विश्व के बाहर "पृथक्" रहता हुआ इसका आदिभूत कारण, तथा विश्व के प्रत्येक कण कण में व्यापक रूप "विश्वचर" रूप से रहता हुआ "विश्ववेदाः" सबका अच्छी प्रकार जाननेवाला सर्वज्ञ है, तथा जो "सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमल्लोके" इत्यादि उपनिषद् वचनानुसार, सब ओर से हस्त-चरण-नेत्र-शिर-मुख तथा श्रोत्रवाला है ॥१॥

जिन वेद के तत्त्वदर्शी महर्षियों ने, मनुष्यों के मनों को वेदार्थ ग्रहण तथा वेद के पठन पाठन में सघृण तथा विमुख देखकर, वेदार्थ ज्ञान और वेद के प्रसार के लक्ष्य से फिर से वेद के पठन पाठन में मनुष्यों की रुचि उत्पन्न करने के लिये महान् प्रयत्न किया, और इसके लिये उन्होंने, धातु अर्थात् मूलप्रकृति, प्रत्यय तथा आगमादि की कल्पना करके संहिता रूप में विद्यमान पदों का अवच्छेद 'विग्रह' करके वेदार्थ को सुगम "सुग्रह" बनाने के लिये व्याकरणादि वेदाङ्गों का निर्माण करके सत्यज्ञान स्वरूप वेदों की रक्षा की, उन परमोपकारी महर्षियों को मैं बद्धाञ्जलि प्रणाम करता हूँ ।२॥३॥

तथा मैं उन दयालु महापुरुषों का आभारी तथा कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अविरत परिश्रम करके, मनुष्यमात्र के निःश्रेयसाभ्युदय के साधन, ज्ञानकोश वेदों की रक्षा की ॥४॥

तेषां तथाऽऽकारमिमं प्रयत्नं, समीक्ष्य नामापनस्तु नाम्नाम् ।
भाष्यं तनोम्यात्ममनःप्रसत्त्यै, वेदस्य सत्यार्थसमर्पकस्य ॥५॥
लोकेन वेदोऽपि च तेन लोकः, परस्पर तौ व्यतिपुष्यमाणौ ।
स्वज्ञानकर्मोभयरूपरूप्यं, विश्वं विधत्तः परिपूर्णरूपम् ॥६॥
तस्मात्प्रसङ्गो न विवादवाचां कृते प्रयत्ने मयकाल्पमात्रे ।
स्वान्तःसुखायैव मया प्रयस्तं, विज्ञा ! विवादाय मतिर्न कार्या ॥७॥
न ह्यन्तपारं भगवद्गुणानां, नाम्नां कुतः स्यात्तु गुणानुगानाम् ।
प्रख्यातमात्राणि च यानि तानि, व्यासेन नामानि समाहृतानि ॥८॥
व्यासाङ्कितान्यत्र समीक्ष्य विज्ञाः, स्वच्छं मनः स्वं परिनन्दयन्तु ।
नन्द्यं वचो वा किमु वापि निन्द्यं, मह्यं ददत्वाग्रहमुक्तभावम् ॥९॥
न मेऽस्ति वाञ्छा यशसो न रायो, वाञ्छाम्यहं विघ्नविघातमेकम् ।
जीवं महेच्छुं विविधा हि विघ्ना आसर्गमायु परिखेदयन्ति ॥१०॥

उन महर्षियों द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करता हुआ मैं अन्तःकरण की प्रसन्नता तथा शुद्धि के लिये श्रीविष्णुसहस्रनाम व्याख्या के बहाने से सत्य अर्थ के प्रतिपादक वेद का भाष्य करने में प्रवृत्त हुआ हूँ ॥५॥

वेद और लोक दोनों ही एक दूसरे से समन्वित अनुस्यूत है अर्थात् वेदरूप ज्ञान और लोकरूप कर्म दोनो से ही विश्व का स्वरूप निष्पन्न होता है, अर्थात् यों कहिये, विश्व का प्रत्येक पदार्थ ज्ञान और कर्म का समुदित रूप है। ये ज्ञान कर्म दोनों परस्पर एक दूसरे को पुष्ट करते हुए इस विश्व को स्वरूप से पूर्ण करते हैं ॥६॥

इस भाष्य के बनाने में किया हुआ मेरा प्रयास, विद्वानों के विवाद का विषय न बनकर, मेरे तथा सत्पुरुष विद्वानों के मनःप्रसाद का कारण होगा, यह मेरा निश्चय है ॥७॥

भगवान् के गुण तथा गुणानुगामी नामों के अनन्त होने से सब का संग्रह करना केवल कठिन ही नहीं, परन्तु असम्भव है, इसलिए महर्षि व्यास जी ने केवल उन ही नामों का संग्रह किया है, जो लोक तथा वेद में प्रसिद्ध हैं ॥८॥

मैंने उन ही नामों का यहाँ भाष्य में व्याख्यान रूप से विस्तार किया है, आशा है विद्वान् पुरुष इसे आदर पूर्वक पढकर आत्मप्रसाद तथा भगवत्प्रसाद रूप परम लाभ प्राप्त करते हुये मेरे प्रयास को सफल करेंगे, मेरे लिये वे आग्रह से विमुक्त निष्पक्ष भाव से निन्द्य = निन्दनीय अथवा नन्द्य = नन्दनीय = प्रशंसनीय वचनों का प्रयोग करें, यह उनकी अपनी इच्छापर निर्भर है ॥९॥

मुझे धन वा यश की इच्छा नहीं है, मैं केवल मेरे गन्तव्यपथ=श्रेयोमार्ग में, किसी प्रकार की बाधा न आये यह ही चाहता हूँ, क्योंकि प्रायशः महत्त्वाकांक्षी पुरुषों के मार्ग में जीवन पर्यन्त नाना प्रकार के विघ्न रुकावटें "अवरोध" किया करते हैं ।१०।

रजस्तमोभ्यां तु मनोऽनुविद्धं, शश्वत्परं सर्वपथीनमत्र ।
करोति विभ्रान्तमतिर्नरश्च, प्रेयःसु सर्वं वय आक्षिणोति ॥११॥
नाम्नां जपेनेह गुणप्रकाशं, वित्त्वा विदो वेदवचोऽनुरूपम् ।
श्रेयोऽथवा प्रेय उपेत्य धर्मं, स्वैरं वयः स्वं परितो व्ययन्ताम् ॥१२॥
भूराद्यमेकं पदमस्य भूम्नो भुवर्द्वितीयं स्वरथो तृतीयम् ।
तुरीयपादेन च विक्रमोऽयं कृताकृतं पश्यति लोकवृत्तम् ॥१३॥
महार्थतन्नामविवेकजातं तद्भावलेशो जपकाम्ययाहम् ।
महामहिम्नोऽमितनामभाष्यं कर्तुं प्रवृत्तोऽस्मि मनःप्रसत्त्यै ॥१४॥
को नाम मूढोऽमितदुःखदूनः पराहतो विघ्नगणैरजस्रम् ।
तं दीननाथं जगदीशमाद्यं जगच्छरण्यं शरणं न गच्छेत् ॥१५॥

रजोगुण तथा तमोगुण से अनुविद्ध "युक्त" मन इस श्रेयोमार्गी मनुष्य को अपने लक्ष्य से च्युत करके विविध प्रकार के अन्यान्य लक्ष्यों में भरमाता रहता है, जिससे भ्रान्त होकर मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन को भोगप्राप्ति के प्रयत्नों में ही बिता देता है।११।

भगवन्नाम को निरन्तर जपने से शुद्ध हृदय पुरुष भगवान् के गुणों का ध्यान करता हुआ "श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत: तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर:" इस कठोपनिषद् वचनानुसार विचारक अपनी इच्छा से श्रेय या प्रेय मार्ग का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत करे।१२।

वेदादि शास्त्रों में भगवान् भूमस्वरूप विष्णु की, सविशेषरूप से तीन पादों में कल्पना की गई है, जो इस प्रकार है—

१ प्रथमपाद भूलोक, २ द्वितीयपाद भुवर्लोक, ३ तृतीयपाद स्वर्लोक है, ये तीनों पाद कल्पित हैं, तथा ४ चतुर्थपाद जो निर्विशेष रूप विक्रम है, उसके आश्रित है। तुरीय विक्रम इन सब के कृत-अकृत लोकवृत्त को देखता रहता है तथा इन सब का आलम्बन है।१३।

नोट-इस विषय का विशेष व्याख्यान-त्रिविक्रम ५३०, त्रिलोकात्मा ६४६, त्रिलोकेश ६४७, तथा त्रिलोकधृक् ७५१, नामों के व्याख्यान में करेंगे।

महार्थशाली भगवन्नाम के ज्ञान से मेरे हृदय में भगवान् के प्रति कुछ प्रेमांश उत्पन्न हुआ इसी से मैं भगवन्नामों के जप की इच्छा से इस विष्णु सहस्रनाम के भाष्य को करने में प्रवृत्त हुआ हूँ ॥१४॥

ऐसा कोई ही मूढ नर होगा, जो निरन्तर सर्वथा नाना प्रकार के विघ्नों से पराभूत होकर भी सकल जगत् के रक्षक भगवान् विष्णु की शरण में न जाये ॥१५॥

श्री विष्णुसहस्रनाम

[पदच्छेद–सत्यभाष्य–राष्ट्रभाषानुवादसहितम्]

वैशम्पायनो जनमेजयमुवाच—

श्रुत्वा धर्मानशेषेण पावनानि च सर्वशः ।
युधिष्ठिरः शान्तनवं पुनरेवाभ्यभाषत ॥ १ ॥

पदच्छेदः—

श्रुत्वा, धर्मान्, अशेषेण, पावनानि, च, सर्वशः ।
युधिष्ठिरः, शान्तनवम्, पुनः, एव, अभ्यभाषत ॥

सत्यभाष्यम्:—

वैशम्पायनो व्यासशिष्यः । यो हि व्यासादिष्टो जनमेजयाय भारतं श्रावितवान् । यथोक्तं महाभारते (आद्यपर्वणि अ० १)

जनमेजयेन पृष्टः सन्, ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
शशास शिष्यमासीनं, वैशम्पायनमन्तिके ॥
स सदस्यैः सहासीनः, श्रावयामास भारतम् ।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ॥

स वैशम्पायनो यजुर्वेदे तस्य व्यासस्य शिष्यः । यथाह—

अथ शिष्यान् प्रजग्राह, चतुरो वेदपारगान् ।
जैमिनिञ्च सुमन्तुञ्च, वैशम्पायनमेव च ॥
पैलं तेषां चतुर्थं च, पञ्चमं मां महामुनिः ।

वैशम्पायन जी राजा जनमेजय को कहते हैं—

हे राजन् ! धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने धर्म तथा पापों का क्षय करनेवाले धर्मरहस्यों को सब प्रकार से सुनकर शान्तनु के पुत्र भीष्म से पुनः पूछा ।

वैशम्पायन जी व्यास जी के शिष्य हैं । जिसने व्यास जी की आज्ञा से जनमेजय को 'महाभारत" सुनाया था । जैसा कि महाभारत के आदिपर्व अ० १ में कहा गया है —

"हजारों ब्राह्मणों से परिवृत जनमेजय के पूछने पर व्यास जी ने अपने पास में बैठे हुए शिष्य वैशम्पायन को इनकी जिज्ञासा शान्ति के लिए महाभारत सुनाने का आदेश दिया । तदनुसार यज्ञ - धर्म सम्बन्धी पवित्र कर्मों की ओर बार बार प्रवृत्त करते हुए सदस्यों के साथ विराजमान राजा जनमेजय को महाभारत सुनाया ।

ये वैशम्पायन व्यास जी के शिष्य यजुर्वेद के अध्ययन से बने थे । जैसा कि — कूर्मपुराण के ४८ वें अध्याय में कहा है —

महामुनि व्यास जी ने चारों वेदों में पारङ्गत करने के लिए जैमिनि, सुमन्तु, वैशम्पायन, पैल और पाँचवें मुझ को शिष्य बनाया । उनमें ऋग्वेद को सुनानेवाले पैल हुए तथा

ऋग्वेदश्रावकं पैलं जग्राह स महामुने ! ॥
यजुर्वेद-प्रवक्तारं, वैशम्पायनमेव च ।
(कूर्मपुराणे ४८ अध्याये)

जनमेजयश्च परीक्षितस्य पुत्रः सर्पदमनयज्ञस्य कर्ता । तद्यथा—

सर्पापसर्प भद्रं ते, दूरं गच्छ महाविष ! ।
जनमेजयस्य यज्ञान्ते, आस्तीकवचनं स्मर ॥
आस्तीकवचनं श्रुत्वा, यः सर्पो न निवर्त्तते ।
शतधा भिद्यते मूर्ध्नि, शिशवृक्षफलं यथा ॥

सर्पदमनयज्ञस्थानम् -'सफीदम' इति वर्तमाननाम्ना प्रसिद्धं नगरं जींद-मण्डलेऽस्ति ।

अथ च सिद्धार्थां=पीतसर्षपं पूर्वोपन्यस्तश्लोकमभिमन्त्र्यैकविंशतिधा पाठेन ससर्पे गृहे प्रकोष्ठे वा विकिरणात् सर्पोऽपसर्पतीति परीक्षितमस्माभिः ।

धर्मान् लोकद्वयसुखसाधकान् कर्मकरणविधानान्, अभ्युदय-निःश्रेयसकरान् वा, अथवा चोदनालक्षणान् सत्कर्मणि प्रेरकानितिहासोपबृंहितान् भावानाचारान् वा, अशेषेण सर्वात्मना श्रुत्वा निशम्य तथा च पावनानि पापक्षयकराणि जप-होम-देवतार्चन-बलि-दानादीनि च सर्वश सर्वतो भावेन श्रुत्वा युधिष्ठिरो धर्मपुत्रः शान्तनवं शान्तनोरपत्यं भीष्मं पुनर्भूय एवाभ्यभाषत, प्रत्यक्षतः प्रश्नैरात्मनो जिज्ञासां संशयान् वा परिमार्ष्टुं प्रश्न चकार ।

यजुर्वेद के प्रवक्ता वैशम्पायन हुए ।

जनमेजय राजा परीक्षित के पुत्र सर्पदमन यज्ञ के कर्ता थे । जैसा कि कहा गया है —

हे सर्प ! हे महाविष ! यहां से दूर चला जा । तेरा कल्याण हो । जनमेजय के (द्वारा किए गए) नागयज्ञ के अन्त में महर्षि आस्तीक के वचनों का स्मरण कर । जो सर्प आस्तीक के वचन सुनकर अपने स्थान से चला नहीं जाता है उसका सिर शिश वृक्ष के फल के समान सैंकड़ों टुकड़ोंवाला हो जाता है ।

सर्प-दमन यज्ञ का स्थान 'सफीदम' नामक वर्तमान नगर प्रसिद्ध है जो कि जींद जिले में है । किंवदन्ती के अनुसार मध्यप्रदेश के नागदा' नगर को भी 'नागदाह' मानकर सर्पदमन यज्ञ का स्थल मानते हैं अतः यह इतिहास द्वारा गवेषणीय है ।

ऊपर बताये गये 'सर्पापसर्प' आदि दोनों श्लोकों से पीली सरसों के कुछ दाने २१ बार अभिमन्त्रित कर जिस स्थान पर सर्प हो वहां डाल देने से सर्प चला जाता है । यह परीक्षित प्रयोग है ।

धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने श्रद्धा-पूर्वक ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख देनेवाले कर्म करने के विधान को, अभ्युदय और निःश्रेयस् कारक अथवा सत्कर्म की ओर प्रेरित करनेवाले इतिहास आदि से प्रशसित भावों-आचारों को तथा पापनाशक जप, होम, देवपूजा, बलिदान आदि की क्रियाओं से युक्त धर्मों को पूर्ण रूपेण सुनकर शान्तनु के पुत्र भीष्म को पुनः इस प्रकार कहा — प्रत्यक्ष में प्रश्नों द्वारा अपनी जिज्ञासा-शङ्काओं को दूर करने के लिये प्रश्न किया ।

प्रश्नो हि द्विप्रयोजनको भवति- अनुक्तजिज्ञासार्थम्, श्रुतस्य च निःसंशयार्थमिति कृत्वात्र स्वल्पप्रयासाध्यं जन्मजराव्याधिविध्वंसक घोरसंसारवन्धनाच्च विमोक्तृ किमप्यनुक्तं कर्म यद्धर्मार्थकाममोक्षसाधनं स्यात् तज्ज्ञातुं प्रश्नं चकार ॥१॥

युधिष्ठिर उवाच—

किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम् ।
स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥२॥

किम्, एकम्, दैवतम्, लोके, किम्, वा, अपि, एकम्, परायणम् ।
स्तुवन्तः, कम्, कम्, अर्चन्तः, प्राप्नुयुः, मानवाः, शुभम् ॥

प्रथमः प्रश्नः—

अत्र दैवतमिति पदस्य नपुंसकलिंगत्वात् *किमिति* च नपुंसके प्रयुक्तं, देव एव देवता "देवात्तल्" (पा० ५।४।२७) इत्यनेन स्वार्थे तद्धितस्तल् । तलन्तोऽयं देवता-शब्दः स्वभावादेव स्त्री-लिंग एव निरूढः । देवता एव दैवतम् प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे तद्धितोऽण् "स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितो लिंगवचनान्यतिवर्तन्त एव" इति वैय्याकरणानां समयः । इति कृत्वा एक एव पुल्लिंगो देवशब्दः, देवता दैवतमिति च लिंगान्तरं प्राप्नोति । लोके -लोकृदर्शनार्थाद् घञि लोकः, लोकनं लोक इति । लोक्यते दृश्यते चराचरं येन यस्मिन् वा स लोकः, तस्मिन् । लोकृ भाषार्थो चुरादावपि दृश्यते, तेन लोक्यति भाषते इति लोकः, लोक्यते भाष्यते-ऽनेनास्मिन् वा स लोकः । एतेन सर्वविधवाग्विषयात्मको लोको गृहीतो भवति, वागाश्रया च सर्वा विद्याः, तस्मात् समस्तविद्यास्थाने विद्यागम्ये भुवि वा । "*किमेकं दैवतं लोके*" इति प्रथमः प्रश्नः ।

प्रश्न दो प्रकार के होते हैं — जो बात नहीं कही गई हो उसे जानने के लिये तथा सुनी हुई बात को शङ्कारहित करने के लिये । इस प्रकार यहां स्वल्प प्रयास से सिद्ध होनेवाले, जन्म, जरा, व्याधि नाशक, घोर ससार के बन्धन से छुडानेवाले अनुक्त कर्म को जो कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधक हो, उसे जानने के लिये प्रश्न किया है ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—

लोक में एक देवता कौन है ? और इस लोक में एक ही परम आश्रय स्थान कौनसा है ? किसकी स्तुति और अर्चना करते हुए मानव कल्याण को प्राप्त कर सकते हैं ?

पहला प्रश्न—

दृष्टि तथा वाणी के विषय, सब प्रकार की वाणी के व्यापार रूप समस्त विद्याओं से वेद्य इस जड़ चेतन के सङ्घात रूप लोक में एकमात्र सब का प्रकाशक तथा स्वयं प्रकाश स्वरूप देव कौन है ? यह पहला प्रश्न हुआ ।

द्वितीयः प्रश्नः—

किं वाप्येकं परायणम् ? किं वा अपि, अपि चार्थे। अस्मिन् लोक एकं केवलमन्यस्य सहायापेक्षारहितम् परममुत्कृष्टं प्रशस्तं वा, अयनं गमन प्राप्तव्यं वास्ति यदधिकृत्य सर्वाः क्रियाः प्रवर्त्तन्ते, यदधिगम्य च द्वन्द्वातीतो भवति। विद्याविनयसम्पन्नो युधिष्ठिरो "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" यजुः० ३१-१८ इति मनसि ध्यायन् प्रश्नं चकार--किं वाप्येकं परायणमिति।

तृतीयः प्रश्नः—

स्तुवन्तः कं मानवाः शुभं प्राप्नुयुरिति ? मानवाः मनोः सुताः, अत्र मानवा इति पदनिर्देशेन ज्ञाप्यते यत् सर्व एव ब्राह्मण-क्षत्रिय-वश्य-शूद्राः, ब्राह्मणादिचतुर्भ्योऽप्यतिरिक्ताः पंचजनाः तत्संवन्धिन्यः स्त्रियश्च परिगृह्यन्ते, कं कतमं देवं स्तुवन्तः स्तुति-श्लोकैः-रागरागिणीभिरुत वा सामभिः कुर्वन्तः, साम यथा—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २
उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोपावस्तधिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥

(साम सं०-प्र०-दशति-२, मं०-४)

अस्य गीतिर्यथा—

२ १ ४र ५र १ १
उपा त्वाऽ२३ग्ने दिवेदिवाइ। दोषा २ वास्ता २ :
२ १र १ २ १र २
धियावयाम्। नामो २ भारा २। तएमा २३ सा ३४३ इ।
१
ओ २३४५इ। डा ॥ थु ॥ २४ ॥

तथा च—

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अथा ते सुम्नमीमहे ॥

(सामसं०-उत्तरार्चिक् प्र०-४, द्वितीयार्धे मं०-१३)

दूसरा प्रश्न—

और इस लोक में किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा रखे बिना परम उत्कृष्ट, प्रशंसनीय अथवा प्राप्त करने योग्य जिसका आश्रय लेकर सभी क्रियाएं प्रवर्तित होती हैं, जिसे जानकर मनुष्य शीत-ग्रीष्म, सुख-दुःखादि द्वन्द्व से रहित हो जाता है ऐसी वस्तु क्या है ? यह दूसरा प्रश्न विद्या-विनय सम्पन्न युधिष्ठिर ने 'उसके अतिरिक्त जाने का कोई मार्ग नहीं है' इस वैदिक मन्त्र की पंक्ति का स्मरण करते हुये पूछा।

तीसरा प्रश्न—

मनु की सन्तान मानव (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और ब्राह्मणादि चारों से भी अतिरिक्त वर्णसङ्करादि पञ्चजन तथा उनसे सम्बद्ध स्त्रियां) किस देव की राग-रागिणी अथवा सामवेद-गत "उप त्वाग्ने दिवे दिवे" जैसे मन्त्रों द्वारा स्तुति—गुणों का कीर्तन करने से कल्याण को

गीतिर्यथा —

१ . २ १२ २ २ २ २
तुवा २ हायिन: पित.वसाउ । त्वं माताशतक्रतो बभूविथ ।

१ १ १ २र
अथो २ हा उ २ । ते २ । सुम्नमोमहे २ ॥ इत्यादि ।

शुभं कल्याणं, कल्याणं कलनीयं कमनीयं वा भवति काम्यते वा सर्वैरिति, प्राप्नुयुः लभेरन्निति तृतीयः प्रश्नः ।

चतुर्थः प्रश्नः—

कं कतमं देवमर्चन्तः, अन्तर्बहिश्च तस्य गुणप्रकाशनं कर्म-अर्चनमुच्यते । तथा च वेदः "अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत", (अथर्व-२०-६२-५) ।

अन्यच्च--गायन्ति त्वा गायत्रिणो अर्चन्त्यर्कमर्किणः (सामसं०-प्र०-४, द-६

प्राप्त कर सकते हैं ? यह तीसरा प्रश्न हुआ ।

चौथा प्रश्न —

तथा किस देव के आन्तरिक और बाह्य गुण प्रकाशन अथवा पूजन रूप 'अर्चत प्रार्चत' (अथर्व) और 'गायन्ति त्वा गायत्रिणो' (साम.) वेदादि विविध मन्त्र प्रतिपादित कर्म= अर्चना को करते हुए नानाविध इच्छित फलों को प्राप्त किया जा सकता है ? इच्छित फल अनेक हैं, जिसका कि वर्णन विष्णु सहस्रनाम के अन्त में आया है । यह चौथा प्रश्न हुआ ।

वि०-उपरिलिखित भाष्य में दैवत शब्द का नपुंसक लिंग में प्रयोग क्यों हुआ इसका समाधान करते हुए बतलाया है कि देव ही देवता है यहां देव शब्द से स्वार्थ में (किसी विशेष अर्थ को बतलाने के लिए नहीं) तद्धित का तल् प्रत्यय हुआ है । तलन्त यह देवता शब्द स्वभावतः स्त्रीलिंग है । अतः प्रज्ञादिगण पठित देवता शब्द से पुनः स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ और फिर नपुंसकलिङ्ग बन गया । वैयाकरणों का यह नियम है कि स्वार्थिक प्रत्यय से निष्पन्न शब्द प्रकृति से अतिरिक्त लिङ्ग वचनों को प्राप्त कर लेते हैं । इसलिये पुलिङ्ग देव, स्त्रीलिङ्ग देवता और नपुंसक दैवत शब्द समानार्थक हैं ।

लोकृ धातु, भ्वादि और चुरादि में पठित क्रमशः दर्शनार्थक तथा भाषार्थक है । इस से कर्म अर्थ में घञ् प्रत्यय होने से 'लोक' शब्द बनता है, जो द्रष्टा की दृष्टि या वाणी का विषय, अर्थात् जो दृश्य तथा अभिधेय हो वह चराचर समूह लोक है ।

इस व्युत्पत्ति के आधार पर लोक के अर्थ में सर्वविध वाणी के व्यापार का ग्रहण होता है तथा वाणी के अर्थवाली ही सब विद्याएं होती हैं । अतः समस्त विद्यास्थान में विद्यागम्य भूमि में यह लोक शब्द का अर्थ अभिप्रेत है ।

परायण का अर्थ — पर= उत्कृष्ट, अयन = गमन अथवा प्राप्त करने योग्य, अर्थात् उत्कृष्ट प्राप्ति के योग्य है । मानव=मनु की सन्तान । अर्चन —आन्तरिक और बाह्य गुण प्रकाशन रूप कर्म ।

मं०-१। इत्यादिविविधमन्त्रप्रतिपादितमर्चनं कुर्वन्तो मानवाः शुभं कल्याणं कमनीयमर्थं प्राप्नुयुर्लभेरन्निति। शुभस्य वांछितार्थस्य बहुत्वात्। सहस्रनामसंग्रहान्ते फलानि कथयन् नानाविधानि फलानि वक्ति, भिन्नो भिन्नो हि वांछितार्थो लोकस्य। इति चतुर्थः प्रश्नः ॥२॥

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन् मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ॥३॥

कः, धर्मः, सर्वधर्माणाम्, भवतः, परमः, मतः ।
किं, जपन्, मुच्यते, जन्तुः, जन्म-संसार-बन्धनात् ॥

पंचमः प्रश्नः—

कः कतमो धर्मः, धर्म-शब्दो हि प्रथमे श्लोके व्याख्याततरः, अथवा नाना-विधकृतलक्षणव्यूहात्मकानां धर्माणां मध्ये परमः प्रकृष्टः श्रेष्ठ उत्कृष्टो वा, भवत इति पदेन प्रत्यक्षं भीष्मो लक्ष्यते। मतः--अभिप्रेत आदृतो वेति पंचमः प्रश्नः।

षष्ठः प्रश्नः—

किं जपन् मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ? कतमं जप्यं जपन् जपो हि नाम त्रिविधलक्षणः--उच्चैरुच्चार्यमाणः, उपांशुरुच्चार्यमाणो मनसि चोच्चार्यमाण

कर्मकाण्ड की प्रक्रिया से आस्तिक लोग पंचोपचार, षोडशोपचार और चतुःषष्ट्युपचार, राजोपचार आदि के रूप में आवाहनादि–समर्पणान्त पूजा आगम-सम्मत करते हैं तथा योगादि शास्त्रसम्मत आन्तरिक ध्यानादिविधानानुसार अन्तःपूजन होता है।

स्तुति के विविध प्रकार भी वेद और तन्त्रशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं जिनमें 'सहस्रनाम' जप भी एक है। यहां-'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कहकर अपने स्वरूप का निदर्शन कराने वाले परमात्मा की सामगान द्वारा स्तुति किस तरह होती है उसका भी सामान्य निर्देश किया गया है ॥२॥

हे भीष्म जी ! आप समस्त धर्मों में पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त किस धर्म को परम श्रेष्ठ मानते हैं तथा किसका जप करने से जननधर्मवाला प्राणी जन्म-मरण रूप संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है ?

पांचवां प्रश्न —

हे भीष्म जी ! विविध लक्षण और प्रक्रियाओंवाले धर्म के समुदाय में कौन-सा धर्म, धर्म-कर्म आपको उत्तम प्रतीत होता है ? अथवा किस धार्मिक कार्य को आप श्रेष्ठ या उत्कृष्ट मानते हुए उसका समादर करते हैं ?

छठा प्रश्न —

तथा जप, अर्चन और स्तवन के अधिकारवाला मनुष्यदेहधारी जीव तीन प्रकार के (१) भाष्य (२) उपांशु और (३) मानसिक पृथक्-पृथक् समुचित फल देनेवाले जपों द्वारा

मं०-१) इत्यादिविविधमन्त्रप्रतिपादितमर्चनं कुर्वन्तो मानवाः शुभं कल्याणं कमनीयमर्थं प्राप्नुयुर्लभेरन्निति । शुभस्य वांछितार्थस्य बहुत्वात् । सहस्रनामसंग्रहान्ते फलानि कथयन् नानाविधानि फलानि वक्ति, भिन्नो भिन्नो हि वांछितार्थो लोकस्य । इति चतुर्थः प्रश्नः ॥२॥

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन् मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ॥३॥

कः, धर्मः, सर्वधर्माणाम्, भवतः, परमः, मतः ।
किं, जपन्, मुच्यते, जन्तुः, जन्म-संसार-बन्धनात् ॥

पंचमः प्रश्नः—

कः कतमो धर्मः, धर्म-शब्दो हि प्रथमे श्लोके व्याख्यातचरः, अथवा नाना-विधकृतलक्षणव्यूहात्मकानां धर्माणां मध्ये परमः प्रकृष्टः श्रेष्ठ उत्कृष्टो वा, *भवत* इति पदेन प्रत्यक्षं भीष्मो लक्ष्यते । *मतः*--अभिप्रेत आदृतो वेति *पंचमः प्रश्नः ।*

षष्ठः प्रश्नः—

कि जपन् मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ? कतमं जप्यं जपन् जपो हि नाम त्रिविधलक्षणः--उच्चैरुच्चार्यमाणः, उपांशुरुच्चार्यमाणो मनसि चोच्चार्यमाण

कर्मकाण्ड की प्रक्रिया से आस्तिक लोग पंचोपचार, षोडशोपचार और चतुःषष्ट्युपचार, राजोपचार आदि के रूप में आवाहनादि—समर्पणान्त पूजा आगम-सम्मत करते हैं तथा योगादि शास्त्रसम्मत आन्तरिक ध्यानादिविधानानुसार अन्तःपूजन होता है ।

स्तुति के विविध प्रकार भी वेद और तन्त्रशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं जिनमें 'सहस्रनाम' जप भी एक है । यहां-'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कहकर अपने स्वरूप का निदर्शन कराने वाले परमात्मा की सामगान द्वारा स्तुति किस तरह होती है उसका भी सामान्य निर्देश किया गया है ॥२॥

हे भीष्म जी ! आप समस्त धर्मों में पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त किस धर्म को परम श्रेष्ठ मानते हैं तथा किसका जप करने से जननधर्मवाला प्राणी जन्म-मरण रूप संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है ?

पांचवां प्रश्न —

हे भीष्म जी ! विविध लक्षण और प्रक्रियाओंवाले धर्म के समुदाय में कौन-सा धर्म, धर्म-कर्म आपको उत्तम प्रतीत होता है ? अथवा किस धार्मिक कार्य को आप श्रेष्ठ या उत्कृष्ट मानते हुए उसका समादर करते हैं ?

छठा प्रश्न —

तथा जप, अर्चन और स्तवन के अधिकारवाला मनुष्यदेहधारी जीव तीन प्रकार के (१) भाष्य (२) उपांशु और (३) मानसिक पृथक्-पृथक् स्मृत्युक्त फल देनेवाले जपों द्वारा

इति, पृथक् पृथक् च त्रयाणां फलं स्मृतिप्रूत्तम्। जन्तुर्जन्मधर्मा, जन्तु-शब्दनिर्देशात् सर्व एव मनुष्यदेहधारिणो जपाचनस्तवनादिषु लब्धाधिकाराः सन्तीति विज्ञापयति, जन्मसंसारबन्धनात् जन्मबन्धनात् संसारबन्धनादिति, जन्मनि मातृगर्भशय्याया अवश्यम्भावित्वेन बन्धनात्, जन्मोत्तरं च शरीरेण सह रोग-शोक-जरामरणादीनि च बन्धनान्यपि जन्मबन्धनान्येव, तत्र विशेषं क्लेशमनुभवति जीव इति कृत्वा जन्म-बन्धनान्मुक्तेरुपायः पृष्टः।

संसारबन्धात्--सम्यक् सरतीति संसारः, समेकोभावेऽव्ययम्, एकीभावेन नियतगत्या सरणं गमनं यस्मिन् स संसारः, यथा हि सर्गादौ सूर्यादीनामुदयास्तौ भवतः स्म तथैवाद्यापि, अमुयैवायं जीवोऽपि मातृभवं सम्बन्धबन्धनं, पितृभवं सम्बन्धबन्धनं स्त्रीभवं सम्बन्धबन्धनम्, स्त्री च पतिभवं सम्बन्धबन्धनं, सहजस्वभावेन हातुं न शक्ता भवतीति, सर्वविधसम्बन्धेष्वेवं कल्पना कर्त्तव्या भवति, सम्बन्धो हि पूर्वजन्मकृतलेयदेयसमापनार्थं भवति। स च पुन-द्विधा योनिसम्बन्धो विद्यासम्बन्ध इति, तत्र मोहरज्जुर्महती दृढा सती सर्वान् परस्परं निबध्नन्ती जीवं पापे पुण्ये वा नियोजयति। तत्र चिराभ्यस्तै राजस-तामसकर्मभिर्भूयो भूयो जन्मजरामरणदुःखव्याधीननुभवन् जीवो विशेषमुद्विग्नः

मातृगर्भशय्या से मुक्त जन्म होने के पश्चात् रोग, शोक जरा-मरणादि निरन्तर सूर्यादि के उदयास्त की भांति माता, पिता, स्त्री, सहोदर आदि के सम्बन्ध से उत्पन्न पूर्वजन्म के लेने-देनेवाले बन्धनों से मुक्त होने के लिये किसका जप करें ? यह छठा प्रश्न किया है।

वि०- जन्मबन्धन और संसार बन्धन की विशेष विवेचना करते हुए भाष्यकार ने बतलाया है कि जन्म से पूर्व माता के गर्भ में अनेकविध कष्ट होते हैं जो अनिवार्यतः भोगने पड़ते हैं। क्योंकि मातृगर्भशय्या के बिना जन्म सम्भव नहीं है। और जब जन्म हो जाता है तो शारीरिक रोग-शोकादि जन्मबन्धन भी बढ जाते हैं जिनसे जीव सदा पीड़ित रहता है अतः जन्म बन्धन से मुक्ति का उपाय पूछा गया है।

संसार-बन्धन का भाव समझाते हुए लिखा है कि— उचित रूप से जिसमें गमन होता रहे वह संसार है। जैसे कि सूर्योदय और सूर्यास्त अपनी नियत गति से होते रहते हैं वैसे ही यह जीव भी माता के सम्बन्ध से, पिता के सम्बन्ध से पति का स्त्री के सम्बन्ध से, स्त्री का पति के सम्बन्ध से इसी प्रकार अन्य सहज सम्बन्ध से, बने हुये बन्धन तथा पूर्वजन्म के लेन-देन से, बने हुये बन्धन यौन और विद्यागत दोनों प्रकार के बन्धनों से जीव की मोहरज्जु पूर्णतया दृढ होती जाती है तथा जीव की पाप अथवा पुण्य की ओर प्रवृत्ति करती रहती है। चिरकाल से अभ्यस्त राजस-तामस कर्मों के कारण पुनः जन्म, जरा, मरण दुःख व्याधि को सहन करता हुआ जीव नितराम् उद्विग्न होकर

सन् संसारबन्धनान्मुक्तो भवितुमिच्छति मार्गयति च तदुपायानिति कृत्वा षष्ठः प्रश्नः । यदुक्तं लक्षणव्यूहात्मको धर्म इति तत्र—

> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ (मनु: अ० ६।९२)
> इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
> अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ (विदुरनीतौ)

एवमादयः कृतव्यूहा धर्माः ।

'किमेकं दैवतं लोके' इत्यारभ्य 'किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धना'-दित्यन्ताः षट् प्रश्नाः ॥३॥

भीष्मो युधिष्ठिरं प्रत्युत्तरमुवाच—

भीष्म-शब्दमधिकृत्य किंचिदुच्यते, "भियः षुग् वा" (पंचपाद्युणादि १। १४८। दशपाद्युणादि-७। ३५।) इत्यनेन "ञिभी भये" जौहोत्यादिकान्मक्प्रत्ययो भवति षुगागमश्च विकल्पेन, अपादानकारके प्रत्ययः, बिभेति बिभ्यति वा यस्माद् यस्या वा स भीमो भीष्मो वा, स्त्री चेद् भीमा भीष्मा वा। भयानकः, भयानिका वा, 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्येदाप्यसुपः' इतीत्वम् । भीष्मः शान्तनोः सुतः प्रसिद्धः, भीमः पाण्डोः सुतः प्रसिद्धः। प्रसंगतः—भीमा भीष्मा वा सेना यस्य स भीमसेनो भीष्मसेनो वा, स्त्रियां—भीमसेना भीष्मसेना वा, महाभारतप्रसिद्धो भीमो भीमसेन-नाम्नापि व्यवहृतो भवति । विशदार्थः—शत्रवो बिभ्यति यस्मात् स भीमो भीष्मो

संसार के बन्धन से मुक्त होना चाहता है तथा उसके लिये उपायों को खोजता है। इसलिये यह छठा प्रश्न किया गया।

यहां धर्म को जो अनेक लक्षणात्मक तथा प्रक्रियात्मक बतलाया है उसका ज्ञान निम्न लक्षणों से स्पष्ट है—

धैर्य, क्षमा, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण हैं।

पूजा, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और अलोभ ये आठ प्रकार के धर्म के मार्ग हैं।

'किमेकं दैवतं लोके' यहां से आरम्भकर 'जन्मसंसारबन्धनात्' यहां तक छः प्रश्न हैं ॥३॥

भीष्म जी युधिष्ठिर को उत्तर देते है—

यहां भीष्म शब्द का निर्वचन करते हुए कुछ कहते हैं — जुहोत्यादि गण पठित 'ञिभी भये' धातु से 'भियः षुग् वा' इस पंचपादि अथवा दशपादि उणादि सूत्र द्वारा मक् प्रत्यय और षुग् का आगम हो जाने से भीष्म शब्द बना है। यह प्रत्यय अपादान कारक में हुआ, जिससे सभी प्राणी डरते हैं वह भीष्म जिससे सभी शत्रु डरते हों वह भीष्म। अथवा बाह

वा, बहिःप्रवृत्तिमन्तीन्द्रियाण्यन्तःप्रवृत्तिमन्ति भवन्ति यस्मात् साधनविशेषात् तत् साधनं चापि भीमं भीष्मं वा, यस्मादुपदेशादात्ममनोदेहानां दोषा भीता इव दूरे दूरे यान्ति स उपदेशोऽपि भीमो भीष्मो वा, याभ्यो युक्तिविशेषाभ्यः परिषदः संसदो वा पार्षदा वाममतिं जहति सा युक्तिस्ता युक्तयो वा भीमा भीष्माः, भीमा भीष्मा वा। भीष्मा प्रतिज्ञा यस्य यस्या वा भीमः भीमा, भीष्मः भीष्मा वा, एवमन्यदप्यूहनीयं भवति ।

"*जगत्प्रभु*"मित्यादिना श्लोकेन "किं जपन्मुच्यते" इत्यात्मकस्य षष्ठस्य प्रश्नस्य समाधानमभिधीयते—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण, पुरुषः, सततोत्थितः ॥४॥

जगत्प्रभुम्, देवदेवम्, अनन्तम्, पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्, नामसहस्रेण, पुरुषः, सततोत्थितः ॥

जगतः प्रभु =जगत्प्रभुस्तं, जगत्--गच्छतीति जगत्, तस्थौ इति तस्थिवान् स्याघातोश्छन्दसि क्वसुः, स च लिटि। अत्र चरे जगति मनुष्य-पशु-पक्षि-सरीसृप-पिपीलिका-लिक्षादयो नेत्राभ्यामदृश्याः सूक्ष्मतमाश्च क्रिमयो जंगमाः। पर्वत-वृक्ष-धरादयो तद्विकाराश्च स्थिराः, परन्तु सर्वमेतद् भ्रमणशीलमिति कृत्वा गच्छतिधर्मं मूलतो न जहाति तस्माज्जगच्छब्देन गच्छतां स्थावराणां च समावेशनं क्रियत एव, अथवा सेन्द्रियं निरिन्द्रियं च चेतनाचेतनपर्यायं जगत् तस्य प्रभुरीश्वरः स्वामी वा। तथा चाह वेदः--*तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिमित्यादि* (यजुः--२५।१८)। वक्ष्यति चाग्रे सहस्रनामसंग्रहे "ईशानः" इति । देवदेवम् देवानां देवं, देवास्त्रयस्त्रिंशत्,

---

प्रवृत्तिशाली इन्द्रियां भी भय के कारण अन्तर्मुखी बन जाती हैं जिससे वह भीष्म। किंवा जिस उपदेश से आत्मगत दोष डरकर दूर चले जायें वह भीष्म। अथवा जिस युक्ति-विशेष से सभासद् विपरीत बुद्धि का त्याग कर देते हैं वह भीष्म। ये ही अर्थ भीम के भी होते हैं। भीष्म प्रतिज्ञा में भी यही अर्थ निहित है ।

स्थावर–जङ्गमरूप संसार के स्वामी, ब्रह्मा आदि देवों के देव, देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न, क्षर-अक्षर से श्रेष्ठ पुरुषोत्तम का सहस्रनामों के द्वारा निरन्तर तत्पर रहकर गुण-सङ्कीर्तन करने से पुरुष सब दुःखों से पार हो जाता है ।

जंगमशील-मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, पिपीलिका, लिक्षा आदि, नेत्रों से नहीं दिखाई देनेवाले सूक्ष्मतम कीड़े, स्थिर पर्वत, पृथ्वी, एवं इनके विकार; जो कि अपने धर्म का मूल से परित्याग नहीं करते ऐसे सेन्द्रिय और इन्द्रियहीन चेतन एवं अचेतनात्मक जगत के

यथा—अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादश आदित्याः, एक इन्द्रः=आत्मा। अथवा ज्ञानदातृत्वेन ब्रह्मादीनां प्रसिद्धानां वा देव इति देवदेवस्तं, अनन्तं-देशतः कालतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्नं, पुरुषोत्तम—"परं ज्योतिः स उत्तमः पुरुषः" तं, तथा च गीतायां पञ्चदशाध्याये—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्षराक्षराभ्यां कार्यकारणाभ्यां भिन्नः पुरुषस्तं, उक्तं च—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥
(मुण्डकोपनिषद् २।१।२)

तथा च यजुषि—

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (३१।३)

नामसहस्रेण=नाम्नां सहस्रेण, यद्यपि नाम्नां सहस्रेणानन्तस्येयत्तावधारणं न कर्तुं शक्यते तथापि जापकस्य सौलभ्यायाल्पतमं परिगणनमेतत्, स्तुवन् गुणानामाख्यानं त्रिविधजपविधानेन संकीर्त्तनं वा कुर्वन्, सततोत्थितः-यस्य कर्मणो यः कालस्तमनतिवर्त्तयन्। पुरुषः, पुरि शरीरे शेते तिष्ठति यस्मात् पुरुषो जीवोऽत्र ग्राह्यः, तथा च वेदः—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

ईश्वर; आठ वसु ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा एक इन्द्र-आत्मा इन तैंतीस देवताओं के देव; देश, काल, और वस्तु से अपरिमेय - अनन्त; परमज्योतिःस्वरूप (गीता, मुण्डकोपनिषद् एवं वेदमन्त्र-द्वारा प्रतिपादित) पुरुषोत्तम की सहस्रनाम (यद्यपि हजार की संख्या देकर परमात्मा के नामों की इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती फिर भी जापक की सरलता के लिये) द्वारा गुणाख्यान, त्रिविध जपविधान अथवा सङ्कीर्तन करता हुआ अष्टचक्रा

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥
(अथर्व १०।२।३१-३२)

यक्षमत्र मनः-यथा च वेदे-यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु (यजुः-३४।२) पुरि जगति शयनात् व्यापनात् पुरुषः परमात्मा चोच्यते। सर्व-दुःखातिगः-सर्वाणि दुःखान्यतिगच्छतीति सर्वदुःखातिगो भवेत् संपद्येत इति सर्वत्र संबध्यते ॥४॥

तमेव चार्चयन्नित्यमित्यादिश्लोकेन "कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभ"मित्यनेन चतुर्थ प्रश्नं समादधाति—

तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।
ध्यायंस्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥५॥

तम्, एव, च, अर्चयन्, भक्त्या, नित्यम् पुरुषम्, अव्ययम् ।
ध्यायन्, स्तुवन्, नमस्यन् च, यजमानः, तम्, एव, च ॥

तमिति पदेन पूर्वनिर्दिष्टं जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमं संकेतयति, एव अत्र विनिश्चयार्थे। चकारोऽत्र समुच्चये। बाह्यक्रियाकलापसहितः-ऋग्भिरर्चनं कुर्वन् तमेव चार्चयन्निति निर्देशेन सर्वासां पाषाणकृतानां मृत्स्नया वा साधितानां मसिना वा कल्पितानां मूर्त्तीनां पूजार्चनविधौ प्रतिषेध उक्तो भवति, नित्यं निरन्तरमभ्यस्यमानं कर्म साधकस्य दृढभूमिं निर्वर्त्तयति, तच्च नित्यमभ्यस्यमानं मनोवाक्कायिकं कर्म भक्त्या भक्तियुक्तया बुद्ध्या कृतं स्यात्, तं कमिति विस्पष्टयति पुरुषं पूर्णत्वात् पुरि ऊर्ध्वाधोलोकेषु शयितारं वर्त्तमानं पुनस्तं विशिनष्टि अव्ययं जन्मजरामरणादिशारीरक्रियारहितमेकरसमेतेन जन्मवतां राम-कृष्णादीनां जगत्प्रभुत्वं निवारितं भवति, तमेव चाव्ययं पुरुषं ध्यायन् मनसि चिन्तयन् ऋग्भिः श्लोकैरुत वा रागरागिणीभिः स्तुवन् स्तुतिं कुर्वन्--तथा च वेदः 'स्तोमैर्विधेमाग्नये'

और नव द्वारा पुरी में व्याप्य अथवा जगत् में व्याप्त रहनेवाला पुरुष अपने प्राप्तकालानुरूप कर्मों को सम्पादित कर सब दुःखों से मुक्त होता है।

वि० इस पद्य का सम्बन्ध छठे पद्य के 'सर्वदुःखातिगो भवेत्' पद से है अतः इसका तीनों पद्यों में अन्वय होता है। भाष्यकार ने पुर और मन के लिये वैदिक प्रमाण भी ऊपर दिये हैं ॥४॥

पूर्वोक्त (कमर्चन्तः) इस चतुर्थ प्रश्न का समाधान तमेव चार्चयन्नित्यादि पाँचवें पद्य से किया गया है, एव शब्द से अन्य विष्णु से भिन्न की पूज्यता की व्यावृत्ति होती है, अर्थात् सदा एकरस अविकारी भगवान् विष्णु का ही भक्ति पूर्वक ध्यान, पूजन, स्तवन, नमन तथा यजन करने से मनुष्य सब प्रकार के दुःखों

(अथर्व० २०।१।३), च समुच्चयार्थे, नमस्यन् नमस्कारं कुर्वन् मन्त्रलिंगं च यथा— "नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा" (अथर्व ११।२।१६) । "नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य" (अथर्व० ११।२।३) । पूजांगभूताभ्यां स्तुतिनमस्काराभ्यां तमेवाव्ययं पुरुषं यजमानः=यजन् सर्वदुःखातिगो भवतीति शेषः ।।५।।

अनादिनिधनमित्यादिस्थैस्त्रिभिः पादैस्तृतीय प्रश्नं "स्तुवन्तः कमिति" समादधाति—

> अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
> लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ।।६।

> अनादिनि[illegible]नम्, विष्णुम्, सर्वलोकमहेश्वरम् ।
> लोकाध्यक्षम्, स्तुवन्, नित्यम्, सर्वदुःखातिगः, भवेत् ।।

अनादिनिधनं षड्भावविकाररहितं, षड्भावविकारा यथा— जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति, निरुक्ते (१।२) । अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह, ते च यथावचनमभ्यूहितव्याः (नि० १।३) विष्णुं वेवेष्टि चराचर जगदिति तं सर्वे लोकाः सर्वलोकाः, महांश्चासावीश्वरो महेश्वरः, सर्वलोकानां महेश्वरः सर्वलोकमहेश्वरस्तं लोकाः सप्तोर्ध्वगाः सप्त चाधोगाः, तथा च वेदः- स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा" (यजु० ३२।१०)। लोकाध्यक्षं लोकानधिकृत्याश्नुते व्याप्नोतीति लोकाध्यक्षस्तं, "अशेर्देवने" इत्यनेनोणादिकेनाशेः सः प्रत्यय. तेनाक्षः, लोकस्वामीत्यर्थस्तं नित्यं=व्यवधानरहितं स्तुवन् सर्वदुःखातिगो भवेत् स्यात् । दुःखं हि द्विप्रकारकं भवति-मानसं दुःखमाधि-संज्ञकं, शारीर व्याधिसंज्ञकम्, उक्तं च स्वकृते सत्याग्रहनीतिकाव्ये—

> आधि जपेन दानेन व्याधि वैद्यस्य संगमात् ।
> प्राप्तं दुःखं हरेद्यत्नान्न मुग्धो निष्क्रियो भवेत् ।।
> (अ० ४। पा १ श्लो० ६)

त्रिविधानि च पुनः—आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानीति ।।६।।

से मुक्त होकर कल्याण को प्राप्त करता है ।।५।।

इसीप्रकार (स्तुवन्तः कम्) इस तीसरे प्रश्न का समाधान अनादि निधनमित्यादि छठे पद्य के तीन पादों से किया गया है, जिसका आदि अर्थात् जन्म और निधन (मृत्यु) कभी नहीं होती, अर्थात् आदि शब्द से जन्मरूप प्रथम विकार और निधन शब्द से विनाशरूप अन्त विकार का निषेध किया गया है, तथा आदि और अन्त का निषेध करने से मध्यपाती विकारों का स्वतः निषेध समझना चाहिये. इस प्रकार से सब भाव विकारों से रहित सकल लोकों के नियन्ता, तथा सकलविश्व के अध्यक्ष भगवान् विष्णु का मन से तथा वाणी से स्तवन करता हुआ मनुष्य सब दुखों से मुक्त होकर कल्याण को प्राप्त करता है, यह तीसरे प्रश्न का

ब्रह्मण्यमित्यादिना पुनरपि तमेव स्तोतुमर्हं विशिनष्टि—

ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ।।७।।

ब्रह्मण्यम्, सर्वधर्मज्ञम्, लोकानाम्, कीर्त्तिवर्धनम् ।
लोकनाथम्, महद्भूतम्, सर्वभूतभवोद्भवम् ।।

ब्रह्मण्यं ब्रह्मणे ब्राह्मणाय वेदाय स्वयंभुवे तपसे हितं "तस्मै हितम्" (पा० ५।१।५) इति सूत्राधिकारे 'खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्चे'त्यनेन यत् प्रत्ययः । तथा च कोषः--वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः । (अमरे तृतीयकाण्डे नानार्थवर्गे ११४)। सर्वधर्मज्ञं सर्वान् धर्मान् जानातीति सर्वधर्मज्ञः, इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (पा० अ० ३ सू० १३५) इत्यनेन "कः" प्रत्ययः, तं लोकानां मनुष्याणां कीर्त्तिवर्धनं, कीर्त्तयो यशांसि, "यशः" स्वयं ब्रह्मणो नाम, तथा च वेदः "यस्य नाम महद्यशः" (यजुः-३२।३)। यशःस्वरूपत्वात् कीर्त्तकस्य यशांसि वर्धयति तस्मात् तद् कीर्त्तिवर्धनम्, लोकनाथं लोकानां नाथो लोकनाथस्तं, लोके नाथ्यते याच्ञार्थमुपस्थीयते, लोकानुपतापयते, शास्ति, लोकानामीष्टे (अत्र कर्मणि षष्ठी, "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" पा० सू०) इति वा लोकनाथस्तं, महद्भूतं महत्स्वरूपं मंत्रलिंगं च यथा—"यस्य नाम महद्यशः" (यजुः ३२।३)। तथा च-महांस्ते महतो महिमा" (अथर्व १३।२।२६)। सर्वजगत उत्कृष्टत्वात् महनीयत्वात् पूजनीयत्वाद् वा महत्, तद्भावतां गतं महद्भूतं, सर्वभूतभवोद्भवं=सर्वभूतानां प्राणिनां भव उत्पत्तिर्यत्सकाशाद्भवतीति स सर्वभूतभवोद्भवस्तम् ।।७।।

एष मे सर्वधर्माणामित्यादिना श्लोकेन "को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः" इत्येतस्य पंचमस्य प्रश्नस्य समाधानं करोति—

उत्तर हुआ ।।६।।

ब्रह्मण्यमित्यादि सप्तम श्लोक से पूर्वोक्त सब प्रकार से स्तुति करने योग्य भगवान् विष्णु के ही विशेष गुणों का वर्णन किया गया है । तथा हि वह भगवान् विष्णु जो ब्रह्म=वेद या विश्व के आदि पुरुष ब्रह्मा का सृष्टि विषयक ज्ञान प्रदान करने में हितकारक है, धारणलक्षण सकल धर्मों से सम्पन्न तथा सब का धारक है, सब लोकों का स्वामी तथा अपने भक्तों की कीर्ति (यश) को बढानेवाला है, ऐसे परम सत्य सकल विश्व की उत्पत्ति के कारण भगवान् विष्णु का स्तवन तथा नमन करता हुआ मनुष्य सब दुःखों से मुक्त होकर शुभ (कल्याण) को प्राप्त करता है ।।७।।

'एष मे सर्वधर्माणाम्' इत्यादि पद्य से 'को धर्मः' इस पांचवें प्रश्न का समाधान करते हैं—

एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥८॥

एषः, मे, सर्वधर्माणाम्, धर्मः, अधिकतमः, मतः ।
यत्, भक्त्या, पुण्डरीकाक्षम्, स्तवैः, अर्चेत्, नरः, सदा ॥

सर्वधर्माणां सर्वेषां चोदनालक्षणानामुत च लक्षणव्यूहीकृतानां धर्माणां मध्ये एष वक्ष्यमाणो धर्मोऽधिकतमो मे मम मतो मतः पूजित आदृतोऽभिप्रेतो वा। यद्भक्त्या यस्य सपर्यया पुण्डरीकाक्षं पुण्डरीकं हृदय तत्राश्नुते व्याप्नोतीति पुण्डरीकाक्षस्त हृदयं विशेषेण चेतनास्थानम् (सुश्रुतशा० ४ । ३१) । पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् (सुश्रुतशा० ४ । ३२) । उक्तं च गीतायां—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति* (अ० १८ । ६१) । तत्र स्वज्योतिषा प्रकाशमानस्य ज्योतिःस्वरूपस्य भगवतो गुणकीर्तनार्थं प्रवृत्ताभिश्छन्दोगीर्भिः सदा सूतकपातकव्यवधानमनादृत्य प्रातर्मध्याह्ने सायाह्ने निशीथे वा, यदा वा मनुष्यो लब्धावकाशः स्यात्तदैव, वक्ति च वेदः—*इन्द्राय साम गायत* (अथर्व २० । ६२ । ५), तथा च *अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासोऽर्चत* (अथर्व २० । ६२ । ५), सत्कारपूर्वकमर्चनं कुर्यात् नरः मनुष्यः, यदेष धर्म इति संबन्धः ।

किंचित् प्रसंगप्राप्तमुच्यते-सेवार्थाद् भौवादिकाद् भजधोतोर्भावे क्तिनि प्रत्यये भक्तिः शब्दो निष्पद्यते घञि च भाग इति । समानार्थौ भक्तिभागौ शब्दौ, यथा किंचिद्वस्तु स्वकेनांशेन पृथग्भूतं *भाग* इति संज्ञां लभते, अमुनैव विधिना

त्रिविधरूप सम्पूर्ण धर्मों में मैं इसी धर्म को सबसे बड़ा मानता हूँ कि मनुष्य अपने हृदयकमल में विराजमान कमलनयन भगवान् वासुदेव का भक्तिपूर्वक तत्परता सहित गुण संकीर्तनरूप स्तुतियों से सदा अर्चन करे ।

प्रेरणा लक्षणवाले अथवा लक्षण— समूह से निर्दिष्ट समस्त धर्मों में यह आगे कहा जानेवाला धर्म मुझे अधिक प्रिय है, पूजित है, और आदृत है । जिसकी भक्ति से हृदयव्यापी, अपनी ज्योति से प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप भगवान् के कीर्तन के लिये प्रवृत्त छन्दोमयी —वेदरूप वाणी के द्वारा निरन्तर सूतक, पातक आदि विघ्नों का प्रभाव न मानते हुए प्रातः मध्याह्न और सायंकाल अथवा रात्री में जब मनुष्य को अवकाश मिले उसी समय वेदाज्ञा के अनुसार सत्कार पूर्वक मनुष्य अर्चना करे ।

यहां भाष्यकार भक्ति तथा भाग शब्द को एक धातु से निष्पन्न होने के कारण एकार्थक मानते हैं । उनका कथन है कि जैसे किसी वस्तु का अपने ही अंश से पृथक्करण होने पर उसे भाग कहा जाता है वैसे ही त्रिविध लौकिक एषणा से पृथक्— यह मेरा नहीं है —इस प्रकार की भावना से किया हुआ काम भक्ति कहलाता है।

त्रिविधलौकिकैषणाया पृथग्भूतं इदन्न ममेति भावभावितं कर्म भक्तिरित्युच्यते, कुतः- लौकिकार्थाप्तिभ्यः पृथग्भूतत्वात् । लौकिकार्थसिद्धयै यत् क्रियाकलापात्मकं कर्मास्ति तत् पृथक्तया करणीयम्, तद्यथात्र लौकिकमुदाहरणम्-परप्रीत्यर्थं प्रत्तं दुग्धं परस्यात्मानं तर्पयति स्वात्मपरितुष्ट्यै च पुनः पृथक्क्रीतं सत् पानान्तरमात्मतोषाय कल्पते । सारार्थः--नैत्यिकं जपादिकं कर्म कृत्वा पुनः लौकिकार्थप्राप्त्यै तद्विधानानुसारं कर्म कर्त्तव्यं भवति, एवं व्याख्याने भजनं पृथक्करणं भक्तिर्भागो वा, भक्तिहि जीवं लौकिकार्थबन्धनात् पृथक्करोति, तया इदन्न ममेति भावभावितया भक्त्येति ।

स्तुतिलक्षणमर्चनं भीष्मेण केन हेतुनाधिक्येनाभिमतमित्यत्रोच्यते- स्तुतिर्हि केवलेनात्मसहायेन पुरुषेण द्रव्यमन्तरा, साधनमन्तरा परपीडनमन्तरा यथालाभलभ्ये च काले कर्त्तुं शक्येति कृत्वा स्तुतिलक्षणार्चनाधिक्येनाभिमता ।

स्मरणं चात्र—

> जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
> कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ (मनुः २ । ८७)

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि (गीता १० । २५) । महाभारतेऽपि—

> जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते ।
> अहिंसया च भूतानां जपयज्ञः प्रवर्त्तते ॥

क्योंकि यह लौकिक स्वार्थ से अलग वस्तु है । लौकिक स्वार्थ की सिद्धि के लिये जो क्रियाकलाप रूप कर्म है वह इससे पृथक् किया जाता है । जैसे कि दूसरे की तृप्ति के लिये दिया गया दूध दूसरे की तृप्ति के लिये ही होता है । और अपनी तुष्टि के लिये खरीद कर पिया गया दूध आत्मतुष्टि का कारण बनता है इसीलिये जपादि नित्य कर्म करने के पश्चात् ही लौकिक अर्थ प्राप्ति के लिये उस विधान के अनुसार कर्म करना पड़ता है । अतः भक्ति का अर्थ भाग उचित ही है, भजन इसी अर्थ का पोषक है । भक्ति जीव को लौकिक स्वार्थ के बन्धन से छुड़ा देती है —यह मेरा नहीं है इस भावना से यदि कर्म किया जाये तो ।

स्तुति लक्षणात्मक अर्चन भीष्म को क्यों अधिक सम्मत है ? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि स्तुति केवल आत्मपुरुषार्थवाले पुरुष के द्वारा द्रव्य एवं अन्य साधनों के अभाव में विना किसी को पीड़ा पहुंचाये की जाती है अतः अधिक सम्मत है । स्मरण से यहां जप का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि मनुस्मृति, गीता और महाभारत का भी यही मत है । तथा इसी बात को भाष्यकार ने स्वरचित पद्य से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

त्रिविधलौकिकैषणाया पृथग्भूतं इदन्न ममेति भावभावितं कर्म भक्तिरित्युच्यते, कुतः-लौकिकार्थाप्तिभ्यः पृथग्भूतत्वात्। लौकिकार्थसिद्ध्यै यत् क्रियाकलापात्मकं कर्मास्ति तत् पृथक्तया करणीयम्, तद्यथात्र लौकिकमुदाहरणम्-परप्रीत्यर्थं प्रत्तं दुग्धं परस्यात्मानं तर्पयति स्वात्मपरितुष्ट्यै च पुनः पृथक्क्रीतं सत् पानान्तरमात्मतोषाय कल्पते। सारार्थः--नैत्यिकं जपादिकं कर्म कृत्वा पुनः लौकिकार्थप्राप्त्यै तद्विधानानुसारं कर्म कर्त्तव्यं भवति, एवं व्याख्याने भजनं पृथक्करणं भक्तिर्भागो वा, भक्तिर्हि जीवं लौकिकार्थबन्धनात् पृथक्करोति, तया इदन्न ममेति भावभावितया भक्त्येति।

स्तुतिलक्षणमर्चनं भीष्मेण केन हेतुनाधिक्येनाभिमतमित्यत्रोच्यते-स्तुतिर्हि केवलेनात्मसहायेन पुरुषेण द्रव्यमन्तरा, साधनमन्तरा परपीडनमन्तरा यथालाभलभ्ये च काले कर्त्तुं शक्येति कृत्वा स्तुतिलक्षणार्चनाधिक्येनाभिमता।

स्मरणं चात्र—

> *जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।*
> *कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥* (मनुः २।८७)

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि (गीता १०।२५)। महाभारतेऽपि—

> *जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते।*
> *अहिंसया च भूतानां जपयज्ञः प्रवर्त्तते॥*

क्योंकि यह लौकिक स्वार्थ से अलग वस्तु है। लौकिक स्वार्थ की सिद्धि के लिये जो क्रियाकलाप रूप कर्म है वह इससे पृथक् किया जाता है। जैसे कि दूसरे की तृप्ति के लिये दिया गया दूध दूसरे की तृप्ति के लिये ही होता है। और अपनी तुष्टि के लिये खरीद कर पिया गया दूध आत्मतुष्टि का कारण बनता है इसीलिये जपादि नित्य कर्म करने के पश्चात् ही लौकिक अर्थ प्राप्ति के लिये उस विधान के अनुसार कर्म करना पड़ता है। अतः भक्ति का अर्थ भाग उचित ही है, भजन इसी अर्थ का पोषक है। भक्ति जीव को लौकिक स्वार्थ के बन्धन से छुड़ा देती है —यह मेरा नहीं है इस भावना से यदि कर्म किया जाये तो।

स्तुति लक्षणात्मक अर्चन भीष्म को क्यों अधिक सम्मत है? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि स्तुति केवल आत्मपुरुषार्थवाले पुरुष के द्वारा द्रव्य एवं अन्य साधनों के अभाव में विना किसी को पीड़ा पहुंचाये की जाती है अतः अधिक सम्मत है। स्मरण से यहां जप का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि मनुस्मृति, गीता और महाभारत का भी यही मत है। तथा इसी बात को भाष्यकार ने स्वरचित पद्य से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

भवति चात्रास्माकम्—

जपन्नरो मन्त्रशतैर्यजंस्तया, स्मरन् ददद्भूतबलिं प्रमुच्यते ।
कृताघतो वर्षगणेष्वसम्मतात्, त्रिधा विभक्तादुत भोजयन् द्विजम् ॥

त्रिधाविभक्तात्--मनोवाक्कायविभागात् । वर्षगणमेकं जन्म तेषु ॥८॥

किं वाप्येकं परायणम् इत्यनेन पूर्वपृष्टं द्वितीयं प्रश्नं समादधाति—

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥९॥

परमम्, यः, महत्, तेजः, परमम्, यः, महत्, तपः ।
परमं, यः, महत्, ब्रह्म, परमम्, यः, परायणम् ॥

परममुत्कृष्टं प्रशस्तं यो महत् बृहत् तेजः तेजःस्वरूपं, तथा च वेदः—

पाहि नो अग्ने ! रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः ।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो ! यविष्ठ्य ! ॥

बृहद्भानो ! बृहतां भानूनां भानुरग्नि कृत्वा तेजः इति, तथा च वेदः—*स यथा त्वं भ्राजतां भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजतां भ्राज्यासम्* (अथर्व १७ । १ । २०), तथा च ब्राह्मणम्—*येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः* (तै० ब्रा० ३ । १२ । ९७), *एतद्देवो ज्योतिषां ज्योतिः* (बृ० उ० ४।४।१६) । *न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्* (मु० उ० २।२।१०) । *यदादित्यगतं तेजः* इति गीता (१५।१२), तथा च—*ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ।* (ऋग्वेदे अ० ८, अ० ८, व० ४८, म० ३) अभीद्धं तप एव "महत्तप" इति । परमं यो महद् ब्रह्म-तद् ब्रह्म महत् महनीयतमं

मनुष्य मन, वचन और काया से—इदं न मम— की भावना रखते हुये यदि मन्त्र का शतबार जप, पूजन, स्मरण और भूतबलि तथा ब्राह्मण भोजन करावे तो अनेक जन्मों में किये हुए, पापकर्मों से इसी जन्म में मुक्त हो जाता है । वर्षगण=एक जन्म है, अतः वर्ष गणेषु अनेक जन्मों में ॥८॥

'किं वाप्येकं' इत्यादि प्रश्न का समाधान निम्नपद्य से हुआ है—

जो देव परमतेज, परम तप, परम ब्रह्म और परमपरायण है, वही समस्त प्राणियों की परम गति है ।

जो उत्कृष्ट महान् तेज.स्वरूप, महान् तपोमय, सदा आत्मा में विराट्, स्वराट् और सम्राट् के रूप में विराजमान महान् ब्रह्म तथा जिस अत्यन्त उत्कृष्ट के अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य प्राप्तव्य नहीं है ऐसा वह देव प्राणिमात्र के लिये जानने योग्य है ।

सदात्मनि विराट्त्वं स्वराट्त्वं सम्राट्त्वं च बिभर्त्ति तथा च वेदः—*विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः* (अथर्व १७।१।२२)। *एष सर्वेश्वरः* (मा० उ० ६)। परमं प्रकृष्टं यः परायणं परमं च तदयनं परायणमिति। न ह्येतदधिगमनमन्तरा पर गन्तव्यं प्राप्तव्यं वास्ति, तथा च वेदः—*तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय* (यजुः ३१। १८)। "*य*" इत्यनेन "देवः" अध्याह्रियते, यो देवः परमं तेजः, परमं तपः, परमं ब्रह्म, परमं परायणं स एकं सर्वभूतानां परायणमिति स्पष्टार्थः ॥९॥

पवित्राणां पवित्रं यो इत्यादिना श्लोकेन प्रथमं *किमेकं दैवतं लोके* इति प्रश्नं समादधाति—

पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥१०॥

पवित्राणाम्, पवित्रम्, यः, मंगलानाम्, च, मंगलम् ।
दैवतम्, देवतानाम्, च, भूतानाम्, यः, अव्ययः, पिता ।

पवित्राणां पावनानां मध्ये पवित्रं पावनं स सर्वविदेक एव, निर्धारणे षष्ठी, अथवा पवित्रकर्तॄणां वाय्वग्निजलपृथिवीनामपि पावनकर्त्ता स एक एव सर्वलोकभृत्। प्रसंगप्राप्तमुच्यते—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥
मनुः अ० ५, श्लो० ५।

वि० यहां तेजः का अर्थ वेद, उपनिषद् तथा गीता के मन्त्रों के आधार पर सूर्यादि जिसके तेज से तेजोमय हैं वह परमात्मा ऋत सत्य, रात्रि, आदि जिस अभिवृद्ध तप से उत्पन्न हुये वह तप, स्वराट्, विराट् और सम्राट् स्वरूप से आत्मा में विराजमान ब्रह्म तथा यः पद से देव का अध्याहार करते हुये परायणम् का अर्थ एकमात्र सदा-सर्वदा ज्ञातव्य सिद्ध किया है ॥९॥

'पवित्राणां पवित्रं' इत्यादि पद्य के द्वारा पहले प्रश्न — 'किमेकं दैवतं लोके" इस प्रश्न का समाधान करते हैं —

हे राजन् ! जो पवित्र करनेवाले तीर्थ आदिकों में परम पवित्र है, मंगलों का मंगल है, देवों का देव तथा जो भूत प्राणियों का अविनाशी पिता है।

सर्वविध वस्तुओं में जो सर्वाधिक पवित्र है अथवा जो पवित्र करनेवाले वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी को भी पवित्र करता है। क्योंकि मनुस्मृति में कहा गया है कि— 'जल से शरीर की शुद्धि होती है, सत्य से मन की शुद्धि होती है, विद्या और तप से प्राणियों की आत्मा शुद्ध होती है तथा ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

भवति चात्रास्माकम्—

पवित्रमेकं सकलेश्वरं यो हृदा गिरा कायिकचेष्टया वा ।
स्मरेज्जपेत् सत्यतपश्चरेद्वा पवित्रता स्वीकुरुते नरं तम् ॥

तथा च—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् (यजुः अ० ४०।८) इति मंत्रलिंगात् पवित्रं ब्रह्मेत्युक्तं भवति। मंगलानां मध्ये मंगलं तदेव ब्रह्म, अत्रापि षष्ठी निर्धारणे। मंगलं कल्याणं तत्साधनभूतान्यपि तद्विना न मंगलाय कल्पन्ते अत इदमुच्यते--मंगलानां च मंगलमिति।

भवति चात्रास्मकम्—

नामंगलं सद्मनि नैव बुद्धौ भवेन्न सत्वे हृदि नापि काये ।
तं मंगलं मंगलवर्गवर्यं परं प्रधानं पुरुषं स्मरेद्यः ॥

मंगलवर्गेषु शकुनादिष्वपि यो वरितुमर्हस्तम्-मंगलवर्गवर्यम् । मंगलद्रव्याणि यथा—

विप्राद्यं मणिचोकचारुकलशं दीपान्नसत्पल्लवम् ।
रम्भा-वन्दनवार-केतु-चमरं दूर्वाकुरारोपणम् ॥
कन्या--तोर्ण -वितान-दर्पण-ध्वजा-ताम्बूल--दध्यक्षतम् ।
छत्रं रोचन-गान-वाद्य-व्यजनं पुष्पाज्य-धूपांगनाः ॥

इसी बात को भाष्यकर्त्ता ने अपने पद्य में कहा है कि-

जो मनुष्य, एकमात्र पवित्र (उस परमात्मा का) हृदय वाणी और कायिक चेष्टापूर्ण स्मरण जप, अथवा सत्यतापूर्वक तप का आचरण करता है, उसको पवित्रता स्वयं आत्मसात् कर लेती है।

'स पर्यगात्' इत्यादि मन्त्र से भी यही पुष्ट होता है। सर्व मंगलों में भी वही ब्रह्म मंगलभूत है अर्थात् कल्याण की साधनभूत जो भी वस्तु है, वह उस ब्रह्म की कृपा के बिना मंगलप्रद नहीं होती। भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इसे यों व्यक्त करते हैं—

जो मनुष्य मंगलमय वस्तुओं के समुदाय में विशिष्ट मंगलरूप उस ब्रह्म का स्मरण करता है, उसके घर बुद्धि पराक्रम मन और शरीर में कभी भी अमंगल नहीं होता है।

प्रसंगवश मांगलिक-द्रव्यों का निर्देश निम्नलिखित है—

विप्र, मणि-मोतियों के द्वारा भरा हुआ चोक-रांगोली, मंगल कलश, दीप, अन्न, उत्तम, (आम्र, चन्दन, कदली, पाशापाला आदि) वृक्षों के पत्र, कदलीस्तम्भ, वन्दनवार, पताका, चँवर, दूर्वांकुर कन्या, चंदोवा, दर्पण, ध्वजा, ताम्बूल, दधि, अक्षत, छत्र, गोरोचनादि गन्ध द्रव्य, गीत, वाद्य, व्यजन पुष्प, घृत, धूप और सौभाग्यवती महिला। कुवरी गौ, चतुरंग सेना,

चतुरंगसेना चित्रामधेनुः पौराणिका मागधवन्दिगायकाः ।
पताकयुक्तं तु फलादि मीना खवेदयुक्तं शुभमंगलांगाः ॥

देवतानां च दैवतमत्र निर्धारणे षष्ठी, देवतानां मध्ये स एव प्रधानो देवः। मंत्रलिंगं च—द्यावाभूमी जनयन् देव एकः (अथर्व १३।२।२६)। तथा च श्वेताश्वेतरोपनिषदि—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥६।११॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
त ँ ह देवात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥६।१८॥

भवति चात्रास्माकम्—

रक्षांसि भूतान्युत वा पिशाचकानुताथ निम्नानुत वा तमश्चरान् ।
त्यक्त्वाखिलान् यो भुवनेशमीड्यं देवं जपेद्देवमयः स ना भवेत् ॥

ना=पुरुषः ।

भूतानां योऽव्ययः पिता-यः स्वयमव्ययः सन् जन्मजरामृत्युमतां भूतानां प्राणिनां पिता पालकोऽस्ति, एक एव लोके दैवतं देव इति संगतार्थः ।

भवति चात्रास्माकम्—

यो ना नरान् व्याधिजरोपरूढान् श्रियाविहीनान् विकलांगकान् वा ।
प्रीणाति पुष्णाति ददाति धैर्यं मर्त्योऽप्यसौ सन् लभते पितृत्वम् ॥

मर्त्यो मनुष्यो मरणधर्मा सन्नपि पालकांशधारणात् "पिता" इति संज्ञां लभत इति भावः,

---

पौराणिक, मागध, बन्दी, गायक, पताकाएं, फल, मछली और वेदपाठ-शकुन शुभ मंगलदायक हैं ।

'देवतानां च दैवतं' इस में निश्चयार्थक षष्ठी विभक्ति है । अर्थात् वह परमात्मा सब देवताओं में प्रधान देव है । इसकी पुष्टि अथर्ववेद और श्वेताश्वतर उपनिषद् से होती है। भाष्यकार अपने पद्य से व्यक्त करते हैं कि—

जो मनुष्य राक्षस, भूत-प्रेतादि, पिशाच निम्न कोटि के अन्य देवयोनि विशेष, निशाचर आदि सारे अन्य देवों को छोड़कर त्रिभुवन के अधिपति, परमाराध्य भगवान् का स्मरण करता है वह स्वयं देवमय बन जाता है ।

जो स्वयं अव्यय होकर जन्म, जरा और मृत्यु वाले प्राणियों का पालक है, वही एक देव इस जगत् में प्रधान देव है । भाष्यकर्ता भी यही कहते हैं— कि जो मनुष्य रोग और बुढापे के कारण श्रीविहीन हों और विकलांग पुरुषों की सेवा करता है, उनका पालन-पोषण करता है, उन्हें धैर्य दिलाता है, वह मनुष्य होकर भी पितृत्व-देवत्व को प्राप्त करता है ।

प्रसंगप्राप्तं किंचिदात्मकृतैः श्लोकैरुच्यते—

स विभुर्मनस्वी ध्यातारं वांछितार्थेन योजयति—

निरस्तदम्भो मनुजो हि यः सदा तमच्युतं ध्यायति वांछिताप्त्यै।
ध्यातः प्रसन्नः स विभुर्मनस्वी ददाति भोगान् पुरुषाय दिव्यान्॥

स सकलामयघ्नश्चिन्त्यः सन्—

यश्चिन्त्यमानः सकलामयघ्नः पुष्णाति पोषैर्मनुजैरभीप्स्यैः।
लोकाः! परित्यज्य कथं नु देवं बम्भ्रम्यमाणाः क्षिपतेह कालम्॥

क्षिपत लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने, इह इति पृथक्, तयोः सन्धिः।

स्तुतः सन् स देवः—

स्तवैः स्तुवन् देवमनन्तवीर्यमुदात्तभावं लभतेऽप्रकम्प्यम्।
गुणेशसाहाय्यमुपेत्य मर्त्यो गुणानशेषानतिवर्तते च॥

परब्रह्मणि दृष्टे सति—

यहाँ प्रसंगानुसार स्वर्निमित पांच पद्यों से परमात्मा की महत्ता का वर्णन भाष्यकार ने किया ह, जो इस प्रकार है—

वह मनस्वी परमात्मा अपना ध्यान करनेवाले की इच्छापूर्ति करता है—

जो मनुष्य अभिमान का त्याग करके इच्छापूर्ति के लिए उस अच्युत का निरन्तर ध्यान करता है, उस मनुष्य को वह व्यापक, मनस्वी, सर्वान्तर्यामी प्रसन्न होकर दिव्य भोगादि का प्रदान करता है।

वह परमात्मा चिन्तन करने पर समस्त रोगों को नष्ट करता है—

जो परमात्मा अपना स्मरण करने पर प्राणी के सर्वविध रोगों को नष्ट करता है, तथा मनोवांछित वस्तुओं को प्रदान कर पोषण करता है। ऐसे देव को छोड़कर हे मनुष्यो! इधर-उधर व्यर्थ भ्रमण करके अपने (अमूल्य) समय को क्यों बिता रहे हो?

क्यों कि स्तुति करने पर वह देव—

अनन्तवीर्य वह परमात्मा अपनी विविध (श्रद्धाभक्तियुक्त) स्तुतियों को सुनकर स्तोता को निश्चल उदात्तभाव प्रदान करता है। अथवा उपर्युक्त विधि से स्तुति करता हुआ स्तोता निश्चल उदात्तभाव को प्राप्त होता है। तथा उस गुणेश परमात्मा की सहायता से अशेष गुणों को अतिक्रान्त कर लेता है।

और परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर—

न संशयाः शेरत आत्मनि स्वे, दृष्टे परे ब्रह्मणि सत्यरूपे।
तथा यथा पुस्तकपंक्तिपाठान्न संशयाः काललवं स्पृशन्ति ॥

स्मृतः सन् स जनः—

सनातनं लोकपतिं जनं शिवं स्मरन् मनुष्यः सततं शुचिव्रतः।
अशेषदुःखो भवतीह निश्चितं क्रमेण कालेन च याति लभ्यम् ॥

सोऽच्युतः कीर्तितः सन्—

यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने,
विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः।

बुद्धिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः।
किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तिते ॥
विष्णुपुराणे ६-८-५७॥१०॥

यतः सर्वाणि भूतानीत्यादिना श्लोकेन प्रस्तुतस्यैकदेवस्योपलक्षणं पुरस्करोति—

अपनी आत्मा में विराजमान, सत्यरूप उस ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर सभी संशय उसी प्रकार मिट जाते हैं जिस प्रकार पुस्तक की पंक्तियों का साक्षात् पाठ करने पर तद्गत संशय नहीं रहते।

परमात्मा का स्मरण करने पर मनुष्य—

पवित्र व्रत वाला मानव उस सनातन, लोकपति, विश्वपालक, कल्याणरूप परमात्मा का स्मरण करता हुआ निश्चय ही समस्त दुःखों से छूट जाता है और कालक्रम से अपनी इच्छित कामना को पूर्ण करता है।

कीर्तन करने पर वह भगवान् सब देता है, इस बात की पुष्टि 'विष्णुपुराण' के इस पद्य से भी होती है—

जिस परमात्मा के चरणों में मन लग जाने पर प्राणी नरक में नहीं जाता है, जिसके चिन्तन में स्वर्ग भी विघ्नरूप है तथा जिसकी भक्ति में आत्मा और मन के लग जाने पर ब्रह्मलोक भी लघु प्रतीत होता है। जो निर्मल बुद्धि मनुष्यों के चित्त में विराजमान रहकर उत्तम, स्थिर बुद्धि प्रदान करता है, वहां उस अच्युत के कीर्तन से यदि पाप विलीन हो जाते हैं तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ॥१०॥

'यतः सर्वाणि भूतानि' इस पद्य से प्रस्तुत एक देव के कथन की पुष्टि करते हैं—

यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे ।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये ॥११॥

यतः, सर्वाणि, भूतानि, भवन्ति, आदियुगागमे ।
यस्मिन्, च, प्रलयम्, यान्ति, पुनः, एव, युगक्षये ॥

यतः यस्मात् सर्वाणि सकलानि भूतानि अघटितघटनापटीयस्या अव्यक्तप्रकृते-र्विकारभूतानि आदियुगागमे कल्पादौ भवन्ति जायन्ते ।

तथा च वेदः—

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥५॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥६॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥७॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥८॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत ॥११॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥१२॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२ अकल्पयत् ॥१३॥

कल्प के आदि में जिससे सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं और फिर युग का क्षय होने पर महाप्रलय में जिसमें वे विलीन हो जाते हैं (उस परमात्मा के नाम मुझ से सुनो :

जिससे सकल भूत- अघटित-घटना-पटीयसी अव्यक्त प्रकृति के विकाररूप कल्प के आदि में होते हैं, तथा महाप्रलय के समय पुनः विलय और विघटन को प्राप्त होते हैं। यहाँ चकार ग्रहण से स्थिति भी उसके आधीन है यह ज्ञात होता है।

वि० यहां यजुर्वेद के—'ततो विराडजायत' इत्यादि पुरुष सूक्त के मंत्रों से भगवान् को सृष्टि, स्थिति और लय का कारण बतलाया है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥
यजु: अ० ३१ ॥

यस्मिन् च प्रलयं विलयं विघटनतां यान्ति गच्छन्ति पुनर्भूय एव युगक्षये महाप्रलये, एवाव्ययोऽत्रावधारणे विनिश्चये वा । चकारेण स्थितिरपि तदाश्रयैवेति विज्ञापयति । तथा च तैत्तिरीयोपनिषदि—*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।* ३।११ ॥ इति ॥

भवति चात्रास्माकम्—

एको विभुर्दीप्ततपो भवत्यरं निमित्तमात्रं जगतो ह सर्जने ।
ब्रह्माच्युतानंगरिपुश्च सन् स्वयं सृजत्यवत्यत्ति जगच्चराचरम् ॥११॥

तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते ।
विष्णोर्नामसहस्रम् मे शृणु पापभयापहम् ॥१२॥

तस्य. लोकप्रधानस्य, जगन्नाथस्य, भूपते ।
विष्णोः. नामसहस्रम्, मे. शृणु, पापभयापहम् ॥

तस्येति पूर्वश्लोकेषु विशेषणैर्विशदीकृतस्य लोकप्रधानस्य लोके प्रधानतां प्राप्तस्य जगन्नाथस्य जगत्स्वामिनः, भूपते ! इति सम्बोधनं राजानं युधिष्ठिरमभिलक्ष्य, विष्णोः सर्वत्रव्यापनशीलस्य नामसहस्रं नाम्नां सहस्रं तच्च पुनर्नामसहस्रं कीदृशमिति विशिनष्टि पापभयापहं पापघ्नं भयघ्नं चेति । द्विविधं च पापं कर्म, तत्रेश्वरकृतसृष्टेर्नियमोल्लंघनात्मकमेकं पापं कर्म. द्वितीयं च राजकृतव्यवस्थाया उल्लंघनात्मकं कर्म पंचजनैर्वा कृतायां व्यवस्थाया उल्लंघनात्मकं वा कर्म द्वितीयं पापं कर्म, तदुभयविधं प्रज्ञापराध्यति वर्त्तयति यथेच्छाचारी वा, जपादिकं कर्म प्रज्ञां

इसी बात को स्वनिर्मित पद्य से स्पष्ट किया है—

वह एक दीप्ततप, विभु इस जगत् के सर्जन में निमित्तमात्र बनता है । तथा ब्रह्मा विष्णु और महेश के रूप में स्वयं सर्जन, पालन और संहार करता है ।

हे राजन् उस लोकप्रधान. संसार के स्वामी, भगवान् विष्णु के पाप और संसार भय को दूर करनेवाले हजार नामों को मुझ से सुनो ।

हे युधिष्ठिर ! उस पूर्वोक्त विशेषणों से विभूषित लोक में प्रधानता प्राप्त, जगत् के स्वामी तथा सर्वव्यापी भगवान् विष्णु के- ईश्वर कृत सृष्टि के नियमों का उल्लंघन करने से उत्पन्न. तथा राजकृत अथवा पचों द्वारा की गई व्यवस्था के उल्लंघन से उत्पन्न दोनों प्रकार के पाप और भय का नाश करनेवाले सहस्रनाम को मुझ से सावधानी पूर्वक सुन । यही

परिमार्ष्टि ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

जगत्कृता या विहिता व्यवस्था तल्लंघनं पापमिहोक्तमेकम् ।
नृपेण वा पंचजनैः कृताया व्यवस्थितेरुत्क्रमणं द्वितीयम् ।
तदोभयं कर्म करोति नूनं प्रज्ञापराधी मनुजो यथेच्छी ।
जपादिकं कर्म नरस्य नूनं प्रज्ञाप्रमार्ष्टचायलमाहुरार्याः ॥

भयापहमिति-भयं हि द्वितीयाद् भवति आत्मनो बलिष्ठाद्वा, कृतान्तकभूतेभ्य उन्मत्तकरिसिंहसर्पादिभ्यो वेदलोकनिन्द्याच्च मानस–वाचिक–कायिककर्मणो भयं भवति, जपादिकं कम प्रज्ञां प्रमार्ष्टि मानवाय बुद्धिं बलं धैर्यं च प्रयच्छति ।

प्रज्ञा प्रमार्ष्टचै +अलम्=प्रज्ञाप्रमार्ष्टचायलमिति सन्धिः ।

भवति चात्रास्माकम्

भयं द्वितीयात् सबलाद् कृतान्तकात् कृताच्च निन्द्यात् त्रिविधात् स्वकर्मणः ।
जपादिकं कर्म नराय नूनं ददाति बुद्धिं सबलं च धैर्यम् ॥

तथा च श्रुतिः—

व्यहं सर्वेण पाप्मा (अथर्व ४२४।१)। *अव मा पाप्मन् सृज* (अथर्व ६।२६।१), *अपेहि मनसस्पते ! अपक्राम परश्चर* (अथर्व २०।९६।२४), *यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कुरु* (अथर्व १९।१५।१)। *विवस्वान्नो अभयं कृणोतु* (अथर्व १८।३।६१)। *यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु । शं नः कुरु प्रजाभ्यो अभयं नः पशुभ्यः* (यजुः ३६।२२)। इत्येवमाद्यो बह्व्यः श्रुतयः सन्ति । तन्मे मत्तो मया प्रोच्यमानं

जगत्कृत व्यवस्थाओं के बारे मे निम्न पद्यों से स्पष्ट किया है :

जगत् क कर्ता ने जो व्यवस्था बनाई है उसका उल्लंघन करना एक अपराध है और राजा अथवा पचों द्वारा की गई व्यवस्था का उल्लंघन दूसरा अपराध है। प्रज्ञापराधी और यथेच्छ व्यवहार करनेवाला मनुष्य इन दोनों अपराधों को सदा करता रहता है। अतः इन अपराधों का प्रमार्जन करने के लिए मनुष्य को जपादि कर्म करने चाहियें; ऐसा विद्वानों का अभिमत है।

यहां भयापह पद का अर्थ अपने से बलवान् और मृत्यु के कारण भूत सर्प, सिंह और उन्मत्त आदि से तथा वेद एवं लोक से निन्दित मन वचन तथा काया से किये गये कर्मों से जो भय होता है उन्हें कहा है। जपादिक-कर्म बुद्धि को निर्मल बनाते हैं और मानवोचित बुद्धि, बल और धैर्य को देते हैं। यही बात निम्न पद्य से स्पष्ट की है—

अपने से अतिरिक्त दूसरे से भय होता है। जो कि मृत्युकारक हो, अथवा त्रिविध निन्द्य-कर्म हों। इनसे बचने के लिए जपादि कर्म मनुष्य को निर्मल बुद्धि, बल और धैर्य प्रदान करते हैं।

इसी बात को अथर्ववेद और यजुर्वेद के मन्त्रों से पुष्ट किया है। ऐसे महनीय विष्णु-सहस्रनाम को मुझ से सुनो।

शृणु सावधानेन मनसावधारय। विष्णोः सहस्रनामाधिकृत्य प्रसगप्राप्तं किञ्चिदुच्यते--आत्मकृतैः श्लोकैः—

यथा वपुः पर्वशतैर्निबद्धं बिभर्ति नामानि पृथक् च तेषाम्।
तथाखिलाङ्गं क्रमते क्रियायां सजीवमेतन्न तु पर्वहीनम्॥१॥

तथा ह्यजोऽयं सकलान्तरात्मा नामाश्नुते ज्ञानबलक्रियाभिः।
एतद्विदं नामसहस्रमेतद् भुनक्ति पापादुत सर्वभीःया॥२॥

अनन्तवीर्यं तपसा तपन्तं महाशयं सर्वनियन्तृवन्द्यम्।
को नाम शक्नोति नरो नियन्तुं तमच्युतं नामसहस्ररज्ज्वा॥३॥

तथाप्यलं स्युः पठितानि शम्भोर्नामानि नुर्मोहतमोऽपहर्तुम्।
यच्छक्तिमन्नाम विभोर्निरुक्तं ध्यायन् जपन्नेति स तस्य तत्त्वम्॥४॥

स तत्त्वविद्धीरगुणो मनस्वी विपत्सु सीदन्नपि नैत्यधैर्यम्।
क्रमेण कालेन विपत्समूहं विजित्य सर्वानतियाति लोके॥५॥

यथा वपुरनेकपर्वभिर्मिलितं सत् चेतनात्मकेन जीवेन युक्तं कार्यविधौ समर्थं भवति तथैव ज्ञान-बल-क्रियाभिर्विविधनामवत् ब्रह्म सकलगुणौघैर्विश्वं व्याप्य विष्णुनाम बिभरन् सर्वस्मिन् चराचर आत्मानं विश्वरूपेषु व्यनक्ति। पर्वणां नामानि शारीरशास्त्रादवगन्तव्यानि, शिरस्तदवयवाः, हस्तौ तदवयवाश्चेत्येवमादीनि। यथा—अंगुलयः, अंगुलिशलाकाः, अंगुलिपुटकानि, हस्तपर्वाणि॥१२॥

प्रसंगवश विष्णुसहस्रनाम के सम्बन्ध में भाष्यकार कहते हैं—

जैसे सैंकड़ों पर्वग्रन्थियों से बना हुआ शरीर पृथक् नामों को प्राप्त करता है। किन्तु एक सारा शरीर सजीव होकर कार्य करता है। पर्वहीन नहीं। इसी प्रकार ज्ञान, बल और क्रियाओं के द्वारा विविध नाम धारण करके सर्वान्तर्यामी ब्रह्म भी समस्त गुण समूह से विश्व में व्याप्त होकर 'विष्णु' ऐसा नाम धारण करके सब प्रकार के भय और पापों को नष्ट करता है।

अनन्तवीर्य, तप के द्वारा देदीप्यमान, उदाराशय और सर्व देवताओं द्वारा वन्दनीय उस भगवान् अच्युत को सहस्र नाम की सीमा में कौन बांध सकता है?

तथापि मनुष्य के मोहरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए परमात्मा के ये नाम जो कहे गये हैं वे पर्याप्त हैं। जिस शक्तियुक्त परमात्मा का जो नाम कहा है उस नाम का ध्यान-जप करता हुआ मनुष्य उसके तत्त्व-सार को प्राप्त करता है। और वह तत्त्वज्ञ, धीरगुणों से सम्पन्न एव मनस्वी विपत्तियों में खिन्न होता हुआ भी अधीर नहीं होता निरन्तर धैर्य और क्रमशः विपत्ति समूह को जीतकर समयानुसार इस लोक में सब का अतिक्रमण करता है अर्थात् सब दुःखों से छूट जाता है।

शिर, उसके अवयव, दो हाथ, अंगुलियां, उनके पर्व आदि भेद और उन अवयवों के नाम शरीर शास्त्र द्वारा जानने चाहियें॥१२॥

तत्र—

यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः ।
ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ।१३।

यानि, नामानि, गौणानि विख्यातानि महात्मनः ।
ऋषभिः, परिगीतानि, तानि वक्ष्यामि, भूतये ।।

यानि नामानि गौणानि, गुणहेतुना प्रवृत्तानि तेषु सहस्रनामसु विख्यातानि विशेषां प्रसिद्धि प्राप्तानि सन्ति तस्य महात्मनो विष्णोः. तानि नामानि कीदृशानि सगृहीतानि सन्ति. तं विशिनष्टि-ऋषिभिः वेदैः. मन्त्रसमूहत्वाद्वेदस्य मन्त्रैः, साक्षात्कृतधर्मभिः, ऋषिभिर्वा तथा च मेदिनी कोषे—*ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम् । साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः* (निरुक्ते १।२०) तथा च ब्राह्मण—*यदेनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वायम्म्वभ्यानर्षत् तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते* (निरुक्ते) । ऋषिभिरिति पदनिर्देशेन पठिष्यमाणानां सहस्रनाम्नां गौरवातिशयत्वं महदर्थत्वं वा परिलक्षितं भवति । एतेनैतच्च विज्ञाप्यते यदतो भिन्नानि नामान्यपि सर्वव्यापिनो भगवतो भवितुं शक्नुवन्ति, न हि तस्य भगवत इयत्तया परिच्छेदः कर्त्तुं शक्यत इति, परिगीतानि बहुत्र बहुधा च शब्दितानि सन्ति, परिः सर्वतोभावेऽव्ययम्, तानि नामानि वक्ष्यामि कथयिष्यामि, किमर्थमिति भूतये= पुरुषार्थचतुष्टयसिद्धये, समृद्धये यशसे सुखावाप्त्यै वा, उपनिषच्च--*भूत्यै न प्रमदितव्यमिति* ।

अत्र किंचित् प्रसंगप्राप्तमुच्यते--वेदा हि स्वतः प्रमाणानि तस्मादेतानि नामान्यपि स्वतः प्रमाणानि सन्ति, जापकाय जन्मजरामृत्युरहितस्य ब्रह्मणो

जो नाम गुण के कारण प्रवृत्त हुए हैं, उनमें से जो-जो प्रसिद्ध हैं और मन्त्रद्रष्टा मुनियों द्वारा जो यत्र-तत्र भगत्कथाओं में गाये गये हैं, उस अचिन्त्य प्रभावशाली महात्मा के उन समस्त नामों का पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए वर्णन करता हूँ ।

जो नाम गुणहेतु से प्रवृत्त होकर सहस्रनामों में विशेष महत्त्व को प्राप्त हुए हैं ऐसे उस महात्मा विष्णु के साक्षातकृतधर्मा ऋषियों द्वारा अथवा वेद मन्त्रों से संगृहीत, बहुत से स्थानों पर बहुत बार गाये हुए नामों को पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए कहूँगा। क्यों कि उपनिषद् में कहा गया है कि कल्याणमय कर्म के लिये प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

प्रसंगवश भाष्यकार का कथन है कि-वेद जैसे स्वतः प्रमाण हैं उसी प्रकार ये वक्ष्यमाण नाम भी स्वतः प्रमाण हैं । अतः जापक जन्म, जरा और मृत्यु से रहित ब्रह्म की अनेक

विविधशक्तीराभासयन्ति । जपिता च स्वयं शनैः शनैस्ताद्भाव्यमादधत् कल्याणायाग्रणीर्भवति ।

भवति चात्रास्माकम्—

स्वतः प्रमाणं भवतीह वेदो वेदेन तुल्यं च सहस्रनाम ।
तदुद्भवत्वात्, न हि तत्र शंका, युधिष्ठिरं भीष्म उवाच दार्ढ्यात् ॥

तानि नामानि चानुपदं व्याख्यातानि भविष्यन्ति ॥१३॥

अथ सहस्रनाम

अत्र सहस्रनाम्नां संग्रहे सूर्य-आदित्यादिशब्दानामर्थान्तरे प्रसिद्धानामपि सतां सूर्य-रवि-आदित्यादयः शब्दाः सवितुः सनातनस्य देवस्य विभूतित्वेन सन्तस्तद्-भेदत्वात्तस्यैव भगवतः स्तुतिरिति प्रसिद्धार्थग्रहणेऽपि तत्स्तुतित्वं न विघ्नन्ति । सर्वमेतज्जगत्तस्य तेजसा तेजोमत् सत् स्वं रूपं बिभर्ति ।

भवति चात्रास्माकम्—

ज्योतींषि लोकानि वनानि नद्यो दिशः समुद्रा गिरयः प्रजाश्च ।
यद्भासया भान्ति निजं स्वरूपं गृणन्ति चैते भुवनेशमेकम् ॥

गृणन्ति—स्तुवन्ति ।

अत्र संग्रहे पुंस्त्रीनपुंसकलिंगवन्ति नामानि संगृहीतानि सन्ति तानि यथालिंगेन

शक्तियों का ज्ञान कराते हैं और जपकर्त्ता स्वयं धीरे २ समय आने पर कल्याण के लिए अग्रणी होता है। यही बात पद्य द्वारा कही गई है—

इस लोक में वेद स्वतः प्रमाण माना गया है। अतः सहस्रनाम भी वेदांग के समान ही है, वेदों से प्रादुर्भूत होने के कारण-स्वतः प्रमाण माना गया है। इसमें कोई शंका नहीं करनी चाहिए। यह बात दृढता से भीष्म ने युधिष्ठिर को कही है।

वे नाम आगे व्याख्या सहित कहे जाते हैं ॥१३॥

अथ सहस्रनाम

यहां सहस्रनामों के संग्रह में सूर्य, आदित्य आदि शब्दों की अन्य अर्थों में जो प्रसिद्धि है वे ही सूर्य, रवि आदित्यादि शब्द सविता-सनातन देव के विभूतिरूप होते हुए उसी भगवान् के स्तुतिपरक हैं। अतः प्रसिद्धार्थ ग्रहण में भी वे स्तुति परक होने में विघ्नभूत नहीं होते। क्योंकि यह सारा जगत् उसके तेज से ही तेजोमय होकर अपना रूप धारण करता है। यह बात भाष्यकर्त्ता स्वरचित पद्य से कहते हैं—

जिसके तेज से सभी नक्षत्र, वन, नदियां, दिशाएं, समुद्र, गिरि और प्रजा भासित होते हैं। ये सब उस एक परमात्मा को ही अपना स्वरूप मानकर स्तुति करते हैं।

इस संग्रह में पुलिङ्ग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिङ्ग शब्दों- नामों का संग्रह किया हुआ है।

विशेष्येण योजनीयानि, तद्यथा--भूतभव्यभवत्प्रभुः। शिवो देवो विष्णुर्वेति। शरणं ब्रह्म दैवतं वा। सिद्धिः-ऋद्धिर्देवता वेति।

अत्र केचिच्छब्दाः समानरूपाः सन्तोऽपि स्वकार्थभेदात् पुनरुक्तिदोषं न लभते। कानिचिच्च नामानि समानार्थकानि सन्त्यपि वर्णभेदात् पुनरुक्तिदोषभाञ्जि न भवन्त्येवं सर्वत्र योजनीयं भवति।

तद्यथा अजः, अजः रूपैकत्वेऽप्यर्थभेदः। श्रीशः श्रीपतिः समानार्थेऽपि व्यञ्जन-भेदाद्भेदः, ईश--पति--शब्दयोर्भिन्नधातोर्निष्पन्नत्वात्। भूधरः, महीधरः, पर्यायवाचित्वान्न पुनरुक्तदोषः, स्वयं जातः स्वयंभूरिति च।

"ओ३म्" इत्येतत् प्राधान्येनेश्वरवाचकम्। ओ३मुच्चारणपुरःसरं वेदमन्त्रा आरभ्यन्त इति कृत्वा वेदा वेदोक्ता सत्यविद्या वा "ओ३म्" नाम दधति, वेदानां तस्मादेव सर्वहुतो जातत्वात्। मंत्रलिंगं च—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
(यजु: अ० ३१।७)

सर्वमपि वैदिकं याज्ञिकं कर्म यत् कर्मसम्पत्त्यर्थं वेदमन्त्रैः क्रियते *पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे* (निरुक्त १।२)। तत्र प्रयुक्तानां मन्त्राणां टेः प्रणवादेशः *प्रणवष्टेः* (पा० ८।२।८९) इत्यनेन प्राप्नोति। टि संज्ञा च पाणिनीयानुशासने *अचोऽन्त्यादि टि* (१।१।६४), तद्यथा—अपांꣳ रेतांꣳसि जिन्वतो३म्। यज्ञकर्मविना--अपांꣳ रेतांꣳसि जिन्वति, इत्येव। ओ३मेव

उनकी–जिस लिङ्ग का जिसके साथ समावेश हो उस विशेष्य के साथ-संगति करनी चाहिये। जैसे— भूतभव्यभवत्प्रभुः। शिव= विष्णु अथवा देव। शरण= ब्रह्म अथवा दैवत। सिद्धि= ऋद्धि अथवा देवता।

यहां कुछ शब्द समानरूप होने पर भी विभिन्नार्थक होने से पुनरुक्त दोषवाले नहीं मानने चाहियें। कुछ नाम समानार्थक होकर भी वर्णभेद के कारण पुनरुक्त दोष के भागी नहीं हैं। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये। जैसे अजः शब्द दो बार आने पर भी अर्थ भेद से दोष युक्त नहीं है। श्रीश और श्रीपति समानार्थक होने पर भी व्यञ्जन भेद से दोषयुक्त नहीं है। भूधर, महीधर ये पर्यायवाची होने पर भी दोषयुक्त नहीं हैं।

ओ३म्=सच्चिदानन्द स्वरूप।

ओ३म् यह प्रधानतया ईश्वरवाचक है। ओ३म् पुरस्सर ही वेद मन्त्रों का आरम्भ होता है। इसलिये वेद तथा वेदोक्त सत्य विद्या का नाम ओ३म् है। वेद ओ३म् से ही उत्पन्न हुए हैं यह— तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः' इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है। ओ३म् और प्रणव समानार्थक हैं। अव धातु से मन् प्रत्यय होने से ओ३म् शब्द बनता है। ओ३म् ही ब्रह्म है। और ब्रह्म

प्रणवः, *ओंकारप्रणवौ समौ* (अमरकोशे कां १ शब्दादिवर्गे श्लो० ४)। *श्रेष्ठतमाय कर्मणे* (यजुः १।१)। यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म शत० १, ७, १, ५, *यजुर्भिर्यजन्ति* (नि० १३।७)। ओ३म्–*अवतेष्टिलोपः* (उण्० १।१४२), अनेन अवधातोर्मन् प्रत्ययः, टेर्लोपश्च।

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं दधातु। विश्वे देवास इह मादयन्तामो३म् प्रतिष्ठ (यजुः २।१३)। हे ओंकारवाच्यबृहस्पते! त्वमिह संसारे, हृदये, यज्ञे विद्यायां वा प्रतिष्ठो भवेति। ईश्वरस्यानुकूल्यमन्तरा न कस्यापि कर्मणः सिद्धिर्भवतीति निश्चितम्, पठिष्यति चात्र संग्रहे '*अनुकूलः*' ओ३म्नामसु। *तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च* इत्यनेन (अ० ६।१५७) सूत्रस्य महाभाष्यवार्त्तिकेन बृहस्पतिशब्दो निपात्यते, तस्कर इति च। ओ३म् व्याख्यानं च यजुषि ४०. १७, *ओ३म् खं ब्रह्म* इति। तत्रो३म् खं, खं वो३म्। ओ३म् ब्रह्म, ब्रह्म वो३म्। एवंविधव्याख्याने *सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य* इत्येवमादीनि व्याख्यालिंगानि दृश्यन्ते। अथवा यावतीं सत्तां खमधितिष्ठति सा *ओ३म्*—पदवाच्येनेश्वरेणावास्यास्ति। यद्वा बृहद्रूपत्वात् सर्वं दृश्यादृश्यं चराचरं जगत् तत् सर्वं ब्रह्म सत् *ओ३म्*पदवाच्येनेश्वरेणावासितमस्ति, मन्त्रलिंगं च—*ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत्* (यजुः ४०।१) इति। वक्ष्यति सहस्रनामसंग्रहे-ईश्वरः २२ श्लोके, तथा च *ब्रह्म* इति ८४ श्लोके।

अत्र यानि सहस्रनामान्यनुष्टुप्छन्दोभिः स्मर्यन्ते तत्र *ओ३म्* संगृहीतं नास्ति, तेनैतज्ज्ञायते यदेतेषां व्यष्टिसहस्रनाम्नामोमिति समष्टि नाम तच्च ब्रह्मैव, नामी नामतोऽभिन्नो भवतीति न्यायात्। अत एतदुक्तं भवति–ओ३म्=विश्वं, विश्वं वा ओ३म्। ओ३म् विष्णुः, विष्णुर्वा-ओ३म् सर्वत्रैषा कल्पना कल्पनीया भवति। अत्र यानि नामानि जनिमतां प्रसिद्धानि सन्ति तानि वेदादुघृत्य प्रयुक्तानि सन्ति, तद्यथा--शिवः, रामः, कृष्णः, जयः, देवः, चन्द्रः प्रकाशः, पृथक् पृथक् समस्तानि वा यथा--रामचन्द्रः, कृष्णचन्द्र, शिवरामः, अनन्तरामः इत्येवमादीनि। दशरथात्मजो रामः सर्वथाभिन्नोऽस्ति, रामपदवाच्यादनाद्यनन्तादीश्वरादिति स्वयं राम--कृष्णादयस्तमच्युतं ध्यायन्ति स्म। वेदान् वेदविद्याश्च

सारे चराचर में व्याप्त है। यहां ओ३म् वेदमन्त्रों में यज्ञकर्म में प्रयुक्त तथा लोक में कोश, उपनिषदादि ग्रन्थों के आधार पर ईश्वर, अनुकूल आदि अर्थों में भी प्रयुक्त है। प्रस्तुत सहस्रनाम में जो ओ३म् आता है वह सहस्रनाम-संग्रह के अनुष्टुप् छन्द में नहीं आया है, अतः इससे यह ज्ञात होता है कि इन सहस्रनामों से ओ३म् ही वाच्य है। इसलिये ओ३म्=विश्व है अथवा विश्व=ओ३म् है इस प्रकार की कल्पना करनी चाहिए। इस सहस्रनाम में जिन जन्मधारियों के राम, कृष्ण आदि नाम संगृहीत हैं, वे भी वेदों से ही उद्घृत हैं जैसे दशरथात्मज राम। पर यह रामपद वाच्य अनादि अनन्त ईश्वर से भिन्न है। क्योंकि स्वयं राम, शिवादि भी उस परमात्मा का स्मरण ध्यान करते थे और वेदविद्याओं को पढते थे।

पठन्ति स्म । रामो हनुमन्तं श्लाघमानो लक्ष्मणं ब्रूते—

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम् ॥
(रामा० किष्किन्धा–काण्डे, सर्गः ३, श्लोकः २८)

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥
(मनुः० १।२१) ।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥
(महाभा० शान्तिपर्व, अ० २३२·२४) ।

तथा च ऋग्वेदः—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । (ऋ० ८-१००-११) । देवा विद्वांसो देवीं वाचं संस्कृतवाच अजनयन्त प्रकाशमानीतवन्तस्तां देवीं वाचं विश्वरूपाः पशवः पश्यतिमात्रज्ञानाः, वदन्ति व्यवहारकृते प्रयुंजन्तीति भावः ।

अध्येतॄणां सुखज्ञानायार्षवाक् संगृह्यते—

तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णा । ओंकार एवेदं सर्वम् । (छां० उ० २।२३।३) । ओमित्येदक्षरं सर्वम् (मा० उ० १) । तस्मै स होवाच । एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति (प्र० ५।२) । यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः (प्र० उ० ५।५) । ओमिति ब्रह्म, ओमितीदं सर्वम् । (तै० उ० १।८) ।

प्रणवाद्यास्त्रयो वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः ।
वाङ्मयं प्रणवं सर्वं तस्मात् प्रणवमभ्यसेत् ॥ अत्रि० १।८॥

ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च ब्रह्मणा विहिताः पुरा ॥ गीता १७।२३॥

इति दिङ्मात्रमुक्तम् । भवतश्चात्रास्माकम्—

यहां वाल्मीकीय रामायण का 'नानृग्वेदविनीतस्य' इत्यादि श्लोक प्रमाण है । मनुस्मृति में भी यह कहा गया है कि सभी के नाम और कर्म पृथक् पृथक् हैं । आदि में वे वेद के शब्दों से ही गृहीत हैं । इस प्रकार वेदवाणी स्वयम्भू परमात्मा द्वारा सृष्ट और वाणी का आदिरूप ओ३म् से ही सिद्ध है । यह वेदादिशास्त्रों से प्रमाणित है । वाणी का जितना भी विस्तार है वह ओ३म् से व्याप्त है । यही बात [illegible] ने अपने पद्यों में कही है—

त्रिमात्र ओंकार ऋचि प्रसिद्धः स एव चोक्तः प्रणवेन वापि ।
यज्ञक्रियायां प्रणवत्वमेति टिर्वेदमन्त्रस्य मतं प्रसिद्धम् ॥

आनुष्टुपेनात्र सहस्रनाम्नां यः संग्रहोऽस्त्यो३म् लभते न तत्र ।
व्याख्यायते नामभिरेक एव खं ब्रह्म विष्णुरुत विश्वमुक्त्या ॥

अनुष्टुपां समूहः, यद्वा अनुष्टुप इदमानुष्टुपं सहस्रनामस्तोत्रम् ।

विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः ।
भूतकृद्भूतभृद्भावो भूतात्मा भूतभावनः ॥१४॥

१विश्वम्, २विष्णुः, ३वषट्कारः, ४भूतभव्यभवत्प्रभुः ।
५भूतकृत्, ६भूतभृत्, ७भावः, ८भूतात्मा, ९भूतभावनः ॥

विश्वमित्यादिक आनुष्टुभे श्लोके ९ नवनाम्नां संग्रहोऽस्ति । तत्र—

विश्वम्—

विश प्रवेशने तौदादिकात् *अशुप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्* (उणा० पाद १, सूत्र १५१), इत्यनेन क्वन्प्रत्यये विश्वं शब्दः सिद्ध्यति । सर्वादिगणोपदिष्टत्वाद् विश्व--शब्दः सर्वनाम--संज्ञां लभते त्रिलिंगं च । यदा क्वन् प्रत्ययोऽधिकरणे कारके तदा--विशति तस्मिन् सर्वं विश्वं जगत्, कृत्स्नम् । यदा करणे प्रत्ययस्तदा विष्टमनेन सर्वमिति विश्वम्, अधोक्षजः, विष्णुः ।

मन्त्रलिंगं च —

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया स ँ रराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
(यजुः ८।३६) ।

वेद में तीन मात्राओं वाला ओ३म् प्रसिद्ध है, वही प्रणव के द्वारा कहा गया है। यज्ञक्रिया में वेदमन्त्रों के 'टि' (अचोऽन्त्यादि) भाग को प्रणव=ओ३म् आदेश हो जाता है यह वैदिकों का प्रसिद्ध मत है ।

अनुष्टुप् छन्दों में जो सहस्रनामों का संग्रह है उनमें ओ३म् नहीं मिलता है । अत वह व्यापक विष्णु--ब्रह्म ही इस उक्ति के द्वारा एक नाम से ही व्याख्यात है (ऐसा मानना चाहिये) ।

विश्वम् इत्यादि पद्य से नौ नामों का निर्देश करते हैं—

१. विश्वम्=समस्त जगत् के कारणरूप ।

स० भा०—विश्व शब्द की व्युत्पत्ति प्रवेशार्थक तुदादिगण के विश धातु से उणादि सूत्रगत क्वन् प्रत्यय से सिद्ध है । सर्वादिगण में उपदिष्ट होने से इसकी सर्वनाम संज्ञा होती है । जिसमें सब प्रविष्ट होता है वह विश्व=जगत् । अथवा इसके द्वारा ही सब प्रविष्ट हुआ है अतः विश्व=विष्णु । ये अधिकरण और करण कारक द्वारा विभिन्न अर्थ हैं।

ब्रह्म वेदं विश्वं वरिष्ठम् (मु० उ० २।२।११)। *पुरुष एवेदं विश्वम्* (मु० उ० २।१।१०)। विशतीति विश्वं ब्रह्म। *तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्* (तै० उ० २।६) अथवा प्रलयकाले सर्वाणि भूतान्यस्मिन् विशन्तीति विश्वं ब्रह्म। *यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति* (तै० उ० ३।१)।

वक्तव्यम्—

राजा, प्रशासनकर्त्री सभा वा प्रजासु विशति शासनसूत्रेण दण्डदानेन वा, प्रजा च शास्तरि विशति श्रद्धया विश्वासेन वा, यदा राजा प्रजापालनधर्मं परित्यज्यात्मनोदयाय दण्डविधानैः प्रजाः पीडयति तदा प्रजा विद्रोहमाचरति, कुतः ? राजा प्रजा च परस्परं भगवतो विश्वनामात्मकं गुणं परित्यजतः।

गुरुः शिष्ये विद्योपदेशेन विशति शिष्यश्च तस्मिन् गुरौ श्रद्धया विशति एतद् दृष्ट्वा ज्ञातव्यं, सर्वव्यापकस्य विश्वनामात्मको गुण उभयोर्गुरुशिष्ययोर्वर्तते। यदा द्वावेव छलमादधानौ परस्परं व्यवहरस्तदा क्लेशोऽविश्वासो वोत्पद्यते, कुतः ? अनन्तवीर्यस्य विश्वरूपगुणस्य तत्राऽसद्भावात्। अमुथैव यदि कश्चित् कर्त्ता किंचित् कार्यमारभते यदि तत् कार्यं कर्त्तरि विशति, अर्थात् तद्वशे तिष्ठति, तेन कर्त्रा न कस्याप्यृणं तत्कार्यमधिकृत्य कस्मैचिद् दातव्यं भवति तदा विश्व-

---

यजुर्वेद और मुण्डकोपनिषद् से भी विश्व का ब्रह्म अर्थ प्रतिपादित है। अर्थात् समस्त प्राणी जिसमें प्रविष्ट होते हैं वह ब्रह्म ही विश्व है।

विशेष—राजा अथवा प्रशासन करनेवाली सभा शासनसूत्र किम्वा दण्डदान से प्रजा में प्रवेश करते हैं। जब राजा प्रजा पालन रूप धर्म छोड़कर स्वार्थ हेतु प्रजा को पीडित करता है तब प्रजा विद्रोह करती है ऐसा क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि राजा और प्रजा दोनों ही परस्पर भगवान् के विश्व नामक गुणों का त्याग कर देते हैं। गुरु शिष्य में विद्या के उपदेश से प्रविष्ट होता है। और शिष्य गुरु में श्रद्धा के माध्यम से प्रवेश करता है। अतः यह देखकर जानना चाहिये कि सर्वव्यापक विष्णु का विश्व नामात्मक गुण गुरु और शिष्य दोनों में ही व्याप्त है। जब दोनों छल धारण कर परस्पर व्यवहार करते हैं तो क्लेश और अविश्वास पैदा होते हैं। क्यों कि अनन्त शक्तिवाले विश्व गुण का वहाँ अभाव रहता है। इसी प्रकार कोई कर्ता किसी कार्य का आरम्भ करता है तो वह कार्य कर्ता में प्रविष्ट होता है अर्थात उसके वश में रहता है। तब उसे इस कार्य के बदले में कुछ भी नहीं देना पड़ता, क्योंकि वह विश्व नाम-गुणात्मक ब्रह्म उसमें व्याप्त रहता है। जब कार्यारम्भ करने वाले की बुद्धि स्वयमेव नये-नये मार्गों को ढूंढती हुई उस कार्य को आगे-आगे बढ़ाती है, तब विशति अर्थवाला विश्व नामक गुणधारी ब्रह्म उस कर्ता में स्वयं उपस्थित है, यह बिना संकोच

नामगुणवद् ब्रह्म तस्मिन् कार्ये आनुकूल्यं भजते। यदा कार्यारम्भकर्तृबुद्धिः स्वयमेव नूतनानि मार्गाणि मृगयमाणा तत् कार्यमग्रेऽग्रे नयति तदा विशतीति विश्वं नामात्मकगुणधृत् ब्रह्म तस्मिन् कर्त्तरि स्वयमुपस्थितमस्तीति निर्विकल्पं ज्ञातव्यम्। अतिबहुत्वाल्लोकसम्बन्धानां सर्वत्रैवंविधाः कल्पनाः कल्पनीया भवन्तीति दिक्।

विश्वमशेषं कृत्स्नं समस्तं निखिलाखिलानि निःशेषम्।
समग्रं सकलं पूर्णमखण्डं स्यादनूनके॥

अमरकोशे–कां० ३, विशेष्यनिघ्नवर्गः–१, श्लोकः–६५। इति द्वादशपर्यायो विश्वशब्दः।

भवति चात्रास्माकम्—

यथा जगद् ब्रह्मणि विष्टमस्ति स्रष्ट्राऽथवा विष्टमिदं जगत् स्यात्।
कृत्स्नं जगत् ब्रह्म च विश्वमुक्तं प्रकाशते यत्र स विश्वभक्तः॥

विष्णुः—

विष्लृ व्याप्तौ जुहोत्यादिः तस्मात् "विषेः किच्च" (३।३९) इत्यनेनौणादिकेन णु–प्रत्ययः किच्च स भवति, तेन गुणाभावात् "विष्णुरि"ति। वेवेष्टि व्याप्नोति कृत्स्नं चराचरं जगदिति विष्णुः स्वयम्भूरिति। तथा च मन्त्रः—

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्त्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो! सुमतिं भजामहे॥
(ऋग्वेदे २।२।२६)

अस्मिन् मन्त्रे—

हे यथाविदः स्तोतारः! तं पूर्व्यं ऋतस्य यथार्थस्य गर्भं ग्रहणकर्त्तारं

के समझ लेना चाहिये। इस तरह लौकिक क्रियाएं अनन्त हैं उन सब में ऐसी कल्पना कर लेनी चाहिये।

इन सब का सार भाष्यकार ने स्वरचित पद्य में संगृहीत किया है। यथा–जैसे जगद् ब्रह्म में प्रविष्ट है अथवा स्रष्टा-ब्रह्म जगत् में प्रविष्ट है। और यह सारा जगत् तथा ब्रह्म ही विश्व कहलाता है जहां विश्व भक्त प्रकाशित हो रहा है।

विष्णुः=सर्वव्यापी।

व्याप्ति अर्थवाले जुहोत्यादिगण पठित विष्–धातु से औणादिक णु प्रत्यय से "विष्णु" शब्द बनता है। सम्पूर्ण चराचर में जो व्याप्त है–होता है-वह विष्णु। इसी अर्थ का प्रतिपादन

निर्विकल्पज्ञानमयं जनुषा जन्मना पिपर्तन सेवध्वम् । आ अस्य जानन्तो नाम चित् पादपूर्णे, आविवक्तन आवदत, हे महः ! महनीय ! विष्णो ! सर्वत्रव्यापनशील ! वयं ते तव सुमतिं भजामहे, इति श्रुतेराशयः । अन्यच्च—

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ (यजुः ६--४)

विष्णोः सर्वव्यापकस्येति । अन्यच्च—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ (यजुः ६–५)

विष्णोः व्यापकस्येत्यर्थः । वेदे बहुत्र विष्णु–शब्दो ब्रह्मपर्याये प्रयुक्तोऽस्ति ।

केश्चित् प्रवेशनार्थाद् विश-धातोर्नुक्प्रत्ययं कृत्वा "विष्णु"–शब्दः साध्यते । तद्यथा विष्णुपुराणे प्रयोगः—

यस्माद्विष्टमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात् ॥
(विष्णु पु०–३-१-४५) ॥

"विश्वं"— इति नाम्नो व्याख्यायां यदस्माकं वक्तव्यमस्ति तद् "विष्णुः" इति नाम्नो व्याख्यानेऽपि पठनीयम् । भवति चात्रास्माकम्——

विष्ट्वा यथा ब्रह्म जगद्दधाति विष्टं जगद्वा सुखमेति यस्मिन् ।
तथा स्वके यः सुखमेति वर्गे वर्गश्च यस्मिन् स नरोऽस्ति विष्णुः ॥

वर्गः=परिवारः, तद्विधसमुदायो वा । स्वके वर्गे=स्वपरिवारे । पण्डितवर्गे ब्राह्मणवर्गे, क्षत्रियवर्गे इति च यथा लोके ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि के मन्त्रों से भी होता है । विष्णु पुराण में प्रवेशार्थक विश् धातु से भी इस शब्द की सिद्धि बतलाते हुए कहा गया है कि—

उस महात्मा-परमात्मा की शक्ति से यह सब प्रविष्ट है इसीलिए वह विष्णु कहा जाता है । क्यों कि विश् धातु प्रवेशनार्थक है । अतः विश्वम् शब्द के भाष्य में जो हमने विवेचन किया है, वह यहां भी समझना चाहिये ।

यही पद्य द्वारा इस तरह संगृहीत है —

जैसे ब्रह्म प्रविष्ट होकर जगत को धारण करता है अथवा जिस ब्रह्म में प्रविष्ट होकर जगत् सुखी होता है । उसी प्रकार मनुष्य अपने वर्ग-परिवार में रहकर सुखी होता है और परिवार मनुष्य में रहकर सुखी होता है । इसलिये मनुष्य भी विष्णु है ।

वषट्कार:—

'वषट्" इत्यव्ययं वाक्यार्थे, गुरोर्वषट् तिष्ठतु शिष्यः, गुरोः कथने तिष्ठतु शिष्य इत्यर्थः, कारो हि स्वार्थे प्रत्ययः, वषडेव वषट्कार इति । वषडेव वौषडव्यय इति च । दर्शपौर्णमासयागे, अन्यस्मिन् वा यागे यमुद्दिशीकृत्य वषट् वौषड् वौच्चार्यते स रुद्रो वसुर्वर्निर्विष्णुरो३म् वा भवति । मन्त्रलिंगं च—

स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः। (अथर्व०–१३-४-२६) "*यज्ञो वै विष्णुः*" (तै० सं० १-७-४) । येन वषट्कारादिमन्त्रात्मना देवान् प्रीणाति स वषट्कारः । दर्शपौर्णमासे होताऽध्वर्यु प्रेषयति —तत्र ओश्रावयः, अस्तु श्रौषट् । यज, ये यजामहे । वषट् वौषड् वा, अध्वर्युः श्रोषडाद्यन्तं मन्त्रं पठति, तत्र दीयमानानामाहुतीनां सुबोधार्थं पद्यम्—

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पंचभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ।

भवति चात्रास्माकम्—

लोके वषट् वाक्यविशौ प्रयुक्तः स एव कारणयुतोऽस्ति वेदे ।
रुद्रो वषट्कार ऋचास्ति वाच्यः प्रेषोऽस्ति दर्शादिषु वौषडन्तः ॥

यदुक्तं होताध्वर्यु प्रेषयति, इत्यादि तत्र मंत्रलिंगं यथा—

वषट्कार:=जिनके उद्देश्य से यज्ञ में वषट् क्रिया की जाती है, ऐसे यज्ञस्वरूप ।

वषट् यह वाक्यार्थक अव्यय है । इसका अर्थ 'कथन-कहना' होता है । वौषट् इसका पर्याय है और स्वार्थ में कार का प्रयोग हुआ है । इस शब्द का प्रयोग दर्शपौर्णमास और अन्य यागों में होता है । प्रमाण के लिये—अथर्व० तैत्तिरीयसंहिता के मन्त्र प्रस्तुत हैं । जिस वषट्कारादि मन्त्रात्मा से देवताओं को प्रसन्न करता है, वह वषट्कार । जिस समय दर्शपौर्णमासादि याग होते हैं तब होता अध्वर्यु को लक्ष्य करके इन वाक्यों का उच्चारण करता है । उस समय दी जाने वाली आहुतियों को सरलता से याद रखने के लिए—चार, चार दो, पांच और दो आहुतियों से जिसके निमित्त हवन किया जाता है, वह विष्णु मुझ पर प्रसन्न होवे ।

भाष्यकार ने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है—

लोक में वषट् शब्द वाक्यार्थ में प्रयुक्त होता है । 'कार' शब्द से युक्त होने पर यह वेद में प्रयुक्त हुआ है । ऋचाओं के द्वारा वषट्कार से रुद्र वाच्य है और यज्ञादि में यह वौषडन्त

प्रैषेभिः प्रैषानाप्नोत्याप्रीभिराप्रीर्यज्ञस्य ।
प्रयाजेभिरनुयाजान् वषट्कारेभिराहुतीः ॥१९॥
पशुभिः पशूनाप्नोति पुरोडाशैर्हवीᳫंष्या ।
छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान् ॥२०॥
आ श्रावयेति स्तोत्रियाः प्रत्याश्रावो अनुरूपः ।
यजेति धाय्यारूपं प्रगाथा येयजामहाः ॥२४॥
(यजुर्वेदे अ० १९)

भूतभव्यभवत्प्रभुः—

भूतं च भव्यं च भवच्च भूतभव्यभवन्ति तेषां प्रभुः भूतभव्यभवत्प्रभुः, ओ३म्, विष्णुः, ब्रह्मेत्यादिनामधृत् स एकरस एव। मन्त्रलिंगं च—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ (अथर्व १०-८-१)

अथवा वक्ति च वेदः—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥ (अ० ३१)

एतेन ज्ञायते यत् सूर्यभगणैः परिगणनतामुपगतं यज्जगत् तस्य प्रभुः प्रकर्षेण भावयिता, यच्च जगत् सूर्यभगणैः परिभावयितव्यमस्ति तत् भविष्यत्जगत्, तस्यापि प्रभुः स्वामी प्रभावयिता स एव, एतेन भूतभव्यभवत्प्रभुनाम्ना ज्ञायते यत् स्वयमेकरसः सन् त्रिविधभूतभव्यभविष्यत्नामप्राप्तुमर्हो जगतः स्वामी, न तस्मिन् नियन्तरि भूतकृतो वर्तमानकृतो भविष्यत्कृतश्च व्यवहारः संगच्छते, अत एव मन्त्रद्रष्टृभिर्ऋषिभिः सिद्धान्तितं यत् छन्दसि लुङ्लङ्लिटां सामान्येन प्रयोगो

प्रैष कहलाता है ।

भूतभव्यभवत्प्रभुः =भूत, भविष्यत् और वर्तमान के स्वामी ।

ओ३म् विष्णु, ब्रह्म इत्यादि नामधारी परमात्मा ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान का स्वामी है । इस बात का प्रमाण अथर्ववेद यजुर्वेद के मन्त्रों से पुष्ट किया है । और उन्हीं के आधार पर यह ज्ञात होता है कि सूर्य-नक्षत्रादि के द्वारा परिगणित होने वाला जो जगत् है उसके वे प्रकर्ष-उत्कर्ष को प्रकट करनेवाले हैं, तथा जो जगत् परमात्मा के द्वारा परिभावनीय =(हुवाने वाला) है उस भविष्यत् जगत् के भी वे स्वामी हैं भूतभव्यभवत्प्रभु इस नाम से होता है कि यह परमात्मा त्रिविध भूत-भव्य-भवत् नामवाले जगत् का स्वयं एकरस होकर

भवति। तद्यथा—*स दाधार पृथिवीम्* (यजुः २५।१०) *सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्*, अर्थश्चैवं—स पृथिवीं दाधार, स पृथिवीं धत्ति, स पृथिवीं धरिष्यति। अर्थश्चैवं सूर्यस्य व्यतीतान् भगणान् परिलक्ष्य भूतकालकृतो व्यवहारः, सूर्यस्य भवन्तं परिगणनात्मकं भगणं दृष्ट्वा वर्त्तमानकालकृतो व्यवहारो भवति, भविष्यतश्च सूर्यस्य भगणान् लक्षीकृत्य भविष्यत्कालकृतो व्यवहारो भवति, परन्तु नैतद् ब्रह्मण्येकरसे भवति, तस्मादिदं वक्तुमर्ह्यते यत् वर्त्तमानकालेनाभिहिता क्रिया कालत्रयस्यार्थमभिधास्यतीति, तद्यथा—*तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम्* । (यजुः २५।१८) अत्र "हूमहे" इति वर्त्तमानस्था क्रिया त्रिकालाभिधायिनीनां क्रियाणामर्थमभिधास्यति।

वक्तव्यम्—

मनुष्यस्य मरणधर्मणः कालैनेयत्ता भवति तस्मात् भगवति विश्वासवता मनुष्येण नूनमध्यवसेयं यत् मनुष्यस्य सर्वं जीवनं नियतमस्ति, अदृष्टहेतुकेन कर्मणा गतिमत्त्वाच्च सर्वजगतः। भगवद्भक्तं किं वा भवद्द्वेष्टारं भोगास्तु तयोः पृथक् पृथक् अदृष्टहेतुनिमित्तककृतकर्मनियतवशादुपस्थास्यन्त्येव, तत्र न मुह्यति तत्त्ववित्। तस्मात् पुण्याय प्रयतितव्यम्। प्रेक्षावता मनुष्येणाहंभावमुत्पाद्य नैकोऽप्यपरो केनापि निमित्तेन शत्रुभावं नेतव्यः। एतदेव भूतभव्यभवत्प्रभुनाम-

---

स्वामी बना हुआ है। इसलिये इसके नियन्त्रण के बिना भूतकाल, वर्तमानकाल अथवा भविष्यत् काल में किए गए व्यवहार की संगति होती है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने भी इस बात को प्रमाणित करते हुए कहा है कि वेद में लिट्-परोक्ष, लङ्-अनद्यतनभूत और लुङ्-सामान्य भूतकाल का सामान्यरूप से प्रयोग होता है। जैसा कि 'स दाधार पृथिवीम्' इत्यादि मन्त्रों मे भूत-भविष्यत् और वर्तमान काल में जो पृथिवी को धारण करता है, यह अर्थ होता है। क्योंकि सूर्य के बीते हुए भगणों को देखकर भूतकाल का व्यवहार होता है, होनेवाले परिगणनात्मक भगण को लक्षित करके वर्तमान काल में किया जाने का व्यवहार होता है तथा भविष्यत् काल के सूर्य के भगणों को लक्षित करके भविष्यत् काल में किये गये का व्यवहार होता है। परन्तु यह ब्रह्म के एकरस होने पर नहीं होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वर्तमान काल से कही गई क्रिया तीनों काल के अर्थ को बतलायेगी। जैसा कि 'तमीशानं' इत्यादि मन्त्रों में 'हूमहे' इस वर्तमान काल की क्रिया का अर्थ तीनों काल की क्रियाओं का अर्थ कहेगा।

विशेष—मरणधर्मवाले मानव की काल गणना द्वारा इयत्ता निर्धारित होती है, इसलिये भगवान् में विश्वास रखनेवाले मनुष्य को सदा स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य का जीवन अदृष्टहेतुवाले कर्म के द्वारा सारे जगत् के गतिमान् होने से नियत है। भगवान् के भक्त और भगवान् से द्वेष रखनेवाले दोनों को पृथक्-पृथक् अपने-अपने कर्मों के अनुसार भोग तो प्राप्त होंगे ही, किन्तु तत्त्वज्ञ उनके मोह में नहीं फँसता है। अतः पुण्य के लिये प्रयत्न करना चाहिये। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि कभी भी किसी भी निमित्त से

वतोऽनन्तस्य ध्यानस्य जपस्य तस्मिन्नास्थायाश्च फलमिति । यथा लोके कार्यं कारयितुः स्वामिनः कालोऽह्ना मासेन वर्षेण न परिगण्यते, परन्तु भृतकस्य कालस्य संख्यानं दिनैर्मासैर्वर्षैश्च क्रियते तस्मै भृतिं प्रदातुममुथैवेश्वरः सर्वप्राणिभ्यो भोगान् दातुं दापयितुं वा भूतेन भवता भविष्यता च कालेन कलयति, न च स्वयं परिगणितो भवति, भवति च समानं लोकेन स्वल्पसत्तामतः स्वामिन इव, अत एतदुक्तं भवति—प्रकर्षेण भवतीति प्रभुः, सर्वस्मिन् काले सत्तावत् सत् तद् ब्रह्म भूतभव्यभवत्प्रभुरुक्तो भवति, एकरस इति वा ।

भवति चात्रास्माकम्—

यो देशदिक्कालविभागमुक्तः स्वयं प्रभुः सन् सृजतीह विश्वम् ।
तमच्युतं सर्वतिङां समूहो व्यनक्ति, कालेन भिनत्ति नैव ॥

तिङः—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्, इत्येवमादयो दशलकाराः कालभेदविज्ञापनाय धातोः प्रत्ययरूपेणायान्ति । व्यनक्तिमात्रम्—यदुक्तं तत्र हेतुः कूटस्थत्वं ब्रह्मण इति ।

भूतकृत्—

भूतानि करोतीति भूतकृत् । मन्त्रलिंगं च—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥
(ऋग् १०।१२९।३)

अहम्भाव लाकर किसी के साथ शत्रुता न करे। यही 'भूत-भव्य-भवत् प्रभु'—नामवाले अनन्त भगवान् के ध्यान, जप और उनमें आस्था रखने का फल है। तथा जैसे संसार में काम करवानेवाले मालिक का समय दिन, मास अथवा वर्षों से नहीं गिना जाता, किन्तु नौकरी करनेवाले के समय की ही गिनती दिन, मास और वर्षों से की जाती है क्योंकि उसे वेतन देना पड़ता है। इसी प्रकार परमात्मा प्राणियों को भोगादि देने तथा दिलाने के लिये उनके समय की गणना करता है किन्तु उनके काल की कोई गणना नहीं होती। अतः वह सब काल में सत्ता वाला उत्कृष्ट स्वामी है। यही बात पद्य द्वारा स्पष्ट की गई है—

जो देश, काल आदि के विभाग से मुक्त स्वयं प्रभु बनकर विश्व का सर्जन करता है, उस अच्युत परमात्मा को काल वाचक सभी लकारों का समूह व्यक्त करता है परन्तु वह काल से पृथक् नहीं है।

पाणिनीय व्याकरण में काल-सूचना के लिये दस लकारों का निर्देश है और उनमें भी एक लेट् का प्रयोग वेद में ही होता है।

भूतकृत्=रजोगुण का आश्रय लेकर ब्रह्मरूप से सम्पूर्ण भूतों की रचना करने वाला।

भूतों का जो निर्माण करता है वह भूतकृत् । वेदों में वर्णन आता है कि "पहले चारों

इति हेतोर्भूतकृद् ब्रह्मोक्तं भवति ।

भूतानि कृन्तति हिनस्ति प्रलयमापादयतीत्याशयमधिकृत्य—"भूतकृत्" प्रलयकर्त्तेत्युक्तं भवति. भूतकृदिति ।

भूतभृत्—

यदेश्वरो भूतानि विभर्त्ति पालयति धारयति पोषयतीत्यात्मकं गुणं दधद् जगत् व्यवस्थापयति तदा भूतभृन्नाम्नोच्यते स एक एव ।

आनन्दस्वरूपे भगवति रजस्तमसोर्गुणयोः समावेशो न भवति *"तमसः परि स्वः"* (यजुः० अ० ३५ । मं० १४) इति मन्त्रलिंगात् । स सर्वदैव प्रकाशस्वरूपः, स स्वकीयया सत्यया व्यवस्थया जगत् नियमयति । परन्तु अघटितघटनापटीयस्याः प्रकृतेर्विकारभूतमिदं त्रिगुणात्मकं जगत् तद्व्यवस्थयैव विकारषट्कमापद्यते, षड्भावविकाराश्च यथा—*जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति* ।

और अन्धकार व्याप्त था और पानी ही पानी फैला हुआ था । उस समय वह परमात्मा अपनी तपस्या के प्रभाव से एक मात्र अवस्थित था ।' इस ऋग्वेद मन्त्र के द्वारा प्रमाणित है कि वह ब्रह्म ही भूतकृत् है । अथवा जो भूतों का प्रलयादि के द्वारा विनाश करता है वह भी भूतकृत् परमात्मा ही है । यहां कृञ्=करणे और कृती छेदने इन दोनों धातुओं से क्विप् प्रत्यय द्वारा 'कृत्' प्रयोग की निष्पत्ति मानी है । तथा भूत शब्द से—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का अर्थ गृहीत है । क्योंकि इस पंचभूतात्मक सृष्टि का ही सर्वत्र निर्देश है यही सार पद्य में संगृहीत है । यथा—जो रजोगुण का आश्रय लेकर समस्त पञ्चभूतात्मक सृष्टि की रचना करता है अथवा तमोगुण का आश्रय लेकर इस सृष्टि का संहार करता है वह भूतकृत परमात्मा है ।

भूतभृत्=सत्त्वगुण का आश्रय लेकर सम्पूर्ण भूतों का पालन पोषण करने वाला ।

जब ईश्वर भूतों के पालन, पोषण और रक्षणात्मक गुण को धारण करता हुआ जगत् की व्यवस्था करता है तब वह 'भूतभृत्' नाम से अभिहित होता है वह एक ही है ।

आनन्दस्वरूप परमात्मा में रजस् और तमोगुण का समावेश नहीं होता । वह तम से दूर है. वह सदा प्रकाशस्वरूप है, वह अपनी सत्य व्यवस्था के द्वारा जगत् का नियमन करता है । परन्तु अघटित घटना में पटु इस प्रकृति के विकार से ही यह जगत् त्रिगुणात्मक है और उस व्यवस्था के द्वारा ही छः विकारों को प्राप्त होता है । वे विकार इस प्रकार हैं—१. होता है, २. है, ३. बदलता है, ४. बढता है ५. क्षीण होता है, तथा ६. नष्ट होता है ।

भवति चात्रास्माकम्—

अजो नियन्ता सकलं सृजन् जगत् गुणैः पृथक् सन् यतते निमित्ततः ।
जगत् स्वयं तत्कृतया व्यवस्थया विकारषट्कानयते न स स्वयम् ॥

वंशस्थबिलं छन्दः । लक्षणम्–वदन्ति वंशस्थबिलं जतौ जरौ ।

भावः—

भावः—सत्तार्थकाद् भूधातोः "ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः" इति णप्रकरणे "विभाषा ग्रहः" इति सूत्रे "भवतेश्चे"ति वार्तिकम्, काशिककारमते तेन णः प्रत्ययः, भाव इति । भाष्यमते तु—भू प्राप्ताविति चौरादिकाण्णिजन्तधातोः पचाद्यचि णेर्लोपे भाव इति । सत्स्वरूपो महासत्तालक्षणो भावो भगवान् विष्णुः ।

भावयतीति भावः, स्वकृतव्यवस्थया चतुर्विधां सृष्टिमुत्पादयति । तद्यथा—

अण्डजाः पक्षिसर्पाद्याः स्वेदजा मशकादयः ।
उद्भिज्जा वृक्षगुल्माद्या मानुषाद्या जरायुजाः ॥

न हि चतुर्विधसृष्टेरुत्पत्तिः कालमनादृत्य संभवतीति कृत्वा कालोऽपि भावः स्यात् । भवन्त्यस्मिन्नित्यधिकरणे घञ् प्रत्ययं कृत्वा—भवन्त्यस्मिन्निति भावः कालः, भावयन्त्यस्मिन्निति वा भावो ब्रह्माण्डम् । न हि ब्रह्माण्डमतिवृत्य किञ्चिदुत्पद्यते । ब्रह्माण्डपरिधिश्च द्वादशधा विभागमन्वेति । तद्यथा वेदः—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥
(ऋग्० १।१६४।४८ । अथर्व० १०।८।४)

वंशस्थबिल छन्द में रचित पद्य द्वारा यही बात भाष्यकार ने कही है यथा—

वह अज, नियन्ता सम्पूर्ण जगत् का निमित्त के अनुसार सर्जन करके पृथक् रहता हुआ प्रयत्न करता है । और यह जगत् स्वयं उसके द्वारा की गई व्यवस्था से छः विकारों को प्राप्त होता है । किन्तु वह विकृत नहीं होता ।

भावः=नित्यस्वरूप होते हुए भी स्वतः उत्पन्न होने वाला ।

सत्तार्थक भू धातु से यह शब्द सिद्ध होता है । इसका अर्थ—होता है, सत्तामात्र से व्यक्त होता है, जिसके द्वारा होता है, स्वयम्भू, प्रकट करता है इत्यादि अनेक विध किया है । वह स्वयम्भू स्वयंकृत व्यवस्था के द्वारा चतुर्विध सृष्टि को उत्पन्न करता है । जैसे कि—अण्डज—पक्षी सर्प आदि । स्वेदज-मशक आदि । उद्भिज्ज—वृक्ष-गुल्म आदि और जरायुज-मनुष्य आदि । यह चतुर्विध सृष्टि काल का अनादर करके नहीं होती है अतः भाव का अर्थ काल भी होता है । और जो कुछ उत्पन्न होता है वह ब्रह्माण्ड में ही होता

एष मन्त्रोऽथर्ववेदे किंचिद्भेदेन दृश्यते। तद्यथा—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शंकवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये॥
(अथर्व० १०-८-४)

यदेतद् द्वादशप्रध्यात्मकमेकं चक्रं तस्यैकस्य प्रधेः राशिरिति नाम, तत्र नक्षत्राणां समूहत्वेन सद्भावः। ते च राशयो द्वादश। तद्यथा—

मेषो वृषोऽथ मिथुनं कर्कटः सिंहकन्यके।
तुला च वृश्चिको धन्वी मकरः कुम्भमीनकौ॥ इति।

एत एव च पुना राशयः कालमभिदधाना माससंज्ञां लभन्ते। ते च यथा—वैशाखः, ज्येष्ठः, आषाढः, श्रावणः, भाद्रपदः, आश्विनः, कार्त्तिकः, मार्गशीर्षः, पौषः, माघः फाल्गुनः, चैत्रः, इति द्वादश। नक्षत्रेण युक्तः कालः (पाणिनि० ४।२।३) इत्यनेन "अण्"प्रत्ययस्य सद्भावात् सर्वत्र नक्षत्रस्याद्यचि वृद्धिः, तद्यथा—विशाखा इति नक्षत्रस्य नाम, तत्र विशाखादिसमीपस्थे चन्द्रमसि वर्त्तमाना विशाखादिशब्दाः प्रत्ययमुत्पादयन्ति। एत एव च द्वादश मासा उत्पादनेऽधिकरणभूता भाव-संज्ञां लभन्ते। ते च द्वादश। तद्यथा—तनुः, धनम्, भ्रातृ, सुखम् पुत्रः, शत्रुः कलत्रम्, मरणम्, धर्मः, कर्म, आयः, व्ययः, इति द्वादश भावाः। ये ग्रहा राशीनामधिपतयस्त एव भावनामिति। तद्यथा—मेषवृश्चिकयोर्भौमः, वृषतुलयोः शुक्रः, मिथुन-कन्ययोर्बुधः, कर्कस्य चन्द्रमाः, सिंहस्य सूर्यः, धनुर्मीनयोश्च बृहस्पतिः, मकरकुम्भयोः शनिः इति। कालात्मकस्य भावस्य ये ईशा ग्रहास्त एव

है। इस ब्रह्माण्ड की परिधि के १२ विभाग होते है। इस बारह परिधिवाले चक्र की एक परिधि का नाम राशि है। ये राशियाँ भी बारह हैं—मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन। तथा ये राशियाँ पुनः कालधर्म को व्यक्त करती हुई मास संज्ञा को प्राप्त होती हैं। बारह मास के नाम इस प्रकार हैं—वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन तथा चैत्र। ये ही बारह मास उत्पादन में अधिकरणभूत होकर 'भाव' संज्ञा को प्राप्त होते हैं। वे इस प्रकार हैं—तनु, धन, भ्रातृ, सुख, पुत्र, शत्रु, कलत्र, मरण, धर्म, कर्म, आय और व्यय। ये तन्वादि द्वादशभाव हैं। जो ग्रह जिस राशि के अधिपति हैं वे ही उस भाव के भी अधिपति हैं। जैसे कि—मेष और वृश्चिक का स्वामी मंगल है, वृषभ और तुला का स्वामी शुक्र है, मिथुन और कन्या का स्वामी बुध है, कर्क का स्वामी चन्द्रमा है, सिंह का स्वामी सूर्य है, धनुष् और मीन का स्वामी बृहस्पति है तथा मकर और कुम्भ का स्वामी शनि है। कालात्मकभाव के अधिपति ये ग्रह हैं जो जन्मकाल में यथास्थान पर स्थित होकर भिन्न-भिन्न प्रभावात्मक फल को देते हैं। उस ब्रह्म के स्थावरजगत् के अधिपति

जन्मकाले यथास्थानपतिता भिन्नं भिन्नं फलं ददति। जगतस्तस्थुषश्च पतित्वात्तस्य ब्रह्मणो ग्रहा अपि तत्स्वरूपा एव। तथा च मन्त्रलिंगम्—*तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम्* (यजुः २५।१८)।

ज्योतिर्विदां समयो यथा—बृहत्पाराशरहोराशास्त्रे भावविवेकाध्याये—

> *यो यः शुभैर्युतो दृष्टो भावो वा पतिदृष्टयुक्।*
> *युवा प्रवृद्धो राज्यस्थः कुमारो वापि यत्पतिः ॥१४॥*
>
> *तदीक्षणवशात् तत्तद् भावसौख्यं वदेद् बुधः।*
> *यद्यद्भावपतिर्नष्टस्त्रिकेशाद्यैश्च* संयुतः ॥१५॥*

* षष्ठाष्टमान्त्यास्त्रिका दुष्टाश्च।

> *भावं न वीक्षते सम्यक् सुप्तो वृद्धो मृतोऽथ वा।*
> *पीडितो वास्य भावस्य फलं नष्टं वदेद् ध्रुवम् ॥१६॥*

भवति चात्रास्माकम्—

> भावः शोध्यः परायत्नात् भावे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
> भावाशुद्धौ भ–शुद्धेऽपि फलं नास्तीति चिन्त्यताम् ॥

वेदे ग्रहेभ्यः शं–कामना विज्ञापयति यत्तो ग्रहाः कस्यांचिदवस्थायामशंकराः कल्याणविरोधिनोऽपि भवन्ति। तद्यथाऽथर्ववेदे—

होने से ग्रह भी उसके स्वरूप ही हैं। इस कथन का प्रमाण यजुर्वेद के मन्त्र 'तमीशान' इत्यादि से दिया है।

इसी प्रसंग से 'बृहत्पाराशरहोराशास्त्र' से ज्योतिर्विदों का भावफल को देखने का या विचार करने का संक्षेप में सिद्धान्त लिखा जाता है। यथा—जो जो भाव अपने स्वामी या शुभ ग्रह से युक्त हो, अथवा दृष्ट हो तथा जिस भावका स्वामी युवा, वृद्ध राज्यस्थ अथवा कुमार हो, उस उसकी दृष्टिके आधार पर भाव का फल कहना चाहिए, जिस जिस भाव का स्वामी नष्ट=अस्तंगत हो और षष्ठ=रिपुभाव, अष्टम=मृत्युभाव, अन्त्य=व्यय भाव, इन तीन भावों को "त्रिक" तथा दुष्ट भी कहते हैं। अतः त्रिक के स्वामी से युक्त हो, जो भावको सम्यक् न देखता हो, सुप्त हो वृद्ध हो, अथवा मृत हो अथवा शत्रुग्रह से पीडित हो, तो उस भावका फल निश्चितरूप से ही 'नष्ट होगया' ऐसा कहे ॥१४-१५-१६॥

इस विषय में भाष्यकार का भी मत यही है कि– पूर्ण यत्न से भाव का शोधन करना चाहिये क्योंकि भाव में ही सब प्रतिष्ठित है। भाव की अशुद्धि रहने पर यदि नक्षत्रादि शुद्ध भी हों, तो भी फल नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिये।

वेदमन्त्रों द्वारा ग्रहों से कल्याण कामना की जाती है अतः यह ज्ञात होता है कि किसी अवस्था में यह अकल्याण भी करते हैं। शं नो ग्रहाः इत्यादि।

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्याश्च राहुणा ।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥
(अथर्व० ११।६।१०)

ग्रहानधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं ज्यौतिषं नाम । तच्च पुनस्त्रिस्कन्धं-होरा, गणितम्, संहितेति च । ग्रहाश्चराचरं शुभाशुभे नयन्ति । मनुष्योपकारार्थं सर्व-विद्याप्रतिपादकानां शास्त्राणां सद्भावात् । विशेषरुचिमद्भिस्तच्छास्त्र-मभ्यसनीयम् ।

त एव द्वादशभावास्तदधिपतयश्च ग्रहाश्चराचरमात्मना व्यापयन्ति शुभमशुभं वा त्रिकालस्थितं विज्ञापयन्ति । कुतः ? भावात्मके ब्रह्मणि चराचरस्य प्रतिष्ठितत्वात् । गतिमत्त्वाच्च ग्रहाणाम् ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

यो भावरूपं महनीयमीशं सर्वत्र बुध्वारभतेऽनवद्यम् ।
भावाः शुभाः साधिकृताश्च तस्य भावात्मके ब्रह्मणि नास्ति पापम् ॥
यदा नरो भावमयं विशुद्धं जगत्कृतं वामधियाऽनुपश्यन् ।
करोत्यभद्राणि तदा स शम्भुस्त्यजन् नरं तं नरके नियत्ते ॥

कथनान्तरेण पुनः—

यस्मिन् भावे यद् भवति भावशुद्धौ हि तच्छुचिः ।
तस्मिन् सत्तात्मकं ब्रह्म तत्रास्तीत्यवधार्यताम् ।

ग्रहों को उद्देश करके जिस शास्त्र का प्रवर्तन हुआ है वह शास्त्र 'ज्योतिष' कहलाता है। ज्योतिषशास्त्र के तीन स्कन्ध हैं—होरा, गणित और संहिता। ग्रह चराचर को शुभाशुभ के लिये प्रेरित करते हैं क्योंकि सभी शास्त्रों का प्रवर्तन मनुष्यों का उपकार करने के लिये ही हुआ है। वे ही बारह भाव अथवा उनके अधिपति ग्रह चराचर को अपने में व्याप्त करते हैं और त्रिकालस्थित शुभाशुभ को बतला देते हैं। क्योंकि भावात्मक ब्रह्म में चराचर के प्रतिष्टित होने से तथा ग्रहों के गतिमान् होने से। इसका सार निम्न पद्यों में इस प्रकार संकलित है—जो महनीय और परम भावरूप परमात्मा को सर्वत्र बुद्धि के द्वारा आत्मसात् करता है उसके भाव शुभ और साधिकार रहते हैं। भावात्मक ब्रह्म में किसी प्रकार का पाप नहीं है।

जब मनुष्य विशुद्ध भावमय जगत् कार्यों को वाम बुद्धि से देखता हुआ अभद्र कार्य करता है तब भगवान् उसका त्याग करते हुए नरक की ओर प्रेरित करते हैं।

जिस भाव में जो होता है वह उस भावशुद्धि में पवित्र है। अतः उसमें वह सत्तात्मक ब्रह्म विराजमान है ऐसा समझना चाहिये।

भूतात्मा —

भूतानामात्मा भूतात्मा । "आत्मा" सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उणा० ४।१५३) इत्यनेन अततेः सातत्यगमनार्थान्मनिणि प्रत्यये 'आत्मा" शब्दो निष्पद्यते। अतत्यजस्रं गतिं करोतीत्यात्मा, आतयत्यजस्रं हृदयं गमयतीत्यात्मा । सततं गमनशीलत्वादात्मनो हृदयमपि सततं गतिमत्। तथा च मन्त्रलिंगं देहाभिमानि-नमात्मानमधिकृत्य—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥
(अथर्व० १०।८।४३)

पुण्डरीकं हृदयं, तत्र सत्त्वरजस्तमसामावृतेः सद्भावान्मनोऽपि त्रिगुणात्मकमुक्तं भवति । यक्षमत्र मनः, मन्त्रलिंगं च—*यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु* (यजुः० ३४।२) आत्मनश्चेतनधर्मत्वात् सततं गतिमत्त्वाच्च हृदयमपि सततं गतिमत् सत् संज्ञानात्मकस्य मनसो धर्मस्य नियन्तृ भवति, दृश्यते च लोके हृदयमनसोर्वैषम्यात् कार्यस्य हानिरसौष्ठवं वा। एवमन्यत्रापि देहिपर्यायवाचिन 'आत्मा' इति शब्दस्य बहुत्र प्रयोगोऽस्ति, यथा—*आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन्* (अथर्व० १४।२।१४)। यदुक्तं—ब्रह्मविदो विदुरिति, तत्रैवं संगन्तव्यम्—*आत्मा वै पुत्रनामासि त्वं जीव शरदः शतम्* इत्यत्र पुत्रात्मनोः परस्परं सुतरां नैकट्यमेकी-भाववत्त्वं ज्ञापयितुमुक्तमस्ति। एतेन सर्व एव परिजनो परस्परं सुखं दुःखं स्वार्थं वाधिकृत्य "अतति-आतयति वा" वत् भूतात्मेवावस्थितं भवति, एतज्ज्ञानमेव ब्रह्मणो व्यवस्थापरिज्ञानाद्ब्रह्मज्ञानं भवति, महैश्वर्यत्वं च तस्य भूतात्मनो ब्रह्म-

भूतात्मा = सम्पूर्ण भूतों के आत्मा अर्थात् अन्तर्यामी ।

निरन्तर गमनार्थक अत धातु से आत्मन् शब्द बनता है। जो निरन्तर गमन करता है वह आत्मा, अथवा स्वयं गतिशील होने के कारण हृदय को अजस्र गतिशील बनाता है वह आत्मा देहाभिमानी आत्मा को लक्ष्य करके अथर्ववेद में कहा है कि —हृदय नौ द्वार और तीन गुणों से आवृत है उसमें जो यक्ष-मन है उसे ब्रह्मविद् जानते हैं । आत्मा के चेतनधर्मा होने से तथा सतत गतिशील होने से हृदय भी उसके समान है। अत एव वह संज्ञानात्मक मन के धर्म का नियन्ता होता है। लोक में भी देखा जाता है कि हृदय और मन की विषमता होने से हानि और अनौचित्य हो जाता है। वैसे आत्मा शब्द देही का पर्यायवाची बनकर अनेक स्थानों पर प्रयुक्त होता है। "ब्रह्मविद् जानने हैं" यह जो कहा गया है इसका तात्पर्य यह है कि—'आत्मा ही पुत्र नाम वाला है, तू सौ शरद्-ऋतुओं तक जीवित रह ।' इत्यादि वाक्यों से पूर्ण निकटता बतलाने के लिए है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी परिजन परस्पर सुख दुःख और स्वार्थ को लक्ष्य करके चलते हैं अथवा चलाते हैं वह भूतात्मा जैसी स्थिति है। यह ज्ञान ही ब्रह्म व्यवस्था का ज्ञान कराता है और उससे ब्रह्मज्ञान

नामवतो भगवत इति।

सर्वं स्थिरं चरं वा जगत् महाशक्तिमतो ब्रह्मणः सामर्थ्यात्—अतति सततं गमनशीलं भवति, उक्तं च वेदे—'*सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चे*'ति। सूर्यश्चराचरं गमयति, स्वयं च गतिमादधाति। वक्ष्यति चाग्रे श्लोके १०७ सप्तोत्तर एकशततमे "सूर्यः" इति भगवतो नाम। अत एतदुक्तं भवति यत् ग्रहाधिपतेः सूर्यस्याप्ययमेवोऽम्पदवाच्य ईश्वर एवातयिता भ्रामयिता वास्ति, सर्वस्य चराचरस्य भूतविकारसंभवस्य भ्रामयिता सन् 'भूतात्मा" उच्यते। मन्त्रलिंगं च—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥ (यजुः० ४०।६)
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (यजुः ४०।७)।

को वै ब्रह्म, ब्रह्मण इदं ब्राह्मणं वा ज्ञातुं शक्नोति केन वा विधिना तदाह—

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो वेद स वेद ब्राह्मणं महत्॥
(अथर्व० १०।८।३७)

सर्वं चराचरं ब्राह्मणमत्राभिमतम्। एतां सृष्टिं दृष्ट्वा विशेषमन्विष्य वा

होता है। उस भूतात्मा और ब्रह्म नामवाले भगवान् का यह महान् ऐश्वर्य है।

सारा स्थिर—अस्थिर जगत् महाशक्तिशाली ब्रह्म के सामर्थ्य से सतत गतिशील होता है। वेद में भी कहा है कि—"सूर्य स्थिर और चर जगत् का आत्मा है।" सूर्य चराचर को गतिमान् बनाता है और स्वयं भी गतिशील रहता है १०७वें नाम 'सूर्य' में इसे कहेंगे। इसीलिए यह कहा जाता है कि ग्रहाधिपति सूर्य का भी यही ओ३म् पद वाच्य ईश्वर भ्रमण कराने वाला है। सब चराचर के भूतसमूह को भ्रमण कराने वाला 'भूतात्मा' कहलाता है। इस का प्रमाण वेदमन्त्रों द्वारा प्राप्त है। जैसे— जो सब भूतों को आत्मा में ही देखता है तथा आत्मा को सब भूतों में देखता है वह मोह में नहीं पड़ता है। जिसमें सब प्राणी विशेष ज्ञानवान् के लिए आत्मस्वरूप ही ज्ञात होते हैं। वहां एकत्व का दर्शन करने वाले के समक्ष कौनसा शोक है और कौनसा मोह है?

यहां प्रसङ्गवश ब्राह्मण के सम्बन्ध में विचार किया जाता है— ब्रह्म का जो स्वरूप है वह ब्राह्मण है अथवा यह किस विधि से ज्ञात होता है? इसका उत्तर अथर्व० के मन्त्र द्वारा यह मिलता है कि— जो विस्तृत सूत्र को जाने, जिसमें यह प्रजा ओतप्रोत है, सूत्र के सूत्र को जिसने जाना है उसने महद् ब्राह्मण को जाना है।

यहां 'सारा चराचर ब्राह्मण है' यह अभिमत है। इस सृष्टि को देखकर और विशेष

यज्ज्ञानमुत्पद्यते तदपि ब्राह्मणं भवति, तद्विदोऽपि ब्राह्मणा उच्यन्ते ।

उक्तं चास्माभिरात्मकृते सत्याग्रहनीतिकाव्ये पंचमाध्याये ऋतुचर्याभिधे तृतीयपादे—

अनन्तकर्तुः कर्मापि नालमन्ताय कर्हिचित् ।
जगद्वेदस्य व्याख्यानं वेदो विश्वप्रकाशकः ॥९॥
लोकज्ञश्चेन्न वेदज्ञो वेदज्ञश्चेन्न लोकवित् ।
एकपक्षखगस्येव वाक्यं तस्यावसीदति ॥१०॥

सूत्र-शब्दः "सिवु तन्तुसंताने" इत्यस्मात् "सिविमुच्योष्टेरू च" (उणा० ४।१६३) इत्यनेन ष्ट्रनि निष्पद्यते । सीव्यति तन्तुरिव जगदिति सूत्रं विश्वकर्तुर्विधानमिति । यस्मिन्त्सूत्रे सर्वा इमाः प्रजा ओताः प्रोताश्च सन्ति तस्य सूत्रस्य सूत्रं सीवनसाधनं तत् स्वयं ब्रह्मेति ज्ञाता महत् जगदपरपर्यायं ब्राह्मणं वेदेति भावः । अत एवास्माभिः प्रसंगतो लोकोऽपि व्याख्यायते, तद्वेदित्वात् ।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

आहस्तिकीटान्तमिदं निबद्धं जगच्चरं हृद्गुहया सचित्तम् ।
आत्मा हृदिस्थो गमयत्यजस्रं हृदं गुणैरावृतमस्वतन्त्रम् ॥

की खोज करके जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भी ब्राह्मण होता है । उसके ज्ञाता भी ब्राह्मण कहलाते हैं ।

यह बात हमने स्वरचित 'सत्याग्रह नीतिकाव्य' में पांचवें अध्याय के ऋतुचर्याभिध तीसरे पाद में कही है — अनन्त कर्त्ता का कर्म भी कभी अन्त वाला नहीं होता है । यह जगत वेद का व्याख्यान है तथा वेद विश्व का प्रकाशक है ।

जो लोकज्ञ हो और वेदज्ञ न हो, अथवा जो वेदज्ञ हो किन्तु लोकज्ञ न हो वह एक पंखवाले पक्षी के समान ही है । उसके कथन का सम्मान नहीं होता है ।

सूत्र का अर्थ है विश्वकर्ता का विधान । तन्तु के समान जगत् जिसमें व्यवस्थित रहता है वह सूत्र कहलाता है । जिस सूत्र में ये सब प्रजाएं ओतप्रोत हैं उस सूत्र का सूत्र=सीने का साधन वह स्वयं ब्रह्म है, इस बात का ज्ञाता जगद्वाचक ब्राह्मण को जानता है । इसीलिये हमने प्रसंगवश लोक की भी व्याख्या की है, उसका ज्ञाता होने से ।

भाष्यकार-रचित निम्न पद्यों से यही भाव स्पष्ट किया गया है—

यह जंगम और चेतन जगत् हाथी से लेकर कीट तक हृदयरूपी गुहा से निबद्ध है । हृदय में स्थित एवं गुणों से आवृत्त अस्वतन्त्र आत्मा हृदय को सदा चलाता रहता है ।

आत्मनोऽपाये शरीरे हृदयस्य सादृभाव्येऽपि न चलति हृदयमिति कृत्वोक्तं भवत्यस्वतन्त्रमिति।

यथा, तथा विश्वमिदं विधाता समिद्धतेजा भ्रमयत्यजस्रम् ।
भूतात्मनास्त्येव विभुर्विशेष्यस्तं व्यापकं श्रौतवचांसि चाहुः ।२।
जगत्कृता या विहिता व्यवस्था सैवास्ति सूत्रं जगदस्ति सूत्रे ।
यो वेद लोकं स हि वेद सूत्रं यो वेद सूत्रं स हि वेद विष्णुम् ।।३।।

भूतभावनः—१०

भूतानि भावयति जनयति सत्तया वास्थापयति विकासयति विविधं पुष्पयति वर्धयति वा भूतभावन ईश्वर इति। अमुथैव मनुष्योऽपि किंचिद् वपति जलादिदानेन च तद्रोहत्विति बुद्धिं कुर्वाणस्तद्रक्षति चिरं पोषयति सत्तावत् स्यादिति विविधं पुष्पयितुं फलयितुं च प्रयतते, एषानुकृतिरल्पज्ञानिनो जीवस्य। जीवो हि तन्निर्मितायां सृष्ट्यां तथानुकरोति यथा सूर्यापरनामग्राह्यो महादेव इति।

भवति चात्रास्माकम्—

भूतभावन उत्कृष्टो यथा विज्ञोऽनुसेवितः ।
तथा जीवोऽपि तादृभाव्याद् भूतभावनसंज्ञकः ।।

आत्मा के अभाव में शरीर में हृदय की सत्ता रहने पर भी हृदय नहीं चलता है। अत एव 'अस्वतन्त्र' कहा गया है।

परमतेजस्वी विधाता इस विश्व को जैसे-तैसे निरन्तर परिवर्तित करता रहता है। वही विभु भूतात्मा इस नाम से सम्बोधित किया गया है और उसको ही श्रौतवचन= वेदमन्त्र व्यापक कहते हैं ॥

जगत्कर्त्ता ने जो व्यवस्था की है, वही सूत्र है और जगत् सूत्र में निबद्ध है। जिसने जगत् को जाना है वह सूत्र को जानता है और जिसने सूत्र को जाना है वह विष्णु को जानता है।

भूतभावनः=भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले।

प्राणियों को उत्पन्न करता है, सत्ता द्वारा स्थापित करता है, विकसित करता है, विविधरूप से पुष्पित करता है, बढाता है वह भूतभावन अर्थात् ईश्वर। इसी प्रकार मनुष्य किसी बीज को बोता है, जल आदि देने से अंकुरित होता है इस बुद्धि से उसकी रक्षा करता है, चिरकाल तक पोषण करता है और यह स्थितिशाली बने इस आशासे उसको विविधरूप में पुष्पित फलित करने के लिये प्रवृत्त होता है, यह अल्पज्ञानी जीव का अनुकरण है। जीव उसके द्वारा निर्मित सृष्टि में वैसा ही अनुकरण करता है जैसा कि 'सूर्य' नाम से ग्रहण किया जाने वाला महादेव। यही बात पद्य में इस प्रकार वर्णित है—

जैसे विद्वान् उत्कृष्ट भूतभावन=परमात्मा का स्मरण करता है, वैसे ही जीव भी

पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः ।
अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च ॥१५॥

१० पूतात्मा, ११ परमात्मा, च, १२ मुक्तानां परमा गतिः ।
१३ अव्ययः, १४ पुरुषः, १५ साक्षी, १६ क्षेत्रज्ञः, १७ अक्षरः, एव, च ॥

पूतात्मा—१०

पूतश्चासावात्मा पूतात्मा कर्मधारयः । पूत आत्मा यस्यासौ पूतात्मा, बहुव्रीहिसमासो भगवति न संगच्छते । कुतः ? पवित्रताया उत तदात्मनश्च सत्ता न पृथक् पृथक् रूपेण दृश्यते, सर्वदा शुद्धत्वादपापविद्धत्वाच्च । बहुव्रीहिसमासस्तद्भक्ते संगच्छते । कुतः ? मनसस्त्रिगुणात्मकत्वात् । अतो जीवात्मा प्रार्थ्यते—*मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युः* (अथर्व० १७।१।२९) इति । तथा च—*असन्तापं मे हृदयम्* (अथर्व० १६।३।५) कुरु इति शेषः । अन्यच्च—*न नः पश्चादघं नशत्* (अथर्व० २०।२०।६) इति । जगतस्तस्थुषस्पतिर्भगवांस्तु सदैव शुचिरस्ति। मन्त्रलिंगं च—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
(यजुः ४०।८)

तत्सम होने से भूतभावन नाम से कहा जाता है ।

'पूतात्मा' इत्यादि पद्य से आठ नामों का निर्देश करते हैं:—

पूतात्मा=पवित्रात्मा ।

पूतात्मा इस शब्द में कर्मधारय समास होता है । पवित्र है आत्मा जिसकी, वह इस तरह का बहुव्रीहि समास यहां नहीं होता है, क्योंकि परमात्मा और पवित्रता की सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं दिखाई देती है । सदा शुद्ध और अपापविद्ध जो नहीं है वहीं यह समास होता है । मन त्रिगुणात्मक है । इसलिये जीवात्मा प्रार्थना करता है कि—"मुझे पाप और मृत्यु प्राप्त न होवे (अथर्व०) और 'मेरे हृदय को सन्तप्त मत बनाओ' इत्यादि । जगत् की समस्त स्थावर वस्तुओं का अधिपति वह भगवान् सदा ही पवित्र है, इसका प्रमाण—"स पर्यगात्०" इत्यादि यजुर्वेदीय मन्त्र से प्राप्त है । अग्नि में जो पवित्रात्मक धर्म है, वह भी ब्रह्म का ही है, इसमें भी 'यत्ते पवित्रम्' इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र से सिद्ध है । अग्नि की लपटों में स्थित ब्रह्म ही विष्णु का पर्याय वाचक नाम है । अतः अग्नि पवित्र करने योग्य को पवित्र करता है । इस प्रकार पूतात्मा ऐसा परमात्मा का नाम सर्वथा सार्थक और गुण-पूरक है । इस गुण का ध्यान करते हुये अथवा कार्य विधि में परिणत करते हुये ध्याता प्रज्ञापराध का परित्याग कर निश्चय ही पूतात्मा बन जाता है । तदाकार प्राप्ति ही जप और ध्यान का फल है । मन, वचन, कर्म और बुद्धि से जो स्वभाव में स्थिर रहकर पवित्र आचरण करता है, उस अभ्यासी में स्वयं पूतात्मा ब्रह्म स्थिर है यह समझना चाहिये ।

अग्नौ यः पवित्रकरणात्मको धर्मोऽस्ति सोऽपि ब्रह्मण एव। मन्त्रलिंगं च—

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने! विततमन्तरा।
ब्रह्म तेन पुनातु मा॥ (यजुः० १९।४१)

अग्नेरर्चिष्यन्तरा ब्रह्म पूतात्मपर्यायो विष्णुर्व्यापकोऽस्ति, तेन हेतुना अग्निः पुनाति पाव्यम्। अतः पूतात्मेति प्रभोः सुतरां सार्थकं गौणं नाम। एतं गुणं ध्यायन् किं वा कार्यविधौ परिणमयन् त्यक्तसर्वविधप्रज्ञापराधो ध्याता नूनं पूतात्मभावाय कल्पते। तादृभाव्यप्राप्तिरेव जपस्य ध्यानस्य च फलमिति। मनसा वाचा कर्मणा बुद्ध्या च यः स्वभावमधिष्ठाय पावित्र्यमाचरति तस्मिन्नभ्यसितरि स्वयं पूतात्मरूपो गुणो ब्रह्म स्थितोऽस्तीत्यवगन्तव्यम्।

भवतश्चात्रास्माकम्—

पूतात्म-शब्देन शुचिः स उक्तो न तत्र पापस्य लवोऽप्यनक्ति।
अग्निः पवित्रः स पुनाति विश्वं पवित्रता ब्रह्मवशाद्धि तस्य॥१॥
पूतात्मसंज्ञां गुणतः प्रवृत्तां विष्णोः स्मरन् कार्यविधौ नयंश्च।
ध्यातापराधात् परिमुच्य शेते पूतात्मचिन्ता हरतेऽपराधम्॥२॥

परमात्मा—११

परमश्चासावात्मा परमात्मेति कर्मधारयः समासः। परश्चासावात्मेति क्वचिद्व्याख्यायते। न स समासविग्रहोऽपित्वर्थनिर्देशकं वाक्यम्। परमात्मपर्यायनाम्नि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे ब्रह्मणि परम आत्मा यस्येति स परमात्मेति बहुव्रीहिसमासो न युज्यते। कुतः? न हि तस्मादात्मनो परं सूक्ष्ममपरं किंचिद्विद्यते।

इस सम्बन्ध में भाष्यकार दो पद्यों से निर्देश करते हैं—

पूतात्मा इस शब्द से वह परमात्मा "शुचि" कहा गया है। उसमें लेशमात्र भी पापांश प्रकट नहीं होता। अग्नि पवित्र है और वह सारे जगत् को पवित्र करता है उसका भी यही कारण है कि उसकी ज्वालाओं में ब्रह्म विराजमान है।

तथा 'पूतात्मा' इस नाम को गुणानुसारी मानकर जो विष्णु का स्मरण करता है और अपने कार्यकलाप में उतारता है, वह ध्याता अपराधों से मुक्त होकर सुखी होता है क्योंकि उसके अपराध पूतात्मा के चिन्तन से नष्ट हो जाते हैं।

परमात्मा = परमश्रेष्ठ, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव॥११॥

परमात्मा शब्द में भी कर्मधारय समास है। नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाववाले ब्रह्म के लिये बहुव्रीहि समास उचित नहीं होता। क्योंकि उस आत्मा के अतिरिक्त सूक्ष्म कोई अन्य आत्मा नहीं है। आत्मा शब्द की 'पूतात्मा' शब्द की व्याख्या के समय व्याख्या कर चुके हैं। 'परमात्मा' यह नाम भी विष्णु का पर्यायवाची है। वह चराचर जगत्

आत्मशब्दो व्याख्यातचरः "पूतात्मा" इति नामव्याख्यानावसरे। विष्णोः पर्यायवाचि परमात्मेति नाम, स चराचरस्य जगत आतयिता सन्नपि देहाभिमानिन आत्मनोऽपि नियन्तातयिता वास्ति। परमात्मा जीवात्मा च शाश्वतीभ्यः समाभ्यः पृथक् पृथक् सत्तामधितिष्ठतः। कुतः? स्वयंभूर्भगवान् शाश्वतीभ्यः समाभ्योऽर्थान् याथातथ्यतो विदधाति, तत्र परमात्मनो भिन्नेन भोक्त्रा नूनं पृथक्त्वेन भवितव्यमिति कृत्वा स जीवात्मैव भवितुमर्हति, प्रकृतेरुत तद्विकाराणां च चेतनाराहित्यान्न तत्र याथार्थ्यस्य शुभाशुभात्मकस्य विभागस्य सार्थकता भवति। मन्त्रलिंगं च—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
(यजुः० ४०।८)

अयं हि परमात्म-शब्दवाच्य ईश्वरो वेदे परमव्योम-शब्देन सप्तम्यन्तेनाक्षर-विशेषणत्वेनोक्तोऽस्ति, तत्रैवर्चां सद्भावात् विश्वेदेवानां च तस्मिन् परमव्योम्नि निषदनात्। मन्त्रलिंगं च—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥

(ऋग्वेदे १।१६४।३९॥ अथर्वणि ९।१०।१८॥ तै० ब्रा० ३।१०।९।१४॥ तै० आ० २।११।१॥ नि० १३।१०।)

वेदे "सुपां सु-लुक्-पूर्वसवर्ण-आ-आत्-शे-या-डा-ड्या-याच्-आलः" (पा० ७।१।३९) इत्यनेनात्र सप्तम्याः स्थाने लुगादेशात् "व्योम्नि" सत् व्योमन्निति पठ्यते, यथा च मन्त्रे परमे व्योमन्, अर्थात् अक्षरे परमे व्योम्नि परमात्मनि ऋचो विश्वे-देवाश्चाधिनिषेदुः। यस्तं न वेद जानाति स ऋचा वेदमन्त्रसमुदायेन किं करिष्यति? व्यर्था एव ऋचः, ये जनास्तद् ब्रह्म विदुः, तेषु विद्वत्स्विमे ऋग्वेदादयो

का सञ्चालक होते हुए भी देहाभिमानी आत्मा का भी नियन्ता हैं। परमात्मा और जीवात्मा अनन्त वर्षों से पृथक्-पृथक् सत्ता में स्थित हैं। क्योंकि स्वयम्भू भगवान् अनन्त काल से अर्थों को यथायोग्य रूप में निर्मित करता है। वहाँ परमात्मा से भिन्न भोक्ता को निश्चय ही पृथक् रहना चाहिये ऐसा मानकर वह जीवात्मा के समान बनना चाहता है किन्तु प्रकृति और उसके विकारों के चेतनाहीन होने से उस की वास्तविकता—शुभाशुभात्मक विभाग की सार्थकता नहीं होती है। इसमें "स पर्यगात्०" इत्यादि मन्त्र प्रमाण है यही परमात्मा शब्दवाच्य ईश्वर वेद में 'परमव्योम' शब्द से सप्तम्यन्त अक्षर विशेषण द्वारा कहा गया है। तथा परमव्योम में सभी देवों का निवास होने से वहां अर्चा होना भी सम्भव है। ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्० इत्यादि मन्त्र इस बात का साक्षी है। वैदिक प्रक्रिया में व्योमन् शब्द की सप्तमी के स्थान पर लुगादेश होगया है। अतः व्योम्नि सत् व्योमन् इति पठ्यते—अर्थात् व्योम्नि पद के रहते हुए भी व्योमन् ऐसा पढा जाता है। ऋचाओं की

वेदाः समासते, यदुक्तं—ऋचां सद्भावस्तस्मिन्नेवाक्षरे परमात्मनि संभवति, तद्भावव्यंजकोऽयं मन्त्रः—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ (यजुः ३१।७)

न ह्यत्र विष्णोः सहस्रनामसु "व्योम" इति नाम संगृहीतमस्ति । सोऽयं व्योम-शब्द आकाशपर्यायवाची सन्नपि स्वात्मन्यक्षरधर्मं दधद् विशेषेण रक्षत्यात्मकं धर्मं च दधद् व्योमशब्देन परमात्मोक्तो भवति । अस्मिन् सहस्रनामसंग्रहे "शून्यः" इति पदं नभःपर्यायवाचि सदपि विष्णोर्नामसु संगृहीतमस्ति, *ओ३म् खं ब्रह्म* (यजुः ४०।१७) इति याजुषान्मन्त्रलिंगात् । ओ३म्=खम्, ओ३म्=ब्रह्म, ब्रह्म=ओ३म्, खम्=ओ३म् इति । अत्र 'द्विनवतितमे श्लोके, त्रिचत्वारिंशदुत्तरं सप्तशततमं नामास्ति । यथा शून्ये न हि किंचिद्विशिष्टमस्त्यमुथैव ब्रह्म शून्यवत् सर्वमात्मनि विभर्त्यतः शून्यो विष्णुरित्युक्तं भवति । "व्योम" इत्यन्तरिक्षनामसु निघण्टौ पठितमास्ते । निरुक्ते परिशिष्टे "ऋचो अक्षरे" इति मन्त्रस्य व्यख्यानं यथा—

ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन् देवा अधिनिषण्णाः सर्वे ।
यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते ॥

इति विदुष उपदिशति । कतमत्तदेतदक्षरम् । ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः । ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेषु । *एतद्ध वा एतदक्षरं यत् सर्वां त्रयीं विद्यां प्रतिप्रति* इति च ब्राह्मणम् (१३।१०) ।

अणोरणीयानुपनिषत्सूक्तमस्ति । तथा चोक्तम्—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

अवस्थिति उस अक्षर परमात्मा में रहती है, यह जो कहा गया है इसका प्रामाण्य–'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः०' मन्त्र से सिद्ध है । विष्णुसहस्रनाम में 'व्योम' शब्द का संग्रह नहीं है । और व्योम का अर्थ आकाश है, फिर भी स्वयं में अक्षरधर्म को धारण करता हुआ विशेषरूप से अक्षरत्वात्मक धर्म को धारण करता हुआ परमात्मा वाचक बन जाता है । इसी सहस्रनाम में 'शून्य' शब्द आकाश का पर्यायवाची होते हुए भी विष्णु के नामों में परिगणित है 'ॐ खं ब्रह्म' इस मन्त्र के प्रामाण्य से (यह ९२ वें पद्य में ७४३ वें नाम में आया है ।) जैसे शून्य में कुछ भी विशिष्ट नहीं है, इसी प्रकार ब्रह्म भी शून्य के समान सब को अपने में धारण करता है । अतः 'शून्य' नाम से विष्णु का परिगणन हुआ है । 'व्योम' शब्द निघण्टु में अन्तरिक्ष के नामों में पठित है । उपनिषदों में 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इत्यादि

गीतायाम्—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (अ० १३।१२)

अन्यच्च—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥
(कठ० ३।१५)

वक्तव्यम्—यद्धि लोके महत्, तदेव शरीरान्तः–इच्छा–रूपेण परिणमति। आतश्चेदं वक्तुमर्ह्यते परमव्योम्नोऽक्षरस्य व्यवस्थाविदेन सर्वस्य जगतः साधु–भावाय स्वेच्छाः प्रचारणीया इति । स महेच्छुर्महति परे ब्रह्मणि लीयते । परमात्मतत्त्वस्य धारणाचरणयोगात् । स जपिता ध्याता वा आत्मनः परिवारात् स्वेच्छामुद्भाव्य सर्वलोकमात्मनः परिवारं मन्वानः सर्वकल्याणाय यतते ।

भवति चात्रास्माकम्—

परमात्मा परं व्योम, व्योम वा व्यवनं हि तत् ।
अक्षरेऽस्मिन्नृचः सर्वा देवाश्चास्मिन् समासते ॥

विपूर्वादवतेरुणादिना मन्प्रत्ययो टेर्लोपश्च, 'अवतेष्टिलोपश्च' (१।१४२) इति सूत्रेणोम्शब्दो निष्पद्यते । विपूर्वादवतेर्ल्युटि व्यवनं भवति, विशेषेणावतीति व्योम व्यवनं वा समानं भवतः ।

मन्त्र से विष्णु को अणु से भी अणु कहा है । गीता में 'उपद्रष्टानुमन्ता च' इत्यादि पद्य से पुष्टि की गई है तथा 'अरूपमस्पर्शं' इत्यादि गीतोक्त पद्य से विष्णु की त्रिविधता व्यक्त की है। सार यह है कि—लोक में जो महत् है वही शरीर के अन्तर्गत इच्छारूप से परिणत होता है। इसीलिये यह कहना उचित है कि परमव्योमरूप अक्षर की व्यवस्था जाननेवाले को चाहिये कि सारे जगत् के कल्याण के लिये अपनी इच्छाओं का प्रचार करे। वह महत् की इच्छावाला महद्रूप परब्रह्म में लीन हो जाता है, परमात्मतत्त्व के धारण और आचरण के योग से। वह जपकर्ता अथवा ध्याता अपने परिवार से अपनी इच्छाएँ उत्पन्न करके समस्त लोक को अपना परिवार मानता हुआ सब के कल्याण के लिये प्रयत्न करता है। यही बात पद्य द्वारा यों व्यक्त की है —

परमात्मा परम व्योम है, अथवा व्योम का अर्थ व्यवन है। इस अक्षर में सभी ऋचाएं तथा सभी देव निवास करते हैं।

यहां व्योम की व्युत्पत्ति वि (उपसर्ग) पूर्वक 'अव्' धातु से उणादिसूत्र से मन् प्रत्यय हुआ है एवं 'अवतेष्टिलोपश्च' इस सूत्र से ओ३म् शब्द सिद्ध हुआ है। व्यवन शब्द का अर्थ विशिष्टरूप से रक्षण करनेवाला होता है। व्योम और व्यवन दोनों शब्द समानार्थक हैं।

मुक्तानां परमा गतिः—१२

मुक्तानां जन्मजन्मान्तरानुस्यूतभवबन्धनरहितानां कृतनिर्मलान्तःकरणानां या परमा प्रकृष्टा गतिः प्राप्तुं गन्तुं वार्हा देवतास्ति सा "ओ३म्" इत्येव। मन्त्रलिंगं च—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥
(यजुः ३२।१०)।

वक्तव्यम्— यथा लोके कृतकर्त्तव्यो मनुष्यो न हि केनापि तर्क्योऽतर्क्यो वा भवति, स यथेष्टं रमते, तथैवायं जीवोऽपि स्खलितसर्वबन्धनग्रन्थिर्यत्र रमते स विष्णुरिति भावार्थः। ब्रह्मभूयाय यतमानेन नूनं जीवता मुक्तेन भवितव्यमिति।

भवति चात्रास्माकम्—

नरोऽथ जानन्नथवाप्यजानन् यदा निहन्त्यात्मकृतांश्च बन्धान्।
तदा स मुक्तो रमते तृतीये धामयन्यत्र वा मद्गुरिवात्मतन्त्रः॥

मद्गुः पक्षी, यो भूमौ पद्भ्यां चलति, वियति चोड्डयते, जले चान्तर्निमज्जति। समुद्रतटे प्रायेणासौ भवति, महानदे ह्रदे वा बहुधा दृष्टिरमणीयोऽयमस्माकमभूत्॥१२॥

मुक्तानां परमा गतिः=

जन्म-जन्मान्तर से सम्बद्ध सांसारिक बन्धनों से रहित और जिनका अन्तःकरण निर्मल हो गया है उनको परम—उत्तम गति पहुँचाने योग्य देवता अर्थात् ओ३म् ही 'मुक्तानां परमा गतिः' नामक परमात्मा है। इसमें 'स नो बन्धुर्जनिता' इत्यादि याजुष मन्त्र का प्रामाण्य है। तथा जैसे लोक में कर्तव्यों को सम्पन्न करलेनेवाला मनुष्य किसी से भी नहीं डरता है, वह स्वेच्छानुसार आनन्द करता है। इसी प्रकार यह जीव भी सर्वविध बन्धनग्रन्थी के शिथिल हो जाने पर जहां रमण करता है—विराम लेता है वही विष्णु है। ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति को निश्चय ही जीवन्मुक्त होना चाहिये। यही बात भाष्यकार पद्य से कहते हैं—

मनुष्य जाने अथवा अजाने में जब अपने द्वारा किये गये बन्धनों को नष्ट करता है तब वह मुक्त होकर तीसरे लोक में मद्गु नामक पक्षी के समान निर्बन्ध होकर विचरण करता है।

यह मद्गु नामक पक्षी पृथ्वी पर चलता है, आकाश में उड़ता है तथा जल में डुबकी लगाकर जहां जाना चाहता है, जाता है। समुद्रतट पर किसी बड़े तालाब पर यह होता है देखने में सुन्दर यह पक्षी हमने कई बार देखा है।

अव्ययः—१३

नास्ति व्ययो यस्य सोऽव्ययः । विरुद्धमयो यस्य स व्ययः, स व्ययो यस्य नास्ति सोऽव्ययः । एतेन भगवतः पुरुषशरीरवद्विग्रहधारणं निवारितं भवति । कुतः ? विग्रहधारणान्नूनं जन्म-जरा-मरणादयो भविष्यन्ति, जन्मादीनि च तत्र प्रतिषिद्ध्यन्ते 'अकायमव्रण'मति (यजुः ४०।८) मन्त्रलिंगात् । विशिष्टोऽयो यस्य स व्ययः, स नास्ति यस्य यस्मिन् वा सोऽव्ययः । यथाविधमिदं जगत् भगवता पूर्वकल्पे रचितमासीत्तथैवास्मिन् कल्पेऽपि रचितमित्येतस्यां प्रतिज्ञायां वैशिष्ट्यं न करोति । मन्त्रलिंगं च—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥
(ऋग्वेदे १०।१९०।३। तै० आ० १०।१।१४)

अतः वक्तुमर्ह्यते—विरुद्धो विशिष्टो वा अयो जवो नास्तीत्यव्ययः, स कविः परमेश्वरः । मन्त्रलिंगं च—*पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति* । (अथर्व० का० १०।८।३२)

वक्तव्यम्–भगवतोऽव्ययात्मकं गुणं परिनिष्ठताभ्यस्त्रा स्वमनो हीनातियोगाभ्यां क्षणे क्षणे न व्ययनीयम् । भवति चात्रास्माकम्—

अव्ययः=

जिसका व्यय नहीं है वह अव्यय; अथवा विरुद्ध है अय=गमन जिसका वह व्यय, और वह व्यय जिसका नहीं है वह 'अव्यय' । इस व्युत्पत्ति से भगवान् का पुरुष शरीर की भांति शरीर धारण करने का निवारण हुआ है । क्योंकि यदि शरीर धारण किया जाय तो जन्म, जरा, मरण आदि होंगे । और वहाँ तो जन्मजरादि का निषेध 'अकायमव्रणम्' इत्यादि मन्त्र से है । अथवा वि उपसर्ग का अर्थ विरुद्ध न लेकर विशेष अर्थ स्वीकार किया जाय तो—विशिष्ट है अय जिसका वह है व्यय और यह व्यय जिसका अथवा जिसमें नहीं है वह है 'अव्यय' ।

जिस प्रकार पूर्वकल्प में भगवान् ने इस जगत् की रचना की थी, वैसे ही इस कल्प में भी है । इस प्रतिज्ञा में वह कुछ भी विशिष्टता नहीं करता है 'सूर्याचन्द्रमसौ' इत्यादि इसमें प्रमाण है । और इसलिये यह भी कहना उचित है कि—विरुद्ध अथवा विशिष्ट अय=वेग नहीं है वह है अव्यय, ऐसा अव्यय है कवि, परमेश्वर; 'पश्य देवस्य०' यह मन्त्र इसका प्रमाणभूत है । ध्यानादि के द्वारा अभ्यास करनेवाले को चाहिये कि वह भगवान् के अव्ययरूप गुण को अपने मन में हीन अथवा अधिक मानकर क्षण क्षण में परिवर्तित न करे । भाष्यकार इसका सार पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

हीनातियोगान्न विभोर्व्ययोऽस्ति व्ययो विधानेऽस्य न दृष्टपूर्वः ।
न जायतेऽसौ न जरामुपैति न मृत्युमेत्युक्तमतोऽव्ययः सः ॥

वैय्याकरणास्तु –

सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥

इति गोपथब्राह्मणस्थमोम्पदस्याव्ययत्वनिदर्शकं वचनमुद्धरन्ति । यथा – (महाभाष्ये १।१।४१) । 'अजरोऽमरोऽव्ययः' इत्युपनिषत्सु ।

पुरुषः—१४

पॄ पालनपूरणयोः क्र्यादिकस्तस्मात् "पुरः कुषन्" (४।७) इत्यनेनोणादि-सूत्रेण 'कुषन्' प्रत्ययः, तेन पुरुषः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) इत्यनेन सूत्रेण दीर्घे पूरुष इत्यपि भवति । यदत्र सूत्रे पुर इति निर्दिष्टं तत् 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० ७।१।१०२) इत्यनेन कृतोत्वस्यैव ऋकारान्तस्य ग्रहणम् । पुरुषः पुमान् वा कर्त्तरि कारके प्रत्ययः । पुरि शरीरे शेते तस्मात् पुरुषो जीवात्मा, अथवा पुरं शरीरं स्वसत्तया पृणाति पालयति पूरयति वा पुरुष आत्मा ।

उक्तं च यथा महाभारते—

नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम् ।
व्याप्य शेते महात्मा यस्तस्मात् पुरुष उच्यते ॥

हीनाधिकयोग से परमात्मा का व्यय नहीं होता है और न उसके विधान में पहले कभी व्यय देखा गया है । वह न जन्म लेता है, न जीर्ण होता है और न मृत्यु को ही प्राप्त होता है । इसीलिये वह अव्यय कहा जाता है ।

तथा वैयाकरण—तीनों लिंगों में, सभी विभक्तियों में और तीनों वचनों में समानस्थिति में रहनेवाले शब्द को 'अव्यय' मानते हैं । उपनिषदों में 'अव्यय' का अर्थ अजर अमर किया है ।

पुरुषः=

(पुरुष शब्द की व्याकरण द्वारा निम्न व्युत्पत्तियां होती हैं)—पालन और पूरणार्थक और क्र्यादिगण पठित 'पॄ' धातु से उणादिसूत्र द्वारा कुषन् प्रत्यय होने से 'पुरुषः' यह शब्द बनता है । एक अन्य सूत्र द्वारा दीर्घ होने पर 'पूरुष' शब्द भी प्रयुक्त होता है । उणादि सूत्र में 'पुरः' ऐसा कहने से जिस धातु से उत् होता है उसी की यहां गणना है अन्य की नहीं । अतः अन्य ऐसे ही धातुओं से यह प्रत्यय नहीं होता । यह कर्तृकारक में प्रत्यय हुआ है । पुरुष अथवा पुमान् समानार्थक हैं । पुरि अर्थात् शरीर में. शेते अर्थात् शयन करता है. वह पुरुष; अथवा पुरुष = शरीर की अपनी सत्ता से रक्षा करता है पूर्ण करता है वह पुरुष अर्थात् आत्मा । महाभारत में भी कहा है कि—नौ द्वारवाला यह पुर पवित्र है,

परमात्मपक्षे—सकलं जगद् यस्यावास्यमस्ति तस्यां पुरि शयनात् पुरुषः परमात्मा। पुरमुषतीति वा पुरुषः। पुरा सदैकरूपेणास्त इति वा पुरुषः। यद्वा-अस्तेर्व्यत्यस्ताक्षरयोगात् आसीत् पुरा पूर्वमेवेति विग्रहं कृत्वा व्युत्पादितः--'पुरुषः' "पूर्वमेवाहमिहासमिति तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति। अथवा पुरुषु भूरिषु उत्कर्षशालिषु सत्वेषु सीदति, पुरूणि फलानि सनोति ददाति वा, पुरूणि भुवनानि संहारसमये स्यति अन्तं नयतीति वा, पूर्णत्वात् पूरणाद्वा सदनाद्वा पुरुषः। उक्तं च-*पूरणात् सदनाच्चैव ततोऽसौ पुरुषोत्तमः* (महाभा० उद्योगप० ७०।११)।

वेदे च—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥
(ऋग् १०।९०।१)

अथर्ववेदे—*सहस्रबाहुः पुरुषः* (१९।६।१) शेषं समानं पूर्वेण, यजुषि-*स भूमि स्पृत्वा* (३१।१) इति भेदः, शेषं समानं पूर्वेण। साम्नि—*सर्वतो वृत्वेति* (पूर्वार्चिके प्र० ६, अर्धप्र० ३ दशति १३ मं० ३) भेदेन, शेषं समानं पूर्वेण।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
त्रिपादूर्ध्वं उदेत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विश्वं व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

ऐसे भावों से युक्त पुर = शरीर में व्याप्त होकर वह महात्मा शयन करता है, इसलिये पुरुष कहा जाता है। परमात्मा के पक्ष में पुरुष का अर्थ इस प्रकार होगा—सारा जगत् जिसके द्वारा बनता है वही एक प्रकार की पुरी है, उसमें शयन करने से वह पुरुष—परमात्मा है। पुर में रहता है, वह पुरुष है। अथवा पुरा-पूर्वकाल में सदा एकरूप से जो रहता है, वह पुरुष है। यद्वा—अस्ति का व्यस्ताक्षरयोग मानकर पूर्वकाल में जो था वह पुरुष यह अर्थ-'पूर्वमेवाहमासं' इत्यादि मन्त्रानुसार होता है। अथवा पुरु = अनेक उत्कर्षशाली प्राणियों में सीदति लीन रहता है, किम्वा पुरु = अनेक फलों को सनोति = देता है, वह पुरुष है। इसी प्रकार पुरु-अनेक भुवनों का संहार के समय अन्त करता है वह, अथवा पूर्ण होने से, पूरक होने से, स्थितिमान् होने से, वह 'पुरुष' है। महाभारत में कहा है कि—पूरक और स्थितिमान् होने से वह पुरुषोत्तम है।

वेदों में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि पुरुष-सूक्त के मन्त्रों से पुरुष की व्याख्या की

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥

पूर्वमन्त्रनिर्दिष्टसंकेतेन यथास्थानं चतुर्ष्वेव वेदेष्वेते मन्त्रा सन्ति। भवति चात्रास्माकम्—

स्थानं न तद्यत्र न पूरुषोऽस्ति सहस्रबाहुः स सहस्रपाद्वा ।
ध्याता धिया सर्वमिदं विदित्वा भवेदनंहो गतभीः प्रसन्नः ॥

ईशस्यावास्यं जगच्चापि पुरुषः, मन्त्रलिंगं च—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्टं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥
(अथर्व० १० अ० ७ सू०-मं० १७)

साक्षी—१५

अश्नुते प्राप्नोति व्याप्नोति वा 'अक्षम्' इन्द्रियम् । तथा च वेदः—*अक्षैर्मा दीव्यः* (ऋ० १०।३४।१३) द्यूतक्रीडनसाधनैर्मा क्रीडत, अपरथा-इन्द्रियैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व, अर्थात् तपस्तप्यध्वम् । अक्षेण सह साक्षम्, तस्मात् साक्षात् द्रष्टा साक्षी भवति । "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" (पा० ४।२।५१), इत्यनेन साक्षशब्दादिनिप्रत्ययः, प्रत्ययान्तेन चेत् संज्ञा गम्येत । यथा लोके केवले बाह्य-चक्षुषाव्यवधाने पश्यन् साक्षीत्युच्यते तथैवान्तर्बहिश्च वर्त्तमानः परमपुरुषः सर्वं सर्वस्य जगतः कर्म पश्यन् साक्षीति नाम स्वयं बिभर्त्ति । लोकेऽपि च पश्यामः

गई है। तथा यह सारा जगत् ही पुरुषरूप है ऐसा अथर्ववेद के— 'ये पुरुषे ब्रह्म०' इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है। यही सार पद्य के रूप में वर्णित है। यथा—

ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां वह सहस्रबाहु और सहस्रपाद पुरुष विराजमान नहीं है । अतः ध्याता अपनी बुद्धि से सब जानकर निष्पाप, निर्भीक और प्रसन्न बने ।

साक्षी=

प्राप्त होता है अथवा व्याप्त होता है वह अक्ष है, अर्थात इन्द्रियां अक्ष कहलाती हैं । वेद में 'अक्षैर्मा दीव्यः' इत्यादि पाठ में 'अक्ष' का अर्थ द्यूतक्रीडा का साधन है और दूसरा अर्थ है इन्द्रियों से क्रीडा मत करो और तप करो। अक्ष के साथ जो रहता है, वह साक्ष होता है। साक्षात् द्रष्टा साक्षी कहलाता है। व्याकरण द्वारा साक्षी शब्द की सिद्धि संज्ञावाचक होने पर होती है। जिस प्रकार लोक में बाह्यचक्षु के द्वारा बिना किसी रुकावट के देखनेवाला साक्षी कहलाता है उसी प्रकार से अन्तः और बहिः स्थित परमपुरुष सारे जगत् के कर्मों को देखता हुआ 'साक्षी' नाम को स्वयं धारण करता है। हम लोक में भी देखते हैं कि प्रत्यक्षरूप से उपस्थित साक्षी-गवाह को देखते हुए भी न्यायाधीश उस साक्षी

साक्षात् प्रत्यक्षत उपतिष्ठन्तं साक्षिणं दृष्ट्वापि न्यायकर्त्ता तं साक्षिणं सम्बोध्य पृच्छति—"भगवन्तं साक्षीकृत्य ब्रूषे ?" एतेन ज्ञायते यत् साक्षिणोऽपि परमः साक्षी स महादेव एव। मन्त्रलिंगं च—

तदेजति तन्नेजति तद् दूरे तद्रु अन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
(यजुः० ४०-५)।

अपरं च—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।
(ऋग्वेदे१०-८१-३। यजुषि३२-१०)।

तथा च—'*धामानि वेद भुवनानि विश्वा*' स इति शेषः।

भवति चात्रास्माकम्—

नरो यथा पश्यतिमात्रमात्रः साक्षीति संज्ञां लभते नृलोके ।
स विश्वतश्चक्षुरुतात्मसंस्थस्तथैव साक्षी भुवनानि पश्यन् ॥

क्षेत्रज्ञः—१६

क्षि क्षयार्थाद्धातोः "हुयामाश्रुमसिस्यस्त्रन्" (उणा० ४-१६८) सूत्रेण बाहुलकात् क्षेत्रमित्यपि सिध्यति। क्षयति नश्यतीति क्षेत्रं शरीरं तं जानातीति क्षेत्रज्ञः, 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० ३-२-३) इत्यनेन जानातेः कः प्रत्ययः, जीवात्मा वा तत्पर्यायः।

परमात्मपक्षे—

ब्रह्मणो ज्येष्ठस्य क्षेत्रं शरीरमेतत् सकलं जगत्, मन्त्रलिंगं च—

से कहता है कि 'क्या तुम भगवान् को साक्षी मानकर (यह) कह रहे हो ?' इससे ज्ञात होता है कि साक्षी से बढ़कर उसका भी परमसाक्षी वह परमात्मा है। वेद के—'तदेजति० विश्वतश्चक्षुरुत०' इत्यादि मन्त्रों से यही सिद्ध होता है। इसी बात को पद्यद्वारा भाष्यकार ने दिखलाया है—

संसार में जैसे मनुष्य किसी के देखने मात्र से 'साक्षी' इस संज्ञा को प्राप्त होता है, वैसे ही वह परमात्मा विश्वतश्चक्षु और आत्मसंस्थ होकर समस्त भुवनों को देखता हुआ 'साक्षी' कहलाता है।

क्षेत्रज्ञः=

क्षयार्थक क्षि धातु से औणादिक त्रन् प्रत्यय होने पर क्षेत्र शब्द बनता है। जो क्षीण होता है, नष्ट होता है वह है क्षेत्र=शरीर, और उसे जो जानता है वह है 'क्षेत्रज्ञ'= जीवात्मा।

परमात्मा के पक्ष में क्षेत्रज्ञ का अर्थ इस प्रकार होगा–ज्येष्ठ–ब्रह्मा का क्षेत्र–शरीर यह सारा जगत् है। जैसा कि 'यस्य भूमिः प्रमा०, यस्य सूर्यश्चक्षु और यस्य वातः प्राणापानौ०'

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमथोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।३२।।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।३३।।
(अथर्व १०-७)

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।
(अथर्व० १०-७-३४)

इत्येवमादिः, ब्रह्मणो बृहत्त्वात् तच्छरीरकल्पनमपि तस्य ब्रह्मत्वपरिज्ञापनार्थमेव, आतश्चेदं वक्तुमर्ह्यते यथा जीवात्मा स्वकं लोकानुसम्मितं शरीरं जानानः क्षेत्रज्ञ उच्यते. अमुथैवायं परमपुरुषोऽपि स्वं सकलजगद्रूपं क्षेत्रं प्रलयव्यवस्थया नश्वरं जनातीति क्षेत्रज्ञः, न हि तद्व्यवस्थां विना किंचिदपि कथञ्चिदपि स्थातुमीष्टे ।

भवति चात्रास्माकम्—

क्षेत्रं शरीर, क्षयमेत्यवार्यं क्षेत्रज्ञमाहुः समनोहृदिस्थम् ।
क्षेत्रं जगत् तस्य महेश्वरस्य सोऽप्यस्ति तज्ज्ञस्तदधिष्ठितत्वात् ।

महाभारते च—

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभम् ।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ।।
(शान्तिपर्व ३५१-६)

इन आथर्वण मन्त्रों से प्रमाणित है। ब्रह्म के महान् होने से उसके शरीर की कल्पना भी ब्रह्मत्व परिज्ञान के लिये ही है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि—जैसे जीवात्मा अपने लोकसम्मत शरीर को जानता है और उसकी सत्ता से ही क्षेत्रज्ञ कहलाता है, वैसे ही वह परमपुरुष भी अपने सारे जगद्रूपी क्षेत्र को प्रलयव्यवस्था से नश्वर के रूप में जानता है, इसलिये वह 'क्षेत्रज्ञ' है। उस परमात्मा की व्यवस्था के बिना कुछ भी स्थितिमान नहीं रह सकता। यही बात पद्य द्वारा संग्रहीत है—

क्षेत्र शरीर है, यह क्षीण होता है। मन और हृदय में स्थित होने से उस (परमात्मा) को क्षेत्रज्ञ कहा है। उस महेश्वर परमपुरुष का क्षेत्र जगत् है और वह इस क्षेत्र में अधिष्ठित होने से क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

महाभारत के—'क्षेत्राणि हि शरीराणि' इत्यादि पद्य भी इसी अर्थ की पुष्टि करता है।

अक्षरः—१७,

अशूङ् व्याप्तौ सौवादिकः, अश भोजने क्रैयादिकः, अशेर्धातोः अशेः सरन् (उण्० ३-७०) इत्यनेन सरन्प्रत्यये "अक्षर" इति सिध्यति। अश्नुते अश्नाति वा अक्षरम्,। ब्रह्म, वर्णः, मोक्षः, उदकं वा। अक्षरं ब्रह्म, मन्त्रलिंगं च—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते॥
(अ० १।१६४।३६ अथर्व० ६।१०।१८)

द्रष्टव्यम्—'परमात्मे'ति शब्दव्याख्यायाम्।

"*अक्षरं न क्षरं विद्यात्. न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम्*" लण्सूत्रे महाभाष्ये।

अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वा इति यास्कः। (निरु० १३।१२) अश्नुते स्थानात् स्थानं व्याप्नोति प्राप्नोतीति वाक्षरमुदकम्।

भवति चात्रास्माकम्—

स्थानं न तद्यत्र न सोऽस्ति सूक्ष्मः क्लेशक्षरो नास्ति पदे तृतीये।
तं ध्यनायोगेन हृदिस्थमित्वा क्लेशक्षरो ध्यातरि नैति नूनम्॥

तृतीये पदे=मोक्ष इति। क्लेशक्षरः क्लेशोदय इति।

योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः।
नारसिंहवपुः श्रीमान् केशवः पुरुषोत्तमः॥१६॥

अक्षर=

व्याप्त्यर्थक स्वादिगण-पठित और भोजनार्थक क्र्यादिगण पठित अश् धातु से औणादिक सरन् प्रत्यय होने से अक्षर शब्द सिद्ध होता है। अतः जो व्याप्त होता है अथवा अशन-भोजन करता है वह अक्षर—ब्रह्म, वर्ण, मोक्ष, जल है। ब्रह्म अक्षर है इसकी पुष्टि 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्.' इत्यादि मन्त्र से परमात्मा शब्द की व्याख्या में की गई है। दूसरा प्रकार यह है कि 'जो नष्ट नहीं होता है अथवा क्षरण नहीं होता है वह अक्षर है। यास्क ने निरुक्त में यही अर्थ किया है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक व्याप्त होता है अथवा पहुँचता है वह भी अक्षर=जल है। यही पद्य द्वारा वर्णित है—

ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ वह व्याप्त न हो, तृतीय-पद-मोक्ष में क्लेशक्षर=दुःख प्राप्ति नहीं है। उस अक्षररूप परमात्मा को हृदय में स्थित जानकर ध्याता में निश्चय ही क्लेश का उदय नहीं होता।

'योगो योगविदां नेता' इत्यादि सोलहवें पद्य से सात नामों का निर्देश किया है। जो १८ से २४ तक हैं।

१८ योगः, १९ योगविदां नेता २० प्रधानपुरुषेश्वरः ।
२१ नारसिंहवपुः, २२ श्रीमान् २३, केशवः २४ पुरुषोत्तमः ॥

अस्मिन् श्लोके-अष्टादशसंख्यात आरभ्य चतुर्विंशतिसंख्यान्तं सप्तं नामानि संगृहीतानि सन्ति ।

योगः — १८

युजिर् योगे रौधादिकस्तस्मात् घञ्प्रत्ययं कृत्वा योग-शब्दो निष्पाद्यते । योगो हि पृथक् पृथक् सत्तया स्थितयोरथवा बहूनां पृथक् पृथक् सत्तया स्थितानामेकीभाव इति । स चिरं तिष्ठतु, यथेष्टकालं वा । मनसो धियश्च य एकीभावः स योगः, धियो ज्ञानेन्द्रियाणि, स योगो यदधिकरणमधिकृत्य क्रियते गौणीवृत्याऽसावपि योग एव । विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितो महादेवस्य सवितुः परितः सर्वतोभावेन स्तुत्यर्थं मनो धियश्च युंजते । मन्त्रलिंगं च—

युंजते मन उत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महादेवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥

(ऋग्वेदे० ५-८१-१, यजुषि ५-१४।, ११-४,। ३७-२,। तै० सं १-२-१३-१,। ४-१-१-१,। तै० आ० ४-२-१,)

योगार्थाभिधायिनोऽन्येऽपि मन्त्राः सन्ति । विप्राणां विदुषां धियो यत्र परिष्कारं प्राप्नुवन्ति, तदभिधायिनीयमृक्—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत ॥

(ऋग्० ८-६-२८,। यजुः २६- १५. साम-पूर्वार्चिक २-१)

अत इदमुच्यते यद्-योगः परमात्मनो नाम संगच्छत एव ।

भवति चात्रास्माकम्—

योगः=

रुधादिगण पठित युजिर् धातु से घञ्-प्रत्यय होने पर योग शब्द बनता है । योग दो पृथक् पृथक् सत्ताओं में स्थित वस्तुओं का एकीभाव है, फिर वह योग चिरकाल के लिये हो अथवा इष्ट-समय के लिये । मन और इन्द्रियों का जो एकीभाव है, वह योग है । और वह योग जिस अधिकरण को माध्यम बनाकर किया जाता है, सामान्यतः वह भी योग ही कहा जाता है । विप्र विप्र की और महान्, विपश्चित, परमपुरुष, सविता की सर्वतोभाव से स्तुति करने के लिये मन और इन्द्रियों को संयुक्त करते हैं । इस सम्बन्ध में युञ्जते मनः, और तत्सम अन्य मन्त्रों से योग शब्द के उपर्युक्तार्थ की पुष्टि होती है । विद्वानों की बुद्धि-इन्द्रियां जहाँ परिष्कृत होती हैं वह योग है यह भाव 'उपह्वरे गिरीणां०' इस साममन्त्र से व्यक्त है । अतः यह कहा जाता कि योग यह परमात्मा का नाम उचित ही है । पद्य द्वारा यह इस तरह वर्णित है—

पृथक् स्थितौ स्वार्थमपास्य संगतौ परस्परं सख्यमुपागतौ यौ ।
योगेति संज्ञामयतः पुनश्च तौ न तं विना योग इयर्त्ति तात्स्थ्यम् ।।

तथा च कस्यंचित् पद्यम्—

ज्ञानेन्द्रियाणि सर्वाणि निरुध्य मनसा सह ।
एकत्वभावना योगः क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः ॥

योगविदां नेता—१९

ये जना योगं परस्परं द्वयोर्बहूनां वा संयोजनात्मकं कर्म कुर्वन्ति पदार्थविद्याविदो वा सन्ति, नूतनतमाविष्काराय वा प्रयतन्ते तेषां, नेता मार्गप्रदर्शकः स स्वयं भगवानेव, तेन हि भगवता विविधं योगवियोगं कृत्वा विविधा सृष्टिर्निर्मितास्ति, तत्रानेकविधा नभश्चरा प्राणिनः प्रत्यहं नवतामुपगच्छन्तः समक्षमुपस्थापिताः सन्ति, अनेनैव प्रकारेण जलचरा भूचराश्च प्रक्लृप्ताः सन्ति, दृश्याणि दर्शयितुं स्थावरसृष्टिः प्रक्लृप्तास्ति, तत्र यो मनुष्यो यमभिलाषं पुरस्कृत्य क्रमते स योगविदां नेता तथैव तस्य मनुजस्य नेतृत्वं करोतीति कृत्वा स योगविदां नेतेत्युच्यते निर्विकल्पं, मनसो ज्ञानेन्द्रियाणां चैकीभावं कृत्वा योगविधौ प्रयतमानानां कृतेऽपि तस्य नेतृत्वं प्रसिद्धमेव, यत्तस्य कृतौ दोषः क्लेशो वा नास्ति । तस्माद्यत् कर्म सदोषं सक्लेशं च तन्न भगवते रोचत इति मन्तव्यं तत्र मनुष्येण स्वास्त्रुटयो हठकर्म वा सूक्ष्मेक्षिकया

पृथक्-पृथक् सत्ता में विद्यमान थी दो वस्तुएं अपना-अपना स्वार्थत्याग करके एक हो जाती हैं, वे दोनों 'योग' इस संज्ञा को प्राप्त होती हैं । क्योंकि उनके बिना योग तद्भाव को प्राप्त नहीं होता ।

किसी अन्य आचार्य का कहना है कि सब ज्ञानेन्द्रियों का निरोध करके मन के साथ क्षेत्रज्ञ और परमात्मा का एकीभाव होता है वह योग है ।

योगविदां नेता=

जो लोग परस्पर दो अथवा बहुतों का संयोजनात्मक कर्म करते हैं अथवा जो पदार्थविद्या के जानकर हैं, नवीन आविष्कार के लिये प्रयत्न करते हैं, उन सब का वह भगवान् ही नेता—मार्गदर्शक है । उस परमात्मा ने अनेकविध योग-वियोग करके अनेक प्रकार की सृष्टि का निर्माण किया है । जिनमें अनेक विध गगनचारी प्राणी हैं जो प्रतिदिन नवीनता को प्राप्त होते हुए हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं । इसी तरह जलचर, पृथ्वी पर चलने वाले बनाये हैं । दृश्यों को दिखाने के लिये स्थावरसृष्टि की रचना की है । उनमें जो मनुष्य जिस अभिरुचि को आगे रखकर बढता है वह भगवान् उसका पथप्रदर्शक होता है अतः निश्चय ही वह 'योगविदां नेता' कहा जाता है । मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का एकीभाव करके योगविधि में प्रवृत्त व्यक्तियों के लिये भी उसका नेतृत्व प्रसिद्ध ही है । क्योंकि उसके कर्म में दोष अथवा क्लेश नहीं है । अतः यह सिद्ध है कि जो कर्म सदोष और क्लेशयुक्त होता है वह परमात्मा को प्रिय नहीं होता है ऐसा मानना चाहिये और मनुष्य को अपनी त्रुटियाँ तथा

चिन्त्यं तदासौ दुर्गाणि तरति।

भवति चात्रास्माकम्—

प्रकल्प्य सृष्टिं हि चतुर्विधां स विधित्सुकानां कुरुते ह नैत्रम्।
ख्यातोऽस्त्यतो "योगविदां स नेता" न तं विना योगविदां गतिः स्यात्॥

प्रधानपुरुषेश्वरः—२०

प्रकर्षेण धीयतेऽस्मिन्नस्यां वा प्रधानं प्रधाना वा, तद्यथा प्रकर्षेण सभा धीयतेऽस्मिन्निति प्रधानः, सभाया इति शेषः। प्रकर्षेण विविधरूपताभावाय शक्तिर्धीयतेऽस्यां सा प्रधाना प्रकृतिः, लोहितशुक्लकृष्णरूपेति, पुरुषो जीवात्मा, तयोरीश्वरो नियन्ता व्यवस्थातेति कृत्वोच्यते "प्रधानपुरुषेश्वरः" इति।

वक्तव्यम्-अभ्यस्त्रोत्तमानि कर्माणि कुर्वताहंकारं परित्यज्य तस्यैव महिमेति यशोगानं कुर्वता सर्वो जनः प्रियया सत्यया वाचा तर्पणीय इति।

भवति चात्रास्माकम्—

यदस्ति दृश्यं प्रकृतेर्मनोहरं न यत्र शक्तिः पुरुषस्य गच्छति।
गुणातिशीत्या क्रमते पुमान् यदा प्रधानजीवेश्वरकर्म तन्मतम्॥

प्रधानजीवेश्वर-शब्दश्छन्दोऽनुरोधात् प्रधानपुरुषेश्वरस्य स्थाने प्रयुक्तः। वंशस्थबिलं छन्दः।

हठकर्म का सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण करना चाहिये तब वह सङ्कटों से मुक्त होता है। भाष्यकार ने यही बात पद्य द्वारा कही है—

ब्रह्म अपनी सृष्टि को चार प्रकार की बनाकर प्राणियों का नेतृत्व करता है। इसलिये वह 'योगविदां नेता' कहलाता है। उस नेता के बिना योगविदों की गति नहीं है।

प्रधान-पुरुषेश्वरः=

प्रकृष्ट रूप से विविधरूपता के लिये जिसमें शक्ति का आधान किया जाता है ऐसी लोहित, शुक्ल और कृष्ण रूपवाली प्रकृति और पुरुष जीवात्मा इन दोनों की व्यवस्था करनेवाला वह प्रधानपुरुषेश्वर कहलाता है। तात्पर्य यह है कि उत्तम कर्म करते हुए अहंकार का परित्याग करके उस परमात्मा के गुणों का गान करते हुए सभी व्यक्तियों को सत्यवाणी से प्रसन्न करना चाहिये। यही बात पद्य द्वारा इस प्रकार कही गई है।

जो दृश्य प्रकृत में मनोहर है और मनुष्य की जहां शक्ति व्याप्त नहीं होती है। वहीं यदि मनुष्य अपने गुणों की अतिशयता से पहुँच जाता है तो वह कर्म 'प्रधानपुरुषेश्वर' को प्रिय होता है।

नारसिंहवपुः – २१

नरस्य विचारपूर्विकाकार्यकरणशक्तिः, सिंहस्य च पराक्रमशक्तिर्लक्ष्यते यस्मिन् पुषि, तद्वपुर्यस्य स नारसिंहवपुः, योगमायावी वा। यदा भगवान् स्वयं पुरुषस्य दक्षिणे भवति तदा मनुष्ये विचारशक्तिः कर्मशक्तिश्च समानरूपेण क्रियामधितिष्ठतः। दृश्यते हि लोके ज्ञानं विना कर्मकर्त्तारोऽवसीदन्ति, ज्ञानिनश्च शक्तिं विनाऽवसीदन्ति। तस्मादेतद्वक्तुमर्ह्यते नारसिंहवपुस्तस्यैव नरस्य भवति येन ब्रह्मशक्तेरुत क्षात्रशक्तेरुपासनाऽभ्यासना वा कृता भवति। मन्त्रलिंगं च—

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् । (यजुः० ३२।१६)

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ (यजुः० २०।२५)

अभ्यस्त्रा यथा यथा ज्ञानं संचीयेत तथा तथा शरीरशक्तेरपि संचयो नूनं कर्तव्य इति विज्ञापयितुं, "नारसिंहवपुः" इति नाम विष्णोर्नामसु परिगणितम्। यदि मन्येत भगवान् स्वयं सर्वशक्तिमान् सन् नरसिंहावयवात्मकं शरीरं धारयितुं शक्नोति। तन्नैवं, कुतः? तथा सति अकायम्–अजरम्–अमरम्–अव्रणमित्यादीनि विशेषणानि मिथ्यात्वमापत्स्यन्ते। तथा च नरस्य सिंहशरीरस्य च निर्माण–भेदात् स्वभाव-भेदाद् द्वयोर्योन्योर्मिथुनीभावोऽपि न प्रकृतिनियममनुसरतीति कृत्वा नरस्य सिंहस्य चावयवा यस्मिन् लक्ष्यन्ते तद्वपुर्यस्य स नारसिंहवपुरिति कल्पना भगवतो

नारसिंह–वपु=

मनुष्य की विचारपूर्विका कार्यकरणशक्ति और सिंह की पराक्रमशक्ति जिस शरीर में परिलक्षित होती है, ऐसा शरीर है जिसका, वह नारसिंह वपुः अथवा योगमायावी। जब भगवान् स्वयं पुरुष के प्रति कृपार्द्र होते हैं, तब मनुष्य में विचारशक्ति और कर्मशक्ति समानरूप से क्रिया करती हैं। लोक में भी यह देखा जाता है कि विज्ञान के बिना कार्य करने वाले दुःखित होते हैं और ज्ञानीजन शक्ति के बिना दुःखित होते हैं। इसलिये यह कहना उचित है कि नारसिंहवपु उसी पुरुष का होता है कि जिसने ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति की उपासना अथवा अभ्यासना की हो। इस में 'ब्रह्म च क्षत्रं चोभे' इत्यादि मन्त्र प्रमाणभूत है। अभ्यास करनेवाले को चाहिये कि वह जैसे–जैसे ज्ञान का संचय करता है वैसे ही निश्चयरूप से शारीरिक शक्ति का संचय भी करना चाहिये—यह बतलाने के लिये ही 'नारसिंह–वपुः' यह नाम विष्णु के नामों में परिगणित्त है। यदि यह कहा जाय कि भगवान् स्वयं सर्वशक्तिमान् होते हुए भी नारसिंहरूपी शरीर को धारण कर सकते हैं? यह उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रों में 'अकायम्–अजरम्-अमरम्–अव्रणम्' इत्यादि विशेषण जो परमात्मा के वर्णित हैं, वे मिथ्या हो जाते हैं।

तथा मनुष्य के सिद्ध शरीर के निर्माणभेद से और स्वभावभेद से दो योनियों का मिथुनीभाव भी प्रकृति के नियम का अनुसरण नहीं करता है इस तरह मनुष्य और सिंह के अवयव जिसमें लक्षित होते हैं वह नारसिंहवपु है। ऐसी कल्पना भगवान् के सम्बन्ध में उचित नहीं

यशो नानुनयतीति कृत्वा नादृता।

भवति चात्रास्माकम्—

सुखेच्छुना त्रा सततं विधेयं तत् कर्म यत् कर्म विचारयुक् स्यात्।
विचारितं कर्म भवेच्च यद् यत् तत् तद् विधातुं च नरो यतेत ॥

श्रीमान्—२२

श्रीः, श्रिञ् सेवायाम् भौवादिकस्तस्मात् *क्विब्वचिप्रच्छिश्रिद्रुस्रुकटप्रुज्वां दीर्घोऽसंप्रसारणं च* (उणा० २।५७) इत्यनेन क्विप्प्रत्ययो दीर्घोऽसंप्रसारणात्—श्रीः, श्रीयतेऽसौ पुण्यकृद्भिरिति श्रीः, लक्ष्मीः, कर्मणि प्रत्ययः।

साऽस्यास्तीति श्रीमान्, स श्रीमान् भगवानेव भवितुमर्हति, तस्य हि श्रीर्न रिष्यति, न क्षीयते, शेषाणां श्रीपतीनां मनुष्याणां धनानि राज्यानि च नश्यन्ति, तस्मात् ते न वास्तविकरूपेण "श्रीमान्" इति पदभागिनः सन्ति, तस्य श्रीमत एव कृपांशतः श्रीमन्त उच्यन्ते। स एव धनाधिप इति व्यंजिकेयमृक्—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं संजयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरन्न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥
(ऋग्० १०-४८-१)

वक्तव्यम्—श्रीमतो भगवत एषा प्रतिज्ञा यद् दाशुषे भोजनं भोगसाधनं विभजामि पृथक् पृथक् कृत्वा ददामि। तस्माद् मनुजेन दानपरायणेन भवितव्यम्।

भवति चात्रास्माकम्—

प्रतीत होती। अतः उसको यहां स्थान नहीं दिया गया है।

यही पद्य द्वारा इस प्रकार कहा गया है—

सुख चाहनेवाले मनुष्य को वही कर्म करना चाहिये कि जो विचार से पूर्ण हो। विचार-पूर्वक जो-जो कर्म किया जाता है उसे सम्पन्न करने में मनुष्य समर्थ होता है।

श्रीमान्=

पुण्यात्माओं के द्वारा जिसकी सेवा की जाती है वह 'श्री' कहलाती है। और वह श्री है जिसमें वह है श्रीमान्। ऐसे भगवान् ही हो सकते हैं क्योंकि उनकी श्री न तो न्यून होती है और न क्षीण होती है। शेष धनपतियों के श्री—धन, राज्य तो नष्ट हो जाते हैं इसलिये वे वास्तविक श्रीमान् पद के भागी नहीं हैं। अपितु उस श्रीमान्= परमात्मा के कृपांश से ही वे श्रीमन्त कहलाते हैं। वे ही धनाधिप हैं इस में ऋग्वेद की 'अहं भुवं वसुनः' इत्यादि ऋचा प्रमाणरूप है। श्रीमान्=भगवान् की यह प्रतिज्ञा है कि मैं दानदाता के लिये भोजन, भोगसाधन आदि पृथक् पृथक् विभाग कर के देता हूं। यही सार पद्यरूप में इस प्रकार कहा गया है—

श्रीमान् स एवास्ति न तत्परोऽन्यः पतिर्धनानां स हि शाश्वतोऽस्ति ।
तातं यथा जन्तव आरुवन्ति स दाशुषे यच्छति भोजनीयम् ॥
तातः=पिता पूज्यो वा ।

केशवः— २३

कम् =जलं, तमीष्ट ऐश्वर्यभावाय नयतीति केशः। तच्च कम् पुनर्द्विविधम्, भौममान्तरिक्षं च । भौमम्— कुम्भवापीकूपनदह्लदसमुद्रादीनाम् । आन्तरिक्षम्-- वर्षासम्भवम्, अवश्यायसम्भवम्, उष्मायोगाद्वाष्पीकृत्य शीततामानीय व्यक्ततामानीतमित्यादि। कस्य ईशित्वमस्यास्तीति "केशाद्वोऽन्यतरस्याम् (पा० ५-२-१०६) सूत्रेणान्यतरस्यां वः प्रत्ययः, तस्मात् केशी, केशवो वा ।

समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिम् (अथर्व १०-५-२३). अन्यच्च—
शन्नः आपो धन्वन्या शमु सन्त्वनूप्या ।
शन्नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः ।
शिवा नः सन्तु वार्षिकी ॥ (ऋग् १-६-४)

अपरा योजना—

कम्=सुखम्, तमीष्टे, ऐश्वर्यभावायानयति, कस्य ईशः केशः, पूर्ववत् मतुबर्थीयं व-प्रत्ययं कृत्वा "केशवः" इति । सुखं च द्विविधमैहिकं तृतीयधामोद्भवं च । ऐहिकं सुखमधिकृत्य जीवः प्रार्थयते—

वही परमात्मा श्रीमान् है, उससे अतिरिक्त कोई शाश्वत धनपति नहीं है। पिता के समान प्राणी उसकी स्तुति करते हैं और वह दाताओं को भोजनादि देता है।

केशव=

'क' अर्थात् जल, और जल को जो ऐश्वर्यभाव के लिए ले जाता है वह है 'केश'। जल दो प्रकार का होता है भौम=भूमिगत, जैसे कुम्भ, बावड़ी कूप, नद नदी, सरोवर, समुद्र आदि का जल। आन्तरिक्ष=मेघ द्वारा वर्षाजन्य, कुहरे से उत्पन्न, ऊष्मा के योग से भाप बनकर जब ठण्डक के कारण जम जाता है तो बर्फ बन जाता है उसके पिघलने पर बना हुआ जल। ऐसे जल पर आधिपत्य है जिसका वह है केशव। इस अर्थ की पुष्टि समुद्रं वः प्रहिणोमि इत्यादि ऋचाओं से होती है।

केशव शब्द का दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

'क' अर्थात् सुख, उसे ऐश्वर्यभाव के लिये जो लाता है उसका अधिपति 'केशव' कहलाता है। सुख दो प्रकार का होता है —ऐहिक और आमुष्मिक। यथा ऐहिक सुख को लक्ष्य करके जीव प्रार्थना करता है "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा" इत्यादि। और

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
(ऋग्० १०-१२१-१०)

स्वर्ग्यमथवैकान्तिकं सुखमधिकृत्य, यथा—

नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति ।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा ॥
(ऋग् १ १२५-५)

इत्यादयोऽनेके मन्त्राः सन्ति । निदर्शनमात्रमेतत् ।

वक्तव्यम्—दुःखमात्रं दृष्ट्वाऽनुमातव्यं यदत्र नूनं भगवदाज्ञाया उत वा प्रकृतेर्नियमस्योल्लंघनं कृतमस्ति, क्रियमाणं वास्ति । अमुथैव यदा वर्षर्तुर्विपर्यस्यति समयं वाऽतिक्रमते, अधिकं विषमं वा वर्षति तदा मन्तव्यमदृष्टकृतोऽत्र कश्चन दोषो नूनं वर्तते यस्य मार्जनं शोधनं च नूनं क्रियमाणं सुखाय केशवप्रीतये च भवति ।

यद्वा—कश्च अश्च ईशश्च ते केशाः, ते च यथाक्रमम्—ब्रह्मा-विष्णु-महादेवा इति, यद्वशे वर्त्तन्ते स "केशवः" । केशवस्त्रिशक्तिस्त्रिमूर्त्तिरिति वा समानं भवति ।

भवति चात्रास्माकम्, कं जलमधिकृत्य—

जलं कमुक्तं द्विविधं च तन्मतं तदन्तरिक्षस्थमुतापि भूस्थितम् ।
ईष्टे विभुर्यो द्वयधिपश्च यो मतः स केशवोऽस्त्याप्तजनैरुपास्यः ॥

स्वर्ग्य अथवा ऐकान्तिक सुख के सम्बन्ध में— "नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति" इत्यादि ऋचा में कहा गया है ऐसे अन्य भी अनेक मन्त्र वेदों में आते हैं। तात्पर्य यह है कि —दुःख मात्र को देखकर यह अनुमान करना चाहिए कि यहां निश्चय ही परमात्मा की आज्ञा का अथवा प्राकृतिक नियम का उल्लंघन हुआ है, अथवा निकट भविष्य में कोई ऐसी ही त्रुटि होने वाली है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु विपरीत होती है, समय बीत जाता है. बहुत वर्षा होने लगती है. अथवा न्यूनाधिक रूप में वर्षा होती है तब यह मानना चाहिये कि यहां कोई दैवीदोष अवश्य है जिसका निवारण करने के लिये किया गया कार्य सुख के लिये और केशव की प्रसन्नता के लिये होता है।

अथवा— क=ब्रह्मा, अ=विष्णु और ईश=शिव ये जिसके वश में रहकर कार्य करते हैं वह केशव । अथवा उक्त तीनों शक्तियों से परिपूर्ण है वह केशव । उपर्युक्त भाव का संकलन निम्न पद्यों से किया है— क=जल को उद्देश करके —

क=जल दो प्रकार का होता है —भूमिगत और अन्तरिक्षगत। इन दोनों पर जिसका अधिकार है और जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में त्रिमूर्तिमय है, वह 'केशव' महापुरुषों के द्वारा उपासनीय है।

कमिति सुखनामसु पठितम्, तदधिकृत्य—

सुखं कमुक्तं द्विविधं च तन्मतं धनेन लभ्यं किमु तत्पदाप्त्या ।
यद्दक्षिणं केशव एति पार्श्वं सुखी नरः सोऽस्त्यपरो विरौति ॥

यस्य दक्षिणमिति यद्दक्षिणम् ।

'केशी' इति नाम्नो राक्षसस्य वधकर्तृत्वाद् भवतु अर्जुनसारथिनः कृष्णचन्द्रस्यापि केशव इति नाम, तत्साधुत्वं च भवतु पृषोदरादिगणस्याकृतिगणत्वात्तदन्तर्भावितं कृत्वा, न हि तेन कृष्णचन्द्रस्य प्रभुत्वाय कल्पनं भगवते यशसे युज्यते। कुतः ? केशीनाम्नो राक्षसस्य बधकर्म मानुषं कर्म। न हि स्वयं भगवानव्ययत्वाद् जन्म गृह्णाति ।

भवति चात्रास्माकम्—

केशीवधात् केशव एव नाम श्रीकृष्णचन्द्रस्य जगत्प्रसिद्धम् ।
जगन्नियन्ता न दधाति कायं श्रुतावकायोऽस्त्यजरः स उक्तः ॥

पृषोदरप्रकाराणि—येषु लोपागमवर्णविकाराः श्रूयन्ते न चोच्यन्ते तानि पृषोदरप्रकाराणि। तद्यथा—श्मशानम्, जीमूत इत्यादि ।

केशीवधात् 'केशवः' इति नारदस्य शिष्टस्य कल्पना, नारदस्य श्रीकृष्णं प्रति वचनम्, यथा—

यस्मात् त्वयैष दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन ।
तस्मात् केशव-नाम्ना त्वं लोके ख्यातो भविष्यसि ॥
(विष्णुपुराणे ५-१६)

क=सुख को उद्देश करके—

क=सुख दो प्रकार का होता है— धन के द्वारा प्राप्त और उच्च पद आदि मिलने से प्राप्त। इनकी प्राप्ति पर यदि केशव की अनुकूलता=कृपा प्राप्त होती है तो मनुष्य सुखी रहता है अन्यथा दुःख का भागी होता है ।

केशी नामक राक्षस का वध करने वाले अर्जुन के सारथि भगवान् कृष्ण का नाम भी केशव है। कृष्ण का यह कार्य मानुष कर्म है। वह अव्यय परमात्मा स्वयं जन्म ग्रहण नहीं करता है। पद्य द्वारा यह इस प्रकार उपवर्णित है—

श्रीकृष्णचन्द्र का नाम भी 'केशव' प्रसिद्ध है जो कि केशी राक्षस का वध करने से प्रसिद्ध हुआ है। जगन्नियन्ता कभी देह धारण नहीं करता है। वेदों में वह परमात्मा निराकार ही कहा गया है ।

केशीवध करनेवाला 'केशव' है। इसमें विष्णुपुराण का यह पद्य प्रमाण है—

श्रीकृष्ण के प्रति नारद कहते हैं कि—हे कृष्ण ! आपने जो इस केशी दुष्टात्मा का वध किया है इसी से आप 'केशव' नाम से लोक में प्रसिद्ध होंगे ।

पुरुषोत्तमः—२४

अत्रत्ये १५ पंचदशे श्लोके चतुर्दश १४ संख्यात्मके 'पुरुषः' इति व्याख्यानावसरे पुरुष-शब्दो विशदतया व्याख्यात आस्ते तदत्रापि ध्यातव्यम् ।

प्रकृतमनुसरामः—पुरि शयनात् सर्वाणि सूक्ष्मस्थूलानि सात्मवन्ति भूतानि क्षराणि सन्ति । कुतः ? दृश्यते च शरीरात्मनोर्वियोगो मृत्युरिति । ततश्च कालान्तरे नामशेषाणि तिष्ठन्ति, नाम चापि महतः कालस्य व्यवधानेन नश्यतीव भवति, अतो भूतानि 'पुरि शयनधर्मतः पुरुषनाम बिभ्रत्यपि क्षराण्युच्यन्ते । आत्मा स्वरूपेण 'अक्षर' एव भवति ।

प्रकृतिः स्वात्मानं महदादिषु विकारेषु परिणमयन्त्यपि विघटनं प्राप्य पुनः स्वरूपे विलयं गत्वा कूटस्थतां न जहाति, तस्मादियं कूटस्था सत्यक्षरा च भवति पुरि शयनमिव तस्या सद्भवात् सापि 'पुरुषः' इति संज्ञां कोविदैर्लभते ।

आभ्यां द्वाभ्यां भिन्नो विराज् नाम्नि पुरि शयनात् स महापुरुषः पुरुषोत्तम इति गीयते वेदे । तस्य विराजो विराट्शरीरबोधनपरा वह्वो मन्त्रा *"यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमथोदरम्"* इत्यादयः 'क्षेत्रज्ञः' इति षोडश १६ संख्यात्मके नामव्याख्या-नावसरे संगृहीताः सन्ति, पाठकैस्तत्र द्रष्टव्याः, अतोऽयं सर्वनियन्ता भगवान् भूतभावनः 'पुरुषोत्तमः' उच्यते ।

पुरुषोत्तम=क्षर और अक्षर इन दोनों से सर्वथा उत्तम ।

पुर (देह) में शयन करने से सभी सूक्ष्म और स्थूल आत्मावाले प्राणी नश्वर हैं। क्योंकि शरीर और आत्मा का वियोग ही मृत्यु है। फिर कुछ काल बीत जाने के बाद वे शरीरधारी नामशेष हो जाते हैं। वह नाम भी अतिदीर्घ काल बीत जाने पर नष्ट हो जाता है। अतः प्राणी पुरिशयनधर्म के कारण पुरुष नाम धारण करते हुए भी नश्वर कहे जाते हैं। आत्मा अपने स्वरूप से अक्षर-कभी नष्ट न होनेवाला ही होता है। प्रकृति अपनी आत्मा को महदादि विकारों में परिणत करती हुई भी विघटन को प्राप्त होकर पुनः अपने रूप में विलीन होकर कूटस्थता को नहीं छोड़ती है। इसलिए यह प्रकृति कूटस्थ होकर अक्षर भी हो जाती है। पुरिशयन के समान उसका सद्भाव होने से वह प्रकृति भी विद्वानों के द्वारा 'पुरुष' संज्ञा को प्राप्त होती है।

प्रकृति और पुरुष इन दोनों से भिन्न विराट् नामक पुर में शयन करने से वह महा-पुरुष 'पुरुषोत्तम' नाम द्वारा वेदों में गाया जाता है। उस विराट् के विराट् शरीर को व्यक्त करने वाले बहुत से मन्त्र हैं 'यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमथोदरम्' इत्यादि मन्त्र 'क्षेत्रज्ञ' इस १६ सोलहवें नाम की व्याख्या के अवसर पर संग्रहीत हैं। अतः यह सर्वनियन्ता भगवान् भूतभावन 'पुरुषोत्तम' कहलाता है।

'लोकसम्मितः पुरुष' इति शरीरशास्त्रविदां समयः। यथात्र महानदाः सन्ति तथैव शरीरेषु रक्तवाहिन्य सन्ति, यथात्र समुद्रस्तथैव वस्तिरिति, यथा समुद्राभिमुखा नद्यो द्रवन्ति तथैव गवीन्यौ मूत्रसंज्ञातमकं जलं वस्तिमुखमभिसमुद्रावयतः, यथा जले समुद्रे वा पर्वतोच्छ्रयो पाषाणा वा भवन्ति तथैव वस्तौ अश्मरी, यकृति चाश्मरी भवति हृदये च। यथा समुद्रे वडवानलस्तिष्ठति तथैव पित्तात्मके जले पाचकाग्नि-स्तिष्ठति *'पित्तमेवाग्निः शरीरे'* इति शरीरविदां प्रतिज्ञा. यथा पृथिवी द्रढयति लोकं तथैवास्थीनि द्रढयन्ति शरीरम्। यथा समुद्रनिकटर्तिनि क्षेत्रे नातिशीतता भवति तथैव पित्तकर्मप्रदेशे नातिशीतता भवति। यथा द्यवि ज्योतींषि सन्ति तथैव शिरसि ज्ञानेन्द्रियाणि सन्ति। यथा वायुः सकलकर्माधिपतिरन्तरिक्षे स्वाश्रयं कुरुते तथैव सर्वसंयोगवियोगसाधनीभूतौ हस्तौ मध्यमं कायमवलम्ब्यान्तरिक्षे लम्बमानौ दृश्येते।

यथा पृथिवी नीचैः स्थानीया तथैव पादौ पृथिवीस्थानीयौ तौ पृथिव्या अभिमुखं चलतो न कदापि निर्वेदमापद्येते, इति दिङ्मात्रमुक्तम्। मन्त्रलिंगं च—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व॥
(यजुः ७-५)

पुरुषाणामुत्तमः पुरुषोत्तमः। अत्र *'न निर्धारणे'* (पा० २-२-१०) इत्यनेन षष्ठीसमासप्रतिषेधो न भवति जात्याद्यनपेक्षया समर्थत्वात्।

संगच्छते चैवं भगवद्वचनम्—

शरीर शास्त्रज्ञों का कथन है कि लोकसम्मित =लोक प्रसिद्ध देहधारी ही पुरुष है। जैसे यहां महानद हैं वैसे ही शरीरों में रक्त-वाहिनी नलिकायें हैं। जैसे यहाँ समुद्र है तो वहां बस्ति है। जैसे नदियाँ समुद्र की ओर ही बहती हैं वैसे ही रक्तवाहिनी और मूत्रसंज्ञात्मक जल ये बस्ति की ओर बहते हैं यथा जल में अथवा समुद्र में पर्वत अथवा अन्य पाषाण उभरे हुए रहते हैं वैसे ही बस्ति में अश्मरी तथा यकृत् और हृदय में भी अश्मरी होती है। जैसे समुद्र में बडवानल रहता है वैसे ही पित्तात्मक जल में पाचनाग्नि रहती है। 'शरीर में पित्त ही अग्नि है' ऐसा शरीरशास्त्रज्ञों का कथन है। जैसे पृथिवी लोक को स्थिर बनाती है वैसे ही हड्डियां शरीर को दृढ बनाती हैं। जैसे समुद्र के निकटवर्ती प्रदेश में अधिक ठण्डक नहीं होती है वैसे ही पित्त-कर्म प्रदेश में अधिक ठण्डक नहीं रहती है। जैसे आकाश में तारे हैं वैसे ही सिर में ज्ञानेन्द्रियां हैं। जैसे वायु सकल कर्मों का अधिपति है और अन्तरिक्ष को अपने आश्रित करता है उसी प्रकार सर्वविध संयोग वियोग के साधनभूत दोनों हाथ मध्यकाय का आलम्बन लेकर अन्तरिक्ष में लटकते हुए दिखाई देते हैं। जैसे पृथिवी निम्न स्थानीय है तथैव पैर भी पृथिवी स्थानीय होकर पृथिवी के सम्मुख चलते हुए कभी निर्वेद को प्राप्त नहीं होते। यह संक्षेप में कहा है। 'अन्तस्ते द्यावापृथिवी' आदि मन्त्र इसमें प्रमाण भूत है। गीता के 'यस्मात् क्षरमतीतोऽहं' इत्यादि पद्य से भी यह ज्ञात होता है। सार

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रसिद्धः पुरुषोत्तमः ॥
(गीता १५-१८) ।

अथवा सप्तमी शौण्डैः (पा० २-१-४) सप्तमीति योगविभागत् समस्यते पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तम इति । मन्त्रलिंगं च—

ऋचो नामास्मि यजूँषि नामास्मि सामानि नामास्मि । ते अग्नयः पञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि । तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव ॥ (यजु० १८।६७)

भवति चात्रास्माकम्—

पुरं जगत्. तत् सकलोऽधिशेते वेदे स उक्तः पुरुषोऽक्षरश्च ।
तत्सम्मितान्येव वपूंषि धात्रा कृतान्यतोऽसौ पुरुषोत्तमोऽस्ति ॥

सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः ।
सम्भवो भावनो भर्त्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः ॥१७॥

२५ सर्वः, २६ शर्वः, २७ शिवः, २८ स्थाणुः, २९ भूतादिः, ३० निधिः अव्ययः ।
३१ संभवः, ३२ भावनः, ३३ भर्त्ता, ३४ प्रभवः, ३५ प्रभुः, ३६ ईश्वरः ॥

सर्वः—२५

उणादौ *सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे* (१-१५३) इति सूत्रे "सर्वः" शब्दो वन्प्रत्ययान्तो निपात्यते । सरतीति सर्वः । संपूर्णवाची, सर्वनामसंज्ञो विशेषणम् । सर्वज्ञत्वात् सर्वः, संपूर्णत्वाद्वा सर्वः, सर्वं तेन वृतमिति वा सर्वं ईश्वरः ।

यह है कि—

पुर ही जगत् है उसमें वह परमात्मा अधिशयन करता है, वेद में वह पुरुष और अक्षर कहा गया है । उससे सम्मित ही पुरुश विधाता ने बनाये हैं । अतः वह पुरुषोत्तम है ।

'सर्वः, शर्वः शिवः, इत्यादि पद्य से १२ नामों का निर्देश करते हैं—

सर्वः=असत् और सत्—सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के स्थान ।

सर्व शब्द उणादि सूत्र से निपातित है । जो सरण करता है वह सर्व कहलाता है । सम्पूर्णवाची सर्व शब्द सर्वनाम संज्ञक विशेषण है । वह परमात्मा सर्वज्ञ होने से सर्व-वाचक है । अथवा सम्पूर्ण होने से अथवा सभी उसके द्वारा वृत्त=व्याप्त होने से वह सर्व है । महाभारत के उद्योगपर्व में परमात्मा को सर्व क्यों माना गया ? इसका निराकरण करते हुए कहा गया है कि— असत् और सत् दोनों की उत्पत्ति और लयकर्त्ता होने से तथा सभी को सर्वकाल में जानने से इस परमात्मा को 'सर्व' कहते हैं । भाष्यकार इस सार को इस रूप में

असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् ।
सर्वस्य सर्वदा ज्ञानात् सर्वमेनं प्रचक्षते ॥
(महा० उद्योग० ७०-११)

मन्त्रलिंगं च—तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः (यजुः० ४०।५)
भवति चात्रास्माकम्—

वृतं जगत् तेन स वेत्ति वेद्यं सर्वः स उक्तः परिपूर्णहेतोः ।
सर्वेण सर्वं परितोऽस्ति सृप्तं सर्वं विना सर्वमिदं न भाति ॥

सर्वेति विष्णोर्नाम तस्मात् 'सर्वं विना' ब्रह्म विनेत्यर्थः ।

शर्वः—२६

शॄ हिंसायाम् क्र्यादिकस्तस्मात् "कॄगॄशॄदॄभ्यो वः" (१-१५५) इत्यनेनौणादिकेन वः प्रत्ययः, शृणाति पापं-दुःखं-यथाकालं जगद् वेति शर्वः परमेश्वरः सुखं वा । मन्त्रलिंगं च—

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः ।
शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥
(यजुः १६-२८)

वक्तव्यम्—भागवतं जगद्व्यवस्थात्मकं कर्म दृष्ट्वा ध्याता जपिता वा मनोवेगैराक्रान्तः सन् पापं परस्य मनो-हृदय-काय-पीडात्मकं कर्म न संचिनोति, अर्थात् दुःखोदयं कर्म न विदधाति, एवमाचरन्नसौ परमेश्वरस्यानन्दात्मकं सुखमक्षयं सर्वकालमनुभवति । प्राणान् जिहीर्षुरपि शर्वो भवति । प्राणहर्तृवर्गे संग्रहात् । मन्त्रलिंगं च—

पद्य द्वारा व्यक्त करते हैं—

उस परमात्मा से जगद् वृत है वह समस्त जानने योग्य वस्तुओं को जानता है, वह परिपूर्णता का हेतु कहा गया है, सर्व से सर्व परितः व्याप्त है और सर्व = ब्रह्म के बिना यह सब शोभित नहीं होता है ।

शर्वः=सारी प्रजा का प्रलयकाल में संहार करनेवाले ।

हिंसार्थक क्र्यादिगण पठित शॄ धातु से औणादिक 'व' प्रत्यय होने से शर्व शब्द बनता है । व्युत्पत्तिगत अर्थ यह है—जो पाप, दुःख अथवा जगत् को यथासमय नष्ट करता है वह 'शर्व' । सुख भी शर्व का पर्यायवाची माना गया है । 'नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च' इत्यादि मन्त्र इसका प्रमाण है । तात्पर्य यह है कि परमात्मा का जगत् की व्यवस्था करने का कार्य देखकर ध्यान करने वाला अथवा जप करने वाला मनोवेगों से आक्रान्त होकर मनुष्य, मन, हृदय और शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाले पाप कर्म एकत्र नहीं करता, अर्थात् दुःखोदय होने वाले कर्म को नहीं करता है । इस प्रकार आचरण करते हुए वह ध्याता अथवा जापक परमेश्वर के आनन्दात्मक अक्षय सुख को सर्वकाल में भोगता है । प्राणों का हरण करने की इच्छा वाला भी शर्व कहलाता है प्राणहारक वर्ग में इस शब्द का संग्रह होने

यथा—

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥
(अथर्व० ६-९३-१)

वृजि वर्जन इत्यस्य— परि वृं जन्तु ।

शर्वः शर्वम्, शर्वाय—इत्यादिनामविभक्तिभिरपि प्रयोगो वेदे दृश्यते । अथर्ववेदीयपञ्चदश१५काण्डस्य पञ्चमं ५ सूक्तं मननीयम्, तत्र—भव-शर्व-ईशान-पशुपति-उग्र-महादेवादीनां प्रधानगौणावर्थौ व्यक्ततरौ भवतः । इति दिङ्-मात्रमुक्तम् । भवति चात्रास्माकम्—

शृणाति पापान्युत दुःखमात्रं शर्वो महादेव उ रुद्रनामा ।
शर्वो जिघांसुश्च यमोऽघमारश्छिनत्ति पापानिह शर्वभक्तः ॥

'उ' इति सम्बन्धेऽव्ययम्, स इत्यर्थः ।

शिवः—२७

सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे । (उण् १-१५३) सूत्रे शिवेति निपात्यते । शीङ् स्वप्ने, शेते इति शिवः, अस्य ह्रस्वत्वमगुणत्वं च निपात्यते । शेत इति शिवम्-भद्रम् । अन्तोदात्तत्वमपि निपात्यते, वेदेषु तथैव दर्शनात् । शिष्यतेरिति यास्कः (नि० १०-१७) । अथवा-शो तनूकरणे दैवादिकोऽस्य इत्वं निपात्यते । श्यैङ् गतौ, अस्य सम्प्रसारणम् श्यति, श्यायतेर्वा शिवः-शम्भुः ।

से । यथा-'यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथः' इत्यादि आथर्वणमन्त्र में शर्व शब्द संगृहीत है । प्रथमा - शर्वः, द्वितीया —शर्वम् और चतुर्थी शर्वाय आदि विभक्तियुक्त प्रयोग भी वेद में होते हैं । तदर्थ अथर्ववेद के १५ वें काण्ड का पाचवां सूक्त पढना चाहिए । वहां 'भव, शर्व, ईशान, पशुपति, उग्र, महादेव आदि के प्रधान अथवा गौण रूप में अर्थ व्यक्त होते हैं । पद्य द्वारा यही सार इस प्रकार कहा गया है—

वह शर्व, महादेव अथवा उग्र नाम वाला ईश्वर पापों को अथवा दुःखमात्र को नष्ट करता है । वह शर्व हनन करने की इच्छा वाला यम, अघमार भी है । जो शर्वभक्त है वह पापों को नष्ट करता है ।

शिवः=तीनों गुणों से परे कल्याण स्वरूप ।

अदादिगण पठित शिङ् धातु से शिव शब्द उणादिसूत्र द्वारा बनता है । जो शयन करता है वह शिव है । यास्क ने निघण्टु में, जो शिक्षा देता है उसे भी शिव कहा है । अथवा-'शो-तनूकरणे' इस दिवादिगण पठित धातु से इत्व निपात होने से, अथवा श्यैङ्—गतौ धातु से सम्प्रसारण होने पर शिव शब्द बनता है । इसी प्रकार शमु =उपशमें धातु से भी 'शिव' बन जाता है । वहाँ अर्थ होगा –जिसके द्वारा पाप शान्त होते हैं वह शिव । 'शिवेन वचसा

कर्तरि कर्मणि वा प्रत्ययः। शमु उपशमे दैवादिकः, अस्योपधाया इत्त्वं निपात्यते मकारलोपश्च, शम्यतेऽनेन कश्मलमिति शिवं भद्रं शिवो भद्रो वा। करणे प्रत्ययः। शिवं कल्याणम्, मन्त्रलिंगं च—*शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छावदामसि* (यजुः० १६-४)।

भगवति दुःखलवो नास्ति—मन्त्रलिंगं च—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥ (यजुः० १६-४१)

भवति चात्रास्माकम्—

तस्मिञ्छिवे शान्ततमे मनस्विनि स्थितः स्वयं भक्तवरः शिवायते।
दीनान् समुद्धर्त्तुमसौ प्रवृत्तो न दुःखलेशं मनसापि याति॥

वक्तव्यम्—परस्मै सुखं दातुमीहमानस्यैषा निम्नांकिता दशा भवति-सर्वसम्पदः परोपकारे विनियोजनात् श्मशानमात्रशयनः स भवति, यथा हि सर्पो गले वलयं करोति तथैव सामान्यो जनस्तं यथाज्ञानमपवदति, जनापवादं श्रावं श्रावं स क्रोधात्मकं विषं गले धियन् (धि धारणे तौदादिकः) शुभस्पृष्टं प्रियं हृद्यं च वचो ब्रूते। स न्यस्तसर्वपरिच्छदो ❀मृगाजिनमात्रो भस्मावृतगात्रमात्रश्च भवति। सामान्यजनता स्वसुखानां लब्धये तं शिवैकदृष्टिं मनसा वाचा कर्मणा शूलयतीवातः स त्रिशूलं धियन् स्वयं सुखपूर्णमुद्रः सन् लोकेभ्यो वराणि प्रयच्छन् शिवात्मिकां दृष्टिं न जहन् क्रमते।

त्वा' इत्यादि मन्त्र से शिव का कल्याण अर्थ सिद्ध होता है। भगवान् में दुःख का लेश भी नहीं है यथा—'नमः शम्भवाय च मयोभवाय च' इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है। यही बात भाष्यकार पद्य द्वारा कहते हैं—

उस अत्यन्त शान्त, मनस्वी शिव में भक्ति रखने वाला श्रेष्ठ भक्त स्वयं शिव रूप हो जाता है। वह शिव दीनों का उद्धार करने के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। वह मन से भी दुःख लेश को प्राप्त नहीं होता।

दूसरे को सुख देने की अभिरुचि रखनेवाले की निम्नांकित दशा होती है— सर्व सम्पत्ति को परोपकार में लगा देने से वह श्मशानशायी बनता है। जैसे सांप गले में लिपटता है वैसे ही लोग उसकी अपने ज्ञानानुसार निन्दा करते हैं। जनापवाद को सुन-सुन कर क्रोधात्मक विष को गले में धारण करता हुआ शुभ, प्रिय और मनोहर वचन बोलता है। वह सर्व परिवार सम्पदाओं को छोड़कर मृगछाला अथवा व्याघ्रचर्मधारी और भस्म-भूषित शरीर बनता है। सामान्य जनता अपने सुखों की प्राप्ति के लिये एकमात्र कल्याणदृष्टि वाले उस शिव को मन वचन और काया से तङ्ग=दुःखी करती है। अतः वह त्रिशूल को धारण कर स्वयं सुखपूर्ण मुद्रा में रहते हुए वर देता हुआ शिवात्मक दृष्टि को नहीं छोड़ता हुआ विचरण करता है।

❀ मृगः—हरिणो व्याघ्रश्च।

भवति चात्रास्माकम्—

शिवः स्वयं दुःखमशेषमूढ्वा मृगाजिनः सर्पगलः सभस्म।
धियंस्त्रिशूलं सुखपूर्णमुद्रः शिवात्मिकां स्वां न जहाति दृष्टिम्॥

स्थाणुः—२८

स्थो णुः (उणा० ३-३७) इत्यनेन तिष्ठतेर्गतिनिवृत्त्यर्थात् णुः प्रत्ययः स्थाणुरिति व्युत्पद्यते। तिष्ठतीति स्थाणुः, ईश्वरः अचलं द्रव्यं वा। मन्त्रलिंगं च—

स वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः,
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।

सारार्थः—यथा अन्तरिक्षे वृक्षस्य शाखाः प्रशाखा महाशाखाश्च प्रचलन्ति, होलन्ति, कम्पन्ते वा परन्तु तेषां नियन्ता स्कम्भः स्कन्धो वा न विचलति तथैवेदं भ्रमणशीलं जगत् गच्छति गतिं दधातीति भावः। गतिर्हि स्थानात् स्थानान्तर-प्रापिका भवति। यो हि सर्वत्रान्तर्बहिश्च लब्धसत्तात्मको भवति, तत्कृते गमन-मप्रयोजनकं भवति। इयमेवावस्था भगवतो जगन्नियन्तुरस्ति। स सर्वत्रान्तर्बहिश्च वर्त्तमान आस्ते। मन्त्रलिंगं च—

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तदु अन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
(यजुः ४०-५)।

तदेजति—अत्र णिजर्थोऽभिप्रेयते। तत् खं ब्रह्म जयति लोकान् स्वयं तत् न

यही सार पद्य द्वारा कहा गया है—

वह शिव स्वयं अशेष दुःखों को सहन करता हुआ, मृगाजिन, सर्प को गले में धारण करने वाला, भस्मावृत शरीर बनकर संसार को वर देते हुए अपनी कल्याणकारिणी दृष्टि का परित्याग नहीं करता है।

स्थाणुः=स्थिर।

गतिनिवृत्त्यर्थक 'स्था' धातु से णु प्रत्यय होने पर स्थाणु शब्द बनता है। जो ठहरता है है वह स्थाणु=ईश्वर अथवा अचल द्रव्य। 'स वृक्ष इव स्तब्धो दिवि' इत्यादि ऋग्वेद का इसमें प्रमाण है। उक्त मन्त्र का भावार्थ यह है कि जैसे अन्तरिक्ष में वृक्ष की शाखा प्रशाखायें और महाशाखायें चलती हैं, हिलती हैं अथवा कांपती है परन्तु उन को नियन्त्रित करनेवाले स्कन्ध वृक्षों के तने निश्चल रहते हैं वैसे ही भ्रमणशील जगत् गति को धारण करता है। गति एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने वाली होती है। जो अन्दर और बाहर सत्ताप्राप्त होता है उसके लिए जाना निष्प्रयोजन होता है। यही अवस्था जगन्नियन्ता परमात्मा की है। वह सर्वत्र अन्दर और बाहर वर्तमान है। तदेजति तन्नैजति' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाणरूप है। 'एजति' में णिजर्थ अभिप्रेत है। वह खं ब्रह्म जगत् को कम्पित करता है पर स्वयं स्थिर

एजति, तस्मात् तिष्ठतीति मात्रः सन् स शिवः परमेश्वरः "स्थाणु" इति नाम्ना स्तूयते।

वक्तव्यम्—स्थाण्वात्मकस्य विष्णोरुपासकेन सर्वथा स्थिरसंकल्पवता भवितव्यम्। क्षणे क्षणे स्वकीया प्रकृतिर्न विचालनीयेति। इत्थंभूतां वृत्तिमधितिष्ठन्नसौ भक्त एतान् षडसीन् अतिवर्त्तते। षडसयश्च विदुरोक्ताः, यथा—

अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट्॥
(विदुरनीतौ अ० ५-१०)

एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते॥
(विदुरनीति अ० ५-११)

भवति चात्रास्माकम्—

जगच्छिवः सर्वमिदं प्रचालयन् स्वयं स्थितः स्थाणुरिवाप्रकम्पनः।
तमाचलं यो जपिताऽनुसेवते स्वयं स्थिरः सोऽभ्युदयाय कल्पते॥

भूतादिः—२९

भूतानामादिः भूतादिः। भूतानामादिकारणत्वाद्वा भूतादिः। तथा च मन्त्रलिंगम्—

रहता है। इसलिए स्थिर रहने के कारण वह शिव, परमेश्वर स्थाणु नाम को धारण करता है।

कहना है कि स्थाण्वात्मक विष्णु के उपासक को सर्वथा स्थिर संकल्प बनना चाहिए। क्षण-क्षण में अपनी वृत्ति नहीं बदलनी चाहिए। इस प्रकार की वृत्ति को रखने वाले भक्त जन अति मान, अतिवाद, अत्याग, कोप, आत्म प्रशंसा और मित्रद्रोह इन छः अरियों को जीत लेते हैं। विदुरनीति में इन छः शत्रुओं को तीखे शूल के समान मानकर यह बताया है कि ये रिपु प्राणियों के आयुष्य को काटते हैं। ये ही मनुष्य को मार देते हैं मृत्यु नहीं। भाष्यकार ने पद्य द्वारा सारांश इस प्रकार दिया है—

शिव स्थाणु के समान निश्चल रहकर सारे जगत् को चलाता है। उस स्थाणु का जप करने वाला जो उसकी उपासना करता है वह स्वयं स्थिर होकर अभ्युदय का भागी होता है।

भूतादिः=भूतों के आदि कारण।

प्राणियों का आदिकरण होने से वह परमात्मा भूतादि है। 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे,'

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ॥
(यजु: ३२-२)

वक्तव्यम्—यथा दृश्यमानकार्यात् प्राक् कर्त्तुः सत्ता भवति तथैव सर्वलोकनियन्तुः सत्ता लोकनिर्माणारम्भक्षणात्पूर्वं स्यादेवेति कृत्वा भूतादिरिति नामकल्पनं संगच्छत एव ।

भवति चात्रास्माकम्—

यो विश्वकर्मा स मनुर्मनीषी स एव भूतादिरिहास्ति सिद्धः ।
न तं विना विश्वमिदं प्रक्लृप्तं न तस्य कर्त्ता न च तत्पुरोऽस्ति ॥

निधिरव्ययः— ३०

निश्चयार्थे न्यव्ययः, निश्चयेन सर्वं सर्वदाऽस्मिन्निधीयत इति निधिः । ईश्वरः, स एवाव्ययः । यथा लोके ब्रूमो रत्नानां निधी❀ रत्नाकर इति, लोके यो निधिरस्ति स स्वस्मिन् क्षयत्येव । परन्तु निधिनामायं परमेश्वरोऽव्ययः सन् सर्वं स्वस्मिन् निदधात्येवेति निधिः, कीदृशोऽयं निधिरिति ? व्ययेन रहित इति । अव्यय-शब्द-व्याख्यानं त्रयोदशतमं प्रधाननामाधिकृत्य व्याख्यातमास्ते पंचदशे श्लोके, तत्र द्रष्टव्यम् ।

यह मन्त्र इसका प्रमाण है । जैसे दृश्यमान कार्य से पूर्व कर्त्ता की सत्ता होती है इसी प्रकार सर्वलोक-नियन्ता की सत्ता लोक निर्माण के आरम्भ से पूर्व रहेगी ही, अत एव 'भूतादि' ऐसी नाम कल्पना उचित है । भाष्यकार ने स्वरचित पद्य द्वारा इसका सार संग्रह इस प्रकार किया है—

जो विश्वकर्म्मा है वही मनु और मनीषी है । वही 'भूतादि' नाम से यहां सिद्ध है । उसके बिना इस विश्व का निर्माण नहीं हुआ है और न उस विश्व का कर्त्ता उससे पूर्व कोई है-था ।

निधिरव्ययः=प्रलयकाल में सब प्राणियों के लीन होने के अविनाशी स्थान स्वरूप ।

नि अव्यय निश्चयार्थक है । निश्चय ही सबको सर्वदा इसमें रखता है, वह निधि । ईश्वर । वही अव्यय है । जैसे हम लोक में कहते हैं—रत्नों का निधि रत्नाकर है । लौकिक जो निधि है वह तो अपने आप में क्षीण होता ही है, परन्तु निधिनामक यह परमात्मा अव्यय होकर सब को अपने में रखता है । यह निधि कैसा है ? व्यय से रहित । अव्यय शब्द का व्याख्यान पन्द्रहवें श्लोक में तेरहवें प्रधान नाम के समय कर दिया है । यही सार

❀—"रो रि" (पा० ८-३-१४) इति पूर्वरेफलोपे, ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (पा० ६-३-१११) इति दीर्घत्वम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

निधिर्जगत्यां न तथाविधोऽस्ति व्ययो न यस्यास्ति, तथाविधः सः ।
ध्याताऽव्ययं तं निधिमप्रमेयं ज्ञात्वा स्वयं स्यान्निधिरप्रमेयः ॥

निपूर्वाद्दधातेः "कर्मण्यधिकरणे च" (पा० ३-३-९३) इत्यनेन कि–प्रत्ययः । अव्ययोऽविनश्वरः ।

लौकिकानां निधीनामपि चिरक्षमत्वमपि तस्य महेश्वरस्याव्ययधर्ममवलम्ब्यैव ।

सम्भवः — ३१

समेकीभावेऽव्ययम्, भवनं भवः, एकीभावेनास्तित्वमस्ति यस्य स सम्भवः । भवनं भवः सत्ता ।

वक्तव्यम्—यथा स्वयं भगवान् परमेश्वरः स्वकमेकीभावं न जहाति तथैव तस्य कृतावपि निम्बो निम्बतां न जहाति, अमुथैव गौर्गोत्वं न जहाति, सर्पाद्या स्वं स्वभावं न जहति, तात्पर्यार्थोऽयं यच्चतर्विधा सृष्टिः स्वकमेकीभावं सर्गारम्भतः कल्पान्तं न त्यजति, तस्य सम्भवनामवतो विष्णोरनुस्यूतं धर्ममनुकुर्वती तमनुगच्छन्ती ।

भवति चात्रास्माकम्—

चिन्त्यैकध्यं जगत् सर्वं सम्भवेन कृतं यथा ।
तथैवाद्यापि निर्भ्रान्तं जगद् बद्धं प्रधावति ॥

पद्य द्वारा इस प्रकार वर्णित है- संसार में ऐसा कोई निधि नहीं है कि जो क्षीण नहीं होता हो, किन्तु वह परमात्मा अव्यय=कभी क्षीण न होनेवाला निधि है । ध्याता उस अव्यय और अप्रमेय निधि को जानकर स्वयं अप्रमेय निधि बन जाता है ।

नि-पूर्वक धा-धातु से कि प्रत्यय द्वारा निधि शब्द बनता है । अव्यय का अर्थ है-अविनश्वर । लौकिक निधियों की चिरस्थिरता भी उस महेश्वर के अव्यय धर्म का ही फल है ।

सम्भवः=अपनी इच्छा से भली प्रकार प्रकट होने वाले ।

सम् का अर्थ है एकीभाव । एकीभाव से अस्तित्व है जिसका, वह है 'सम्भव' । भव का अर्थ है सत्ता । जैसे भगवान् स्वयं परमेश्वर है इसलिये अपने एकीभाव को नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार उसकी कृति में भी नीम अपने कटुतारूप धर्म को नहीं छोड़ता है । इसी प्रकार बैल अपने धर्म को और सर्पादि अपने धर्मों को नहीं छोड़ते हैं । तात्पर्यार्थ यह है कि चार प्रकार की सृष्टि सर्गारम्भ से कल्पान्त तक उस सम्भव नामवाले विष्णु के धर्म से अनुस्यूत होकर उसका अनुसरण करती हुई अपने एकीभाव को नहीं छोड़ती है । यही पद्य द्वारा इस प्रकार वर्णित है—

जैसा एकीभाव से पूर्ण सारा जगत् सम्भव ने बनाया है वैसा ही आज भी निर्भ्रान्त रूप से जगत् निबद्ध होकर चल रहा है ।

यदुक्तं समेकीभावेऽव्ययम्, तत्र प्रमाणम्—

"*संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्*" । (ऋग्० १०-१९१-२) (अथर्व० ६-६४-७) इत्येवमादिः । यत्तु "*सम्भवाम्यात्ममायया*" "*धर्मसंस्थापनाय सम्भवामि युगे युगे*" इत्यादि गीतायामुक्तमास्ते । तत्रापि तात्स्थ्योपाधिना संगन्तव्यम् । अर्थात् तस्य शूरस्य हृदये स्वकं शर्वात्मकं रूपं प्रकटयामि । कुत एवम् ? नहि तस्य महेश्वरस्य शरीरेण योगो भवति । उक्तं च वेदे—

"*स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँशुद्धमपापविद्धम्*" (यजुः० ४०-८) ।

ईश्वरस्य शरीरधृतौ दोषं पश्यता तद्दोषपरिजिहीर्षया चेदं वचनं प्रक्लृप्तम्, तद्यथा—

अथ दुष्टविनाशाय साधुनां रक्षणाय च ।
स्वेच्छया सम्भवाम्येवं गर्भदुःखविवर्जितः ॥

नहि शरीरोदयो जरायुजानां गर्भदुःखमन्तरा सम्भवन्ति । केवलमाद्यामुत्पत्ति परित्यज्य । अतश्चेदं वक्तुं पार्यते यद् विष्णोर्नामसु स्थितस्य "सम्भव"नाम्नो व्याख्यानं "समित्येकीभावेऽव्ययम्", एकीभावेन सत्तारूपेण भवो यस्यास्तीति स सम्भवः परमेश्वर इत्येव । सम्भवामि=उत्पन्नो भवामि, भवत्वेषोऽप्यर्थो संस्कृतवाङ्मये, यथा च भवति '*सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते*' (गीता २।३४) सम्भवामि तस्य लब्धप्रतिष्ठस्येति । भागवतं व्याख्यानमधिकृत्यास्माकमेव व्याख्यानं युक्तियुक्तमुपपद्यत इति दिक् ।

'सम् एकीभावार्थक अव्यय है' ऐसा जो कहा गया है उसमें 'संगच्छध्वं संवदध्वं' इत्यादि मन्त्र प्रमाणभूत है । और जो 'सम्भवाम्यात्ममायया' और धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि' इत्यादि गीतोक्त पद्यों में समुपसर्गक भू धातु का प्रयोग हुआ है, उसमें भी एकीभावार्थक सम् अव्यय का ही प्रयोग हुआ है । अर्थात् उस शूर के हृदय में अपने सर्वात्मक रूप को प्रकट करता हूँ । ऐसा क्यों ? वह इसलिये कि महेश्वर का मनुष्यवत् शरीर से योग नहीं होता है । वेद में– 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्' इत्यादि मन्त्र से प्रमाण प्राप्त है । ईश्वर के शरीर धारण में दोष देखते हुए उस दोष को दूर करने की इच्छा से ये वचन कहे गये हैं । जैसे—

दुष्टों का विनाश करने के लिये और साधुओं की रक्षा करने के लिये गर्भगत दुःख से परे रहते हुए मैं अपनी इच्छा से अवतार लेता हूं ।। शरीर आदि जरायुजों के गर्भगत दुःख बिना नहीं होते हैं केवल आद्य उत्पत्ति को छोड़कर । अतः यह कहा जा सकता है कि विष्णु के नामों में पठित 'सम्भव' नाम के व्याख्यान में 'सम्' एकीभाव के अर्थ में ही प्रयुक्त है । एकीभाव अर्थात् सत्तारूप में भव=उत्पत्ति है जिसकी वह 'सम्भव' परमेश्वर । सम्भवामि का अर्थ उत्पन्न होता हूँ संस्कृतवाङ्मय में यह भी अर्थ हो सकता है । 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' इस गीतोक्त पद्य में सम्भावित का अर्थ लब्धप्रतिष्ठ है । भागवत के व्याख्यान के आधार पर हमने अपने व्याख्यान को युक्तियुक्त माना है ।

भावनः—३२

भाव्यते सत्तारूपेण प्रतिष्ठाप्यते जगदनेनेति भावनः परमेश्वरः। भगवन्निष्ठानां नाम, तस्य भावनस्य परमेश्वरस्याश्रयादाकल्पं सत्तारूपेण तिष्ठतीति कृत्वा सेवकैः स एव भगवान् नूनं मनसा वाचा कर्मणा च ध्येयो गेय उपचर्यश्च।

भवति चात्रास्माकम्—

नरस्य यस्येह भवेन्मनीषा चिराय सम्भावयितुं स्व-नाम।
स भावनं नाम जपेन्महेशं तदाश्रयं काव्यमुदीरयेच्च ॥४३॥

भर्त्ता—३३

डुभृञ् धारणपोषणयोः, जौहोत्यादिकः, तस्मात् तृचि बिभर्तीति भर्त्ता परमेश्वरः। स भर्त्ता भगवान् सर्वान् प्राणिनो बिभर्ति तेषां कृते यथार्हं भोज्यं ददाति। यावज्जीवानामायुष उदयोऽस्ति तावन्नियततया तान् सर्वात्मना बिभर्त्तीति कृत्वा "भर्त्ता" परमेश्वरः।

भवति चात्रास्माकम्—

बिभर्त्ति लोकानुत प्राणिमात्रं न तं विना भर्तृतमोऽस्ति कश्चित्।
रुजान्वितं सुप्तमथार्थहीनं जरायुजं न्वेष बिभर्त्ति "भर्त्ता" ॥४४॥

भावनः=समस्त भोक्ताओं के फलों को उत्पन्न करने वाला।

सत्तारूप में प्रतिष्ठित किया जाता है जगत् इसके द्वारा अत वह परमात्मा 'भावन' है। भगवन्निष्ठों का नाम उस भावन परमेश्वर के आश्रय से आकल्प तक सत्तारूप में रहता है इसलिये सेवकों=भक्तों के द्वारा उस भगवान् की निश्चय ही मन, वचन और कर्म से ध्यान गान तथा अन्य सेवा की जानी चाहिये। यही सार श्लोक द्वारा इस रूप में वर्णित है—

जिस मनुष्य की इच्छा अपने आप को चिरकाल तक स्थित रखने की हो वह 'भावन' नामधारी भगवान् का नाम-स्मरण करे और उन्हीं के आश्रित प्रशंसात्मक काव्य का निर्माण—स्तवन करे ॥४३॥

भर्ता—सबका भरण-पोषण करने वाला।

धारण—पोषणार्थक एवं जुहोत्यादिगणपठित 'भृ' धातु से 'तृच्' प्रत्यय होने पर 'भर्तृ' शब्द बना है। वह 'भर्ता' नामक परमेश्वर सब प्राणियों का पालन-पोषण करता है तथा उसके लिये यथोचित भोज्य सामग्री प्रदान करता है। जीव की जब तक आयु का उदय होता है, तब तक के लिये नियत रूप से उन जीवों का सर्वात्मभाव से भरण-पोषण करता है इस दृष्टि से परमात्मा को 'भर्ता' इस नाम से कहा गया है। इसी आशय का संग्रह करते हुए भाष्यकार ने निम्न पद्य दिया है जिसका अर्थ इस प्रकार है—

लोक एवं प्राणिमात्र का वह परमात्मा भरण—पोषण करता है, उसके बिना अन्य कोई श्रेष्ठ भर्ता नहीं है। क्या वह 'भर्ता' रोगी, सुप्त, अर्थहीन एवं गर्भस्थ का पोषण नहीं करता? अर्थात् सबका पोषण करता ही है ॥४४॥

वक्तव्यम्— भर्तृगुणवतो महात्मनो देवस्योपासनं कुर्वता जनेन प्राणिमात्रं स्वशक्तिं यावत् पालनीयः पोषणीय इति। एवमसौ भर्तेति संज्ञां लभते। गौणवृत्या स्त्रीणां पालको हस्तग्राभोऽपि भर्तोच्यते। सेवकानां पोषकस्तेषां स्वाम्यपि भर्तोच्यते।

भवति चात्रास्माकम्—

स एव भर्ता न हि तत्परोऽन्यो विश्वम्भरो नाम बिभर्त्ति कश्चित्।
तद्भर्तृयोगाद् यदि नापि कश्चित् भर्त्ता भवेत् स्तुत्यतमोऽस्ति सोऽपि ॥४५॥

ना=मनुष्यः

प्रभवः— ३४

प्रकृष्टो भवोऽस्यास्तीति प्रभवः। भवनं भवः सत्तेति यावत्। तस्येश्वरस्य प्रभवगुणं विज्ञापयन्तः स्रोतसां प्रभवा नित्यं तमेवाक्षयं धर्ममद्यावधि पालयन्ति। अमुथैव प्राणिनां प्रभवोऽपि प्रतिक्षणं वोभूयमानस्तस्यैव प्रभवस्य परमेश्वरस्य गुणमनुसरन् प्रभवति। अमुनैव विधिनोद्भिदानां प्रभवोऽपि।

भवति चात्रास्माकम्—

इस प्रकार भर्तृगुणवाले महात्मा देव की उपासना करते हुए मनुष्य को चाहिये कि वह प्राणिमात्र का यथाशक्ति पालन एवं पोषण करे। तभी वह 'भर्ता' कहलाने का अधिकारी होता है। इस कथन से यह भी लक्षित होता है कि स्त्रियों का पालन करनेवाला उनका पाणिग्रहण कर्ता भी इसी दृष्टि से भर्ता=पति कहलाता है। और सेवकों का पोषण करनेवाला स्वामी भी 'भर्ता' माना जाता है। इसी सार को निम्न पद्य द्वारा प्रस्तुत किया है—

वही भर्ता है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। जो किसी एक का ही नहीं; अपितु अखिल विश्व के भरण-पोषण में दत्तचित है, वह 'विश्वम्भर' नाम से अभिहित होता है। इस प्रकार भरण-पोषणरूप कर्म की समानता के कारण ही मनुष्य भी 'भर्ता' कहलाता है अतः वह भी प्रशंसा का पात्र है ॥४५॥

प्रभवः—उत्कृष्ट (दिव्य) जन्मवाले।

'प्रकृष्ट सत्ता है इस की' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्र उपसर्ग पूर्वक भू धातु से निष्पन्न 'प्रभव' शब्द से उस ईश्वर के सत्तात्मक गुणों को प्रकट करते हुए निर्झरादि अनवरत उसी अक्षय धर्म का आज तक पालन करते हैं। इसी प्रकार प्राणियों की उत्पत्ति भी प्रतिक्षण बार बार होती हुई उसी प्रकृष्टसत्ताशाली परमेश्वर के गुण का अनुसरण कर रही है। इसी प्रकार उद्भिद आदि की उत्पत्ति भी समझनी चाहिये और प्रकृति भी इसी व्यवस्था के अनुसार महदादि [1]तत्त्वों के विकारों से उत्पन्न होती है। यही बात पद्य द्वारा इस रूप में वर्णित है—

---

1. यहां महदादि २४ तत्त्वों का विकार जानने के लिये सांख्यदर्शन का निरूपण उल्लेखनीय है।

कालेन सर्वं विकृतिं प्रयाति स्रोतांसि शुष्यन्ति महान्ति चापि ।
पृथक् पृथक् यः प्रभवो निरन्तं व्यनक्ति शोभां प्रभवस्य तस्य ॥४६॥

प्रभुः— ३५

प्र-पूर्वात् भवतेर्डुप्रत्ययान्तोऽयं प्रभुः शब्दः यदि प्रत्ययान्तेन संज्ञा न गम्येत। प्रत्ययविधायकं सूत्रं—विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम् (पा० ३-२-१८०) । प्रकर्षेण भवतीति प्रभुः स्वामी । सर्वासु क्रियासु सामर्थ्यातिशयात् वा प्रभुः ।

मनुष्ये योऽयं प्रभु-शब्दप्रयोगो दृश्यते सोऽयं तस्यैव महाप्रभोः कृपादृष्टेः फलमात्रमेव। व्यपगतायां तस्य कृपादृष्ट्यां राजानो रंकायन्ते, सत्यां चार्द्रदृष्ट्यां रंकाश्च राजायन्ते, तस्य महेश्वरस्यैषा व्यवस्थैवास्ति यदा मनुष्यस्तस्य नियमानुल्लंघते तदाऽसौ पतति, तद्व्यवस्थैव तस्य न्यायः कृपा दया वा कृपादृष्टि-र्दयादृष्टिर्वा। तस्मात् प्रभु-*भूयमिच्छता सर्वकालं तस्यैव महेश्वरस्य प्रभुकर्म द्रष्टव्यम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

काल के वश से सभी वस्तु विकृति को प्राप्त होती है, बड़े बड़े झरने भी सूख जाते हैं। काल के वश से ही जो विभिन्न विकृति प्राप्त वस्तुओं की पुनः सृष्टि होती है वह उस 'प्रभव' नाम से स्तुत परमात्मा की अपार सुषमा को व्यक्त करती है ॥४६॥

प्रभुः—सबके स्वामी ।

प्र उपसर्गक भू धातु से डु प्रत्यय से निष्पन्न यह 'प्रभु' शब्द है। यदि प्रत्ययान्त से संज्ञा का ज्ञान न हो, तो प्रत्यय विधायक 'विप्रसम्भ्यो' इत्यादि सूत्र से डुप्रत्यय होने पर 'प्रकर्ष से जो होता है वह प्रभु' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'सभी क्रियाओं में अतिशयपूर्ण सामर्थ्यशाली प्रभु' अर्थ होता है। और मनुष्य के लिये जो इस प्रभु शब्द का प्रयोग दिखलाई देता है, वह इस महाप्रभु की कृपादृष्टि का फलमात्र ही है। इस महाप्रभु की कृपादृष्टि न रहने पर राजा भी रंक हो जाते हैं और यदि कृपादृष्टि हो जाती है तो रंक भी राजा बन जाते हैं। उस महेश्वर की ऐसी ही व्यवस्था है, कि जब मनुष्य उसके नियमों का उल्लंघन करता है तो गिर जाता है, उसकी व्यवस्था ही न्याय, कृपा दया अथवा कृपादृष्टि, दयादृष्टि' इस नाम से व्यवहृत होती है। इसीलिये 'प्रभु की कृपा चाहनेवाले को सदैव उस महेश्वर प्रभु का कर्म देखना चाहिये अर्थात् यह सब लीला उसी प्रभु की है ऐसा मानकर व्यवहार करना चाहिये। भाष्य में जो 'प्रभुभूय' शब्द का प्रयोग है वह 'भुवो भावे' सूत्र से 'क्यप्' प्रत्यय होने पर बना है। उपर्युक्त भाष्य का सार पद्य में इस प्रकार ग्रथित है—

* प्रभुभूयमित्यत्र भुवो भावे (पा० ३।१।१०७) इति क्यप् प्रत्ययः ।

न कोपि लोके प्रभुरस्ति तत्समः प्रभुः स्वयं सन् प्रभुतां प्रयच्छति ।
न यान्ति शोभां प्रभवोऽपि तं विना स दक्षिणे यस्य स एव नः प्रभुः ॥४७॥

ईश्वरः—३६

ईश ऐश्वर्ये, अदादिः, तस्मात् "स्थेशभासपिसकसो वरच्" (पा० ३-२-१७५) इत्यनेन तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिष्वर्थेषु वरच् प्रत्ययो भवति, तेन "ईश्वरः" सिद्ध्यति । ईष्टे ऐश्वर्यभावाय जगत् सहजशीलतया नयति, सहजेन धर्मेण, सहजेन कर्मणा वा ईश्वरः । मन्त्रलिंगं च—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
(यजुः ४०-१)

अन्यच्च—

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् । (यजुः० २५-१८)

स एव जगन्नियन्तेश्वरः, यथोक्तं गीतायाम्—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

भवति चात्रास्माकम्—

ईष्टे जगत्, तेन स ईश्वरोऽस्ति विश्वं तदावास्यमिदं स्वभावात् ।
हृदन्तराले स स्थितो महात्मा समीक्षते विश्वमिदं तपत् सः ॥४८॥

उस परमात्मा के समान अन्य कोई प्रभु नहीं है । वह स्वयं प्रभु होकर प्रभुता को देता है । उसके बिना समर्थ=प्रभु होकर भी शोभा को प्राप्त नहीं होते हैं, अतः उसकी जिस पर कृपा–दृष्टि है, वही हमारा "प्रभु" है ॥४७॥

ईश्वरः—उपाधि रहित ऐश्वर्यवाला ।

द्वितीयगण पठित ऐश्वर्यार्थक 'ईश' धातु से तच्छील तद्धर्म तथा तत्साधुकारी अर्थों में पाणिनीय 'स्थेशभास' इत्यादि सूत्र से 'वरच्' प्रत्यय होने पर बनता है। तदनुसार सहजशीलता के द्वारा जगत् को ऐश्वर्यभाव के लिये जो लेजाता है अथवा प्राप्त करता है वह ईश्वर है । अथवा सहजधर्म या सहजकर्म के द्वारा ऐश्वर्य भाव को प्राप्त करने वाला ईश्वर कहलाता है । श्रुतिप्रतिपादित—'ईशावास्यमिदं 'सर्वम्' तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम्' आदि मन्त्रों से तथा गीतोक्त 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' इत्यादि पद्य से भी यही प्रमाणित होता है । संग्रह पद्य में इसका सार इस प्रकार है—

वह जगत् को ऐश्वर्य सम्पन्न बनाना चाहता है, अतः वह ईश्वर है, स्वभाव से ही यह विश्व उसके द्वारा आच्छाद्य है । वह परमात्मा हृदय में विराजमान रहकर इस विश्व को देखता है ॥४८॥

वक्तव्यम्—ये जना ईश्वरपदभाजः सन्ति, तेऽपि तस्येश्वरस्य शुभदृष्टिवशादेव। यदा मनुष्यो राज्यमदान्वितो भूत्वा पुण्यकर्माणि त्यक्त्वा प्रजापीडनान्यारभते तदा स महेश्वरस्तं परित्यजति, स रंकायते। ईश्वर-नामवतो विष्णोरुपासको रंकोऽपि शनैः शनैः पुण्यानि सञ्चिन्वन् संवर्धमानो राजायते।

भवति चात्रास्माकम्—

यस्यार्द्रदृष्ट्या भवतीश्वरो ना स एव रंको न यदेक्षते सः।
तस्मान्नरः पुण्यतमानि कुर्वन् ध्यायेत् सदा तं सकलेशमाद्यम्॥४९॥

सूक्तं च—'एष सर्वेश्वरः' (मा० ६) इति।

स्वयंभूः शम्भुरादित्यः पुष्कराक्षो महास्वनः।
अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः॥१८॥

३७ स्वयम्भूः, ३८ शम्भुः, ३९ आदित्यः, ४० पुष्कराक्षः, ४१ महास्वनः।
४२ अनादिनिधनः, ४३ धाता, ४४ विधाता, ४५ धातुरुत्तमः॥

स्वयंभूः—

स्वयं भवतीति स्वयंभूः परमेश्वरः। मन्त्रलिंगं च—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
(यजु: ४०-८)

अतः जो मनुष्य ईश्वर पद के भागी हैं वे भी इसी ईश्वर की कृपादृष्टि से ही बने हैं। जब मनुष्य राज्यमद से पुण्यकर्मों को त्यागकर प्रजा को पीडित करना आरम्भ कर देते हैं, तब वह महेश्वर उन्हें परित्यक्त कर देता है, जिसके फलस्वरूप वह (राजा भी) रंक बन जाता है। और ईश्वर नामवाले विष्णु की उपासना करनेवाला रंक भी धीरे-धीरे पुण्यों को बढाता हुआ राजा बन जाता है। यही बात पद्य में इस प्रकार वर्णित है—

उस ईश्वर की कृपापूर्ण दृष्टि से मनुष्य ईश्वर बनता है और यदि उसकी कृपादृष्टि न हो, तो वही ईश्वरत्व प्राप्त मनुष्य रंक बन जाता है। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि वह पुण्यकार्य करता हुआ नित्य सर्वेश्वर का स्मरण करे॥४९॥

'स्वयम्भूः, शम्भुरादित्यः' आदि पद्य से अग्रिम नौ नामों का निर्देश करते हैं—

स्वयम्भूः—स्वयं उत्पन्न होनेवाला।

व्यक्तव्तम्—योऽयं भगवति परमेश्वरे स्वयंभूत्वरूपो गुणोऽस्ति तेनैव गुणेन गुणितोऽयं संसारः स्वयंभूत्वं क्षणमनुक्षणं विज्ञापयन् तस्य महेश्वरस्य स्वयंभूत्वं प्रकटयति । तद्यथा–स्वयंमुष्ट्र उत्तिष्ठति भारेण युक्तोऽपि । स्वयं स्रोतांसि प्रस्रवन्ति, स्वयं सूर्यादयो ग्रहा उदयन्ति, द्यवि भ्रमन्ति च । स्वयमेव समुद्रः उत्तुंगवेलामाप्नोति । वनस्पतयः स्वयमुद्भिद्यन्ते । स्वयमेव स्त्री पुरुषं प्रत्याकृष्टा भवति, पुरुषश्च स्वयमेव स्त्रियं प्रत्याकृष्टो भवति। स्वयमेव हस्त उत्क्रमते क्रियाविधौ। महेश्वरस्य स्वयंभूत्वगुणं पश्यता नरेण स्वयंनियन्त्रितानां यन्त्राणामाविष्कारा कृताः सन्ति, मनुष्योऽपि परेशानुकृतिमत् स्वकं शिल्पकर्म विदधाति । एवमस्मिन् जगति सर्वत्रैव स्वयंभू नामवान् भगवान्–प्रत्यक्षमिव दृष्टिपथमारोहति ।

भवति चात्रास्माकम्—

क्रमेलको ह्युत्क्रमते सभारः पाणी स्वयं प्रोच्चलतः क्रियायाम् ।
स्त्रयं नरं स्त्री हरते नरस्तां स्वयम्भुवो ह्याश्रवमुद्गृणन्तः ॥५०॥

शम्भुः – ३८

स्वयं (बिना किसी के सहारे के) होता है वह स्वयम्भू, अर्थात् परमेश्वर। यजुर्वेद का 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाणभूत है। भाष्यकार का कथन है कि— यह जो भगवान् परमेश्वर में स्वयम्भू नामक गुण है इसी गुण से गुणित यह संसार प्रतिक्षण अपने स्वयम्भूत्व को व्यक्त करता हुआ उस परमेश्वर के स्वयम्भूत्व को प्रकट करता है। जैसे कि—भार से युक्त होने पर भी ऊंट स्वयं ऊठता है. झरने अपने आप बहते हैं, सूर्यादि ग्रह अपने आप उदित होते हैं और आकाश में भ्रमण करते हैं । समुद्र स्वयमेव उत्तुंग तरंगों को प्राप्त होता है, वनस्पति स्वयं फलते फूलते हैं। स्त्री और पुरुष एक–दूसरे के प्रति अपने आप आकृष्ट होते हैं, क्रिया करते समय हाथ स्वयं उठ जाता है। महेश्वर के स्वयम्भूत्व गुण को देखकर मनुष्य ने स्वयं नियन्त्रित यन्त्रों का आविष्कार किया है। मनुष्य भी परमात्मा के अनुकरणरूप अपने शिल्पकार्य को करता है। इस प्रकार इस जगत् में सर्वत्र ही स्वयम्भू नामक भगवान् प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं यही कथन पद्य द्वारा इस प्रकार कहा गया है—

ऊंट भार को वहन करता हुआ भी स्वयं ऊठता है, हाथ भी अपने आप क्रिया के समय चलने लगते हैं। इस प्रकार स्वयम्भू के धर्म का स्मरण करते हुए स्त्री पुरुष को और पुरुष स्त्री को स्वयं आकृष्ट करते हैं ॥५०॥

शम्भु—सुख उत्पन्न करने वाला ।

शं भवतीति शम्भुः। शं सुखं भक्तानां भावयतीति शम्भुः। शम्पूर्वाद्भवतेर्डुप्रत्ययः। डु-प्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम् (पा० ३-२-१८० सूत्रे वार्त्तिकम्)।

मन्त्रलिंगं च—

शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः। (अथर्व० १६-१०-१० ऋग्० ७-३५-१०)

वक्तव्यम्– शम्भुना यदत्र जगति निर्मितमास्ते तत् सर्वं निर्विकल्पं परस्परं सर्वस्य जगतः शंभवाय-अर्थात् सुखभावायैव कृतमास्ते। कुतः? तस्मिन् कर्त्तरि स्वयं शंभावयितृत्वगुणस्य विद्यमानत्वात्।

भवति चात्रास्माकम्—

शम्भोः कृतिर्नैव तथाविधाऽस्ति परस्परं या सुखयेन्न कामम्।
न तत्कृतौ दोषलवोऽप्यनक्ति यतः स शम्भुस्तमसोऽस्ति पारे ॥५१॥

आदित्यः—३९

आदित्यः कस्मात्? आदत्ते रसान् भुवो रश्मिभिः। आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। तथा च ब्राह्मणम्– "*उद्यन्तं वा आदित्यमग्निरनुसमारोहति तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे*" आदिप्तो भासेति वा। अदितेः पुत्र इति वा। दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः (पा० ४-१-८५) इत्यनेनादिति-शब्दादपत्यार्थे ण्यः-प्रत्ययः। तथा च ब्राह्मणम्– '*अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत्*—

भक्तों के सुख की भावना करता है, वह शम्भु अथवा जो (भक्तों के लिये सुखरूप होता है, वह शम्भु। यहां सम् पूर्वक भू धातु से 'मितद्र्वादिभ्यः' इत्यादि वार्तिक से डु प्रत्यय हुआ है। वेद के— 'शन्नः क्षेत्रस्य' इत्यादि मन्त्र से इस अर्थ की पुष्टि होती है। भगवन् शम्भु ने इस जगत् मे जो निर्मित किया है वह सब निर्विकल्प और परस्पर सारे जगत् के सुख के लिये ही किया है। क्योंकि—उस कर्ता में स्वयमेव सुख की भावना के गुण विद्यमान हैं। यह पद्य में इस प्रकार वर्णित है—

शम्भु की कृति ऐसी नहीं है कि जो परस्पर सुख प्रदान नहीं करती हो। इसी प्रकार उसकी कृति में दोष का लेश भी नहीं है, क्योंकि वह शम्भु तम-अज्ञान से परे है ॥५१॥

आदित्यः—३९

आदित्य नाम सूर्य वा सौरमण्डलाधिष्ठाता विष्णु का है। सूर्य को आदित्य क्यों कहते हैं। इसलिये कि वह अपनी किरणों द्वारा रसों का ग्रहण करता है, अथवा अत्यन्त तेजस्वी होने से दूसरी ज्योतियों के तेज का ग्रहण=अभिभव करता है, इसी अर्थ को "उद्यन्तं वाऽऽदित्यमग्निरनुसमारोहति" इत्यादि ब्राह्मण वचन प्रमाणित करता है। अथवा सब ओर से ज्योति से व्याप्त है। अथवा अदिति का पुत्र है, इस अर्थ में अदिति शब्द से "दित्यदित्यादित्येत्यादि पा० सूत्र से अपत्यार्थ में ण्यप्रत्यय होता है, इस अर्थ में "अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत्" इत्यादि ब्राह्मण वचन प्रमाण है।

तस्यै चत्वार आदित्या अजायन्त' इत्युपक्रम्य ततो विवस्वानादित्योऽजायत' इति। (तै० सं० ६-५-६)। अदितिशब्दादल्पशो ढगंपि दृश्यते। तद्यथा-ऋग्वेदे—

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित प्रापश्यन् भुवनानि विश्वा॥ (ऋग्० १०-८८-११)

सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते, "वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ती"ति पातंजलमहाभाष्ये (१-४-६)। "बहुलं छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ती"ति पातंजलमहाभाष्ये ३-१-८५। एवमन्यासामपि देवतानामादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। तद्यथैतन्मित्रस्य वरुणस्य अर्यम्णो दक्षस्य भगस्य अंशस्येति (नि० २-१३)। तत्रादित्या द्वादश, मासानां द्वादशत्वात्। तत्रापि च ते द्वादश मासा षड्तून् जनयन्ति द्वाभ्यां द्वाभ्यां मासाभ्याम्। मन्त्रलिंगं च—

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवी नो दुहाताम्॥ (अथर्व० १२-१-३६)

ते च षडर्त्तवश्चक्रं वृत्तं संवत्सरं वा जनयन्ति, तत्र षष्ट्युत्तराणि त्रीणि शतानि (३६०) दिनानि अंशा वा भवन्ति। मन्त्रलिंगं च—

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीरवीविपत्।
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवा कुमारः प्रत्येत्याहवम्॥ (ऋग् १-१५५-५)

चतुर्गुणिता नवतिः (९०×४=३६०) समाना भवति षष्ट्युत्तरेण शतत्रयेण। तत्र त्रिंशदंशको राशिर्भवति मार्ग-गणनया, कालगणनया त एवांशा दिनेन दिनपर्यायवचनैर्वा व्यवहारं प्राप्नुवन्ति। यथेष्टमृतुमधिकृत्य संवत्सरस्य नाम–

उसी ब्राह्मण में "तस्यै चत्वार आदित्या अजायन्त" इस प्रकार आरम्भ करके "ततो विवस्वानादित्योऽजायत" तै० सं० ६-५-६ में ऐसा कहा है। अदिति शब्द से अपत्यार्थ में बहुत कम रूप में ढक् प्रत्यय भी देखने में आता है, जैसे ऋग्वेद में "यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयमित्यादि। ऋक् १०-८८-११॥ क्योंकि "वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति" पातञ्जल भाष्य वाक्यानुसार वेद में सब कार्य विकल्प से होते हैं। पातञ्जल-महाभाष्य का एक और वाक्य भी 'बहुलं छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति" इसी अर्थ का प्रतिपादन करता है। दूसरे देवताओं की भी स्तुतियां आदित्य नाम से होती हैं, जैसे निरुक्त के वचनानुसार मित्र, वरुण अर्यमा, भग, दक्ष, अंश, इन सब की स्तुति आदित्य नाम से की जाती है।

बारह १२ मासों के सम्बन्ध से आदित्यों की संख्या भी बारह है. और ये द्वादश मास दो-दो मिलकर छः ६ ऋतुओं का निर्माण करते हैं तथा सब ऋतु मिलकर एक सम्वत्सर का निर्माण करती हैं. जिसका दूसरा नाम चक्र, मावृत्त भी है, उसी सम्वत्सर के ३६० दिन या अंश होते हैं, इस अर्थ को "चतुर्भिः साकं नवतिञ्च नामभिरित्यादि" १-१५५-५ ऋग्वेद मन्त्र प्रमाणित करता है। नव्वे ९० को ४ के अङ्क से गुणा करने पर ३६० बन जाते हैं। तीस तीस अंश की एक एक राशि होती है। मार्ग या काल गणना से वे अंश ही दिन या दिनपर्य्याय वचनों से व्यवहृत होते हैं। वर्षा और शरद् यद्यपि

कल्पनं कर्त्तुं शक्यते । तद्यथा – वर्षर्तुमधिकृत्य—"वर्षमेकमभू"दित्युक्तं भवति। तद्यथा—वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृते"त्येवमादिः (अथर्व० १२-१-५२) । शरदमधिकृत्य—जीवेम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात् (यजुर्वेद ३६-२४) । हेमन्तमधिकृत्य–इन्धानस्त्वा शतꣳहिमा ऋधेम (अथर्व० १९-६-४) । हेमन्तशिशिरौ तुल्यप्रभावत्वात् समासेनैकः । इतरे–चत्वारस्त अरभूता यस्य तत्पंचारः, तस्मिन् चक्रे संवत्सराख्ये । मन्त्रलिंगं च –

पंचारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥
(ऋग्० १-१६४-१३)

नाक्षः, आदित्यः सनाभिः=नाभिस्त्रय ऋतवो–ग्रीष्मो–वर्षा–हेमन्त इत्येते । पंचर्तवः संवत्सरस्य (ऐत० ब्रा० १-१) संवसन्तेऽस्मिन् भूतानीति संवत्सरः, संवासो मैथुनं तद् भूतानि संवत्सरे कुर्वन्ति नान्यत्र संवत्सरादन्यस्य कालस्याभावात् । सनादेव स सूर्यस्तपति न शीर्यते । हेमन्तशिशिरयोः समासेन पंचर्तुः संवत्सर उक्तो भवति । यत्तु पूर्वमुक्तम्–आदित्या द्वादश मासानां द्वादशत्वात्, तदभिधायिनीयमृक्—

पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥
(ऋग्वेदे० १-१६४-१२)

पंचर्तवः पादा यस्य स पंचपादस्तं पितरं पातारं वा सर्वस्य द्वादशाकृतिं द्वादशमासा आकृतिराकारो यस्य स द्वादशाकृतिस्तं दिवो द्युलोकस्य परे अर्धे परस्मिन्नर्धे यः स्थित आदित्यस्तत्र पुरीषिणं पुरीषमित्युदकनाम तद्वन्तमर्थात् वृष्ट्युदकवन्तं संवत्सरमाहुरर्पितमादित्यं वा, अथेमे अन्ये उपरे उपरि स्थितं विचक्षणं विविधदर्शनकरमादित्यं सप्तचक्रे चक्रं चकनात् चरणात् क्रमणाद्वा,

ऋतुओं के नाम हैं किन्तु संवत्सर भी वर्ष वा शरद् नाम से कहा जाता है, ऋतु के सम्बन्ध से सम्वत्सर भी ऋतु के नाम से कहा जाता है, जैसा कि अथर्ववेदवचन 'वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृते' तथा यजुर्वेद वचन "जीवेम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्" इत्यादि है । हेमन्त से अथर्व में 'शत हिमा ऋधेम' कहा है षड् ६ ऋतुओं की बजाय पञ्च ऋतुओं का वर्णन भी वेद में मिलता है, वहां तुल्य गुण होने से हेमन्त और शिशिर को एक ही ऋतु माना जाता है । वहां इस सम्वत्सर को पञ्चार नाम से कहा गया है, जैसा कि "पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने इत्यादि में सम्वत्सर का पञ्चार नाम से वर्णन मिलता है ।

यहां सम्वत्सर रूप चक्र के अरों के रूप में पञ्च ऋतुओं का ही वर्णन मिलता है । ऐतरेय ब्राह्मण भी सम्वत्सर को "पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति" ऐत० ब्रा० १-१ । पञ्च ऋत्वात्मक प्रतिपादन करता है । जिस में सब भूत प्राणी संवास करते हैं, उसका नाम सम्वत्सर है, अथवा संवास नाम मैथुन का, वह जिस में किया जाता है उसका नाम सम्वत्सर है ।

चक्रा रश्मयः ते च सप्त, आदित्येन सम्बद्धत्वात् सप्तचक्रः सूर्यस्तस्मिन् सप्तचक्र आदित्ये। षडरे षड्भिररभूतैर्ऋतुभिर्युक्ते संवत्सरे चक्रे आहुरर्पितम्। संवत्सर-आदित्यौ परस्परमायत्तौ स्तः, तद्यथा—संवत्सरस्तावदहोरात्राभ्यां निर्वत्यंते। तेन संवत्सर आदित्यायत्तः। संवत्सरावयवभूतैः षडर्तुभिस्तावदस्यादित्यस्य तीव्र-त्वमन्दत्वे क्रियेते तस्मात् संवत्सरायत्त आदित्यः। गतेश्च कालवैषम्यं दक्षिणोत्तरादि-दिग्गमनभेदश्चेति, अत एतदुक्तं भवति संवत्सरायत्त आदित्य इति। द्वादशमासा आदित्या वा षडृतवश्च तुलनापुरःसरं प्रदर्श्यन्ते तद्यथा—

राशयः—मीनः, मेषः, वृषः, मिथुनः, कर्कः, सिंहः, कन्या, तुला, वृश्चिकः, धनुः, मकरः, कुम्भः, इति द्वादश। मासाः–चैत्रः, वैशाखः, ज्येष्ठः, आषाढः, श्रावणः, भाद्रपदः, आश्विनः, कार्त्तिकः, मार्गशीर्षः, पौषः, माघः, फाल्गुनः, इति द्वादश।

आदित्यानां वैदिकनामानि—

बारह १२ मासों के सम्बन्ध से आदित्यों को १२ बतलाने वाली यह ऋचा है, पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिमित्यादि। ऋग्वेद १-१६४-१२। पञ्च ऋतु जिस के पादरूप हैं, पिता, नाम रक्षा करनेवाले का है, द्वादश मास ही जिसके आकार हैं, तथा पुरीषी नाम वृष्टिसम्बन्धी उदक=जलवाले का है क्योंकि द्युलोक के परार्ध भाग में स्थित आदित्य, वृष्टि सम्बन्धी जल से युक्त होता है। सप्त चक्र नाम आदित्य का है, चक्र चङ्क्रमण करने से या चलने से, क्योंकि वे बहुत दूर तक फैल जाती हैं, इसलिये किरणों का है. वे संख्या में सात ७ हैं। षडर नाम सम्वत्सर चक्र का है, क्योंकि यह सम्वत्सर रूप चक्र ऋतु रूप छः ६ अरों से युक्त होता है। सम्वत्सर और आदित्य परस्पर में सम्बद्ध हैं, जैसे कि दिन और रात्रिगण से सम्वत्सर बनता है, दिन रात्रि सूर्य से बनते हैं, इसलिये सम्वत्सर आदित्य से सम्बद्ध है। इसी प्रकार सम्वत्सर के अवयव भूत षट् ऋतुओं के सम्बन्ध से आदित्य की तीव्रता तथा मन्दता होती है, इसलिये आदित्य सम्वत्सर से सम्बद्ध है। सूर्य की गति से ही काल का विषम भाव, तथा दक्षिणोत्तरादि दिशाओं का भेद होता है, इसलिये सम्वत्सर सूर्य के आधीन है। अर्थात् सम्वत्सर का स्वरूप्रतिपादक ही सूर्य है।

मास और आदित्यों की परस्पर तुलना तथा ऋतु समेत इनके वैदिक नाम इस प्रकार हैं जैसे—

राशि–मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन इस प्रकार से बारह १२ हैं।

तथा मास —

चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन इस प्रकार १२ हैं।

आदित्यों के वैदिक नाम इस प्रकार है—

धाता, अर्यमा, मित्रः, वरुणः, इन्द्रः, विवस्वान्, दक्षो वा ।
पूषा, पर्जन्यः, अंशः, भगः. त्वष्टा, विष्णुः, इति द्वादश ॥

याजुषा ऋतवः—मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू, (यजुः १३-२५) । शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू, (यजुः १४-६) । नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू, (यजुः०१४-१५) इषश्चोर्जश्च शारदावृतू, (यजुः १४-१६) । सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू, (यजुः० १४-२७) । तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू, (यजुः० १५-५७) इति षड्तवः, याथक्रमं मासानां वैदिकनामानि चानुस्मर्तव्यानि ।

तिसृषु प्रधानदेवतासु द्युस्थानीया देवता सूर्य-नाम्ना प्रार्थ्यते, तद्यथा—

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् ।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः । (ऋग्० १०-१५८-१)

स्पष्टार्थोऽयं मन्त्रः । आदित्य एषां भूतानामधिपतिः (ऐत० ब्रा० ७-२०) । एतेन द्वादश आदित्याः सामान्येन प्रार्थिता भवन्ति । पृथक् पृथक् नामतोऽपि प्रार्थ्यन्ते च, तद्यथा—

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ।
(ऋग्० १-९०-९)

तदेतद् भेदेन चाथर्वणि—

शन्नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो भवत्वर्यमा ॥
(अथर्व० १९-९-६)

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वान् शमन्तकः ।
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः ॥
(अथर्व १९-९-७)

दिविचरा ग्रहाः केन विधिनाऽस्मत्कृते शंकरा भवन्तु-इति विज्ञापकं शास्त्रं

धाता अर्यमा, मित्र, वरुण, इन्द्र, विवस्वान्, वा दक्ष, पूषा, पर्जन्य, अंश, भग, त्वष्टा, विष्णु । यजुर्वेद मन्त्र १३-२५ में ऋतुओं के वैदिक नाम इस प्रकार हैं—

वसन्त ऋतु मधु माधव । ग्रीष्म-शुक्र और शुचि । वर्षा-नभ और नभस्य । शरद्-इष और ऊर्ज । हेमन्त-सह और सहस्य तथा शिशिर-तप और तपस्य ।

तीन प्रधान देवताओं में द्युस्थानीय देवता सूर्य को माना है । 'सूर्यो नो दिवस्पातु' इत्यादि मन्त्र से सूर्य की स्तुति द्युस्थानीय प्रधान देवता के रूप में प्राप्त होती है । पृथक्-पृथक् नामों से भी स्तुति वेदों में की गई है जो 'शं नो मित्रः' इत्यादि मन्त्रों में दर्शनीय है । आकाश में विचरण करने वाले ग्रह किस विधि से हमारे लिये सुख कारक

ज्यौतिषं नाम, तत्र कथं कृत्वा ग्रहा जातकाय शुभाशुभस्य दातारो भवन्तीति विज्ञापकं शास्त्रं गणितमनुसृत्य प्रवृत्तं होराशास्त्रमिति नाम्ना व्यवह्रियते। तस्मात् तत्सर्वकेन नूनं पठनीयम्।

शन्नो भगः, (ऋग्० ७-३५-२)। *शन्नो धाता* (ऋग्० ७-३५-३)।

मित्रस्यैकस्यादित्यप्रवादा स्तुतिः—

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥
(ऋग्० ३-५९-२)

अथापि वरुणस्यैकस्य आदित्यप्रवादा स्तुतिः—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥
(ऋग्० १-२४-१५)

आदित्यमधिकृत्यैषा स्तुतिः—

एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्णज्योतिः।
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः॥ (ऋग्० ४-१०-३)

भावार्थः—हे अग्ने! स्वर्णज्योतिः! आदित्यभास्वर इत्यर्थः। विश्वेभिः सर्वैरनीकैर्ज्वलनैसुपेतस्त्वमस्माकमर्वाङ् सुमना भव, अस्मत्कृते प्रसादपरो भवेति। सूर्यो हि सर्वेषामग्नीनामधिपतिरिति कृत्वाग्नेरर्चिरूर्ध्वमेति, नियमश्चायं—यो हि यस्य विकारो भवति स तमन्वेति, यथा वत्सो मातरमन्वेति पितरं च। अस्यां भूमौ न हि सर्वत्र पंच षड्वा ऋतवो भवन्ति, कथं तत्रैषा द्वादशादित्यानां योजना भविष्य-तीत्येतस्य प्रश्नस्य समाधानमेनेन विधिना कर्तव्यं भवति। यद् आदित्यानां

होते हैं। इस बात को बतलाने वाला शास्त्र ज्योतिष शास्त्र' कहलाता है। और ग्रह किस प्रकार जातक के लिये शुभाशुभ फल के दाता होते हैं इस बात को गणित के आधार पर बतलाने वाला शास्त्र होराशास्त्र कहा जाता है। अतः यह सब को जानना चाहिये। वेदों में अनेक मन्त्रों द्वारा आदित्य की विविधरूप मे स्तुति प्राप्त होती है जो 'शंनो भगः' इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट है। इतना ही नहीं ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में आदित्य को ही मित्र, वरुण एवं अन्य देवरूप मानकर भी स्तुतियां की गई हैं। एक मन्त्र में वहां कहा गया है कि—हे स्वर्णज्योति अग्नि, आदित्य के समान भास्वर, आप अपनी समस्त ज्वालामालाओं से युक्त होकर हमारे लिये सुखकारी बनो। सूर्य समस्त अग्नियों का अधिपति है, यही कारण है कि अग्नि की ज्वालाएं ऊपर की ओर उठती हैं। इस सम्बन्ध में नियम यह है कि—'जो जिसका विकार होता है वह उसका अनुगमन करता है।' जैसे बछड़ा अपनी माता के प्रति आकृष्ट होता, बालक भी अपनी माता के प्रति आकृष्ट होता है।

इस भूमि पर सर्वत्र पांच या छः ऋतुएं नहीं होती हैं, फिर इन बारह सूर्यों की योजना किस प्रकार होती है? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार होता है—जहां आदित्य को

द्वादशाकृतयो यत्र दृश्यन्ते तत्स्थानमुत्सर्गभूतम्, शेषं स्थानमात्रमपवादमिव, यथा कर्मण्यण् (पा० ३-२-१) इत्यत्र "अण्" उत्सर्गप्रत्ययः शेषा अपवादभूता, यथा आतोऽनुपसर्गे कः (पा० ३-२-२) इत्येवमादयः । दृश्यते च देशभेदात्तत्रत्यानां शरीर वर्ण-बल-बुद्ध्यादीनां भेद इति ।

यत्तु पूर्वमुक्तं सप्तचक्रः सूर्यः, सप्तरश्मयः सूर्य इति, तदभिधायिनीयमृग् भवति—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥
(ऋग् १-१६४-२)

सारार्थतः—नहि सूर्यमन्तरा संवत्सरमन्तरा वा विश्वेषां भूतानां स्थितिरिति कृत्वा 'आदित्यः' स भगवानेव, नहि तं विना सूर्यस्यापि स्थितिरिति, उक्तं—'*तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम्*' (यजुः २५-१८) । "ईशानः" इति विष्णु-नामसु पठितमास्ते । इति दिङ्मात्रमुक्तम् ।

वक्तव्यम्—यो यद्भाव्यमिच्छति तेन भावुकेन तथाविधः स आदित्यगुणो विष्णुर्मनसि स्मरणीय आचरणेनाचरितव्यस्तदा स भक्तस्तैर्गुणैर्गुणितः सन् आदित्यभूयाय कल्पते । आत्ययिके कार्येऽभ्यासे वा कृत्रिमा ऋतवोऽपि कल्प्यन्ते । यस्मिन् मासे दिने घट्यां पले वा यो जातक उत्पद्यते स तस्मिन् मासे दिने घट्यां

बारह आकृतियां दिखाई देती हैं वह स्थान उत्सर्गभूत है शेष सब स्थान मात्र अपवादभूत हैं । जैसे व्याकरण में 'कर्मण्यण्' सूत्र द्वारा विहित अण् प्रत्यय उत्सर्गभूत है तथा शेष अन्य प्रत्यय अपवादभूत हैं जैसे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इस सूत्र से विहित क प्रत्यय आदि । इसी प्रकार हमें देश भेद के आधार पर वहां के निवासियों के शरीर, वर्ण बल और बुद्धि आदि में भी भेद दिखाई देता है ।

हमने जो सूर्य के सात चक्रों के बारे में तथा सात रश्मियों के बारे में कहा है, उस सम्बन्ध में ऋग्वेद का—'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रं'–इत्यादि मन्त्र प्रमाण है । सारांश यह है कि 'सूर्य' के बिना अथवा संवत्सर के बिना समस्त भूतों की स्थिति नहीं हो सकती है अतः वह 'आदित्य' भगवान् ही है । उसके बिना सूर्य की भी स्थिति सम्भव नहीं है, जैसा कि—'तमीशानं जगतः' इत्यादि मन्त्र में कहा गया है । यहां प्रयुक्त 'ईशान' नाम भी विष्णु का ही नाम है जो उक्त नामों में पठित है ।

भाष्यकार यहां कहते हैं कि —'जो व्यक्ति जैसा बनना चाहता है उस भावुक को वैसा आदित्य गुणरूप विष्णु का मन में स्मरण करना चाहिए तथा वैसा ही आचरण करना चाहिये तब वह भक्त उन गुणों से युक्त होकर आदित्य (सूर्य के समान) बनने के लिए प्रयत्नशील होता है । अत्यावश्यक कार्य में अथवा अभ्यास में कृत्रिम ऋतु भी बनाई जाती हैं । जिस मास, दिन, घटी अथवा पल में जो जातक उत्पन्न होता है वह उस मास, दिन, घटी अथवा

पले वा प्राप्ते स्वकमेकं वर्षं चक्रं संवत्सरं वा पूरयति। एतेषां द्वादशादित्यानां परस्परमुत्पाद्योत्पादकभावं विज्ञानवत प्राणिमात्रस्य शुभाशुभं सुज्ञानं भवति। एतज्ज्ञानप्रकारं पृथक् प्रबन्धे वक्ष्यामः, अतितरां विस्तृतत्वात् तस्य।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

एको हि सूर्यः सवितेति नाम्ना नामानि चाप्नोति पृथक् पृथक् सः।
धाताऽर्यमा-मित्र इतीरणानि चैत्रादिमासेषु यथोदितानि ॥५२॥

उत्सर्गवन्मासयुगेन चर्तुः शीतोष्णवर्षेषु च ते ह्रसन्ति।
यथाक्रमं गौर्ऋतवोऽपि भिन्ना भिन्नास्तथाऽऽयुर्बलवर्णदेहाः ॥५३॥

एको हि सूर्यः सवितेति नाम्ना निजांशुभी राशिगुणान् भिनत्ति।
तत्राऽस्थिताः शेषखगाः समस्ता व्यस्ताश्च ब्र भेदमुदीरयन्ति ॥५४॥

ह्रसन्ति लाघवं प्राप्नुवन्ति।

संवत्सरो द्वादशमासचक्रो मासोदयः सूर्यवशेन तस्मिन्।
संवत्सरार्कौ परियात इत्थं परस्परं वेदवचः प्रमाणम् ॥५५॥

स एव तिग्मांशुरनन्तवीर्यो यः स्थापयत्यात्मनि भूतमात्रम्।
न यद्विना भाति स भास्वरोऽपि सोऽस्त्यत्र चाऽऽदित्यपदेन विष्णुः ॥५६॥

पल के प्राप्त होने पर अपना एक वर्ष, चक्र अथवा संवत्सर को पूर्ण करना है। इन द्वादशादित्यों का परस्पर उत्पाद्य–उत्पादक भाव जानने वाले के लिए प्राणिमात्र के शुभाशुभ का ज्ञान सरल हो जाता है। इस ज्ञान के प्रकार पृथक् प्रबन्ध में कहेंगे क्योंकि वे अत्यन्त विस्तृत हैं। उपर्युक्त कथन का सारांश निम्न पद्यों में इसप्रकार संगृहीत है—

सविता नाम वाला एक ही सूर्य पृथक्-पृथक अनेक नामों को प्राप्त होता है। धाता, अर्यमा, मित्र आदि नाम जिस प्रकार यथाक्रम चैत्रादिमास के सूर्यों के हैं ॥५२॥

उत्सर्ग के समान दो मास में एक ऋतु शीत, बनती है उष्ण, वर्षा के भेद से इन तीन में संक्षिप्त हो जाती है। जैसे सूर्य की किरणें घूमती हैं उसी प्रकार ऋतुयें भी परिवर्तित होती रहती हैं और यही कारण है कि उनसे देश भेद होता है तथा वहां के निवासियों की आयु, बल, वर्ण और शरीर भीभिन्न-भिन्न होते हैं ॥५३॥

एक सूर्य सविता इस नाम से अपनी किरणों के द्वारा राशिगत गुणों को पृथक् करता है और उन-उन राशियों पर स्थित ग्रह भी विभिन्न गति के कारण भेद को प्रकट करते हैं ॥५४॥

संवत्सर तथा बारह महीनों का चक्र और इसमें सूर्य के आधार पर होने वाला मासोदय इस प्रकार संवत्सर एवं सूर्य परस्पर एक दूसरे का पोषण करते हैं इसमें वेदवचन प्रमाण है ॥५५॥

वही अनन्तवीर्य सूर्य है जो अपने में प्राणिमात्र को स्थापित करता है। तथा जिसके बिना तेजोमय होते हुए भी प्रकाशित नहीं हो सकता वही विष्णु यहां आदित्य पद से सम्बोधित है ॥५६॥

आदित्यानामहं विष्णुः (गीता १०-२१)।

आरोग्यं भास्करादिच्छेत्, मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात्।
ईश्वराज्ज्ञानमिच्छेच्छ्रियमिच्छेद्धुताशनात् ॥ इति च प्रवादः।

अथर्वणि द्वादशादित्यनाम्नां व्यवहारो यथा—

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः।
इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुंचन्त्वंहसः ॥१॥
ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम्।
अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुंचन्त्वंहसः ॥२॥
ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम्।
त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुंचन्त्वंहसः ॥३॥
गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम्।
अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुंचन्त्वंहसः ॥४॥
अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा।
विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुंचन्त्वंहसः ॥५॥
(अथर्व० ११।६।१-५)

पुष्कराक्षः—४०

पुष्करमति। पुषः कित् (उ० ४-४) इत्यनेनौणादिसूत्रेण करन् प्रत्ययः किच्च स भवति। पोषति पुष्णाति वा पुष्करम्। अन्तरिक्षम्, कमलम्, उदकम् वा।

पुष्करमित्यन्तरिक्षनामसु निघण्टौ। अन्तरिक्षं हि सर्वं पुष्णाति धारणं वा करोतीति कृत्वान्तरिक्षं पुष्करम्। पुष्करेऽन्तरिक्षेऽक्षीणि यस्य स पुष्कराक्षो विष्णुः। मन्त्रलिंगं च—

गीता में भगवान् ने कहा है कि कि मैं 'आदित्यों में विष्णु हूँ' तथा आरोग्य की इच्छा रखनेवाला आदित्य की उपासना करे, मुक्ति की इच्छा रखनेवाला जनार्दन की उपासना करे, ज्ञान की इच्छावाला शिव की तथा लक्ष्मी की इच्छावाला अग्नि की उपासना करे, ऐसी भी प्रसिद्धि है। इसीप्रकार अथर्ववेद में भी बारह आदित्यों के नाम का व्यवहार— 'अग्निं ब्रूमो' इत्यादि मन्त्रों में हुआ है।

पुष्कराक्षः=कमल के समान नेत्रवाला।

पुष्कर शब्द की सिद्धि पुष् धातु से औणादिक सूत्र द्वारा 'करन्' प्रत्यय होने से मानी गई है। पुष्ट करना या पुष्ट होना पुष्कर शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है। कोष के आधार पर पुष्कर का अर्थ है—आकाश कमल अथवा जल। निघण्टु में पुष्कर को अन्तरिक्ष के नाम में कहा है। तदनुसार अन्तरिक्ष सबका पोषण करता है अथवा धारण करता है, इसलिए इसे पुष्कर कहा गया है। अन्तरिक्ष में आँखें (सूर्य—चन्द्र) हैं जिसकी वह पुष्कराक्ष—विष्णु। इस

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
(अथर्व १०-७-३३)

बृहत्वाद् ब्रह्मणस्तस्याक्ष्णोरपि कल्पना तस्य सर्वत्र दृष्टेः सादृश्याव्यं विज्ञापयितुमेव। एवं स विष्णुः सूर्यचन्द्रमसोर्योगात् सर्वदृगपि भवति। वक्ष्यति च पंचत्रिंशत्तमे श्लोके, नवनवत्युत्तरमेकशततमं नाम १९९ सर्वदृक् इति। एतेन सर्वदृगपि व्याख्यातं भवति ॥

भवति चात्रास्माकम्—

व्योम्नोऽपरं पुष्करमत्र नाम तस्मिन् स्थितौ रात्रिदिवाधिनाथौ।
तावक्षिणी यस्य स पुष्कराक्षः स सर्वदृक् सर्वगतोऽस्ति विष्णुः ॥५७॥

अनेकार्थपर्यायः पुष्करशब्दः। तद्यथा वचनम्—

करागं करिणां व्योमकुशेशयमसेः फलम्।
आननं चानकादीनां ब्रुवते पुष्करं बुधाः ॥

इति नारायणश्वेतवनवासिभ्यामुद्धृतः श्लोकः। भेरी–पटहमानकौ—
(अमरे–नानार्थवर्गे श्लो० ३)

महास्वनः—४१

महानूर्जितः परेषां पराभवकर्त्ता स्वनो नादो यस्य स महास्वनः इत्यनेनोत्तरोत्तरं यथाबलं नादवति ब्रह्म एवेति विज्ञापितं भवति, महांश्चासौ नादः, सन्महत्परमोत्त-

---

सम्बन्ध में 'यस्य–सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च' इत्यादि मन्त्र प्रमाणरूप हैं। ब्रह्म के बृहद्रूप होने से उसके नेत्रों की भी कल्पना वैसी ही बृहद् की गई है। तथा वह विष्णु सूर्य और चन्द्रमा रूप नेत्रों के योग से सर्वदृक् माना जाता है। जिसे अग्रिम १९९ संख्यक नाम में कहेंगे। उपर्युक्त भावों को भाष्यकार ने श्लोकबद्ध इस रूप में किया है—

व्योम का दूसरा नाम पुष्कर है तथा उस आकाश में चन्द्र और सूर्य निवास करते हैं जो कि उस विष्णु के दो नेत्र हैं अतः वह पुष्कराक्ष कहलाता है, वही विष्णु सर्वदृक् और सर्वगत भी है ॥५७॥

पुष्कर शब्द के अनेक अर्थों के सम्बन्ध में नारायण और श्वेतवनवासी ने एक पद्य उद्धृत किया है जिसमें—हाथी की सूंड, व्योम, कमल, तलवार का अग्रभाग और आनकादि वाद्यविशेषों का मुख ये अर्थ किए गए हैं।

महास्वनः= वेदरूप अत्यन्त महान् घोषवाला।

महान् ऊर्जित, शत्रुओं का पराभव करने वाला नाद है जिसका वह है—महास्वन। इस व्युत्पत्ति के आधार पर उत्तरोत्तर बलानुरूप नाद वाला ब्रह्म ही विज्ञापित होता है। इस पद की सिद्धि में व्याकरण के 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्ट' इत्यादि सूत्र से समास हुआ है। लोक

मोत्कृष्टाः पूज्यमानैः (पा० २-१-६१) इत्यनेन समासे कृते, आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः (पा० ६-३-४६) इत्यनेन महतस्तकारस्यात्त्वम्। लोकलोकान्तराणां महता वेगेन भ्रमणेन यो नाद उत्पद्यते स महान् नादोऽपि ब्रह्मण्येव लीयते ततोऽपि परं तस्य महतः स्थानमिति, तं लोकभ्रमणोद्भवं नादं सर्वत्र सर्वदा बोभूयमानं दृष्ट्वा स नादस्तस्मिन् इति कृत्वा स महानादो विष्णुरित्येव, नादस्य सर्वत्र व्यापकत्वात्। लोकेऽपि च पश्यामः—यन्त्रागारे भूयमाने नादं उपांशुवचांसि न श्रूयन्ते। कुतः? तस्मिन् कक्षे नादस्य विद्यमानत्वात्, अमुथैव नादो ब्रह्म तत्र महत्त्वं पुनस्तस्यैवेति कृत्वा महास्वनो विष्णुरुक्तो भवति॥ वर्षास्विन्द्रस्य वज्ररूपे विद्युतः पतनकाले यो हृदयविकारको विदारको वा नादो भवति स महानूर्जितः स्वनोऽपि तस्य भगवत एव। तथा च वेदः—

शन्नः कनिक्रदद्देवः (यजु० ३६।१०)

भवति चात्रास्माकम्—

यो लोकलोकान्तरवृत्तजन्यः स्वनो महान् तेन महास्वनेन।
धृतोऽस्ति यस्मात् स महास्वनोऽस्ति, यथोत्तरं नादबलं स एव॥५८॥

अनादिनिधनः—४२

आदिः, आङ्पूर्वाद् ददातेः 'उपसर्गे घोः किः' (पा० ३-३-९२) इत्यनेन कि—प्रत्ययात् आदि-शब्दः सिद्ध्यति। आदि न विद्यते यस्य सोऽनादिः, मन्त्रलिंगं च—

लोकान्तरों में अत्यन्त वेग के साथ भ्रमण करने से जो नाद उत्पन्न होता है, वह महान् नाद भी ब्रह्म में ही लीन होता है और उससे भी बढकर उस महत् का स्थान है। उस लोक भ्रमण जन्य नाद को सर्वत्र सर्वदा होता हुआ देखकर तथा वह नाद उसमें ही निहित है इस प्रकार निश्चित करके और वह महानाद विष्णु ही है क्योंकि जिस प्रकार विष्णु व्यापक है उसी प्रकार यह महानाद भी व्यापक है, अतः विष्णु ही महानाद रूप है यह निर्णय करते हैं। जैसा कि हम लोक में अनुभव करते हैं कि किसी कारखाने में बड़ा नाद हो रहा हो तो वहां हम आपस में जो बात चीत करते हैं वह सुनाई नहीं देती। क्योंकि वहां महानाद विद्यमान रहता है। इसीप्रकार नाद जो ब्रह्म है वहां उसका ही महत्त्व है इसलिए महास्वन शब्द से विष्णु ही उक्त है। वर्षा के समय में इन्द्र के वज्ररूप बिजली की जो कड़कड़ाहट पूर्ण हृदय में विकार पहुँचाने वाली अथवा हृदय-विदारक आवाज होती है वह भी महान् ऊर्जित नाद उस परमात्मा का ही है। 'शं नः कनिक्रदद् देवः' इत्यादि मन्त्र इस में प्रमाण है। उपर्युक्त कथन का सारांश भाष्यकार ने पद्य में इस प्रकार ग्रथित किया है—

जो लोक और लोकान्तर में भ्रमण करने से उत्पन्न महान् नाद होता है वह उस महास्वन रूप परमात्मा के द्वारा धृत है, अतः वह 'महास्वन' कहलाता है और उत्तरोत्तर नाद का बल भी वही है ॥५८॥

४२ अनादि-निधनः=जन्म, मृत्यु से रहित।

आङ् उपसर्गपूर्वक दा धातु से कि प्रत्यय से आदि शब्द बनता है। जिसका आदि नहीं वह है

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ (अथर्व० १०-७-३१)

सनातनो हि सः, मन्त्रलिंगं च—

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्योऽन्यस्य रूपयोः ॥ (अथर्व० १०-८-२३)

आदिर्जन्म तन्न विद्यते यस्य स अनादिः=अजन्मा । मन्त्रलिंगं च—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः । (यजुः० ३२-३)

पुत्रेण पिता प्रतिमीयते, पितुः सत्तायाः पुत्रात् पूर्वं सद्भावात्, महन्नामवतो यशोनामवतो वा न कोऽपि प्रमाताऽस्ति तस्मादप्रतिमः सन् सोऽनादिः ।

निधनम्–निपूर्वात् डुधाञ् धारणपोषणयोः जौहोत्यादिकस्तस्मात् क्युः प्रत्यय औणादिको यथासूत्रम्—

कृपृवृजिमन्दिनिधाञ्भ्यः क्युः (उ० २-८१) निदधातीति निधनम् ! विनाशः । उणादिषु बहुलवचनात् केवलादपि डुधाञः क्यु-प्रत्ययात्—धनमित्यपि सिद्ध्यति । धन-शब्दः प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः । 'रत्नधातमम्' रमणीयानां धनानां दातृतमम् इति निरुक्तम् (७-१५) । निपूर्वो धाञ् विनाशवृत्तिः, 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते' इति न्यायात् ॥ छन्दोविषयं विना युच्प्रत्ययस्य सद्भावात् निधानमित्येव ॥

तथा च कोषः—

स्यात् पंचता कालधर्मो दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः ।
अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियाम् ॥
(अमरः कां–२, क्षत्रियवर्गः, श्लो० ११६)

अनादि । इस सम्बन्ध में अथर्व मन्त्र— 'नाम नाम्ना जोहवीति' इत्यादि प्रमाण है । अनादि का अर्थ होता है सनातन । वह परमात्मा सनातन है यह भी अथर्व मन्त्र —'सनातनमेनमाहुरुत इत्यादि से स्पष्ट है । आदि का अर्थ जन्म लिया जाय तो वह परमात्मा जन्म रहित-अनादि है इस सम्बन्ध में 'न तस्य प्रतिमा' इत्यादि याजुषमन्त्र प्रमाणभूत है । पुत्र से पिता का अनुमान किया जाता है क्योंकि पुत्र से पूर्व पिता की सत्ता विद्यमान रहती है । महत् या यश नाम वाले उसका कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए वह परमात्मा अप्रतिम है और यही कारण है कि वह अनादि है । इसी प्रकार नि पूर्वक 'धा' धातु से धारण-पोषण अर्थ में औणादिक प्रत्यय द्वारा निधन शब्द बनता है और उसका अर्थ होता है 'विनाश ।' केवल 'धा' धातु से औणादिक प्रत्यय द्वारा धन शब्द बनता है । धन शब्द प्रत्यय स्वर के कारण आद्युदात्त होता है यथा 'रत्नधातमम्' पद में । 'रमणीय धनों का देने वाला' यह अर्थ निरुक्त में कहा गया है । नि उपसर्ग के बल से 'धा' धातु का अर्थ विनाशवाची होता है । यदि इसे केवल लौकिक प्रयोग की दृष्टि से 'युच्' प्रत्यय करके बनाया जायगा तो 'निधान' शब्द बनेगा । अमरकोष में भी निधन

तथा च—

निधनं कुलनाशयोः (अमरे कां०-३, नानार्थवर्गे, १२३) एवमन्येष्वपि कोषेषु। इति पृथक्श आदिः, निधनं च व्याख्याते ॥ आदिः आत्तं परेण भवतीति लोकं दृष्ट्वाऽस्मन्निरुक्तिः। नहि परेणादानमन्तरा आदिर्भवतीति कृत्वा। आदिनिधने न विद्येते यस्य स 'अनादिनिधनः' जन्ममृत्युरहित ईश्वरो विष्णुपर्यायः।

अत्र व्याख्याप्रसंगेन चतुर्दशोत्तरैकशततमे श्लोके संगृहीतं "अनादिः" न विद्यत आदिकारणं यस्य सः 'अनादिः' इत्यपि व्याख्यातं भवति, यस्य संख्या–एकचत्वारिंशदुत्तरा नवशततम्यस्ति। स्वयम्भूत्वात् तस्य। मन्त्रलिंगं च—*कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूरिति* (यजु;० ४०-८)।

कविरिति तस्य विष्णोर्व्यापकस्य नाम। अत उक्तं—

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥
(अथर्व० १०-८-३२)

यथा कवेर्देवस्य श्रव्यं काव्यं वेदो न म्रियते न जरां वा गच्छति तथैतत्कर्ता सर्वव्यापकोऽपि निधनं न प्राप्नोति। अतः स एव 'अनादिनिधनः'।

भवति चात्रास्माकम्—

आदिर्न शम्भोर्निधनं न चापि न तत्समः पूर्वभवो न कश्चित्।
स एव बन्धुर्जनिता सखा स, सनातनो वेदमयः स एव ॥५६॥

शब्द के अर्थ विनाश मृत्यु आदि किये हैं। इसीलिये पृथक् पृथक् अनादि और निधन शब्द की व्याख्या की है। दूसरे आदान के बिना आदि नहीं होता है इसे ध्यान में रख कर ही हमने 'आदत्तं परेण भवतीति आदिः' ऐसी निरुक्ति की है। आदि और निधन जिसके नहीं हैं वह है अनादि-निधन। अर्थात् जन्ममृत्युरहित ईश्वर विष्णु का पर्याय है।

यहीं व्याख्या के प्रसंग से एक सौ चौदहवें पद्य में कथित अनादि 'नहीं है आदि कारण जिसका' वह इसकी भी व्याख्या हो जाती है। इस नाम की संख्या ६४१ है। क्योंकि वह परमात्मा स्वयम्भू है जैसा कि 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' इत्यादि मन्त्र में कहा गया है। कवि यह भी उस व्यापक विष्णु का नाम है। 'अन्ति सन्तं' इत्यादि आथर्वण मन्त्र में उस देव के काव्य की अमरता का वर्णन हुआ है। जिस प्रकार देव कवि का श्रव्य काव्य वेद न तो नष्ट होता है और न जीर्ण ही होता है उसी प्रकार उसका कर्ता वह परमात्मा भी निधन को प्राप्त नहीं होता है। इन्हीं सबका सार भाष्यकार ने पद्य में इस प्रकार बांधा है—

उस शम्भु परमात्मा का न आदि है और न अन्त है, उसके समान उससे पूर्व भी कोई नहीं था। अतः वही बन्धु, पिता और मित्र है तथा वही सनातन है वही वेद रूप है ॥५६॥

धाता—४३

योऽनन्तादिरूपेण सर्वाणि भुवनानि दधाति पुष्णाति बिभर्ति वा स धाता विश्वम्भरः। मन्त्रलिंगं च—

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् ।
सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ॥
(अथर्व० १४-१-३४)

भवति चात्रास्माकम्—

दधाति यो विश्वमिमं तपन्तं दधाति यश्चाम्भसि वर्त्तमानम् ।
दधाति यश्चात्मनि सत्यसन्धं दधाति धातेति स विष्णु-संज्ञाम् ॥६०॥

विधाता— ४४

वेदे मनुष्यस्य कृते कर्त्तव्यानां विधानकर्तृत्वेन विधाता तज्जानां फलानां विधाता स एवास्तीति विज्ञापयितुं विधातेति विष्णोर्नाम । कर्त्तव्यकर्मणां विधातृत्वे मंत्रलिंगं यथा—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(यजुः० ४०-२)

अन्यच्च—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥
(यजु० ३२-१०)

धाता=विश्व को धारण करने वाला।

जो अनन्तादि रूप से समस्त भुवनों को धारण करता है, पोषण करता है वह धाता विश्वम्भर है। इसमें 'अनृक्षरा ऋजवः' इत्यादि मन्त्र प्रमाणरूप है। यही हमने निम्न पद्य में संगृहीत किया है—

जो इस तपते हुए विश्व को बचाता है, पानी में डूबते हुए को धारण करता है और जो अपने आप में स्थिर रखकर उसका भरण-पोषण करता है वही विष्णु 'धाता' कहलाता है ॥६०॥

विधाता=कर्म और उसके फलों की रचना करने वाला।

वेद में मनुष्य के लिये कर्तव्य कर्मों का विधान बनाने के कारण तथा उस कर्म के फलों का देने वाला विधाता वही है यह बतलाने के लिये विष्णु के नामों में विधाता यह नाम गृहीत है। कर्तव्य कर्मों के विधातृत्व के सम्बन्ध में 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि यजुर्वेद का मन्त्र प्रमाण है। और 'स नो बन्धुर्जनिता' यह मन्त्र भी इसी बात की पुष्टि करता है। विधाता

विधाता=विधानस्य कर्तेति ।

कर्मणां फलानां यथार्थत्वेन विधातृत्वाच्च विधाता स विष्णुरस्तीति यदुक्तं तदभिधायी मन्त्रोऽयम्—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजुः० ३२-१०)

अत्र विपूर्वस्य धाञः प्रयोगः । व्यदधात्-इति, विदधातीत्यर्थः ।

भवति चात्रास्माकम्—

कर्माणि कुर्वन् शतवर्षमायुरिहाप्तुमिच्छेत मनुजः प्रयत्नात् ।
विधानमेतद्, व्यदधात् फलं स श्रुतौ विधाता स हि विष्णुरुक्तः ॥६१॥

धातुरुत्तमः—४५

सविशेषणं नाम । धातुः उत्तम इति । धातुः, डुधाञ् धारणपोषणयोः जौहोत्यादिकस्तस्मात् *'सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन्'* (उ० १-६९) इत्यनेन तुन्प्रत्ययः । दधात्यर्थं धीयते वाऽस्मिन्नर्थ इति धातुः-शब्दप्रकृतिः । पर्वतनिःस्रावो लौह-ताम्र-सुवर्ण-रजतादिर्वा । शिलाजतुः, गैरिक-पाषाणादि-र्वा, मणयो विविधा वा, शरीरस्थसप्तधातवो-रस-रक्त-मांस-मेदः-अस्थि-मज्जा-शुक्राणि, दोषाश्चापि धातव उच्यन्ते-वात-पित्त-कफाः, देहमलाश्चापि धातव उच्यन्ते-स्वेद-मूत्र-पुरीषाणि । विस्तरस्त्वायुराम्नाये द्रष्टव्यः । दधाति धरति पोषतीति धातुरर्थाश्रयेण परस्परमाकर्षणं ग्रहाणामपि धातुः, तदाकर्षणं स्थूलसूक्ष्म-

---

शब्द का अर्थ है—विधान का कर्ता । 'कर्म के फलों का यथार्थ रूप में विधान करने के कारण वह विष्णु विधाता है' यह जो कहा गया है उसके प्रमाण में 'स पर्यगाच्छुक्रम्' इत्यादि मन्त्र है । वि पूर्वक 'धा' धातु का यहां प्रयोग है । इसका सारांश पद्य में इस प्रकार संगृहीत है—

मनुष्य कर्म करते हुए इस लोक में सौ वर्ष की आयु की प्रयत्नपूर्वक कामना करे यह विधान है । इस विधान का निर्माण करनेवाला वह ईश्वर विष्णु है ऐसा वेद में कहा गया है ॥

धातुरुत्तमः=कार्यकारणरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च को धारण करने वाला एवं सर्वश्रेष्ठ ।

धारण-पोषणार्थक 'धा' धातु से 'सितनिगमि' इत्यादि पाणिनीय सूत्र द्वारा तुमुन् प्रत्यय से निष्पन्न होता है । दधाति के अर्थ में भी धातु शब्द प्रसिद्ध है । पर्वत का द्रव पदार्थ लोह, ताम्र, सुवर्ण और रजतादि तथा शिलाजीत, गैरिक पदार्थ, पाषाणादि, विविध मणियां अथवा शरीर में स्थित रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र अथवा दोष—वात, पित्त और कफ, अथवा शरीर के मल—स्वेद, मूत्र, पुरीष ये सब धातु कहलाते हैं । इनका विस्तार आयुर्वेद ग्रन्थों में देखना चाहिये । धारण करता है अथवा पोषण करता है वह धातु इस अर्थाश्रय से परस्पर आकर्षण या ग्रहण भी धातु ही कहलाता है । वह आकर्षण स्थूल और सूक्ष्म

भेदेन चराचरं जगद् दधातीति धातुरुक्तो भवति । ज्ञानबलक्रियाश्च धारयन्तीति कृत्वा ता अपि धातवः, क्रियायाः सिद्ध्यर्थं यानि करणानि तान्यपि धातुपदवाच्यानि भवन्ति, न हि तैर्विना कार्यं घृतं भवति । एवमल्पशो धात्वर्थो निरूपितो बुद्धेर्वैशद्याय । धातुरुत्तमः स एव विष्णुर्भवितुमर्हति । कुतः ? न हि तेनैकेन विना सर्वं घृतं भवति । मन्त्रलिंगं च—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुः० १३-४)

इति सविशेषण धातुरुतम इति नामैकं व्याख्यातम् । नामद्वयं वा मत्वा–यद्धि यस्य कारणं तत्, तस्य धातुः, मन्त्रलिंगं च—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ (ऋग्० १०-१९०-३)

उत्तमः—

सर्वेषामुद्गतानामतिशयेनोद्गतत्वादुत्तमः । मन्त्रलिंगं च—

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन् । (अथर्व० ५-११-४)

गाम्भीर्येणापि स एवोत्तमः । मन्त्रलिंगं च—

न त्वा गभीरः पुरुहूत सिन्धुर्नाद्रयः परिषन्तो वरन्त ।
इत्था सखिभ्य इषितो यदिन्द्राऽऽदृढं चिदरुजो गव्यमूर्वम् ॥
(ऋग्० ३-३२-१६)

यद्वा दधाति सर्वान् विकारानिति धातुः प्रधानं प्रकृतिस्तस्या उत्तमो धातुरुत्तमः । भवति चात्रास्माकम्—

भेद से चराचर जगत् को धारण करता है इसलिये धातु कहलाता है । ज्ञान, बल और क्रिया को धारण करता है इस दृष्टि से भी वे धातु हैं, क्रिया की सिद्धि के लिये जो उपकरणभूत हैं वे भी धातुपद से सम्बोधित होते हैं क्योंकि उनके बिना कार्य घृत नहीं होता । इस प्रकार संक्षेप से धातु का अर्थ बुद्धि की विशदता के लिये कहा गया है । धातुरुत्तम वह विष्णु ही हो सकता है क्योंकि उस एक के बिना कुछ भी घृत नहीं हो सकता । 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाणभूत है । इस प्रकार विशेषण सहित 'धातुरुत्तमः' पद का व्याख्यान किया गया ।

यदि इन दोनों पदों 'धातुः' और 'उत्तम' को पृथक्-पृथक् माना जाय तो—जो जिसका कारण होता है वह उसका धातु है । यथा 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता' इत्यादि मन्त्र प्रमाण है । उत्तम का अर्थ 'सब उन्नतों में उन्नत होने के कारण उत्तम' होगा । इसके लिये भी 'न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरः'.. इत्यादि मन्त्र का प्रमाण मिलता है । गम्भीरता के कारण भी वही उत्तम है । यथा—'न त्वा गभीरः' इस मन्त्र से सिद्ध है । सब विकारों को धारण करने से प्रकृति भी धातु कहाती है उसका भी धारक व्यवस्थापक होने से वह विष्णु धातुरुत्तम कहलाता है । यही बात पद्य में इस प्रकार कही गई है ।

कार्यं न तद्यस्य न धातुरस्ति वेदश्च तं कारणमाह धातुम् ।
नास्त्युत्तमो कोऽपि भवेऽत्र दृष्टो यो लंघयेदुत्तमतामजस्य ॥६२॥

अप्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः ।
विश्वकर्मा मनुस्त्वष्टा स्थविष्ठः स्थविरो ध्रुवः ॥१९॥

४६ अप्रमेयः, ४७ हृषीकेशः, ४८ पद्मनाभः, ४९ अमरप्रभुः ।
५० विश्वकर्मा, ५१मनुः, ५२ त्वष्टा, ५३ स्थविष्ठः, ५४ स्थविरः, ध्रुवः ॥१९॥

अप्रमेयः—४६

प्रमाणैः प्रमातुमशक्यत्वादप्रमेयः । उक्तं च—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥

इन्द्रियाणि तस्मादेव प्रकाशमन्ति सन्ति स्वं स्वं विषयं ग्रहीतुं क्षमाणि भवन्ति तानि पुनः कथंकृत्वा तमव्ययमनन्तवीर्यं स्वाभिः शक्तिभिः प्रकाशमानयेयुरिति हेतोरप्रमेयः स पुरुषः परमात्मा । न कश्चित् तस्मादधिको ज्ञाननिपुणो यस्तं ज्ञानेन प्रमिमीत एवमेव न कश्चित् बलेन तस्मादधिको यस्तं बलेन प्रमिनुयीत, तस्मादप्रमेयः सः । सर्वत्रैवंविधा कल्पना कल्पनीया सुधीभिरिति दिक् ।

वह कार्य ही नहीं है जिसका धातु नहीं है । वेद ने उस धातु को कारण कहा है । इस संसार में ऐसा कोई उत्तम नहीं है जो उस अज–परमात्मा को लांघ सके ।।६२।।

अप्रमेय, हृषीकेश, पद्मनाभ, अमरप्रभु, विश्वकर्मा, मनु, त्वष्टा, स्थविष्ठ स्थविर और ध्रुव ये १० नाम उन्नीसवें पद्य से वर्णित किये हैं जिनका भाष्य क्रमशः इस प्रकार है—

अप्रमेयः=प्रमाणादि से जानने में न आसकने वाला ।

प्रमाणों के द्वारा अनुमान करना जिसके लिये असम्भव है वह अप्रमेय । कहा भी है—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं' इत्यादि । अर्थात् इन्द्रियाँ उसी से प्रकाश प्राप्त करती हैं और अपने अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं । वे किस प्रकार उस अव्यय, अनन्तवीर्य को अपनी शक्ति से प्रकाशित करें । इस हेतु से वह पुरुष अप्रमेय परमात्मा है । उससे बढकर न कोई अधिक ज्ञान–निपुण है जो कि उसको ज्ञान बल से नाप सके । इसी प्रकार न कोई भी बल में भी उससे अधिक है जो उसे बल द्वारा तोल सके । अतः वह अप्रमेय है । इसी प्रकार की कल्पना सर्वत्र करनी चाहिये । प्रमाण भी उसका मान

प्रमाणानि तं प्रमातुं न शक्नुवन्तीति कृत्वासावप्रमेयः। शब्दादिरहितत्वान्न शब्दगम्यः, तच्छक्त्यैव वाग् वक्तुं प्रवर्तत इति कृत्वा न स वाग्विषयः। एवमेवान्येष्वपि चतुर्ष्विन्द्रियेषु योजनीयमिति कृत्वा-अक्षमिन्द्रियं तत्प्रति प्रत्यक्षम्, प्रतीन्द्रियं स्व-स्व-विषयजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति, न ब्रह्म तद्विषयः तस्मान्नात्र प्रत्यक्षप्रमाण संघटते। व्याप्यव्यापकमन्तरा न ह्यनुमानप्रमाणस्य प्रवृत्तिः, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरितिवन्नात्र ब्रह्मणि द्विस्वरूपत्वम्। उपमानोपमेययोः पृथक्-पृथक् सत्तामतोरेवोपमानप्रमाणस्य विषयो भवति परन्तु ब्रह्मणि विभागाभावान्नोपमानप्रमाणं घटते सादृश्याभावात्। न तस्मिन्नर्थापत्तिप्रमाणं संगच्छते, कुतः? ब्रह्मणोऽव्ययत्वादेकरसत्वाच्चार्थादाप्तुं न किंचित्। ब्रह्मणः सत्तायाः सद्भावात् न हि तत्राभावप्रमाणप्रवृत्तिः। सम्बन्धश्च द्वयोर्बहूनां वा भवति। न हि तस्मिन्नेकस्मिन् द्वित्वं बहुत्वं वास्ति, तस्मान्न सम्बन्धेनापि प्रमातुं शक्यं तद्ब्रह्म। तस्मिन् ब्रह्मण्यतिशयता नास्ति, तस्मान्न शास्त्रप्रमाणगम्यम्। ब्रह्मणो जगत् पृथङ्मत्वोच्यते- तद्यथा मन्त्रः—

एको विश्वस्य भुवनस्य राजा (ऋग्० ६-३६-४) तथा च—*दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः* (अथर्व० २-२-१)। अन्यच्च—*एको दाधार भुवनानि विश्वा* (ऋग्० १-१५४-४)। अतः शास्त्रप्रमाणकत्वं न विहतं भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

उपस्थित करने में समर्थ नहीं हैं अतः वह अप्रमेय है। शब्दादि से रहित होने के कारण वह शब्दादिगम्य नहीं है उसकी शक्ति से ही वाणी प्रवृत्त होती है, अतः वह वाणी का विषय भी नहीं है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इसीलिये प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ प्रति इन्द्रिय का अपने-अपने विषयजन्य ज्ञान का साक्षात्कार है। ब्रह्म उसका विषय नहीं है इसलिये यहां प्रत्यक्ष प्रमाण भी संगत नहीं होता। व्याप्य और व्यापक के बिना अनुमान प्रमाण की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि 'जहां जहां धूम है वहां वहां अग्नि है' इस प्रकार यहां ब्रह्म के दो स्वरूप नहीं हैं। उपमान और उपमेय की पृथक् पृथक् सत्ता रहने पर ही उपमान प्रमाण का विषय होता है किन्तु ब्रह्म में किसी प्रकार का विभाग न होने से तथा सादृश्य का अभाव होने से उपमान प्रमाण भी उचित नहीं है। उस ब्रह्म में अर्थापत्ति प्रमाण भी ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म अव्यय है और एकरस है अतः वह अर्थ से प्राप्त नहीं है। ब्रह्म की सत्ता का सद्भाव होने से वहां अभाव प्रमाण की भी प्रवृत्ति नहीं होती है। सम्बन्ध तो दो या बहुत का होता है। उस एक ब्रह्म में द्वित्वता या बहुत्वता का अभाव रहने से वह सम्बन्ध-प्रमाण द्वारा भी प्रमेय नहीं हो सकता। उस ब्रह्म में अतिशयता नहीं है अतः वह शास्त्र प्रमाण द्वारा भी गम्य नहीं है। ब्रह्म से जगत् पृथक् है इस सम्बन्ध में 'एको विश्वस्य भुवनस्य राजा' इत्यादि ऋग्वेद और अथर्ववेद के मन्त्र प्रमाणभूत हैं। वह शास्त्र प्रमाणगम्य नहीं है। इन बातों का सार पद्य द्वारा इस प्रकार वर्णित है—

न तद्विधः कोऽपि न तत्समो वा मिमीत तं ज्ञानबलक्रियाभिः ।
प्रमाणवृन्दोऽपि न तत्र शेते तं त्यच्च भित्त्वा श्रुतिराह तत्त्वम् ॥६३॥

मिमीत=प्रमिमीत । तं=पुरुषम् । त्यत्=जगत् । भित्त्वा=पृथक्-पृथक् मत्वा । श्रुतिः=वेदः । आह तत्त्वम्=याथार्थ्येन । स्व-स्वामित्वम्, धाता ध्रियमाणं चेत्येवमादि ।

हृषीकेशः—४७

हृषीकाणीन्द्रियाणि, तथा चामरः-हृषीकं विषयीन्द्रियम् । (कां० १, धीवर्गे ८) । तेषामीशः क्षेत्रज्ञरूपभाक् । अथवा, इन्द्रियाणि यस्य वशे वर्तन्ते स परमात्मा हृषीकेशः । अथवा, वक्ष्यति चास्मिन्नेव नामसंग्रहे सूर्यः, शर्वरीकरः, चन्द्रांशुः, भास्करद्युतिश्च, तस्मादेवं व्याख्यातुं शक्यते-सूर्यरूपस्य चन्द्ररूपस्य च जगत्प्रसाद-करा हृष्टाः किरणैरिव व्याप्ताः केशा रश्मयो यस्य स हृषीकेशः, मन्त्रलिंगं च—

"सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्" (यजु० १७-५८) अत्र पृषोदरादेराकृतिगणत्वात् तत्र चास्य निपातं मत्वा शिष्टप्रयोगस्य साधुत्वं कल्पयित्वा हृष्टकेश इति शब्दस्थाने हृषीकेश इत्युक्तं साधुत्वाय कल्पते । यथोक्तं च महाभारते—

सूर्याचन्द्रमसौ शश्वदंशुभिः केशसंज्ञितैः ।
बोधयन् स्वापयंश्चैव जगदुत्तिष्ठते पृथक् ॥
बोधनात् स्वापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत् ।
अग्नीषोमकृतैरेवं कर्मभिः पाण्डुनन्दन ।

उस ब्रह्म जैसा तथा उसकी समानता वाला ऐसा कोई अन्य नहीं है, जो ज्ञान, क्रिया अथवा बल के द्वारा उसका अनुमान करवा सके । अनेक प्रमाणों का समुदाय भी वहां निरर्थक हो जाता है । वह इन सब तर्कों को भेद कर एक ही रहता है, यह तत्त्व श्रुतियों में कहा गया है ॥६३॥

हृषीकेशः=इन्द्रियों का स्वामी ।

हृषीकेश का अर्थ है इन्द्रियों का स्वामी । अमरकोष के धीवर्ग में 'हृषीकं विषयीन्द्रियम्' ऐसा कहा गया है । उन इन्द्रियों का ईश, क्षेत्रज्ञ रूपधारी । अथवा इन्द्रियाँ जिस के वश में हैं, वह परमात्मा हृषीकेश है । अथवा इसी नाम-संग्रह में कहा जायेगा कि—सूर्य, शर्वरीकर, चन्द्रांशु, भास्करद्युति आदि । अतः यह भी कहा जा सकता है कि सूर्यरूप और चन्द्ररूप जगत् को सुख देनेवाली किरणें ही केश हैं जिसके वह हृषीकेश । इसमें 'सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्' इत्यादि मन्त्र भी प्रमाण है । व्याकरणगत पृषोदरादिगण को आकृतिगण मानकर और उसका यहां निपात मानते हुए शिष्ट प्रयोग की साधुता बताने के लिये हृष्टकेश शब्द के स्थान पर हृषीकेश ऐसा कहा गया मानना चाहिये । महाभारत में 'सूर्याचन्द्रमसौ शश्वदंशुभिः केशसंज्ञितैः'

हृषीकेशो महेशानो वरदो लोकभावनः ॥
(शान्तिपर्वणि ३४२।६६-६७)

भवति चात्रास्माकम्—

हृषीकेशो हि सर्वात्मा यस्य सव्यांगमंचति ।
हृषीकेशो भवेन्मर्त्यो जपदानव्रतेज्यया ॥६४।

सव्यांगमंचति=विघ्नान् परास्यन् भक्तस्यानुकूलः सन् दक्षिणे पार्श्वे भूत्वा तं दुरिताद् रक्षतीति भावार्थः सूर्यः-सप्तोत्तरशततमे श्लोके, संख्यया-त्र्यशीत्युत्तर-मष्टशततमं (८८३) नाम । शर्वरीकरः-दशोत्तरैकशततमे श्लोके, संख्यया-चतुर्दशोत्तरं नवशततमं (६१४) नाम । चन्द्रांशुः, भास्करद्युतिः, त्रिचत्वारिंशत्तमे (४३) श्लोके । संख्यया—यथाक्रमं एकाशीत्युत्तरं द्विशततमम् (२८१) द्व्यशीत्युत्तरं द्विशततमं (२८२) नाम ।

पद्मनाभः— ४८

पद्म, पद गतौ, अस्मादौणादिकेन मन्-प्रत्ययेन पद्म-शब्दः सिद्ध्यति । सूत्रं यथा – अर्त्तिस्तुसुहुसृघृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् (१-१४०) । पद्यत इति पद्मम् कमलम्, निधिः, शंखो वा । कमल-पर्यायं पद्मपुष्पं जलयोनिः । इयं पृथिवी चापि जलयोनिः सर्गारम्भे जलस्यैव सर्वत्र सद्भावात् । मन्त्रलिंगं च—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥
(ऋग्० १०-१२९-३)

इत्यादि पद्यों के द्वारा हृषीकेश शब्द की व्याख्या मिलती है । हमने इस कथन का संग्रह इस प्रकार किया है —

वह हृषीकेश सर्वात्मा है और वह भक्तों के वशीभूत होकर विघ्नों को दूर करता हुआ भक्तों के आनुकूल्य को प्राप्त करता है, पास रह कर दुरितों से बचाता है । मनुष्य जप दान और व्रत-पूजा आदि के द्वारा हृषीकेश बनता है ॥६४॥

उपर्युक्त सूर्यादि नाम क्रमशः १०७, ८८३, ११० और ९१४ संख्यावाले हैं । इसी प्रकार चन्द्रांशु आदि भी यथाक्रम ४३वें पद्य में २८१ और २८३ संख्या वाले हैं ।

पद्मनाभः=जगत् के कारणरूप कमल को अपनी नाभि में स्थान देने वाला ।

पद्म शब्द पद-गतौ धातु से औणादिक मन् प्रत्यय से सिद्ध होता है । पद्म का अर्थ है कमल, निधि अथवा शंख । कमल पर्याय वाला पद्म पुष्प जल से उत्पन्न होने के कारण जलयोनि' कहलाता है । यह पृथिवी भी जलयोनि ही है । क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र जल ही था । जैसा कि—'तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं' इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित

अतः पद्मेयं पृथिवी नाभौ यस्य स पद्मनाभिः सन् 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इत्यनेन पाणिनीयाकृतिगणेन पद्मनाभः साधुत्वाय नीयते । पद्मनाभः स सर्वलोकाध्यक्षः । मन्त्रलिंगं च—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥
(ऋग्० १०-१२९-७)

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥
(ऋग्० १०-८२-६)

यथा सरसि कमलानि भान्ति, मनो वाह्लादयन्त्यमुथैवान्तरिक्षात्मके सरसि लोक-लोकान्तराणि वा प्रकाशन्ते भासन्ते चेतश्चाह्लादयन्तीति कृत्वा स पद्मनाभः समानं भवति मन्त्रांशेन—"अजस्य नाभावध्येकमर्पित"मिति ।

प्रसंगतः—पद्मगर्भः, पद्मं गर्भे यस्य स पद्मगर्भः । यद्वा, पद्ममयो गर्भो यस्येति स पद्मगर्भः । आसर्गात् सर्गान्तं यावदुत्पद्यमाना सृष्टिर्नूनं जलमपेक्षते जलयोनित्वात्तस्याः । प्रत्यक्षं च लोके पश्यामः, जरायुणावृतं जलं भवति तस्मिन् जनिष्यमाणो परिपुष्टतामुपयाति । गर्भो गृभेः, गृणात्यर्थे । गिरत्यनर्थानिति वा । *'यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति'* (निरुक्ते १०-२३) मन्त्रलिंगं च—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋग्० ७-९५-५)

है । इसलिये पृथ्वी भी पद्म ही कहलाती है । और यह पृथिवी नाभि में है जिसके वह पद्मनाभि होता है । यहां पृषोदरादिगण के अनुसार 'पद्मनाभ' शब्द बन जाता है । वह पद्मनाभ ही सर्वलोक का अध्यक्ष है । जैसाकि—'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' इत्यादि मन्त्र तथा 'तमिद् गर्भं प्रथमं' इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होता है । जिस प्रकार सरोवर में कमल शोभित होते हैं और मन को प्रसन्न करते हैं इसी प्रकार अन्तरिक्षात्मक सरोवर में लोक और लोकान्तर प्रकाशित होते हैं, तथा उनसे चित्त आह्लादित होता है, इसलिये वह पद्मनाभ के समान होता है । 'अजस्य नाभावध्येकमर्पितमिति' मन्त्रांश से यह सिद्ध है प्रसंगतः पद्मगर्भ शब्द की भी व्याख्या की जा रही है । यथा—पद्म है गर्भ में जिसके वह पद्मगर्भ, अथवा पद्ममय है गर्भ जिसका वह पद्मगर्भ । सर्ग के आरम्भ से सर्गांत तक उत्पद्यमान सृष्टि निश्चित ही जल की अपेक्षा रखती है क्योंकि वह जलयोनि है । प्रत्यक्ष में भी हम देखते हैं कि उत्पद्यमान जातक गर्भस्थ जल में परिपुष्ट होता है और वह जल जरायु=झिल्ली से ढका हुआ होता है । गर्भ शब्द गृभि धातु से बनता है जो अनर्थों को निकालता है वह है गर्भ । जब स्त्री गुणों को ग्रहण करती है और इसके गुण ग्रहीत होते हैं तब वह गर्भ कहलाता है । 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'

अत इदमुच्यते पद्मगर्भस्तद् एव ब्रह्म विष्णुपर्यायः।
वक्ष्यति चाग्रेऽष्टाचत्वारिंशदुत्तरं त्रिशततमं (३४८) नामैकपंचाशत्तमे श्लोके।
भवति चात्रास्माकम्—
यथा जले पद्म जनिं दधाति तथैव भूर्यात्युदयं जलेऽत्र।
तत् पद्म नाभौ निहितं हि यस्यस पद्मनाभोऽस्त्यमरोऽत्र विष्णुः ॥६५॥
अर्थान्तरेण पद्मगर्भः। भवति चात्रास्माकम्—

पद्मं यथा वारिणि गर्भमीर्ते तथैव भूर्वारिणि याति पुष्टिम्।
हिरण्यगर्भः स यथैक एव स पद्मगर्भोऽपि तथैव विष्णुः ॥६६॥

अमरप्रभुः—४९

न म्रियत इत्यमरः। तेषाममराणां प्रभुः प्रकर्षेण भावयिता बलस्य प्रदाता वा, अमरप्रभुः। मन्त्रलिंगं च—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋग्० १०-१२१-२, अथर्व० ४-२-१, १३-३-२४, यजुः० २५-१३, तै० सं० ४-१-८-४, ७-५-१७-१)।

अमरपर्याया यथा—

अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः।
सुपर्वाणः सुमनसस्त्रिदिवेशाः दिवौकसः॥ (अमर०१-७)

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है। इसलिये यह कहा जाता है कि वह पद्मगर्भ उसी ब्रह्म विष्णु के पर्याय वाला है। ३४८ संख्यक नाम में इसका विवेचन किया जायगा। हमने इस कथन का सारांश पद्य में इस प्रकार कहा है—

जैसे जल में कमल जन्म लेता है इसी प्रकार पृथ्वी भी जल में उदय को प्राप्त होती है। वह पद्म जिसकी नाभि में निहित है वही पद्मनाभ देव विष्णु है ॥६५॥

तथा पद्मगर्भ के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—

कमल जिस प्रकार जल में गर्भ लेता है वैसे ही पृथिवी भी जल में पोषण को प्राप्त होती है। वह हिरण्यगर्भ जैसे एक ही है वैसे ही वह पद्मगर्भ भी एक ही विष्णु है ॥६६॥

अमरप्रभु=देवताओं का स्वामी।

जो मरता नहीं है वह है अमर। उन अमरों–देवों का जो प्रभु—प्रकर्ष द्वारा बल प्रदान करने वाला अमर प्रभु है। मन्त्र प्रमाण इस प्रकार है—'य आत्मदा बलदा' इत्यादि। अमर शब्द के पर्याय हैं–अमर, निर्जर, देव, त्रिदश आदि (अमरकोष)। इस भाव का पद्य में संग्रह इस प्रकार है—

भवति चात्रास्माकम्—

न जन्म गृह्णाति न मृत्युमेति यः सोऽमराणां कुरुते प्रभुत्वम् ।
प्रभुत्वभावञ्च व्रजन्ति ते य, उपासते विष्णुमथामरेशम् ।।६७।।

विश्वकर्मा—५०

कर्म=कृ-धातोः मनिन् प्रत्ययः । सर्वधातुभ्यो मनिन् इत्युणादि (४-१४५ सूत्रम्)। क्रियते तत् कर्म क्रिया वा । अर्द्धर्चादित्वा (पा० २-४-३१) दुभय-लिंगः कर्मन् शब्दः। कर्मन्-शब्दस्याऽर्द्धर्चादिगणे पठितत्वादुभयलिंगः । कर्म कुर्वन्तं न पश्यामि, कर्माणं कुर्वन्तं न पश्यामीत्युभयं साधु ।

विश्वं कर्म क्रिया यस्य स विश्वकर्मा-महादेवो नियन्ताऽजरोऽमरश्च। मन्त्रलिंगं च—

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः ॥
(ऋग्- १०-८२-२, यजुः १७-२६, निरुक्त १०-२६)

भवति चात्रास्माकम्—

स विश्वकर्मा कुरुते ह विश्वं विचित्रवीर्यं विविधप्रकारम् ।
न तत्कृतौ दोषलवोऽपि भाति स विश्वकर्मा कथितोऽत्र विष्णुः ॥६८॥

मनुः—५१

मन ज्ञाने दैवादिको, मनु अवबोधने तौदादिक आभ्याम्-उः, निच्च सः ।

जो न जन्म लेता है, न मृत्यु को प्राप्त होता है वही अमरों देवों का प्रभुत्व करता है। तथा जो अमरप्रभु विष्णु की उपासना करते हैं वे प्रभुत्वभाव को प्राप्त होते हैं ।।६७।।

विश्वकर्मा=सारे जगत् की रचना करनेवाला ।

कृ धातु से 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' इस उणादि सूत्र से मनिन् प्रत्यय द्वारा कर्मन् शब्द बनता है। जो किया जाय वह कर्म अथवा क्रिया कहलाता है। यह शब्द अर्द्धर्चादि गण पठित होने से पुंलिंग और नपुंसक लिंग दोनों में चलता है। सारा विश्व ही जिसकी क्रिया अथवा कर्म है वह विश्वकर्मा, महादेव, नियन्ता, अजर और अमर। 'विश्वकर्मा विमना' इत्यादि मन्त्र से भी यह प्रमाणित है। इस कथन का संग्रह पद्य में इस प्रकार है—

वह विश्वकर्मा इस विश्व को विचित्र वीर्य और विविध प्रकार का बनाता है। उसकी कृति में कहीं दोष का लेशमात्र भी प्रकट नहीं होता है अतः वही विष्णु यहां विश्वकर्मा कहा गया है ।।६८।।

मनुः=प्रजापति मनुरूप ।

चतुर्थ अथवा षष्ठ गण पठित मन धातु से कौ[illegible] 'उ' प्रत्यय से मनु शब्द बनता

सूत्रम्—शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च (उणादिः १-१०) मन्यते सर्वाणि विश्वानि भुवनानि जानातीति मनुः। मनुतेऽवबुध्यते इति वा मनुः। मननाद्वा मनुः—

'नान्योऽतोऽस्ति मन्ता' (बृ० उ० ३-७-२३) इति। मन्त्रो वा प्रजापतिर्वा मनुः। भवति चात्रास्माकम्—

लोकानिमांल्लोकपतिर्मनीषी, दर्धत्त्यंशेषान् मनुते तथा सः।
न तत्कृतौ दोषलवप्रसक्तिः, मन्ता मनुर्यो मननीय एकः॥

त्वष्टा—५२

त्वक्षतेस्तनूकरणार्थात् तृच् प्रत्ययः। यथा हि निर्माता किंचित् ह्रसति किंचिच्चापाकरोति किंचिच्चोपदेग्धि, अमुथैव धातापि तनूकरोति लोकान् निर्माणोपसंहारं कुरुतेऽतस्त्वष्टेत्युच्यते। मन्त्रलिंगं च—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आसिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥
(अथर्व० ५-२५-४)

त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः, (ऋग्० १-१८८-९)। एवं बहुत्र।

भवतश्चात्रास्माकम्—

त्वष्टा यथा तक्षति काष्ठमात्रं रूपस्य संभारविधौ प्रवृत्तः।
तथैव त्वष्टा स्वविधानबद्धो गर्भे स्थितं त्वक्षति देहमात्रम्॥७०॥

है। समस्त भुवनों को जो जानता है, वह 'मनु' है। अथवा मनन से मनु है। 'नान्योऽतोऽस्ति मन्ता' इस उपनिषद् के मन्त्र से यह स्पष्ट है। मन्त्र और प्रजापति भी मनु का ही नाम है। यह पद्य द्वारा इस प्रकार वर्णित है।

इन लोकों को वह लोकपति 'मनु' धारण करता है और सब को जानता है। उसकी कृति में कोई दोष का लेश नहीं है, तथा वह मनु मन्ता और शम्भु कहा गया है॥६९॥

त्वष्टा=संहार के समय समस्त प्राणियों को क्षीण करने वाला।

तनूकरणार्थक त्वक्षधातु से तृच् प्रत्यय द्वारा त्वष्टा शब्द बनता है। जैसे निर्माता कुछ न्यून करता है, कुछ त्याग देता है और कुछ जोड़ देता है उसी प्रकार वह परमात्मा भी लोक को संक्षिप्त करता है, निर्माण और उपसंहार करता है अतः वह त्वष्टा कहाता है। 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण हैं। पद्य द्वारा इसका कथन इस प्रकार हुआ है—

त्वष्टा-सुनार जिस प्रकार आभूषण को घड़ता है तथा उसके रूप को निखारने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार वह परमात्मा-त्वष्टा अपने विधान में दक्ष होता हुआ गर्भ में स्थित देह की रचना करता है– रूप निखारता है॥७०॥

ऊर्वोर्यथा दीर्घमुतापि बल्यं, तन्वस्थि चाक्ष्णोरुत नासिकायाम् ।
स्फिङ्मांसमात्रस्तनुमांसनासा त्वष्टा स्वयं त्वक्षति सर्वलोकान् ॥७१॥

वक्तव्यम्—भगवान् हि स्वयं स्वकीयेन विधानेन बद्धः सन् तक्षक इव त्वक्षति गर्भे प्राणिनो देहमात्रं पुष्णन् । तद्यथा—ऊर्वस्थि दीर्घं बल्यं दृढं च परन्तु नेत्रास्थीनि लघूनि तथैव च नासास्थीनि, एवं स्फिचौ मांसलौ परन्तु नासा त्वङ्मात्रमांसा, अमुथैवांगुल्यश्च । यो हि मनुष्यो यन्त्राणामाविष्कारं कर्त्तुमना स्यात् तेन विदुषा सर्वकालं सूक्ष्मेक्षिकया जीवानां रचना किंवा वृक्षाणां रचना, पर्वतानां रचना, स्रोतसां च रचना, सूर्यस्य च कालभेदकरणभेदान्, ऋतूनां च सुकृत-विकृत-भावो नूनं परिज्ञेय एतदेव हि त्वष्टुर्विष्णो रूपम् ।

स्थविष्ठः—५३

अतिशयेन स्थूलः=स्थविष्ठः । स्थूल-शब्दस्य इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन्, इत्येतेषु प्रत्ययेषु परतः यणादिपरं लुप्यते पूर्वस्य च गुणो भवति तेन स्थविष्ठ इति रूपं संपद्यते । सूत्रं च—*स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः* (पा० ६-४-१५६) । यथाप्रत्ययं रूपाणि—स्थविष्ठः, स्थवीयान् ।

भवति चात्रास्माकम्—

यद् दृश्यशक्तेरपरं परं वा ज्ञानेन यज्ज्ञातुमिहास्ति शक्यम् ।
सोऽयं स्थविष्ठो ह्रसतेऽत्र सर्वं न तत्परः स्थूलतमोऽस्ति कश्चित् ।७२॥

ऊरुस्थल में जिस प्रकार दीर्घ और बलवान् अस्थि है, आंख और नासिका की अस्थियां जैसे छोटी हैं और स्फिग् नितम्ब भाग में केवल मांस ही है और नासिका भाग में मांस न होकर केवल त्वचा ही है इसी प्रकार अँगुलियां आदि जाने । ऐसा ही सब वह त्वष्टा सर्व लोक का तक्षण करता है ॥७१॥

वक्तव्य सार—जो मनुष्य यन्त्रों का आविष्कार करना चाहता है उसे प्रतिपल जीवों की रचना का सूक्ष्म निरीक्षण अथवा वृक्ष, पर्वत, झरनों आदि की रचनाएं देखनी चाहियें। तथा सूर्य के काल भेद करने वाले भेद, ऋतुओं का प्राकृत और विकृत भाव समझना चाहिये । यही त्वष्टृरूप विष्णु का स्वरूप है ।

स्थविष्ठः=अत्यन्त स्थूल ।

अतिशय स्थूल को स्थविष्ठ कहते हैं । स्थूल शब्द से इष्ठन् प्रत्यय होकर तद्धित के 'स्थूल-दूर-युव ह्रस्व' इत्यादि सूत्र द्वारा 'स्थविष्ठ' रूप सिद्ध होता है । यही पद्य में इस प्रकार वर्णित है—

जो दृश्यशक्ति से अपर अथवा पर है और जो ज्ञान के द्वारा ज्ञेय है वही स्थविष्ठ है अन्य सब यहां ह्रास को प्राप्त होता है और उस स्थविष्ठ विष्णु से बढ़कर कोई स्थूल नहीं है । 'ईशा वास्यमिदं सर्वं' यह वेदमन्त्र भी इसी की पुष्टि करता है ॥७२॥

मन्त्रलिंगं च—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत् । (यजु० ४०।१)

स्थविरो ध्रुवः—५४

सविशेषणमिदं विष्णोर्नाम। पृथक् चापि वा, ध्रुवस्य प्रयोगदर्शनात् ।

पुराणः स्थविरः। स्थविर-शब्दो निपात्यते किरच्प्रत्ययान्तः। "*अजिर-शिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिराः*" (उण्० १-५३)। तिष्ठतेर्वुगागमो ह्रस्वत्वं च निपात्यते। स्थविरः, गमनेऽसमर्थत्वात् तिष्ठतीति स्थविरः। ध्रु स्थैर्ये, तस्मात् बाहुलकाद् वः-प्रत्ययः किच्च सः, "स्रुवः कः" (उण्० २-६१) इत्यत्र सूत्रे निःक्षिपन्ति। अथवा "*ध्रुवमपायेऽपादानम्*" इति (पा० १-४-२४) निपातनाद्वा साधुः। स्थविरश्चासौ ध्रुवश्चेति स्थविरो ध्रुवः स सर्वव्यापको विष्णुरिति। गत्यर्थरहिताभ्यां ष्ठा-ध्रु-धातुभ्यां निष्पन्नयोर्विशेष्यविशेषणेन युक्तमेतन्नाम भगवति सर्वथा गतिं निवारयति, सर्वत्र च तस्य सत्तां हठाद् द्योतयति। मन्त्रलिंगं च—

उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू (अथर्व १९-१५-४)।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ (यजु० ४०-५)

ध्रुवमधिकृत्य मन्त्रलिंगं—

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासो पर्वता इमे ।

ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ (ऋग्० १०-१७३-४)

एवं बहुत्र वेदे। भवति चात्रास्माकम्—

न तद्विधं दृष्टमिहास्ति लोके ध्रुवं च तत् स्यात् स्थविरं तथैव ।
स एव विष्णुः स्थविरो ध्रुवश्च सोऽन्तर्बहिश्चास्ति च वर्त्तमानः ॥७३॥

स्थविरो ध्रुवः=अत्यन्त प्राचीन एवं अत्यन्त स्थिर।

विष्णु का यह नाम विशेषण से युक्त है। अथवा इसे पृथक् पृथक् भी मान सकते हैं क्योंकि ध्रुव शब्द का पृथक् प्रयोग भी दिखाई देता है। स्थविर का अर्थ है पुराना। किरच् प्रत्ययान्त स्थविर शब्द 'निपात' प्रयुक्त है। 'अजिर शिशिर शिथिल' इत्यादि उणादि सूत्र से स्था धातु को वुक् का आगम और ह्रस्वत्व का निपात होता है। स्थविर का अर्थ होगा गमन में असमर्थ। इसी प्रकार 'ध्रु' धातु से व प्रत्यय होने पर ध्रुव शब्द बनता है जिसका अर्थ भी स्थिर ही होता है। वह सर्वव्यापी विष्णु स्थविर है और ध्रुव भी है। गतिवाचक अर्थ से रहित ष्ठा-स्था और ध्रु धातुओं से बने हुए ये दोनों शब्द विशेष्य-विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं, अतः भगवान् के ये नाम गति के निवारक हैं और उस परमात्मा की सत्ता को सर्वत्र हठपूर्वक प्रकट करते हैं। उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू—तथा, 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि मन्त्र इसके प्रमाण हैं। इसी प्रकार ध्रुव शब्द के सम्बन्ध में भी 'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा' इत्यादि मन्त्र प्रमाणभूत हैं। इस कथन का संग्रह पद्य में इस प्रकार किया है।

इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई है, जो ध्रुव हो और उसी प्रकार स्थायी हो। वह विष्णु ही एक स्थविर और ध्रुव है तथा वह बाहर और अन्दर वर्त्तमान है ॥७३॥

"त्वैकं ह्रस्वस्य स्थविरस्य नाम" इति बह्वृचाः।

अग्राह्यः शाश्वतः कृष्णो लोहिताक्षः प्रतर्दनः ।
प्रभूतस्त्रिककुब्धाम पवित्रं मंगलं परम् ॥२०॥

५५ अग्राह्यः ५६ शाश्वतः, ५७ कृष्णः, ५८ लोहिताक्षः, ५९ प्रतर्दनः।
६० प्रभूतः, ६१ त्रिककुब्धाम, ६२ पवित्रम्, ६३ मंगलं परम् ॥

अग्राह्यः—५५

कर्मेन्द्रियैर्न गृह्यते इत्यग्राह्यः। अथवा-इन्द्रियैर्ग्रहीतुमशक्य इति–अग्राह्यः। "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै० उ० २-९) इति।

भवति चात्रास्माकम्—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगंधवच्च यत् ।
कथं भवेत् तद्विषयोऽत्र खानां सर्वत्र सोऽग्राह्यपदोऽस्ति विष्णुः ॥७४॥

शाश्वतः—५६

शश्वत् सदार्थेऽव्ययम्। यथा—"शश्वद् धर्मोऽनुष्ठेयः सत्यं चाभ्यवहार्यम्'। पुनरर्थे चापि शश्वत्, 'शश्वद् वेदमधीयीत'। मन्त्रलिंगं च—

"याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" (यजुः ४०-८) स्वार्थेऽण् शाश्वतः, ङीपा च शाश्वती।

ऋग्वेदाध्यायी भी इसे स्थविर नाम से स्मरण करते हैं।

अग्राह्य, शाश्वत, कृष्ण, लोहिताक्ष, प्रतर्द्दन, प्रभूत, त्रिककुब्धाम, पवित्र और मङ्गलं परम् ये नौ नाम—, अग्राह्य इत्यादि पद्य में संगृहीत हैं।

अग्राह्यः= मन से ग्रहण न किया जा सकनेवाला।

कर्मेन्द्रियों के द्वारा जो ग्रहण न हो वह अग्राह्य कहलाता है। अथवा इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सके वह अग्राह्य। यही बात 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस मन्त्र द्वारा तैत्तिरीय उपनिषद् में कही गई है। भाष्यकार ने पद्य में इस प्रकार कहा है—

जो अग्राह्य पद से कहा गया विष्णु सर्वत्र नित्यरूप से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रहित है तथा कभी नष्ट नहीं होनेवाला है तब वह यहां इन्द्रियों का विषय कैसे हो सकता है? ॥७४॥

शाश्वतः= सब काल में स्थित रहनेवाला।

शश्वत् शब्द सदा के अर्थ में अव्यय है। 'शश्वद् धर्मोऽनुष्ठेयः' इत्यादि वाक्य में उक्त शब्द का यही अर्थ है। इसी प्रकार 'पुनः' के अर्थ में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है। यथा—'शश्वद् वेदमधीयीत'। याथातथ्योऽर्थान् इत्यादि मन्त्र में भी शश्वत् का यही अर्थ निहित है। शश्वत् शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्य होने से 'शाश्वत' शब्द बनता है तथा ङीप् प्रत्यय होने पर शाश्वती बनेगा। भाष्यकार ने इस के सम्बन्ध में पद्य द्वारा यह कहा है—

भवति चात्रास्माकम्—

शश्वत् सदार्थे, स हि शाश्वतोऽणा कालो भिनत्त्येव न तं कदाचित् ।
तं शाश्वतं सर्वजनैकवन्द्यं विपश्चितं विष्णुमुपैति विज्ञः ॥७५॥

कृष्णः—५७

कृषेर्वर्णे (उण० २-४) इत्यनेन विलेखनार्थात् कृषेर्वर्णेऽर्थे नक्प्रत्यये कृष्ण इति निष्पद्यते । विष्णुपरा निरुक्तिर्महाभारते—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः ।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवतीति शाश्वतः ॥
(महा उद्यो० ७०-५)

इत्यनेन व्यासवचनेन सच्चिदानन्दात्मकः शाश्वतो विष्णुः कृष्णनामा, नात्रार्जुन-सारथिर्महाभारतप्रसिद्धः कृष्णोऽभिमतः । कृष्णवर्णात्मकत्वाद्वा कृष्णः, निरुक्तिर्यथा महाभारते—

कृष्णामि पृथिवीं पार्थ ! भूत्वा कार्ष्णायसो हलः ।
कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुन ॥
(शान्तिपर्वणि ३४२।७९)

इत्यनेन विज्ञाप्यते यत् हले फालरूपो भूत्वा स एव विष्णुः पृथिवीं बीजधारण-क्षमां कुरुते स च तस्य सनातनः क्रमः, लोहस्य कृष्णरूपत्वाच्च तत्र कृष्णतापि संयुज्यत एव । मन्त्रलिंगं च—*ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये* (यजु० २३।१३)

शश्वत् शब्द सदा के अर्थ में है, वही अण् प्रत्यय द्वारा शाश्वत बन जाता है। उस विष्णु को कोई काल विभिन्न नहीं करता है अतः उस शाश्वत सर्वजनों का एकमात्र वन्दनीय तथा सर्वज्ञ को बुद्धिमान् प्राप्त करता है। ॥७५॥

कृष्णः= सब के चित्त को बलात्कार से अपनी ओर आकर्षित करनेवाला परमानन्द-स्वरूप ।

वर्णार्थक और विलेखनार्थक कृष् धातु से औणादिक नक् प्रत्यय होने पर 'कृष्ण' शब्द बनता है। महाभारत में विष्णु के अर्थ में निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि—'कृषि' शब्द भुवाचक है और 'णः' निर्वृत्तिवाचक है। इन दोनों के योग से कृष्ण शब्द का निर्माण होता है जो शाश्वत है और विष्णु का वाचक है। इस व्यास वचन के आधार पर सच्चिदा-नन्दात्मक शाश्वत विष्णु ही कृष्ण है, अर्जुन के सारथि के रूप में महाभारत प्रसिद्ध कृष्ण नहीं। कृष्ण वर्णात्मक होने से भी कृष्ण कहते हैं। महाभारत में कहा है कि—हे पार्थ ! मैं काले लोहे का हल बनकर पृथिवी को जोतता हूं और मेरा रङ्ग भी काला है अतः मैं कृष्ण कहलाता हूं।

इस से ज्ञात होता है कि हल में फालरूप बनकर वह विष्णु ही पृथिवी को बीज-धारण के योग्य बनाता है, और वह उसका सनातन क्रम है। लोहे के काले होने से उसमें कृष्ण का स्वरूप भी उचित ही है। 'ब्रह्मा कृष्णश्च' तथा 'कृष्णोऽस्याखरेष्ठः'

कृष्णोऽस्याखरेष्ठः (यजु० २।१)।

बाहुलकाद्वर्णेऽपि कृषेर्नक्प्रत्यये कृष्ण इति विष्णुनामनि संगन्तव्यम्। कृष्णवर्णे हलफाले चापि संगन्तव्यम्। कृष्णो यज्ञः, यज्ञ इति च विष्णोर्नामसु सप्तदशोत्तरैकशततमे ११७ श्लोके एकसप्तत्युत्तरं नवशततमं ९७१ नाम। तस्मात् कृष्णो विष्णुरित्युक्तं भवति। न हि विष्णुं विना यज्ञस्य सार्थकता भवति। यज्ञ-प्रक्रियायां सर्वे मन्त्रा विनियोगमाप्नुवन्ति ब्रह्मणि च। तस्मात् कृष्णो यज्ञः सन्नपि विष्णुरित्युक्तं भवतीति दिक्।

भवति चात्रास्माकम्—

कृष्णो हि यज्ञः स च विष्णुनामा वेदाश्च विष्णोः परितो व्रजन्ति।
हलस्य फालेऽपि च कृष्णशब्दो विश्वम्भरस्तेन स उक्त आस्ते ॥७६॥

लोहिताक्षः—५८

लोहिते अक्षिणी यस्येति स लोहिताक्षः। "असौ वृषभो लोहिताक्षः" इति। मन्युना च यथा लोके लोहितेऽक्षिणी भवतो विषेण वा। उक्तं च—*मन्युरसि मन्युं मयि धेहि* (यजु० १९।९) इति। यद्वा उद्यन्तौ सूर्याचन्द्रमसौ लोहितावेव भवतः, तावक्षिणी यस्य स लोहिताक्षः। उक्तं च—

इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्रों में भी यही कथन निहित है। बाहुलक (विकल्प) से रंग के अर्थ में भी कृष् का प्रयोग मानकर नक् प्रत्यय करने से 'कृष्ण' शब्द बन जाता है। जो विष्णु के नाम में गृहीत होता है। कृष्णवर्ण के हल के फाल में यह अर्थ समझना चाहिए कृष्ण का अर्थ यज्ञ भी होता है। यज्ञ भी विष्णु का ही नाम है जो ११७ वें पद्य में ९७१ वाँ नाम है। इसलिए भी कृष्ण का अर्थ विष्णु है ऐसा कहा जाता है। विष्णु के विना यज्ञ की सार्थकता नहीं होती है। यज्ञ प्रक्रिया में सभी मंत्र विनियोग को प्राप्त होते हैं और ब्रह्मा के अर्थ में भी उनका विनियोग रहता है। अतः कृष्ण यज्ञरूप होकर भी विष्णु कहा जाता है इस का सार पद्य में इस प्रकार वर्णित है—

'कृष्ण' का अर्थ यज्ञ है, वही विष्णु का वाचक है, वेद विष्णु का ही गुणगान करते हैं, हल के फाल में भी वही विष्णु है अतः उस कृष्ण को विश्वम्भर कहा गया है ॥७६॥

लोहिताक्षः= लाल नेत्रोंवाला।

लोहित वर्ण की आंखें हैं जिस की वह है लोहिताक्ष। 'असौ वृषभो' इत्यादि पद में यही कहा गया है। जिस प्रकार लोक में क्रोध से लाल आंखें हो जाती हैं अथवा विष वगैरा ले लेने से जो आंखों में लाली आ जाती है वह भी लोहिताक्ष कहलाता है। 'मन्युरसि मन्युं मयि धेहि' इत्यादि मन्त्रों में यही कहा गया है। और यह भी कहा गया है जिसका कि सूर्य चक्षु है, और नवीन चन्द्रमा भी चक्षुरूप है। और जिसने अग्नि को मुख बनाया है उस महान् ब्रह्म के लिए नमस्कार है। यही बात भाष्यकार ने पद्य में इस प्रकार कही है—

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्व० १०-७-३३)

भवति चात्रास्माकम्—

यद्वर्चसो रूपमिहास्ति सूर्ये चन्द्रेऽथवा तेन स लोहिताक्षः।
चन्द्रार्कतो मूलमुपेत्य मर्त्यो पित्तेन रक्तेन च लोहिताक्षः॥७७॥

पित्तप्रकोपजन्यरक्तदोषे मर्त्यो लोहितनेत्रो भवति, श्लेष्मा च प्रकुप्य रक्तं सन्दूष्य श्लेष्मावृतं रक्तं वा लोहितनेत्रतां जनयतीत्यायुराम्नायविदां समयः।

प्रतर्दनः—५६

प्र पूर्वात् तृदि हिंसायाम् धातोर्ल्युटि प्रतर्दनः संपद्यते। प्रलये भूतानि प्रतर्दयति हिनस्तीति प्रतर्दनः स विष्णुः। भवति चात्रास्माकम्—

बधे प्रवृत्तो बधको यथात्र नृशंसभावं न जहाति कामम्।
प्रतर्दनो विष्णुरिहापि तद्वत् मृतौ स्थितं मुंचति नैव मन्त्रैः॥७८॥

उक्तं च प्रकारान्तरेणास्मत्कृते सत्याग्रहनीतिकाव्ये चतुर्थाध्याये नानावर्ष-गणीये प्रथमे पादे चतुष्षष्टितमे श्लोके—

"मृत्योर्मनो यत्र नरे निविष्टं स तं विना नास्तमभिप्रयाति।
न मन्त्रपाठान् न च दानयज्ञात् शृणोति गृह्णाति यियासुरस्तम्॥"

अस्तम्=गृहम्।

जिसके तेज का रूप यहां सूर्य अथवा चन्द्रमा में है और उसी कारण वह लोहिताक्ष है। चन्द्रमा और सूर्य से ऊष्मारूप मूल को प्राप्त होकर मनुष्य पित्त और रक्त के कारण भी वह लोहिताक्ष कहलाता है ॥७७॥

स्पष्ट है कि मनुष्य पित्त के प्रकोप और रक्त के दोष से लाल नेत्रोंवाला बन जाता है। श्लेष्मा प्रकुपित होकर रक्त को दूषित बनाता है और वह रक्त श्लेष्मा से आवृत होकर नेत्रों को लाल बना देता है, ऐसा आयुर्वेद का कथन है।

प्रतर्द्दनः= प्रलय काल में प्राणियों का संहार करनेवाला।

प्र उपसर्गपूर्वक हिंसार्थक तृदि धातु से ल्युट् प्रत्यय होने पर प्रतर्दन शब्द बनता है। प्रलय के समय प्राणियों को नष्ट करता है, वह है प्रतर्दन=विष्णु। पद्य द्वारा इस कथन को इस प्रकार कहा है—

जिस प्रकार यहां वध करने में प्रवृत्त कोई हिंसक अपनी क्रूरता का परित्याग नहीं करता है उसी प्रकार प्रतर्दन-रूप विष्णु भी मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी को नहीं छोड़ता है ॥७८॥

यही बात भाष्यकार ने प्रकारान्तर से अपनी अन्य रचना 'सत्याग्रह–नीतिकाव्य' के ४ अ० १ पाद, ६४ वें श्लोक में 'मृत्योर्मनो यत्र नरे' इत्यादि में कही है।

प्रभूतः—६०

प्रभूत-शब्दो बहुपर्यायः। स विष्णुः स्वस्मिन् ज्ञानबलक्रियाभिः सम्पन्नः सन् प्रभूत उच्यते। कुतः ? न तत्परः कोऽपि कवितरो मेधया धीरतरोऽन्यः कश्चिदस्ति। मन्त्रलिंगं च—

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय॥
(अथर्व० ५-११-४)

सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः।
न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये॥
(अथर्व० ५-११-३)

स बलेनाधि प्रभूतः पूर्ण इति। मन्त्रलिंगं च—

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
त्वं वृषन् वृषेदसि॥ (ऋग्० १०-१५३-२)

न स क्रियायामन्यमपेक्षते प्रभूतत्वात्। मन्त्रलिंगं च—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥
(ऋग्० १०-१२९-२)

स पूर्णत्वात् प्रभूतः। मन्त्रलिंगं च—

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते॥ (अथर्व-१०-८-२९)

भवति चात्रास्माकम्—

प्रभूतमात्रः स विभुः पुराणस्तस्मान्न तत्कर्मणि चाल्पतास्ति।
बहु स्वयं सन् न सहायमीर्ते जगच्च संख्यामतिवर्ततेऽतः॥७९॥

प्रभूतः=ज्ञान, ऐश्वर्य आदि गुणों से सम्पन्न।

प्रभूत शब्द के अनेक पर्याय हैं। वह विष्णु अपने में ज्ञान, बल और क्रिया से सम्पन्न होकर प्रभूत कहलाता है। क्यों कि—उस से बढ़कर कोई कवि और बुद्धिमान् धैर्यशाली नहीं है जैसा कि—'न त्वदन्यः कवितरो इत्यादि दोनों मन्त्रों से प्रमाणित है। वह विष्णु बल से भी प्रभूत-पूर्ण है जैसा कि—'त्वमिन्द्र बलादधि' इत्यादि मन्त्र से ज्ञात होता है। वह विष्णु प्रभूत होने के कारण किसी अन्य की क्रिया की अपेक्षा नहीं रखता है यह भी 'न मृत्यु रासीदमृतं न तर्हि' इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है। वह विष्णु पूर्ण होने के कारण प्रभूत है जो कि—'पूर्णात् पूर्णमुदचति' इत्यादि आथर्वण मन्त्र से प्रमाणित है। अतः भाष्यकार ने इस का सार पद्य में इस प्रकार कहा है—

वह परमात्मा प्रभूत-मात्र है, सब से प्राचीन है अतः उसके कर्म में कोई अल्पता नहीं है। किन्तु जगत् स्वयं अपने आप को बहुत मान बैठता है और मार्गातिक्रमण करता है अतः वह परमात्मा उसकी सहायता नहीं करता है॥७९॥

त्रिककुब्धाम—६१

ककुबिति दिङ्नाम, ऊर्ध्वाधोतिर्यग्भेदेन तिसृणां ककुभां धामेति त्रिककुब्धाम, एतेन नाम्ना दिशामपि तदन्तर्भावो विज्ञापितो भवति। दिशां दशत्वं लोकप्रसिद्धं सदपि तिसृणां निर्देशन त्रिपर्वता विज्ञापिता भवति। यथा मनुष्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च पश्यति। स्वाभिमुखा दिक् स्वयमप्रयत्नसिद्धैव। धाम=स्थानमाश्रयो वा। मन्त्रलिंगं च—

दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। (अथर्व १०-७-३४)

भवति चात्रास्माकम्—

स एव त्रिककुब्धाम दिशस्त्रिस्त्रः समश्नुते।
दिशश्चापि विलीयन्ते नान्तं यान्ति च ता विभोः ॥८०॥

पवित्रम्—६२

पवित्रम्—पूङ् पवने भौवादिकः, पूञ् पवने क्रैयादिकः, आभ्यां *'कर्तरि चर्षिदेवतयोः'* (पा० ३-२-१८६) इत्यनेन करणे कर्त्तरि च इत्रप्रत्ययो भवति ऋषौ देवतायां च यथासंख्यम्, करणे ऋषौ, देवतायां च कर्त्तरि। पूयतेऽनेनेति पवित्रोऽयमृषिः। देवतायाम्—पवते पुनाति या सा देवता पवित्रम्। देवतानां च दैवतमित्युक्तत्वात्, तलन्तत्वाच्च देवताशब्दो नारीलिंगे वर्तमानः सन्नपि देव एव स्वार्थिक-तद्धितप्रत्ययस्य सद्भावाद् दैवतमिति। *"अग्निः पवित्रं स मा पुनातु"* *"वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते मा पुनन्तु"* इत्यादिः। मन्त्रलिंगं च—

त्रिककुब्धाम=ऊपर-नीचे और मध्यभेदवाली तीनों दिशाओं के आश्रयरूप।

ककुब् का अर्थ है दिशा। ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् इन तीनों दिशाओं का जो धाम स्थान है, वह त्रिककुब्धाम कहलाता है। इस नाम से दिशाओं का भी उसमें अन्तर-भाव विज्ञापित होता है। दिशाओं की संख्या यद्यपि लोक में दस प्रसिद्ध है तथापि तीन के निर्देश से इनके तीन पर्वों का भाव बतलाया गया है। जैसे कि मनुष्य ऊपर देखता है, नीचे देखता है और तिरछा देखता है। अपने सामनेवाली दिशा तो बिना प्रयत्न के सिद्ध है। धाम का अर्थ स्थान अथवा आश्रय है। 'दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण है। यही सार पद्य द्वारा इस प्रकार कहा गया है—

वही त्रिककुब्धाम है जो तीनों दिशाओं में व्याप्त है। और वे दिशाएं भी स्वयं विलीन हो जाती हैं किन्तु उस विभु का पार नहीं पा सकतीं ॥८८॥

पवित्रम्=सब को पवित्र करनेवाला।

प्रथमगणी अथवा नवमगणी पू धातु से करण अथवा कर्तृ-अर्थ में इत्र प्रत्यय होने से पवित्र शब्द बनता है। इसके द्वारा पवित्र होता है अतः पवित्र अर्थात् ऋषि। और देवता के अर्थ में-जो पवित्र करता है वह 'पवित्र' कहलाता है। देवता शब्द तल्प्रत्ययान्त होने से स्त्रीलिङ्ग है, तथापि वह देव वाचक होने से पुंलिङ्गार्थ में प्रयुक्त है। अग्नि पवित्र है वह मुझे पवित्र करे। वायु, सोम, सूर्य और इन्द्र पवित्र हैं वे मुझे पवित्र करें इत्यादि तथा 'पवित्रं ते विततं'

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥
(ऋग्० ६-८३-१)

भवतश्चात्रास्माकम्—

अग्निस्तथा वायुरुतापि दर्भः सूर्योऽथ चन्द्रश्च पवित्रवर्गः ।
पुनाति सर्वं स पवित्रनामा पवित्रता विष्णुवशाद्धि लोके ॥८१॥
खिदन्ति कायं परितश्च रोगा दोषाश्च देहं परिदूषयन्ति ।
तं दोषदूष्यं पवते पवित्रं विष्णुः स्वयं नामसहस्रजापात् ॥८२॥

उक्तं च चरके—

विष्णुं सहस्रमूर्द्धानं चराचरपतिं विभुम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति ॥
(चरके चिकित्सास्थाने अ० ३,३११ तथा च ३१२)

सहस्रमूर्द्धानम्="सहस्रशीर्षा पुरुषः" इत्यादि पुरुषसूक्तोक्तम् । सर्वान् ज्वरान् शमयति । स्तुवन्नामसहस्रेणेति यदुक्तं तत् प्रत्यक्षतो व्याख्यायमानमवगन्तव्यम् । ऋषिर्वेदः, पूयतेऽनेनेति पवित्रं वेदः, मन्त्रो वा । उक्तं च—

जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च ।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च ॥ (च० चि० स्था० ३।३१४)

एतन्महाभारतोक्तं विष्णुसहस्रनामात्मकं स्तोत्रं वेदोक्तनाम्नामेवाधिक्येन संग्रहाद् वेदवदेवेति कृत्वा सर्वविधज्वरविमोचने क्षमं भवति । दैवव्यपाश्रय-चिकित्सायामेतदन्तर्भवति । उक्तं च माहात्म्यवर्णने—

रोगार्तो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
भयान्मुच्येत भीतस्तु मुच्येतापन्न आपदः ॥ (वि० स० श्लो० १२८)

इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण रूप है । भाष्यकार ने इस पर पद्य में इस प्रकार कहा है—

अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि पवित्र समुदाय है उसे पवित्र करनेवाला वह पवित्रनामक विष्णु है उसी की कृपा से संसार में पवित्रता है ॥८१॥

रोग शरीर को चारों ओर से सताते हैं । दोष शरीर को दूषित बनाते हैं उस दोष से दूषित को भी भगवान् विष्णु अपने सहस्र नाम के जप से स्वयं पवित्र कर देते हैं ॥८२॥

चरक में भी कहा है कि—सहस्रशिरा, चराचरपति और विभुरूप उस विष्णु की सहस्र-नाम द्वारा स्तुति करने से वह सब प्रकार के ज्वरों को दूर करता है । ऋषि का अर्थ है वेद । उसके द्वारा जो पवित्र होता है वह पवित्र अर्थात् वेद अथवा मन्त्र । कहा भी है—जप, होम, दान, वेदों का श्रवण और साधुओं के दर्शन से शीघ्र ही ज्वर से मुक्त हो जाता है । यह महाभारतोक्त विष्णुसहस्र नामात्मक स्तोत्र वेदोक्त नामों से ही संगृहीत है, अतः यह वेद के समान ही है और सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करने में समर्थ होता है । यह दैवीचिकित्सा के अन्तर्गत माना जाता है । माहात्म्य वर्णन में भी 'रोगार्तो मुच्यते' इत्यादि १२८ वें पद्य में यही कहा गया है ।

मंगलं परम् – ६३

मंगलम्, मगिधातुर्गतावर्थे, तस्मात् "*मंगेरलच्*" उण्० ५-७०, इत्यनेनालच् प्रत्ययात् "मंगल"शब्दो निष्पद्यते। मंगयति प्रापयति सुखं भद्रं कल्याणं यशो वा तन्मंगलम्। प्रशस्तम्। मंगलग्रहाधिष्ठितो वारो वा। मंगलस्य भावो वा मांगल्यम्। मन्त्रलिंगं च—

नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥ (यजु० १६।४१)

परम्=उत्कृष्टम्। मंगलवर्गो निदर्शनमात्रमुक्तो "*मंगलानां च मंगलम्*" (वि० स० श्लो० १०) व्याख्यानावसरे तत्र द्रष्टव्यम्। एतेन विज्ञाप्यते मंगलशकुनान्येकतः स्युर्ब्रह्मनिष्ठश्चैकतः स्यात्, समाने काल एव च मंगलविहन्तृशकुनानि हततेजसानि भवन्ति यदि ब्रह्मनिष्ठो दृश्येत, प्रत्यक्षं वा समुपतिष्ठेतेति।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

लुब्धस्य रुष्टस्य बुभुक्षितस्य मनोजवेगेन परिप्लुतस्य।
मानादिदोषैर्विहतस्य चापि प्रज्ञापराधो विकरोति चित्तम्॥८३॥

खिन्नोऽथ दीनोऽथ भयं गतो वा श्रिया विहीनो किमु कान्तया वा।
मर्त्यो ह्यभद्राणि सदा चिनोति दोषा मतिं तस्य विकुर्वतेऽतः॥८४॥

एवंविधोऽप्यस्तमतिर्मनुष्यो जपन् स्तुवन् मंगलमेकचित्तः।
तन्मंगलं ब्रह्म तमुच्छिनोति साध्व्या धिया चोत्क्रमते सदा सः॥८५॥

मंगलं परमित्येकं नाम सविशेषणम्।

मङ्गलं परम्=परम मङ्गल।

गत्यर्थक मगि धातु से औणादिक अलच् प्रत्यय होने से 'मङ्गल' शब्द बनता है। सुख, कल्याण, यश आदि जिससे प्राप्त करता है वह है मङ्गल। इसका दूसरा अर्थ है प्रशस्त अथवा मङ्गलवार। मङ्गल का भाव माङ्गल्य है। इस में 'नमः शङ्कराय च' इत्यादि मन्त्र प्रमाणरूप है।

परम् का अर्थ है उत्कृष्ट। मङ्गल वर्ग निदर्शन मात्र के लिये कहा गया है। मङ्गल का अन्य अर्थ दसवें पद्य में देखना चाहिये। इससे ज्ञात होता है कि—मङ्गल के शकुन एक ओर हों तथा ब्रह्मनिष्ठ एक ओर हो तो समान काल में ही मङ्गल नाशक शकुन ब्रह्मनिष्ठ के दृष्टिगोचर होते ही अथवा समक्ष उपस्थित हो जाने से हततेज हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में भाष्यकार ने तीन पद्यों में लिखा है कि—

लुब्ध रुष्ट, बुभुक्षित अथवा कामवेग से या मान आदि दोष से अभिभूत व्यक्तियों का चित्त प्रज्ञापराध के लिये उद्युक्त होता है। इसी प्रकार दुःखी, दीन भय-प्राप्त, दरिद्र या स्त्री विहीन जो मनुष्य है, वह कल्याण से वञ्चित रहता है और दोष उसकी बुद्धि को विकृत कर देते हैं। उपर्युक्त स्थितियों में पड़ा हुआ भी यदि मनुष्य इस मङ्गलरूप विष्णु का एकचित्त हो कर जप अथवा स्तुति करता है तो उसे वह मङ्गलरूप ब्रह्म दुखों से निवृत्त कर देता है और उत्तम बुद्धि द्वारा उस स्तोता को युक्त कर देता है॥८३-८४-८५॥

मङ्गलं परम् यहविशेषण से युक्त एक ही नाम है।

ईशानः प्राणदः प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः।
हिरण्यगर्भो भूगर्भो माधवो मधुसूदनः ॥२१॥

६४ ईशानः, ६५ प्राणदः, ६६ प्राणः, ६७ ज्येष्ठः, ६८ श्रेष्ठः, ६९ प्रजापतिः।
७० हिरण्यगर्भः, ७१ भूगर्भः ७२ माधवः, ७३ मधुसूदनः ॥

ईशानः—६४

सर्वं जगदीष्ट ऐश्वर्यभावायानयतीति "ईशानः"। मन्त्रलिंगं च—

"तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम्।" (यजु० २५-१८)

भवति चात्रास्माकम्—

ईशानमेनं कवयः पुराणाश्चराचरस्याधिपतिं ब्रुवन्ति।
तमाह्वयन्ते स हि सर्वशास्ता स एव रक्षां कुरुते विपत्सु ॥८६॥

प्राणदः—६५

प्रपूर्वात् "अन प्राणने" धातोः करणे "हलश्च" (पा० ३-३-१२१) सूत्रेण 'घञ्'-प्रत्यये प्राणशब्दः सिध्यति। प्राण्यतेऽनेनेति प्राणः। शरीरकर्मसाधनीभूतेषु पंचवायुष्वेको वायुः प्राणसञ्ज्ञकः। तत्र—

"प्राणः संज्ञावाहिनीनां मूले मूर्द्धन्यवस्थितः।
सूक्ष्मरूपो बुद्धिचित्तेन्द्रियाणां स हि साधकः॥

ईशान, प्राणद, प्राण, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, भूगर्भ, माधव और मधुसूदन इन दस नामों का वर्णन इक्कीसवें पद्य से किया गया है जिनका भाष्य इस प्रकार है—

ईशानः=सर्वभूतों का नियन्ता।

सारे जगत् को ऐश्वर्य भाव के लिये लाता है—प्राप्त कराता है, वह है 'ईशान'। तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं, इत्यादि मन्त्र यहां प्रमाणरूप है। भाष्यकार ने पद्य द्वारा इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

कविगण इस ईशानरूप विष्णु को पुराण पुरुष और चराचर का अधिपति कहते हैं। उसी का आह्वान करते हैं, वही सब पर शासन करनेवाला है और वही विपत्तियों में रक्षा करता है ॥८६॥

प्राणदः=सब के प्राणों का संशोधन करनेवाला।

प्र उपसर्गपूर्वक अन धातु से घञ् प्रत्यय होने पर प्राण शब्द सिद्ध होता है। इसके द्वारा प्राणवान् बनते हैं इस व्युत्पत्ति से प्राण शारीरिक कर्मों में साधन भूत पांच वायुओं में एक वायु है। यह प्राणवायु संज्ञावाहिनी शिराओं के मूल में मस्तक पर स्थित है। यह सूक्ष्मरूप है और बुद्धि, चित्त, इन्द्रिय आदि का साधक है।

हृदादीनामिन्द्रियाणामभिप्रेतार्थ—साधने ।
प्रमुखः प्रेरकश्चायं ततः प्राण इति स्मृतः ॥
(शारीरतत्त्वदर्शनात्)

प्राणान् धारयितुं शक्तिर्यद्व्यवस्थया व्यवतिष्ठते स प्राणान् ददातीति सन् "प्राणदः" उच्यते । मन्त्रलिंगं च—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋग्० १०-१२१-३ । अथर्व० ४-२-२, यजु० २३-३, २५-११)

"को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्" (तै० उ० २-७) यद्वा, दो अवखण्डने दैवादिकाद् धातोः—प्राणान् द्यति कालात्मनावखण्डयतीति प्राणदः । शनैः शनैः कालेन क्षीयमाणाः प्राणाः प्राणिनं मृत्युमुख उपढौकयन्ति । मन्त्रलिंगं च—

प्राणो मृत्युः प्राणं तक्मा, (अथर्व ११-४-११) *तक्मा ज्वरो रोगो वा ।*

यद्वा, प्राणान् दापयति शोधयतीति प्राणदः, दैप् शोधने भौवादिकः, प्राणविद्याविदस्य* चिरमभ्यस्यतो योगिनः प्राणाः शुद्धयन्ति । उक्तं च—*"प्राणो ह सर्वस्येश्वरो"* (अथर्व ११-४-१०) । दाप् लवने अदादिः । प्राणान् दाति लुनातीति वा प्राणदः, कालो हि क्रमशः प्राणान् क्षिणुवन् मृत्युमुखमानयतीति प्राणदः । कालः सः । "कालः सर्वस्येश्वरः" (अथर्व० १६-५३-८) ।

हृदय आदि इन्द्रियों के अभिप्रेत अर्थ का प्रमुख प्रेरक भी यही प्राणवायु माना गया है । प्राणों को धारण करने की शक्ति जिस व्यवस्था से व्यवस्थित होती है वह प्राणों को देता है इसलिए 'प्राणद' कहलाता है । 'यः प्राणतो निमिषतो' इत्यादि मन्त्र तथा—'को ह्येवान्यात्' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण हैं । अथवा दिवादिगण पठित दो—अवखण्डने धातु से प्राणों को काल के द्वारा जो क्षीण करता है वह प्राणद है । धीरे धीरे काल के द्वारा क्षीण होते हुए प्राण प्राणी को मृत्यु के मुख में पहुंचाते हैं । 'प्राणो मृत्युः प्राणं तक्मा' इत्यादि मन्त्र इस में प्रमाण भूत हैं । अथवा शोधनार्थक दैप् धातु से भी प्राणद शब्द बन जायेगा जिसका अर्थ होगा—प्राणों का शोधन करनेवाला । प्राणविद्या को जाननेवाले नित्याभ्यासी योगी के प्राण शुद्ध हो जाते हैं । जैसा कि—'प्राणो ह सर्वस्येश्वरो' इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है । अदादि गण पठित दाप् धातु से भी प्राणद शब्द बनेगा, तब इसका अर्थ होगा —प्राणों को क्षीण करनेवाला । प्राणों को काल क्रमशः क्षीण करता हुआ मृत्यु के निकट पहुँचाता है अतः वह प्राणद काल होगा । वह काल सर्वेश्वर है । सारांश यह है कि उस परमात्मा की व्यवस्था से ही

---

* इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (पा० ३।१।१३५) इति विद्धातोः कः प्रत्ययः, विदः, ततः षष्ठी ।

सारांशतः—तद्व्यवस्थयैव गर्भे प्राणिनं प्राणा निबध्नन्ति तद्व्यवस्यैव च याथार्थ्येन भोगान् भोजयित्वा प्राणिनं प्राणा विमुञ्चन्तीति कृत्वा सर्वदैव श्वासानुश्वासं स प्राणद एव ध्येयः स्मरणीयश्चेति।

भवति चात्रास्माकम्—

प्राणान् ददाति, किमु वा द्यति, दाति किं वा,
प्राणान् विशोधयति, दापयतीति किं वा।
सर्वत्र सर्वविधिना स हि विष्णुरेको,
यः प्राणदोऽस्ति कथितः श्रुतिभिः पुराणः ॥७७॥

प्राणः—६६

प्राण-शब्दो व्याख्यातचरः 'प्राणद' इति नामव्याख्यानावसरे। मन्त्रलिंगं च—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥अथर्व० ११-४-१॥

प्राणस्य विशिष्टं व्यापकतां परिज्ञातुमथर्ववेदस्यैकादशे काण्डे चतुर्थं सूक्तं पठनीयं तत् सर्वमेव चराचरे प्राणस्य विविधरूपतां दर्शयति, प्राणस्य माहात्म्यं पाठं पाठं तस्यैव प्राणरूपस्य सर्वेश्वरस्य "प्राण" इति नाम हठादाविर्भवति। स एक एव "अन प्राणने" धातुरुपसर्गभेदेन प्राणं पंचधा विशिनष्टि। तद्यथा— प्राणः, उदानः, समानः, अपानः, व्यानः, इति। पंच च पुनः पृथक् क्रियाज्ञानसौ–

प्राणियों के प्राणों का निबन्धन होता है तथा उसकी व्यवस्था से ही यथार्थरूप में—भोगों को भोग कर प्राणियों को प्राण छोड़ते हैं। इसलिए सर्वदा श्वासोच्छ्वास द्वारा उस प्राणद परमेश्वर का ध्यान और स्मरण करना चाहिए। भाष्यकार ने इसका सार इस रूप में संग्रहीत किया है—

वह प्राणद प्राणों को देता है, नष्ट करता है, विशुद्ध करता है, प्रदीप्त करता है अथवा सर्वत्र सर्वरूप में व्याप्त रहता है वह एक विष्णु पुराण पुरुष ही श्रुतियों में प्राणद कहा गया है ॥७७।

प्राणः—सबको जीवित रखनेवाला प्राण स्वरूप।

प्राण शब्द की पहले व्याख्या की जा चुकी है 'प्राणाय नमो यस्य' इस रूप में वैदिक मंत्रों में उस परमात्मा को प्राण कहा गया है। प्राण की विशेष व्यापकता को जानने के लिए अथर्ववेद के ग्यारहवें कांड में चौथा सूक्त है जो सभी चराचरों में प्राण की विविधता को दिखलाता है। प्राण के माहात्म्य का बार-बार पठन करने से उस प्राणरूप सर्वेश्वर का "प्राण" नाम हठपूर्वक निकल आता है। वह अकेला ही—'अन' धातु प्राणार्थक होकर उपसर्गों के योग से प्राण के पांच भेद बतलाता है यथा—१-प्राण, २-उदान, ३-समान, ४-अपान और ५-व्यान

लभ्यमधिकृत्य—तद्यथा, नागः, कूर्मः, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयः, इति। एतेनैतज्ज्ञातव्यं यत् सत्यमाचरतो मनुष्यस्यैते पञ्चप्राणा यथान्यायं साधुकर्माणि कुर्वन्तो जीवयन्ति, सा सद्बुद्धिस्तस्यैव जप-दान-होमादिभिरुदीर्यते। प्राणो हि चराचरमधितिष्ठति। मन्त्रलिंगं च—

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥
अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥इत्यादिः।
(अथर्व ११-४-१३, १४)

भवति चात्रास्माकम्—

प्राणं जगत् प्राणिति तत्प्रयुक्तः,
प्राणः स उक्तः स शिवः स विष्णुः।
प्राणेन विश्वं परितोऽस्ति गुप्तं,
प्राणं विना नात्र विभाति किंचित् ॥८८॥

ज्येष्ठः—६७

शंसु स्तुतौ, भौवादिकः। प्रशंसितुमर्हः प्रशस्यः। तस्य प्रशस्य-शब्दस्याजाद्योः प्रत्यययोः परतो "ज्य" इत्ययमादेशो भवति। सर्वे इमे प्रशस्या अयमतिशयेन प्रशस्यः=ज्येष्ठः। सूत्रं यथा--ज्य च (पा० ५-३-६१) तथा च "वृद्धस्य च" (पा० ५-३-६२) इत्यनेन वृद्ध-शब्दस्य "ज्य" आदेशः क्रियते, अजाद्योः प्रत्यययोः

ये पांचों पुनः क्रिया एवं ज्ञान की सुलभता के आधार पर १-नाग, २-कूर्म, ३-कृकल, ४-देवदत्त, और ५-धनंजय नाम से परिगणित हैं। इसी से समझना चाहिए कि सत्य का आचरण करते हुए मनुष्य के ये पाँचों प्राण यथा न्याय उत्तम कर्म करते हुये जीवित रहते हैं तथा ऐसी सद्बुद्धि जप, दान, होम आदि के द्वारा ही प्राप्त होती है। प्राण जो है वह चराचर में अधिष्ठित रहता है "प्राणापानौ" इत्यादि मन्त्र तथा 'अपानति प्राणति' इत्यादि मन्त्र इस के प्रमाण रूप हैं। भाष्यकार ने पद्य द्वारा सारसंग्रह इस प्रकार किया है—

जिसकी प्रेरणा से प्राण जगत् को प्राणवान् बनाता है वह प्राण शिव और विष्णुरूप कहा गया है। प्राण के द्वारा ही संसार सर्वतः परिरक्षित है तथा प्राण के बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

ज्येष्ठः=सब का कारण होने से सबसे बड़ा।

'शंसु-स्तुतौ' इस भ्वादिगण पठित धातु से प्रशंसा के योग्य इस अर्थ में निर्मित प्रशस्य शब्द को 'ज्य' आदेश हो जाता है तथा अतिशयार्थ में इष्ठन् प्रत्यय होकर अत्यन्त प्रशंसनीय-अर्थ में ज्येष्ठ शब्द सिद्ध होता है। इसी प्रकार अत्यन्त वृद्ध के अर्थ में भी वृद्ध शब्द को 'ज्य' आदेश

परतः। सर्वं इमे वृद्धा अयमतिशयेन वृद्धः=ज्येष्ठः। अत्र 'इष्ठन्' प्रत्ययोऽजादिः।

न हि तस्मात् सकलेश्वरादधिकः कश्चित् प्रशंसितुमर्हस्तस्मात् स ज्येष्ठः। न च तस्मात् वृद्धतमो वा कश्चिदिति कृत्वा वा स ज्येष्ठ उक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ (अथर्व १०-८-१)

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन॥
(अथर्व० १०-८-१६)

भवति चात्रास्माकम्—

सूर्यं प्रशंसन्ति नमन्ति लोकाः सूर्योऽपि लोकं भ्रमयत्यशेषम्।
न सोऽपि तत्पारमवेत्यनल्पो ज्येष्ठात् परं ज्येष्ठमिहास्ति नान्यत्॥८९॥

श्रेष्ठः—६८

प्रशस्य-शब्दस्य "प्रशस्यस्य श्रः" (पा० ५-३-६०) इत्यनेनाजाद्योः प्रत्यययोः परतः "श्र" इत्ययमादेशो भवति। इष्ठनीयसुनौ चाजादी प्रत्ययौ, तत्रायमिष्ठनि प्रत्यये "श्रेष्ठ" इति रूपम्। सर्वं इमे प्रशस्या अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः=श्रेष्ठः। मन्त्रलिंगं च—

श्रेष्ठं यविष्ठमतिथिं स्वाहुतं जुष्टं जनाय दाशुषे।
देवाँ अच्छा यातवे जातवेदसमग्निमीडे व्युष्टिषु॥
(ऋग्० १-४४-४)

होने पर पूर्ववत् ज्येष्ठ शब्द की सिद्धि होती है। उस सकलेश्वर से बढ़कर कोई प्रशंसा के योग्य नहीं है अतः वह ज्येष्ठ है। इसी प्रकार उस परमात्मा से अधिक बूढ़ा भी नहीं है इसलिए उसे भी ज्येष्ठ कहते हैं। "यो भूतं च भव्यं च" इत्यादि मन्त्र इस में प्रमाणरूप हैं। भाष्यकार ने यही बात पद्य द्वारा इस प्रकार कही है—

संसार के मानव सूर्य की प्रशंसा करते हैं और महान् तेजस्वी सूर्य भी सारे जगत को चक्र के समान घुमाता रहता है। वह सूर्य भी जिसके पार को नहीं पाता है ऐसा वह परमात्मा सबसे अधिक ज्येष्ठ—प्रशंसनीय तथा सबसे अधिक ज्येष्ठ=वृद्ध है अन्य नहीं॥८९॥

श्रेष्ठः=सब से उत्कृष्ट होने से सब से श्रेष्ठ।

पूर्वोक्त प्रशस्य शब्द को ही "श्र" आदेश होता है, तथा इष्ठन् प्रत्यय होने पर "श्रेष्ठ" शब्द बनता है। ये सब प्रशस्य हैं और वह परमात्मा इनसे भी अधिक प्रशंसनीय है इसलिए वह श्रेष्ठ है। 'श्रेष्ठं यविष्ठमतिथिं' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण हैं। ब्रह्म में सभी मन्त्रों का

ब्रह्मणि सर्वे मन्त्रा विनियोगमापद्यन्त इति कृत्वा श्रेष्ठमत्र विशेषणं बहुविध-विशेषणयुक्तस्याग्नेः ।

भवति चात्रास्माकम्—

तस्मात् परः श्रेष्ठतमो न कश्चित् तमो न तस्मिन् न रजोऽस्ति तस्मिन् ।
वेदे स उक्तस्तमसः परस्तात् श्रेष्ठः स विष्णुर्भुवि कीर्त्तनीयः ॥६०॥

अत्र—श्रेष्ठतम इति, अतिशयद्योतकः । यथा वेदेऽपि—*श्रेष्ठतमाय कर्मणे* । इत्यादि ।

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ (यजु० २७-१०)

प्रजापतिः—६६

पा रक्षणे, अदादिः । तस्मात् "पातेर्डतिः" (उ० ४-५७) इत्यनेन सूत्रेण डति-प्रत्यये पति-शब्दो निष्पद्यते । पाति रक्षतीति पतिः । प्रजानां पतिः=प्रजापतिः । वक्ष्यति चाग्रे विश्वरेतेति नाम, श्लोके त्रयोविंशतितमे । अत्राखिले ब्रह्माण्डे यत् किंचिज्ज्ञानतोऽवगन्तुमर्हमस्ति, यद्वा मनुष्यज्ञानेन पर्यवेष्टुमपि न शक्यमस्ति, तस्य सर्वस्य रेतो बीजरूपं सत् प्रजाः पाति रक्षति, यथा पिता पुत्रं रक्षति, यन्त्र-स्याविष्कर्त्ता तमाविष्कारं रक्षति, योऽयं रक्ष्य-रक्षकधर्मो लोके दृश्यते स तस्य एव प्रजापतेर्गुणानुसरणमात्रमेवास्ति । स एव सर्वबीजगोप्ता तस्मात् प्रजाः प्रजायन्ते,

---

विनियोग होता है अतः श्रेष्ठ शब्द अनेकविध विशेषणों से युक्त अग्नि का विशेषण है। भाष्यकार ने पद्य में इस प्रकार कहा है—

उस परमात्मा से बढ़कर अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है, उसमें न तम है और न रज है । वेदमें वह 'तम से परे' कहा गया है । ऐसा श्रेष्ठ वह विष्णु पृथिवी पर कीर्तनीय है ॥६०॥

'उद्वयं तमसस्परि स्वः' इस वेद मन्त्र में भी यही कहा गया है ।

प्रजापतिः=ईश्वर रूप से सारी प्रजाओं का स्वामी ।

पा धातु से 'डति' प्रत्यय होने पर पति शब्द निष्पन्न होता है । जो रक्षा करता है वह है—पति । प्रजाओं का पति 'प्रजापति' कहलाता है । अग्रिम तेईसवें श्लोक के अठ्यासीवें नाम में 'विश्वरेताः' शब्द में और कहा जाएगा । इस सारे ब्रह्माण्ड में जो कुछ ज्ञान से जानने योग्य है अथवा मनुष्य के ज्ञान द्वारा दिखाई देने में जो अशक्य है उस सब का बीजरूप होकर वह प्रजा का पालन करता है । पिता पुत्र की रक्षा करता है, यन्त्र का आविष्कारक उस आविष्कार की रक्षा करता है, इस प्रकार का यह रक्ष्य-रक्षक धर्म जो संसार में दिखाई देता है वह उस प्रजापति के गुणों का अनुसरणमात्र है । वही सर्व बीजों का गोप्ता है, उससे ही प्रजा उत्पन्न होती है और वही रक्षा करता है । इसलिए विष्णु ही प्रजापति कहलाता है । "यस्माज्जातं न पुरा" इत्यादि तथा "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः" इत्यादि मन्त्रों से भी यही प्रतिपादित है । केवल

स एव च रक्षति, तस्मात् स विष्णुरेव प्रजापतिरुच्यते। मन्त्रलिंगं च—

यस्माज्जातं न पुरा किंचनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥
(यजु० ३२-५)

अन्यच्च—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ (यजु० ३१-६)

पश्यतिमात्रधर्मत्वात् मनुष्यशिशुरपि पशुरेव भवति। मन्त्रलिंगं—

वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।
(अथर्व० १४-२-२५)

प्रजापतिः स सर्वव्यापको विष्णुः। मन्त्रलिंगं च—

प्रजापते! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥
(अथर्व० ७-७९-४। यजु० १०-२०। ऋग् १०-१२१-१०)

भवति चात्रास्माकम्—

स विश्वरेताः सकलं प्रसूते स्वाभाविकज्ञानबलक्रियाभिः।
स्वभावतः पाति जगत् समग्रं प्रजापतिः सोऽभिहितोऽस्ति विष्णुः॥६९॥

हिरण्यगर्भः—७०

हिरण्यम्, हर्य गतिकान्त्योः, भौवादिकः। तस्मात् "हर्यते कन्यन् हिर् च" (उ० ५-४४), इत्यनेन हर्यतेः कन्यन्प्रत्ययः प्रत्ययेन साकं 'हिर्' च धातोः स्थान आदेशो भवति। हर्यंति द्रवतां प्राप्य गच्छतीति हिरण्यम्, सुवर्णं वा। हर्यते

देखने की क्षमता रखने के कारण मनुष्य का शिशु भी पशु ही है। "वितिष्ठन्तां मातुरस्याः" इत्यादि अथर्वमन्त्र इसका प्रमाण है। तथा वह सर्वव्यापक विष्णु ही प्रजापति है इसके लिए भी 'प्रजापतेः न त्वदेतान्यन्यो' इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं। इस कथन को भाष्यकार ने पद्य द्वारा इस रूप में कहा है—

वह विश्वरेता, अपने स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया द्वारा समग्र विश्व की उत्पत्ति करता है, तथा समस्त जगत् का स्वभावतः रक्षण करता है, इसलिए वह विष्णु प्रजापति कहा गया है॥६९॥

हिरण्यगर्भः=ब्रह्माण्ड रूप हिरण्यमय अण्ड के भीतर ब्रह्मा के रूप से व्याप्त होनेवाला।

गति और कान्ति अर्थवाले हर्य धातु से औणादिक कन्यन् प्रत्यय और हिर् आदेश होने से हिरण्य शब्द बनता है। हिरण्य अर्थात् सुवर्ण। लोगों के द्वारा जिसकी कामना की जाये,

काम्यते जनैरिति हिरण्यम्. ह्रियते जनाज्जनं क्रियासिद्ध्यर्थं प्राप्यत इति हिरण्यम्। हिरण्यं गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भः। सर्वव्यापको ब्रह्मा विष्णुरिति विविधनामगम्यः। मन्त्रलिंगं च—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(अथर्व० ४-२-७। ऋग्० १०-१२१-१। यजुः० १३-४। २३-१। २५-१०। निरुक्ते १०-२३)

वक्तव्यम् - तेजोरूपाणां सूर्यादीनामप्यसावेव ग्रहीतास्तीति कृत्वा हिरण्यार्थिनापि नानाविधमग्नेर्भेदप्रभेदपरिज्ञानं कुर्वता स एव हिरण्यगर्भः स्तूयत इति मत्वा नानाविधा अग्निसम्बन्धिन्यो विद्या आविष्करणीयाः। हिरण्यगर्भेण भगवतात्मस्वरूपं परिज्ञापयता सकलस्य प्राणिवर्गस्यान्तः पित्तरूपेणाग्निः स्थापितोऽस्ति। व्यपगतेऽग्नौ प्राणी म्रियते। अर्थात् हिरण्यगर्भेण स परित्यज्यते, तस्मात् शारीरवह्ने रक्षणमपि हिरण्यगर्भस्य पूजैवेति मन्तव्यम्। तेजोवत्सु यत् तेजस्तदपि तस्यैवेति न्यायमनुसरताग्नौ यत् तेजस्तदेव पक्तृ। एतमेवार्थं रूपान्तरेण गीतायमाह योगिराजः कृष्णोऽपि। तद्यथा—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
(अ० १५, श्लो०- १२, १३, १४)

अथवा क्रिया सिद्धि के लिए एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य द्वारा प्राप्त किया जाये वह है हिरण्य, हिरण्य है गर्भ में जिसके वह— हिरण्यगर्भ। सर्वव्यापी ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि नामों से ज्ञेय है। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" इत्यादि मन्त्र वेदों में प्राप्त होता है जो इसका प्रमाण है। विशेष कहना यह है कि तेजोरूप सूर्यादि का भी यही ग्रहण करनेवाला है इसलिए हिरण्य की प्राप्ति की इच्छावाले भी नानाविध अग्नि के भेद-प्रभेद जानते हुए इसी हिरण्यगर्भ की स्तुति करते हैं ऐसा मानकर अनेक प्रकार की अग्नि सम्बन्धी विद्याएं प्रकट करनी चाहिएं। भगवान् हिरण्यगर्भ ने आत्मस्वरूप का परिचय देते हुए सकल प्राणिवर्ग के अन्दर पित्तरूप में अग्नि का स्थापन किया है। इस अग्नि के अभाव में प्राणी मर जाता है अर्थात् हिरण्यगर्भके द्वारा वह छोड़ दिया जाता है। इसलिये शारीरिक वह्नि का रक्षण भी हिरण्यगर्भ की पूजा ही है ऐसा मानना चाहिए। तेजस्वियों में जो तेज है वह भी उसका ही है, इस न्याय का अनुसरण करते हुये अग्नि में जो तेज है वही पाचक या भोक्ता पदार्थ है। इसी अर्थ को रूपान्तर से भगवान् कृष्ण ने कहा है—'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादि। भाष्यकार ने इस कथन का संग्रह इस प्रकार किया है—

भवति चात्रास्माकम्—

हिरण्यगर्भः स विभुः स विष्णुस्तेनैव देहो विहितोऽग्निगर्भः ।
सर्वत्र रूप निजकं विभाव्य सोऽन्तर्दधे विश्वमिदं यथाण्डे ॥९२॥

भूगर्भः—७१

भू सत्तायाम्, भौवादिकस्तस्मात् क्विपि प्रत्यये–'भूः' शब्दो निष्पद्यते । भवन्त्यस्यामिति भूः पृथिवी, पृथिवी प्रथतेर्विस्तारकर्मणः । मन्त्रलिंगं च—

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान ।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋग् १०-१२१-९)

एतेन भूगर्भेण नाम्ना ज्ञाप्यते यद् यद्यस्यां भवति सा जायमानस्य भूरपि तेन परात् परेण ब्रह्मणा धृतास्ति । तद्यथा जायमानं तन्माता गर्भेऽन्तर्दधाति, परन्तु सा भूरूपा मातापि तस्य विष्णोर्गर्भ एवास्ते, तां जननीं पृथिवी स्वाश्रयात्मके गर्भ आदधाति, सा भुवोऽपरपर्याया पृथिवी च तस्य गर्भेऽस्तीति कृत्वा स भूगर्भ उक्तो भवति । उक्तं च—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
(यजु० ३१-१९)

वह विभु, वह विष्णु हिरण्यगर्भ है । उसी के द्वारा शरीर को अग्निगर्भ बनाया है । सर्वत्र अपने रूप को प्रकट करके वह हिरण्यगर्भ अन्तर्धान हो जाता है, जैसे यह विश्व एक अण्ड में निहित है ॥९२॥

भूगर्भः—पृथिवी को गर्भ में रखनेवाला ।

प्रथम गण पठित सत्तार्थक भू धातु से क्विप् प्रत्यय होने से भू शब्द बनता है । इसमें होते हैं— इस व्युत्पत्ति द्वारा पृथिवीवाचक यह शब्द है । पृथिवी शब्द की व्युत्पत्ति है प्रथते इति पृथिवी अर्थात् विस्तार कर्मवाली पृथिवी कहलाती है । "मा नो हिंसीज्जनिता" इत्यादि ऋग्वेद का मन्त्र इसमें प्रमाणभूत है । इस भूगर्भ से ज्ञात होता है कि—जो जिसमें होता है, वह भू-पृथिवी भी उस परात्पर ब्रह्म पर ही आधृत है । जैसे कि माता उत्पन्न होनेवाले को गर्भ में धारण करती है । किन्तु वह भूरूपा माता भी उस विष्णु का गर्भ ही है, उस जननी को पृथिवी अपने आश्रयात्मक गर्भ में धारण करती है । वह भू-पर्याय वाली पृथिवी उस (विष्णु) के गर्भ में है इसीलिये उसको भूगर्भ कहते हैं । 'प्रजापति श्चरति गर्भे, तथा—अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण हैं । 'वह विष्णु—प्राण है' यह पहले कहा जा चुका है ।

अन्यच्च—

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥
(अथर्व ११-४-१४)

प्राणः स विष्णुः पूर्वं व्याख्यातः ।

सारांशः—यद् यदाश्रित्य भवति तस्याधारस्यापि स एवाधारभूतः सन् "भूगर्भः" इति पदेन व्याख्यातो भवति ।

भवति चात्रास्माकम्—

चतुर्विधा सृष्टिरियं विचित्रा यामाश्रयीकृत्य जनिं दधाति ।
सा भूः समग्रस्य चराचरस्य भूगर्भसंज्ञस्य च गर्भ आस्ते ॥९३॥

माधवः—७२

मा-शब्दो लक्ष्मीपर्यायः । धवः स्वामी पतिर्वा । मायाः=लक्ष्म्या धवः माधवः । मन्त्रलिंगं च—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥
(ऋग् १०-४८-१)

यद्वा, मन ज्ञाने दैवादिकस्तस्मादौणादिक उः प्रत्ययो धकारश्चान्तादेशः । सूत्रं यथा—फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च (१-१८) । मन्यते तदतिशयेनेति मधुः पण्डितो मधुर्वा । यद्वा, मनेर्धश्छन्दसि (उ० २-११६) इत्यनेन मन ज्ञाने दैवादिकः, मनु अवबोधने तौदादिकः, मनधातोश्छन्दसि "उसि" प्रत्ययो धकारश्चान्तादेशः । मन्यते मनुते वा मधुः, पवित्रम् । सर्वविधमननकर्ता प्राज्ञः । मन्यन्ते

सारांश यह है कि—जो जिसका आश्रय लेकर होता है उसका आधार भी वही आधारभूत बनकर 'भू गर्भ' इस नाम से व्याख्यात होता है । इस कथन का सारसंग्रह भाष्यकार ने इस प्रकार पद्यबद्ध किया है ।

यह चार प्रकार की विचित्र सृष्टि जिसका आश्रय लेकर उत्पन्न होती है वह भू समग्र चराचर और भूगर्भ संज्ञक उस परमात्मा के गर्भ में विराजमान है ॥९३॥

माधवः=लक्ष्मी का पति ।

मा शब्द का अर्थ है लक्ष्मी, धव शब्द का अर्थ है स्वामी अथवा पति । लक्ष्मी का जो पति है वह माधव कहलाता है । 'अहं भुवं वसुनः' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण है । अथवा—दिवादिगण पठित ज्ञानार्थक मन धातु से औणादिक उ प्रत्यय और धकार का अन्तादेश होने पर मधु शब्द बनेगा जिसका अर्थ होगा पण्डित, मधु, पवित्र, सब प्रकार का मनन करनेवाला प्राज्ञ । अथवा विशेष रूप से जानते हैं जिसमें वह मधु—चैत्रमास । मधु और माधव ये दोनों वसन्त

विशेषेण ज्ञायन्ते यस्मिन् स मधुश्चैत्रो मासः। "मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू" (यजु० १३-२५)। मधुः=जीवनीयरसो वा। मन्त्रलिंगं च—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥ (यजु० १३-२७)

माध्वीर्गावो भवन्तु नः। (यजु० १३-२८)

इत्यादि स्वयमुन्नेयं ज्ञानविज्ञानजिज्ञासुना। शिशिरर्तौ वातशीताभ्यां मंधातभावमापन्नाः पार्थिवा आप्या रसाश्चैत्रे मासि सूर्यस्य प्रखरकिरणैर्द्रवतामपन्ना नानाविधा वनस्पतिः पुष्प्यन्ति। कुसुमानां च विविधता दृग्गोचरमापन्ना तस्यैव विविधविज्ञानवतो विष्णोः कर्म विज्ञानं वा दर्शयति, विविधरूपवर्णाऽऽकारेषु सत्स्वपि पुष्पेषु यो मनोहरो गुणः स तस्यैव सर्वप्रियस्य विष्णोः, एतेन माधवनाम्ना विज्ञाप्यते यत् सर्वत्र सरसप्रकृतिमत्स्वपि तस्यैव व्यापकतास्तीति कृत्वा भक्तेन नूनं सरसेन सर्वविधगम्येन च भवितव्यम्। कुसुमानां विद्या मधुविद्या। एतेन सर्वर्तुषु सर्वभूमौ च समुद्भवितुमर्हाणां पुष्पाणां ग्रहणं भवति। भिन्नो भिन्नो हि ऋतुसंचारो भवति देशभेदेन कालभेदेन च। परन्तु तस्मिन् व्यापके विष्णौ कालेन देशेन दिशा च भेदो न भवतीति कृत्वा माधवः स सर्ववित् सर्वज्ञानी सर्वस्य विधाता विष्णुरिति।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

स एव पूर्व्यो भुवि माधवोऽस्ति तमेव नाथन्ति जना जनेशम्।
स सर्ववित् पुष्पविधानविज्ञो नानाविधां ज्ञापयते तनूं स्वाम्॥९४॥

ऋतु में आते हैं। मधु का अर्थ जीवनीय रस भी है। 'मधु वाता ऋतायते' इत्यादि यजुर्वेदीय मन्त्र इसमें प्रमाण है। यह सब ज्ञान-विज्ञान के जिज्ञासु को स्वयं जानना चाहिए। शिशिर ऋतु में वायु और शीत के कारण एकीभाव को प्राप्त हुए पार्थिव जलमय रस चैत्रमास में सूर्य की प्रखर किरणों के द्वारा पिघल कर अनेकविध वनस्पतियों को पुष्पित करते हैं। और फूलों की अनेकरूपता—जो कि हमें सहज दिखाई देती है–वह–उसी विविध विज्ञानवाले विष्णु के कर्म अथवा विज्ञान को दिखलाती है। विविध रूप, वर्ण और आकारों के रहते हुए भी पुष्पों में जो मनोहर गुण है वह उस सर्वप्रिय विष्णु का ही है। इस माधव नाम से ज्ञात होता है कि सर्वत्र सरस प्रकृतिवालों में भी उसी विष्णु की व्यापकता है इसलिए भक्त को निश्चय ही सरस और सब प्रकार से सरल होना चाहिये। पुष्पों की विद्या को मधु विद्या कहते हैं। इससे सभी ऋतुओं में और सब भूमियों में उत्पन्न होने योग्य पुष्पों का ग्रहण हो जाता है। देश और काल भेद के कारण भिन्न भिन्न ऋतु-संचार होता है किन्तु उस व्यापक विष्णु में काल एवं दिशा सम्बन्धी भेद नहीं होता, अतः वह माधव सर्ववित् सर्वज्ञानी और सर्व विधाता विष्णु ही है। उपर्युक्त कथन को निम्न पद्यों में सङ्कलित किया है—

इस भूतल पर वह माधव सबसे प्रथम है, उसको ही सभी जन चाहते हैं—उससे ही सब याचना करते हैं, वह सब प्रकार के पुष्पों की रचना में निपुण है और वह उन पुष्पों के माध्यम से अपनी अनेकरूपता को व्यक्त करता है॥९४॥

नाथन्ति याचन्त इत्यर्थः। अत्र नाथधातोराशिष्येवात्मनेपदत्वं व्यवस्थितम्। "आशिषि नाथः" वार्तिकम् (सूत्रे १-३-२१)।

स्वाभाविकं ज्ञानबलक्रियाभिः पुष्णाति पुष्पाणि पृथग् रसैः सः,
स एव दुग्धे रसमादधाति स माधवो वर्षति वारिवाहैः ॥९५॥

स माधवो रूपमनिन्द्यमित्वा कवौ स्वयं तिष्ठति काव्यरूपः।
त माधवं स्तौति जगत् समग्रं स दाशुषे यच्छति भोजनानि ॥९६॥

मौनेन ध्यानेन योगेन च यो ज्ञातुमर्हः स माधवः। व्यासवचनं यथा—
मौनाद् ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम्। (महा० उद्योगपर्व ७०-४)

अत्र या व्यासेन निरुक्तिः प्रदर्शिता सा नित्ये ब्रह्मण्येव संगच्छते, तस्य ब्रह्मणो विविधाः कृतयो याभिर्विचित्रं जगद् भाति, ताः काश्चन मौनमालम्ब्य ज्ञातुमर्हाः सन्ति, काश्चन च ध्यानेन, काश्चन च मौनध्यानयोर्योगेन। अक्षरवर्णमधिकृत्य कृतं निर्वचनं नित्यस्य भवति न तु विनाशवतः। मधौ चैत्रे मासि मधुमक्षिकाभिर्हृतः पुष्परसोऽपि मधु-संज्ञां लभते। तच्च पुनः पुष्पमात्रादाकृष्टं सर्वर्तुषु भवं चापि मधु-सज्ञां लभत एव। पुष्पेभ्यो बाहुल्यादासुतो रसोऽपि मधुसंज्ञां लभते, मद्यगुणः। पुष्पाण्यपि च मदयन्ति मूर्च्छयन्ति च। तद्विद्याविदोऽपि माधवः। एवं माधवेन भगवता सर्वत्र रसमधिकृत्यात्मविभूतयो वितानिताः सन्तीति सर्वैर्ज्ञेयम्।

वह विष्णु स्वाभाविक ज्ञान, बल एवं क्रिया और पृथक्-पृथक् रसों के द्वारा पुष्पों को पुष्ट=विकसित करता है। वही दूध में रसका आधान करता है, तथा वही माधव मेघ के रूप में वर्षा करता है ॥९५॥

वह माधव कवि के मानस में अनिन्द्य रूप को प्राप्त होकर स्वयं काव्यरूप में विराजमान रहता है। उस माधव की सारा जगत् स्तुति करता है तथा वही माधव प्राणियों को भोजनादि प्रदान करता है ॥९६॥

मौन, ध्यान और योग से जो ज्ञेय है वह माधव है ऐसा महाभारत में व्यास जी ने भी कहा है। यहां महर्षि व्यास ने जो माधव शब्द की निरुक्ति की है वह नित्य ब्रह्म में ही सङ्गत होती है। उस ब्रह्म की अनेक प्रकार की कृतियां हैं, जिनके द्वारा यह विचित्र जगत् प्रकाशित होता है। उन कृतियों में कुछ मौनपूर्वक जानी जा सकती हैं, कुछ ध्यान-पूर्वक ज्ञेय हैं और कुछ मौन एवं ध्यान से युक्त योग के द्वारा जानी जा सकती हैं।

अक्षर वर्ण का आश्रय लेकर की गई निरुक्ति नित्य की होती है विनश्वर की नहीं। मधु-चैत्र मास में मधुमक्षिकाओं के द्वारा संगृहीत पुष्परस भी मधु कहलाता है और वही सर्वविध पुष्पों से सभी ऋतुओं में एकत्र किये जाने पर भी मधु नाम को प्राप्त होता ही है। इसी पुष्प समूह से निकाला गया मद्यरूपी रस भी मधु कहलाता है क्योंकि पुष्प भी मदयुक्त बनाते हैं और मुग्ध कर देते हैं। उस विद्या का ज्ञाता भी माधव है। इस प्रकार उस माधव परमात्मा के द्वारा ही सर्वत्र रस के माध्यम से अपनी विभूतियां फैलाई गई हैं यह समझना चाहिए।

मधुसूदनः—७३

मधु कर्णमलम्। तत्कर्णमलमधिकृत्य जातोऽपि मधुः। श्रुतिरिति नाम कर्णस्य वेदस्य च समानम्। तस्मात् श्रुतेरपचित्या निन्दया, वेदाज्ञापरित्यागेन स्वेच्छाचार-व्यवहारेण शरीरपोषणमात्रपरोऽसुरः। स हि सर्वदा–असुषु प्राणेषु रमत इति कृत्वासुरः। सारार्थतो यो हि श्रुतिपर्यायं ब्रह्मान्यथा चरति स मधुः। तस्य सूदनकर्त्ता मधुसूदनः, रक्षःसूदनात्मकं कर्म कर्त्तुमुपदिशति वेद ईश्वरः। मन्त्रलिंगं च—

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः।
उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥ (यजु० १-७)

रक्षः=दुष्टस्वभावो मनुष्यः। असुषु रमणाद् रक्षः स्वार्थी। अरातयो दान-धर्मरहिताः। उष दाहे भौवादिकः प्रत्युष्ट–शब्दे। तप सन्तापे भौवादिकस्तस्य प्रयोगो निष्टप्त–शब्दे। एवं बहुत्र वेदे।

यद्वा, मधुनामानमसुरं सूदितवानिति मधुसूदनः। मधुसूदनमधिकृत्य महाभारते—

कर्णमिश्रोद्भवं चापि मधुनाममहासुरम्।
ब्रह्मणापचितिं कुर्वन् जघान पुरुषोत्तमः॥
तस्य तात बधादेव देवदानवमानवाः।
मधुसूदन इत्याहुर्ऋषयश्च जनार्दनम्॥ (भीष्मपर्व ६७-१४,१६)

मधुसूदनः=मधु नामक दैत्य को मारने वाला।

मधु अर्थात् कान का मैल। इस आधार पर कर्णमल भी मधु कहलाता है। कान का नाम 'श्रुति' है जो कि वेद की समानतावाला है। इसलिये श्रुति-वेद की निन्दा करने से अथवा वेद की आज्ञा का परित्याग करके स्वेच्छाचार से व्यवहार करने से केवल शरीर मात्र के पोषण में लीन असुर भी मधु ही है। क्योंकि असुर अर्थात् प्राणों में रमण करनेवाला असुर कहलाता है। आशय यह है कि जो श्रुति के पर्यायवाची ब्रह्म के प्रति अन्यथा आचरण करता है वह मधु है। उसका सूदन-विनाश करनेवाला 'मधुसूदन' कहलाता है। राक्षसों का विनाशात्मक कार्य करने के लिये वेद भगवान् उपदेश करते हैं। 'प्रत्युष्टं रक्षः' इत्यादि वेद मन्त्र इसमें प्रमाण है। इस मन्त्र में रक्ष' शब्द का अर्थ है दुष्ट स्वभाववाला मनुष्य। केवल प्राणों में ही रमण करने से राक्षस=स्वार्थी है। दान और धर्म से रहित होने से वे 'अराति' कहे जाते हैं। यहां 'प्रत्युष्ट' शब्द में दाहार्थक उष धातु और 'निष्टप्त' शब्द में सन्तापार्थक तप धातु का प्रयोग है। इस प्रकार वेद में अनेक स्थानों में कहा है।

अथवा मधु नामक राक्षस को जिसने मार दिया वह मधुसूदन है। इस अर्थ से सम्बद्ध महाभारत में कहा है कि—'कर्णमल से उत्पन्न मधु नामक महासुर को ब्रह्म की निन्दा करने के कारण पुरुषोत्तम ने मार दिया। और हे तात ! उसके इस बध के कारण ही देव, दानव,

कर्णमिश्रोद्भवम्=कर्णमलोद्भवम्।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

दुष्टस्वभावो वपुषोऽर्थदर्शी स्वैरो जनो वेदविरुद्धवादी।
रक्षः स उक्तो मधुसंज्ञको वा तं हन्ति विष्णुर्मधुसूदनोऽतः ॥९७॥
न हस्तपादैरुत वा शरेण स हन्ति विष्णुर्वत मेधया तम्।
पृथक् करोत्येव स निम्नदर्शी स्वकैर्विकारैर्वधमेति भूयः ॥९८॥
सदैव रूपं मधुसूदनस्य प्रजा–विनाशाय रुषानुविद्धम्।
निरीक्ष्यते चातिजलप्रपाते रोगानिले वा हृतभिक्षमात्रे ॥९९॥

वपुषोऽर्थदर्शी=इन्द्रियार्थसक्तः। स्वैरः=स्वेच्छाचारी। हृतभिक्षो दुर्भिक्षः।

ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः।
अनुत्तमो दुराधर्षः कृतज्ञः कृतिरात्मवान् ॥२२॥

७४ ईश्वरः, ७५ विक्रमी, ७६ धन्वी, ७७ मेधावी, ७८ विक्रमः, ७९ क्रमः।
८० अनुत्तमः, ८१ दुराधर्षः, ८२ कृतज्ञः, ८३, कृतिः, ८४ आत्मवान्॥

ईश्वरः—७४

मानव समुदाय एवं ऋषिगणों ने जनार्दन को 'मधुसूदन' इस नाम से सम्बोधित किया। इस कथन का भाष्यकार ने निम्नलिखित तीन पद्यों में संग्रह किया है—

दुष्ट स्वभाववाला, शरीर मात्र को ही सब कुछ माननेवाला, स्वच्छन्द व्यवहार करनेवाला और वेदों के विरुद्ध बोलनेवाला मनुष्य राक्षस कहलाता है और वही 'मधु' कहा जाता है। उसका विनाश विष्णु भगवान् करते हैं इसलिये उन्हें मधुसूदन कहा जाता है ॥९७॥ वह विष्णु उस मधुनामक दैत्य का वध हाथ, पैर अथवा बाण के द्वारा नहीं करता है अपितु वह अपनी मेधा के द्वारा उसको ऐसे कर्मों से पृथक् कर देता है, जिस से वह लज्जित होकर अपने ही विकारों से वध को प्राप्त हो जाता है ॥९८॥ अत्यन्त जलप्रलय में रोग महामारी आदि के प्रसार में, तूफानों में अथवा दुर्भिक्ष में प्रजा के विनाश के लिये मधुसूदन का रोष से परिपूर्ण रूप दिखाई देता है ॥९९॥

ईश्वर, विक्रमी, धन्वी, मेधावी, विक्रम, क्रम, अनुत्तम, दुराधर्ष, कृतज्ञ कृति और आत्मवान्। (इन ग्यारह नामों का संग्रह प्रस्तुत बाईसवें पद्य में है।)

ईश्वरः=सर्वशक्तिमान् ईश्वर।

ईश ऐश्वर्ये आदादिकस्तस्मात् 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (पा० ३-२-१७५) इत्यनेन तच्छीलादिषु वर्तृषु वरच्प्रत्यये "ईश्वर"शब्दो निष्पद्यते। स्वभावेन विश्वानि भुवनानि-ईष्टे तस्मादीश्वरः। मन्त्रलिंगं च—

> य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः (ऋग्० १०-१२१-३)
> प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
> यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् (अथर्व० ११-४-१)

भवति चात्रास्माकम्—

> ऐश्वर्यभावेन जगत् समग्रमीष्टे स्वभावादत ईश्वरः सः।
> सर्वं समावास्य स विष्णुरास्ते तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१००॥

समावास्य=एकीभावेन समन्तात् सर्वं जगदुषित्वा। तस्मिन्नित्यादि मन्त्रलिंगम्।

विक्रमी—७५

विक्रमणं विक्रमः। क्रमणं क्रमः, विशिष्टं क्रमणमस्यास्तीति विक्रमी। मन्त्रलिंगं च—

> इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
> समूढमस्य पांसुले ॥ (ऋग् १-२२-१७। अथर्व ७-२६-४।
> यजुः ५-१५। साम पू० ३-१। उ० ८-२)

यद्वा, विक्रमः शौर्यम्, तद्योगाद् विक्रमी। वक्तव्यम्—यस्मिन् यावान् विक्रम उत्तरोत्तरं प्रकाशते तस्मिन् तावानेव विक्रमरूपः प्रभुः स्वेन ज्योतिषा विक्रमयति तम्। मन्त्रलिंगं च—

> अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
> पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥ ऋग् (१-१२-२६)

द्वितीयगण पठित ऐश्वर्यार्थक ईश धातु से ताच्छील्यार्थ में वरच् प्रत्यय होने पर ईश्वर शब्द बनता है। और अर्थ होता है—जो स्वभाव से ही समस्त भुवनों में ऐश्वर्य भाव से व्याप्त है वह ईश्वर है। 'य ईशे अस्य' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाणभूत है। इसका सार पद्यमें इस प्रकार ग्रथित है—

वह ईश्वर स्वभाव से ही समग्र जगत में ऐश्वर्यभाव से व्याप्त रहता है। वह विष्णु समस्त जगत्में एकीभाव से विराजमान है और समस्त भुवन उसमें निवास करते हैं। अतः वह ईश्वर है ॥१००॥

विक्रमी–शूर वीरता से युक्त।

विशिष्ट रूप से संचरण करना विक्रम कहलाता है तथा जो विक्रम करता है वह है विक्रमी। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण हैं। अथवा विक्रम अर्थात् शौर्य। यह शौर्य जिसमें हो वह है 'विक्रमी'। भावार्थ यह है कि—जिसमें जितना पराक्रम उत्तरोत्तर प्रकाशित होता है उसमें उतना ही वह विक्रमरूप प्रभु अपने तेज से प्रकाशित होता है। 'अतो देवा अवन्तु नो' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण है और इस मन्त्र में कहा गया है कि—जिस

यतः सामर्थ्यात् स विष्णुः सर्वत्र व्यापकः सप्तविधलोकान् धामानि वा, सप्तविधगायत्र्यादिच्छन्दोभिवदान्, षड्जादिभेदेन सप्त स्वरांश्च विचक्रमे विशेषेण विक्रमेण रचितवान् रचयति वा तेन विक्रमेण हे देवा विद्वांसो ! यूयमस्मान् भवत रक्षत।

भवति चात्रास्माकम्—

स विक्रमी विष्णुरनन्तवीर्यश्छन्दांसि वेदानुत वा स्वारांश्च।
लोकान् समग्रान् कुरुते यतो ह पृथक् पृथक् सोऽर्हतमोऽस्ति नान्यः ॥१०१॥

धन्वी—७६

धनुरस्यास्तीति धन्वी, धनुष्–शब्दस्य व्रीह्यादिगणे सद्भावाद् व्रीह्यादिभ्यश्च (पा० ५-२-११६) सूत्रेण "इनि"प्रत्ययः। धन धान्ये, जौहोत्यादिकः। तस्माद् 'उसिः' प्रत्ययो नित्च सः। तेन धनुः, सूत्रम्—अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् (उ० २-११७) उसिरित्यनुवर्तते। दधन्ति धनादिकं प्राप्नुवन्ति येन तद्धनुः शरासनम्। भृमृशीङ्तृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १-७) इत्यनेन 'उ'प्रत्ययान्तो वा धनुः। धन्यते धनं प्राप्यतेऽनेनेति धनुः शास्त्रं धनुर्वेद इति प्रसिद्धम्, शस्त्रं वा। मन्त्रलिंगं च—

नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने॥ (यजुः १६-१४)

भवति चात्रास्माकम्—

सामर्थ्य से उस विष्णु ने सर्वत्र व्यापक होकर सप्तविध लोक और धामों की, सप्तविध गायत्री आदि छन्दों के द्वारा वेदों की और षड्ज आदि भेद से युक्त सात स्वरों की विशेष रूप से रचना की तथा (सम्प्रति भी) करता है उस विक्रम के द्वारा हे देवताओ आप हमारी रक्षा करो। यही कथन पद्य द्वारा इस प्रकार वर्णित है—

वह विक्रमी विष्णु अनन्तवीर्यवाला है तथा उसने छन्द वेद स्वर और समग्र लोकों की रचना की है क्यों कि वही सर्वत्र अत्यन्त पूजनीय है अन्य नहीं ॥१०१॥

धन्वी=शार्ङ्ग धनुष रखनेवाला।

धनु है जिसके पास, वह है धन्वी। धनुष् शब्द से यहां इनि प्रत्यय हुआ है। धान्यार्थक धन धातु तृतीयगण में पठित है, उससे उस प्रत्यय होने पर धनुष् शब्द बनता है। धनादि जिसके द्वारा प्राप्त करते हैं वह शरासन धनुष् कहलाता है। अथवा धन प्राप्त होता है जिससे ऐसा शास्त्र धनुर्वेद, अथवा शस्त्र। यहां 'नमस्त आयुधायानातताय' इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं। उपर्युक्त कथन संग्रह पद्य में इस प्रकार वर्णित है—

स एव धन्वी, स बलिष्ठबाहुर्निहन्ति दुष्टान् धनुषा रुषात्तः।
तस्मै नमः स्यादुत तस्य दोर्भ्यां प्रीतः स विष्णुः परिपातु चास्मान् ॥१०२॥

मेधावी—७७

मतौ धीयत इति मेधा, सास्यास्तीति मेधावी। यद्वा, अस्य विष्णोर्मतौ ज्ञाने सकलं चराचरं धृतमस्ति, किं भुक्तं भूतकालान्तर्गतं किं वा भोग्यं भविष्यत्यागन्तुमर्हं जगत् तस्मात् स मेधावी। मेधा-शब्दात् मतुबर्थे "अस्मायामेधास्रजो विनिः" (पा० ५-२-१२१) सूत्रेण विनिः प्रत्ययः। मन्त्रलिंगं च—

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्।
(अथर्व० ५-३-११)

यस्माद् वरितुमर्हस्तस्मात् स वरुणः। वार्यन्ते दुर्मनांसि तदुपासनया तस्माद् वरुणो विष्णुरिति। भवति चात्रास्माकम्—

आसूक्ष्मकीटादुत हस्तिगात्रं जलेऽन्तरिक्षेऽपि सृतं च यद् यत्।
मतौ धृतं तस्य जगत् समस्तं मेधाव्यतोऽसौ कथितोऽत्र विष्णुः ॥१०३॥

विक्रमः—७८

विचक्रमे जगत् तेन स विक्रमः। मन्त्रलिंगं च—

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विश्वं व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ (यजु० ३१-४)

वह धन्वी-धनुर्धर है, वह बलवान् भुजाओं से युक्त है, वह क्रुद्ध होकर धनुष के द्वारा दुष्टों का विनाश करता है। ऐसे उस प्रभु और उसकी भुजाओं के लिए हमारा वन्दन है। वह विष्णु प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करे ॥१०२॥

मेधावी=अतिशय बुद्धिमान्।

मति में रहती है वह मेधा, और वह है जिसमें वह है मेधावी। अथवा इस विष्णु की मति-ज्ञान में सारा विश्व धृत है कि भूतकाल के अन्तर्गत क्या भोग लिया गया है और भविष्यद् में कितना क्या जगत् का भोग शेष है यह सब वह जानता है अतः वह मेधावी है। मेधा शब्द से मतुबर्थ में विनि प्रत्यय द्वारा यह शब्द बना है। 'न त्वदन्यः कवितरो न मेधया' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण हैं। इस कथन का सार निम्न रूपमें संकलित है—

सूक्ष्म कीट से लेकर हाथी के विशाल शरीर तक जलमें, अन्तरिक्ष में जो जो व्याप्त है वह सारा जगत् उस विष्णु की मति में स्थित है इसलिए यहां उसको मेधावी कहा गया है ॥१०३॥

विक्रमः=गरुड़ पक्षी द्वारा गमन करनेवाला।

उस विष्णु के द्वारा समस्त जगत् पर संचरण किया गया अतः वह "विक्रम" है। "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष" इत्यादि मन्त्र से यह व्यक्त है। "विक्रम" शब्द का विशेष विवेचन "विक्रमी" शब्द मे किया जा चुका है। इसका सार पद्य में इस प्रकार संगृहीत है—

भवति चात्रास्माकम्—

भूराद्यमेकं पदमस्य भूम्नो भुवर्द्वितीयं स्वरथो तृतीयम्।
तुरीयपादेन च विक्रमोऽयं कृताकृतं पश्यति लोकवृत्तम् ॥१०४॥

लोकजातम्=लोके यद् भवति तत्। एतेन विक्रमनाम्ना विज्ञाप्यते यत् सर्वं चराचरं तेनैव विक्रान्तमस्ति।

क्रमः—७८

क्रमणं क्रमः। क्रमु पादविक्षेपे भौवादिकस्तस्मात् हलश्च (पा० ३-३-१२१) सूत्रेण घञ् प्रत्ययः। क्रम्यतेऽनेनेति क्रमः। क्रमन्त्यस्मिन्निति वा क्रमः। "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" (पा० ७-३-३४) इति सूत्रेण वृद्धेर्निषेधः।

यात्र लोके पादे चरणापरपर्याये गमनशक्तिः सा तस्मादेव ब्रह्मण आयातेति। यस्मिन् वा क्रमन्ति गतिं कुर्वन्ति तदाधारभूतमपि तदेव ब्रह्म, सर्वत्र व्यापकत्वात्, विष्णुः स क्रमः। स क्रमो नाम भगवान् क्रमयति जगत् स्वयं न क्रमति सर्वत्र विद्यमानत्वात्। मन्त्रलिंगं च—

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
(यजुः ४०-५)

तस्य विष्णोरन्तर्बहिश्च सद्भावात् तस्मिन् विष्णौ गतेः स्थानात् स्थानान्तरप्राप्तेरप्रयोजनकत्वात् तद् ब्रह्म एजयति, णिजर्थगर्भोऽत्र ज्ञेयः, तद् ब्रह्म स

यह दृश्य जगत् उस विष्णु के प्रथम चरण में निविष्ट है द्वितीय चरण में आकाश और तृतीय चरण में आकाशचारी निविष्ट हैं। चतुर्थ चरण से वह विक्रम रूप परमात्मा इस लोक में होनेवाले कृत और अकृत को देखता है ॥१०४॥

इस विक्रम नाम से ज्ञात होता है कि यह समस्त चराचर उसी से विक्रान्त=व्याप्त है।

क्रमः=क्रम विस्तार का कारण।

क्रमण=पादविक्षेप ही क्रम कहलाता है। अथवा क्रिया जाए जिसके द्वारा वह क्रम कहा जाता है। इस जगत् में जिसके द्वारा क्रमण होता है वह भी "क्रम" ही है। इस लोक में जो चरणों में चलने की शक्ति है वह उस ब्रह्म से ही प्राप्त है। अथवा जिस पर गति की जाती है उसका आधार भी ब्रह्म ही है। वह विष्णु सर्वव्यापी है अतः उसे क्रम इस नाम से सम्बोधित किया है। वह क्रम नामक भगवान् समस्त जगत् को सञ्चरण करवाता है किन्तु सर्वव्यापी होने के कारण स्वयं कहीं सञ्चरित नहीं होता है। "तदेजति तन्नैजति" इत्यादि मन्त्र में भी वही कहा गया है। उस विष्णु का अन्दर और बाहर सद्भाव होने से तथा उस विष्णु के एक स्थान से दूसरे स्थान की प्राप्ति में कोई प्रयोजन न होने से उपर्युक्त मन्त्र में प्रयुक्त प्रथम एजति

विष्णुर्वा स्वयं न एजतीति निर्देशात्, शेषं निगद एव सुस्पष्टम् ।

सारांशोऽयं यस्मिन् यावान् मनोहरः पादविक्षेपोऽस्ति तस्मिन् तावानेव तस्य विष्णोः स्वरूपता प्रत्यक्षतो दृष्टिपथमागच्छति । यावान् विकलांगवर्गः स तस्य क्रमनामवतो विष्णोः कोपभाजनः, अर्थात् स क्रम–नामाभिधशक्तिधारी भगवान् प्रत्यक्षं व्यञ्जयन्स्वात्मानं जनं जनं विज्ञापयति यद् यो हि पद्भ्यामभद्रमाचरति तं तमहं परित्यजामि, तत् क्रियाकरणक्षममङ्गममुथा दण्डयामि, व्यवस्थापनाय सत्याचारे जगतः । सर्वत्रैवमूहनीयम् । यावद्विधः क्रमो गमो वा जगति प्राणिषु वात–योगेन स्थावरेषु वा दृश्यते तावद्विधः तस्यैव शक्तिरूपेण गतौ स्थितस्य तत्स्वरूपम् ।
यन्त्रादीनामाविष्कर्त्रा नूनं सूक्ष्मेक्षिकया प्राणिनां गतयः परिशीलनीयाः । कुतः ? न हि तस्य विष्णोः कृतिषु न्यूनतास्तीति कृत्वा ।

भवति चात्रास्माकम्—

क्रमः स विष्णुः क्रमते स्वयं नो विक्रम्यते तेन चराचरञ्च ।
निजं स्वरूपं प्रथते जगत्यां सोऽन्तर्बहिश्चास्ति, न याति तस्मात् ॥१०५॥

"क्रान्ते विष्णुम्" (मनु० १२-१२१) । पादशक्तौ विष्णो रूपं चिन्तयेत् ।

तमीडत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीराहुतमृञ्जसानम् ।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥
(ऋग् १-९६-३)

क्रिया में प्रेरणार्थ गर्भित है अर्थात् वह सब को प्रेरित करता है और वह स्वयं वैसा नहीं करता है।

सारांश यह है कि—जिसमें जितना मनोहर पादविक्षेप है उस में उतनी ही विष्णु की स्वरूपता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है और जो विकलांग समुदाय है वह उस क्रम नामवाले विष्णु का कोपभाजन है अर्थात् वह क्रम नाम और क्रमणरूप शक्ति को धारण करनेवाला भगवान् स्वयं को प्रत्यक्ष करते हुए बतलाता है कि—जो जो अपने पैरों से अभद्र आचरण करता है उस–उस को मैं छोड़ देता हूँ— क्रिया के करने में समर्थ उस अङ्ग को इस रूप में मैं दण्ड देता हूँ। जगत् के सत्य आचरण करने की यह व्यवस्था है। यही बात सर्वत्र समझनी चाहिए। जिस प्रकार का क्रम अथवा गति जगत् में प्राणी के रूपमें अथवा वातादि स्थावर योग से दिखाई देती है, उसी प्रकार उसके ही शक्ति रूपमें गति के रूपमें स्थित होने के कारण वह उसका स्वरूप है। यन्त्र आदि के आविष्कारकों द्वारा प्राणियों की निश्चय ही गतियों का परिशीलन करना चाहिए क्योंकि उस विष्णु की कृति में कहीं कोई त्रुटि नहीं है। इस कथन का सार इस प्रकार पद्यबद्ध है—

क्रम नाम विष्णु का है, वह स्वयं क्रमण नहीं करता है अपितु चराचर को गति देता है, यह आश्चर्य है। वह अपने स्वरूप को संसार में व्याप्त करता है, वह अन्दर और बाहर व्याप्त है यही कारण है कि वह स्वयं गतिरहित है ॥१०५॥

मनु का कथन है कि पादशक्ति के लिए विष्णु का स्मरण करे। इसी प्रकार 'तमीडत

अत्र मन्त्रे "सुप्रदानुम्" इति पदेन सर्वस्य जगतो गतेः प्रदातृत्वमुक्तं, तच्चाग्ने-र्विशेषण, अग्निरिति च विष्णोर्नाम, तस्मात् स क्रमः, एवं बहुत्रोहनीयम् ।

अनुत्तमः—८०

अविद्यमान उत्तमो यस्मात् सोऽनुत्तमः । मन्त्रलिंगं च—

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संꣳरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
(यजुः ८-३६)

यस्मात् परः उत्तम उत्कृष्टो न जातः, नैव चास्ति, स कोऽस्तीति विशिनष्टि=यः सर्वाणि भुवनानि व्याप्तवानस्ति । स च पुनः कः ? प्रजापतिः, इत्यादि. स विष्णुः तस्य सर्वत्र व्याप्तत्वात् । तथा च—सर्वोत्तमत्वात् तस्य, स 'ऊर्ध्व' इत्यनेन संबोधनेन च संकीर्त्तितोऽस्ति । यथा—

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह ।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः ॥
(ऋग्० १-३६-१४)

उत्तमः=उद्गततम इति वा । उच्चैर्गततम इति वा, दृश्यते च लोक उत्तमाय उच्चैरुत्कृष्टं पदं स्थानमत एव दीयते तस्मिन् उच्चैर्गततमार्थस्यान्तर्निहितत्वात् । अत्रिणम्=अत्ति भक्षयत्यन्यायेन परपदार्थमिति— अत्रिः शत्रुः, तम् । निपाहि, संदह, इत्युपसर्गयोजना ।

प्रथमं' इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्र में भी 'सुप्रदानुम्' पद से समस्त जगत को गति प्रदान करनेवाला कहा गया है जो कि अग्नि का विशेषण है । अग्नि भी विष्णु का नाम है इसलिये वह 'क्रम' में भी ग्राह्य है । इसी प्रकार अन्यत्र भी ग्रहण करना चाहिये ।

अनुत्तमः=सर्वोत्कृष्ट ।

जिसके समान अन्य उत्तम विद्यमान न हो, वह है 'अनुत्तम' 'यस्मान्न जातः परो अन्य' इत्यादि मन्त्र इसमें निदर्शन है । जिससे बढ़कर अन्य कोई उत्कृष्ट नहीं हुआ और न है—वह कौन है ? इसका विश्लेषण करते हैं कि—यः विश्वा भुवनानि—जो समस्त भुवनों को व्याप्त किए हुये है वह फिर कैसा है— वह प्रजापति है, विष्णु है सर्वत्र व्याप्त होने से । तथा सर्वोत्तम होने से वह सबसे ऊर्ध्व है, ऐसा 'ऊर्ध्वो नः' इत्यादि मन्त्र में कहा गया है । अथवा ऊपर विराजमान को उत्तम कहते हैं । लोक में भी देखा जाता है कि उत्तम पुरुष को ऊंचा स्थान दिया जाता है क्योंकि उसमें उच्चगत अर्थ विराजमान है । उपर्युक्त मन्त्र में अत्रि शब्द आया है उसका अर्थ है शत्रु, और व्युत्पत्ति है अन्याय से अन्य के पदार्थ को खानेवाला । पद्यमें संग्रह इस प्रकार है—

भवति चात्रास्माकम्—

न तेन कश्चित्सम उत्तमो वा, मर्त्यस्ततो ज्ञानबलक्रियाभिः।
सोऽनुत्तमो वेदवचोभिरुक्तो, सर्वातिशायी जगदन्तरात्मा ॥१०६॥

लोकालोकप्रमिते विश्वमात्रे प्रभुणा यद्यथाविधं निर्मितं, न तस्य कस्यचिन्मर्त्यस्य कर्तुः कृतिः समापि नाम उत्तमता तु—अशक्यसम्भावना। एवं सोऽनुत्तमनामा विष्णुः सर्वत्र जागतवस्तुषु स्वोत्तमत्वगुणं विज्ञापयन् सुखयति सर्वेषां मनांसि। तथा च वेदे—

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन् ॥ (अथर्व ५-११-५)

दुराधर्षः—८१

दुष्टान आ समन्ताद् धर्षयतीति दुराधर्षः, धृष प्रसहने, चौरादिकः। यद्वा, दैत्यादिभिर्धर्षयितुं न शक्य इति दुराधर्षः। मन्त्रलिंगं च—

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥
(ऋग्० १-५२-१२)

दुष्टानां मनो धर्षयन् अवसे रक्षसि, त्वमित्यनेन स परिभूः विष्णुरभिप्रेतोऽस्ति, स सर्वत्र व्यापकोऽस्तीति सारांशः। अपः=अन्तरिक्षम्।

दुष्टानां निग्रहाय स एव साधुजनानां हृदये स्वोजसा बलमादधाति।

भवति चात्रास्माकम्—

ज्ञान में, बल में और कर्म में जिससे बढ़कर लोक लोकान्तर में कोई उत्तम नहीं है वह वेदवाणी द्वारा अनुत्तम कहा गया है जिसके साथ मनुष्य की कोई समानता नहीं है ॥१०६॥

परमात्मा ने जिस रूपमें जिसका निर्माण किया वैसा किसी भी कर्त्ता की कृति में निर्माण नहीं हो पाता। फिर उसकी उत्तमता कहां? इस प्रकार वह 'अनुत्तम' इस गुण और नाम से विशिष्ट होकर सर्वत्र वस्तुमात्र में अपनी सर्वाकर्षक अनुत्तमताको प्रकट करता हुआ सबको सुखी बनाता है। वेद में भी 'न त्वदन्यः कवितरः' इत्यादि मन्त्र द्वारा यह कहा गया है।

दुराधर्ष=किसी से भी तिरस्कृत न हो सकनेवाला।

दुष्टों को सब ओर से जो नष्ट करता है, दबाता है, वह है दुराधर्ष। दशमगण के प्रसहनार्थक धृष् धातु से यह शब्द बना है। जो दैत्यादि के द्वारा दबाया नहीं जा सकता वह—दुराधर्ष, ऐसा अर्थ भी हो सकता है। 'त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः' इत्यादि मन्त्र में भी यही कहा गया है, जिसका सारांश है—दुष्टों के मन को दबाते हुए तुम रक्षा करते हो, इससे वह परिभू विष्णु अभिप्रेत है, और वह सर्वत्र व्यापक। दुष्टों का निग्रह करने के लिए वह विष्णु ही साधुजनों के हृदय में अपने ओज के द्वारा बल स्थापन करता है। पद्यमें इस का संकलन इस प्रकार है—

दुराधर्षः स विष्णुर्नः पाति रक्षांसि धर्षयन् ।
कुरुते चाखिलं विश्वं भूत्वा सर्वत्रभूः स्वयम् ॥१०७॥

कृतज्ञः—८२

कृतं जनातीति कृतज्ञः। "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (पा० ३-१-१३५) इत्यनेन कः प्रत्ययः। तेन विष्णुना भगवता यद् यद् रचितं, यत्र यत्र च यद् यद् येन गुण-धर्मेण व्यवस्थापितं तत् तत् सर्वं जानातीति कृतज्ञः । न हि भगवान् स्वात्मकृतं परकृतं च विस्मरतीति कृत्वा स 'कृतज्ञ' उच्यते ।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तँ संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥
(यजु: १७-२७)

भवति चात्रास्माकम्—

स्मृतौ हि कर्त्ता निदधाति तद्व्रतम्, कृतज्ञ उक्तः स हि सर्व-धामवित् ।
स एव सञ्ज्ञां कुरुते पृथक् पृथक्, क्रियाकलापस्य च सिद्धिसाधनः ॥१०८॥

तद्व्रतम्=यस्य विष्णोः सर्वविधलोकरचनात्मकं कर्म चतुर्विधसृष्टेः पोषणा-त्मकं च कर्म ।

कृतिः—८३

डुकृञ् करणे तानादिकस्तस्माद् भावे 'स्त्रियां क्तिन्' (पा० ३-३-९४) इत्यनेन सूत्रेण क्तिन् प्रत्यये कृति-शब्दः सिद्ध्यति । करणं कृतिरिति ।

दुराधर्ष वह विष्णु राक्षसों को धर्षित करता हुआ हमारी रक्षा करता है तथा समस्त विश्व को स्वयं परिभू बनकर बनाता है ॥१०७॥

कृतज्ञः=अपने निमित्त से थोड़ा सा भी त्याग किये जाने पर उसे बहुत मानने वाला ।

किये हुए को जो जानता है वह है कृतज्ञ । उस विष्णु परमात्मा ने जो जो बनाया है तथा जहां जहां जिस जिस गुणधर्म के द्वारा व्यवस्था की है उस सबको वह जानता है इसलिये उसको 'कृतज्ञ' कहा गया है । भगवान् अपने द्वारा और दूसरों के द्वारा किये गये उपकार को नहीं भूलता है अतः उसे कृतज्ञ कहते हैं । 'यो नः पिता जनिता' इत्यादि मन्त्र द्वारा भी यही प्रमाणित है । पद्य द्वारा इसका संकलन निम्नरूप में वर्णित है—

वह विष्णु अपने सर्वविध लोकरचना रूपी कर्म तथा चतुर्विध सृष्टि रचना रूपी व्रत को सदा स्मरण रखता है इसीलिए सर्व स्थानों का ज्ञाता वह विष्णु कृतज्ञ कहा गया है । वह कृतज्ञ परमात्मा ही पृथक् पृथक् क्रिया-कलाप की सिद्धि का साधन बनकर उनका नामकरण करता है ॥१०८॥

कृतिः=पुरुष-प्रयत्न के आधार रूप ।

छठे गण के करणार्थक कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय द्वारा 'कृति' बना है । करना ही कृति है ।

यावत् करणात्मकं कर्म कृतिः क्रिया वा जगति बोभूयमाना दृश्यते सा सर्वा तस्मादेव कृति–नामवतो विष्णोः सकाशादेव। यो हि मनुष्यो भगवतो विष्णोः कृतिं चतुर्विधसृष्टेः निर्माणात्मिकामर्थात् गर्भाधानस्यादिमात् क्षणादारभ्य प्रसवान्तं सम्यग् जानाति स एव सत्यरूपेण शास्त्रनिर्माणमुत यन्त्राणामाविष्कारं च कर्तुं क्षमो भवति। मन्त्रलिंगं च—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
(यजुः ३१-१९)

गर्भे चरति=तन्निर्माणाय क्रियामाचरति, तस्य गर्भस्य जातौ तस्य विष्णोर्योनिमर्थात् कारणरूपं ब्रह्मैवेति, धीराः=ध्यानवन्तः, पश्यन्ति जानन्ति, नान्ये स्थूलदृश इति भावः।

भवति चात्रास्माकम्—

सर्वाः क्रिया लोकभवा हि या यास्तासां स एवास्ति कृतिर्महौजाः।
कर्त्ता क्रिया कापि न त विनास्ति, विष्णोः कृतिं गर्भविदो विदन्ति ॥१०९॥

आत्मवान्—८४

परस्य सहायमनपेक्ष्यैव स्वसत्तया प्रतिष्ठित इति कृत्वा स "आत्मवान्" विष्णुरुच्यते। मन्त्रलिंग च—

'महस्ते सतो महिमा पनस्यते'। (अथर्व० २०-५८-३)

सतः=स्वसत्तया वर्त्तमानस्येति।

जितना भी करणात्मक कर्म, कृति अथवा क्रिया जो जगत् में पुनः पुनः होते रहते हैं वे सब उस कृति नामवाले विष्णु के द्वारा ही होते हैं। जो मनुष्य भगवान् विष्णु की चतुर्विध सृष्टि निर्माणरूप कृति अर्थात् गर्भाधान के आदिम क्षण से लेकर प्रसवकाल तक की क्रिया को व्यवस्थित रूप से जानता है वही सच्चे अर्थ में शास्त्र–निर्माण अथवा यन्त्रों के आविष्कार में समर्थ होता है। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे' इत्यादि मन्त्र द्वारा यह सिद्ध है। इस मन्त्र में कहा गया है कि—प्रजापति उसकी रचना के लिये क्रिया करता है, और उस क्रिया की निर्मिति में उस विष्णु की योनि अर्थात् कारणरूप ब्रह्म ही है जिसे ध्यानशील धीर पुरुष ही देखते हैं, स्थूल-दृष्टिवाले नहीं। इसका सार पद्य में इस प्रकार कहा गया है—

संसार में होनेवाली जो-जो क्रियायें हैं, उन सबका कर्त्ता वह महान् ओजस्वी विष्णु ही है। उसके बिना कोई किसी क्रिया का कर्त्ता नहीं है, तथा उस विष्णु की इस कृति को गर्भ-विद् ही जानते हैं ॥१०९॥

आत्मवान्=अपनी ही महिमा में स्थित।

दूसरे की सहायता की अपेक्षा के बिना स्वयं की सत्ता से वह प्रतिष्ठित है अतः वह विष्णु आत्मवान् कहा गया है। 'महस्ते सतो महिमा' इत्यादि मन्त्र इस में प्रमाण है तथा 'असि सत्य

"असि सत्य ! ईशानकृत्" (अथर्व० २०-१०४-४)

हे ईशानकृत् ! त्वं सत्यः सत्यरूपेणासि ।

"सर्वा दिशः पुरुष आबभूव" (अथर्व० १०-२-२८)

सर्वासु दिक्षु स पुरुषः स्वसत्तया व्याप्तोऽस्ति ।

भवति चात्रास्माकम्—

स 'आत्मवान्' राजति सत्त्वसंस्थो, नापेक्षतेऽन्यं स्वविधौ स्वकस्थः ।
तेनैव हेतोः सकलास्य सृष्टिः स्वयं स्थिता राजति चात्मसंस्था ॥११०॥

इयं चतुर्विधा सृष्टिस्तस्यात्मवतोर्विष्णोरात्मवन्तं गुणं दधती पृथक् पृथक् स्वसत्तया विलसति । तद्यथा—न हि गच्छन् पुरुषोऽन्यमपेक्षते, न तरुः स्वस्थितौ रज्जोर्बन्धमपेक्षते, न च पक्षी स्वोड्डयनक्रियायामन्यमपेक्षते, न च स्वेदजाः स्वसद्भावायान्यमपेक्षन्त इति कृत्वा स आत्मवान् विष्णुः स्वेन ज्योतिषा सर्वत्रात्मानं प्रकाशयन् सर्वं जगदात्मनि पूर्णतया स्थापितवानित्येष तस्य महामहिमवतो महिमास्ति, यं धीरा पश्यन्तः सुखयन्त्यात्मानं ते चात्मवन्तो ब्रह्मभूयायाहर्निशं प्रयतन्ते ।

ईशानकृत्' और 'सर्वा दिशः पुरुष आबभूव' इत्यादि मन्त्र भी इसी कथन की पुष्टि करते हैं। इनमें कहा गया है कि—'वह अपनी सत्ता से वर्तमान है, वह सत्य है तथा सब दिशाओं में वह पुरुष विष्णु अपनी सत्ता से व्याप्त है। पद्य में भी इसी प्रकार का अर्थ संकलित करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि—

वह आत्मवान् विष्णु सत्त्व में स्थित होकर विराजमान है। वह स्वसत्ता से विराजमान होने के कारण ही अपनी कृति में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। यही कारण है कि उस परमात्मा की सम्पूर्ण सृष्टि अपने आप में स्थित होकर शोभित हो रही है ॥११०॥

यह चतुर्विध सृष्टि उस आत्मवान् विष्णु के आत्मवान् गुणों को धारण करती हुई पृथक् पृथक् सत्ता से शोभित होती है। जैसे कि—जाता हुआ पुरुष किसी की अपेक्षा नहीं करता है, वृक्ष अपनी स्थिति के लिए रस्सी के बन्धन की अपेक्षा नहीं रखता, पक्षी अपनी उड़ने की क्रिया में किसी अन्य की सहायता नहीं चाहता और स्वेदज भी अपनी उत्पत्ति के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करते हैं अतः वह आत्मवान् विष्णु अपने तेज से सर्वत्र आत्मा-स्वयं को प्रकाशित करता हुआ, स्वयं में सारे जगत् को पूर्णरूप से स्थापित किये हुये है, यही उस महामहिमावाले परमात्मा की महिमा है, जिसे धीर पुरुष देखते हुए अपने को सुखी मानते हैं तथा स्वयं को वैसा आत्मवान् बनाने के लिये निरन्तर प्रयत्न करते हैं।

सुरेशः शरणं शर्म विश्वरेताः प्रजाभवः ।
अहः संवत्सरो व्यालः प्रत्ययः सर्वदर्शनः ॥२३॥

८५ सुरेशः, ८६ शरणम्, ८७ शर्म, ८८ विश्वरेताः, ८९ प्रजाभवः ।
९० अहः, ९१ संवत्सरः, ९२ व्यालः, ९३ प्रत्ययः, ९४ सर्वदर्शनः ॥

सुरेशः—८५

सुराणां देवानामीशः सुरेशः, देवानां देवो वा । मन्त्रलिंगं च—

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे ।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥
(ऋग्० १-९४-१३)

"देवो देवानामसि" इत्यनेन ऋगंशेन तस्य महेशस्य सुरेशत्वं देवेशत्वं देवदेवत्वं वा ज्ञापितं भवति । अत्राग्निनाम्ना स संबोधितो भगवान् 'देवो देवानामसि' इत्युक्तम् ।

यद्वा, सु-उपसर्गपूर्वात् रातेर्दानार्थाद्धातोः क्विपि सुरः, शोभनदानमित्यर्थः, तद्येषु ते सुराः तेषां सुराणां=सुदातॄणामीशः सुरेशः ।

यस्मिन् यावान् विष्णोः सुरेशगुणात्मकोंऽशो भवति तावानेव तस्मिन् मनुष्ये देवगुणोदयाद्देवत्वमुत्पद्यते दानवीरत्वं च ।

भवति चात्रास्माकम्—

नूनं सुरेशः कुरुते मनुष्यं देवं वयस्येषु च सुश्रुवांसम् ।
दातृत्वशक्तिं निदधाति तस्मिन् स एव दाताक्षयमाप्रदाता ॥१११॥

सुरेशः, शरणम्, शर्म, विश्वरेताः, प्रजाभवः, अहः, संवत्सरः, व्यालः, प्रत्ययः, सर्वदर्शनः, ये दश नाम तेईसवें पद्य में संगृहीत हैं ।

सुरेशः=देवताओं का स्वामी ।

देवताओं का जो स्वामी है वह है 'सुरेश' । अथवा देवों का भी देव—सुरेश है । "देवो देवानामसि" इत्यादि मन्त्र से उस विष्णु का सुरेशत्व देवेशत्व और देवदेवत्व ज्ञापित है । उक्त मन्त्र में वह देवदेव अग्नि नाम से सम्बोधित है । अथवा सु उपसर्गवाले दानार्थक रा धातु से क्विप् प्रत्यय करके सुर शब्द बनाया जाता है, तथा उसका अर्थ होता है शोभनदान । और यह शोभनदान करने की वृत्ति है जिनमें, वे हैं सुर और उनका जो ईश है वह है—सुरेश । जिसमें जितना विष्णु का सुरेशगुणात्मक अंश होता है उतना ही उस मनुष्य में देवगुणों का उदय होने से देवत्वगुण और दानवीरत्व गुण उत्पन्न होता है । पद्य में यह कथन इस प्रकार है—

सुरेश निश्चय ही मनुष्य को देव बनाता है तथा वयस्यों में योग्य बनाता है । वह उसमें दान देने की शक्ति प्रदान करता है क्यों कि वह विष्णु ही अक्षय लक्ष्मी का देनेवाला दाता है ॥१११॥

सुश्रुवांसम्=सत्कीर्तियुक्तम्। अक्षयमाप्रदाता=अक्षयाया माया लक्ष्म्याः प्रकृष्टो दाता स एव विष्णुः।

शरणम्—८६

शॄ हिंसायाम् क्र्यादिकः। तस्मात् 'ल्युट् च' (पा० ३-३-१५) सूत्रेण ल्युट् प्रत्ययः नपुंसकलिंगे भावे। शरणं=हिंसनम्। यस्माद् ब्रह्म स्वयं शुद्धमस्ति तस्मात् शरणं तत्, दुरितस्य हिंसनमिति कृत्वा।

यद्वा, "करणाधिकरणयोश्च" (पा० ३-३-११७) इति सूत्रेण करणेऽधिकरणे च ल्युट् प्रत्ययः। शीर्यते हिंस्यतेऽनेनेति शरण ब्रह्म, शृणन्त्यस्मिन्निति शरणम्=ब्रह्म। ब्रह्मोपासकस्य जन्मजन्मान्तराध्युषितानि च दुर्मनांसि तेन विष्णुना शरणनामवता शीर्यन्ते, तेन स शरणोपासको भक्तो स्वय शुद्धः सन् ब्रह्मभूयाय कल्पते।

यद्वा, शृणन्ति तदुपासकाः स्वानि दुर्मनांसि तस्मिन् ब्रह्मणि ध्यानेन निमग्नाः, तस्मात् शरण ब्रह्म विष्णुरित्युक्तं भवति। मन्त्रलिंगं च—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(ऋग्० १०-१२१-२। अथर्व० ४-२-१, १३-३-२४। यजु० २५-१३)

यस्य छाया शरणममृतम्, तद्विमुखता च मृत्युरिति भावार्थः। स कीदृश इति ? य आत्मदा बलदेत्यादिना तस्य विशेषशक्तिमत्त्वमुक्तं भवति।

भवतश्चात्रास्माकम्—

शरणम्=दीन दुखियों का परम आश्रय।

क्र्यादिगण के हिंसार्थक शॄ धातु से ल्युट् प्रत्यय होने पर शरण शब्द बनता है। शरण का अर्थ है हिंसा करना। चूंकि वह ब्रह्म स्वयं शुद्ध है अतः वह दुरित की हिंसा करता है। अथवा करणार्थक प्रत्यय द्वारा शरण शब्द की निष्पत्ति मानेंगे तो जिसके द्वारा हिंसा की जाए, और अधिकरणार्थक प्रत्यय से निष्पन्न मानने पर हिंसा करते हैं इसमें, ऐसा अर्थ होगा जो कि ब्रह्म ही है। ब्रह्म की उपासना करनेवाले मनुष्य के जन्म जन्मान्तर सञ्चित दुष्ट मानसिक भावों का उस शरण नामक विष्णु के द्वारा विनाश किया जाता है, जिससे शरण—विष्णु का उपासक वह भक्त स्वयं शुद्ध होकर ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है। अथवा उस ब्रह्म के उपासक अपने दुर्भावों को उस ब्रह्म के ध्यान में तल्लीन होकर नष्ट करते हैं अतः वह शरण ब्रह्म ही विष्णु है। 'य आत्मदा बलदा' इत्यादि ऋग् अथर्व और यजुर्वेद के मन्त्र से यह सिद्ध है, जिसका तात्पर्य है कि उस ब्रह्म की छाया=शरण अमृत रूप है, और उसके प्रति विमुखता मृत्यु है। वह कैसा है ? जोकि आत्मदान करनेवाला, बलदान करनेवाला आदि गुणों से सम्पन्न है। यही पद्य द्वारा भी कहा गया है—

नूनं जनस्तच्छरणं प्रपन्नो हिनस्ति जन्मान्तरदुर्विपाकान् ।
शनैः शनैस्तज्जपदानयोगाच्छायामृतं तस्य, सुखं तदुक्तम् । ११२।।

तस्य शरणं तच्छरणम् ।

यथा धनेशं कृपणः प्रपद्य शनैः शनैरात्मनि याति तृप्तिम् ।
तथा जनस्तच्छरणं प्रपद्य हिनस्ति दुर्भावचयाननन्तान् ।।११३॥

शर्म—८७

शॄ हिंसायाम्, क्र्यादिकः, तस्मात् "सर्वधातुभ्यो मनिन्" (उ० ४-१४५) सूत्रेण मनिन् प्रत्ययं कृत्वा शर्म साध्यते, शृणाति दुःखमिति शर्म सुखम् ब्रह्म, विष्णुः, गृहं वा । यद्वांच्छयं हिनस्ति शृणाति तद्ब्रह्म । जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधयो मर्त्यं क्लिश्नन्ति, तस्य शर्मणः सख्यमुपगतस्य जन्ममृत्युजराव्याधयो नश्यन्ति स्वयं च तस्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वात् क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वात् सुखस्वरूपत्वाच्च । मन्त्रलिंगं च—

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे ।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।।
(ऋग्०१·९४-१३)

अत्र शर्मन्–इति पदेन स एव सुखस्वरूपः संबोधितोऽस्तीति ज्ञातव्यम् । 'सुरेशः' ८५ पंचाशीतितमे नामव्याख्याने च व्याख्यातचरोऽयं मन्त्रः ।

भवति चात्रास्माकम्—

यह निश्चित है कि उस शरण नामक विष्णु की शरण में पहुँचकर जन्म जन्मान्तर के दुर्विपाकों का विनाश कर देता है। तथा धीरे-धीरे उसके जप और दान के योग से उसकी अमृतमयी छाया प्राप्त होती है और वही सुख कहलाता है ।।११२।।

जिस प्रकार कृपण व्यक्ति धनपति की शरण को प्राप्त करके धीरे-धीरे अपनी इच्छापूर्ति कर लेता है उसी प्रकार मनुष्य उस परमात्मा के शरण में पहुँच कर अपने अनन्त दुर्भावों को नष्ट कर देता है ।।११३।।

शर्म=परमानन्दस्वरूप ।

पूर्ववत् शॄ धातु से मनिन् प्रत्यय होने से शर्म शब्द बनता है। तथा शर्म का अर्थ है सुख ब्रह्म विष्णु अथवा गृह अथवा गृह को नष्ट करता है वह ब्रह्म जन्म मृत्यु, जरा, व्याधि आदि मनुष्य को कष्ट पहुंचाते हैं अतः उस मनुष्यके उस शर्म नामक परमात्मा की कृपा प्राप्त करने से जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि नष्ट हो जाते हैं क्योंकि वह स्वयं शुद्ध-बुद्ध और मुक्त स्वभाववाली, क्लेश, कर्म, विपाकाशयादि से अपरामृष्ट एवं सुखस्वरूप है। देवो देवानामसि' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण है। इस मन्त्र में शर्मन् पद से वही सुखस्वरूप विष्णु वर्णित है जिसका वर्णन पहले सुरेश नाम के व्याख्यान में भी किया जा चुका है। यह वर्णन पद्य द्वारा इस रूप में अभिव्यक्त हुआ है—

स शर्म विष्णुर्न जरामुपैति न चान्यदुःखोदयकर्तृबन्धान् ।
तच्छर्म तस्मात् कुरुते स्वभक्तं दुःखैर्विमुक्तं निजसख्ययुक्तम् ॥११४॥

विश्वरेताः—८८

विश्वस्य सकलस्य रेतः=विश्वरेताः । रेतो बीजम्, रीङ् प्रस्रवणे, स्रवणेऽपि दैवादिकः । तस्मात् 'स्रुरीभ्यां तुट् च" (उ० ४-१०२) सूत्रेण 'असुन्' प्रत्ययस्तुट् चागमः । रीयत इति रेतः–शुक्रम् । विश्वरेता विश्वस्य सकलस्य चतुर्विध–सृष्टेर्बीजभूतः, सकलब्रह्माण्डस्य च स एव कारणभूत इति वा । पुरुष–रेतसि बीजस्य सद्भावो भवति । परस्परं मैथुनीयन्त्यौ स्त्रियौ मांसपिण्डमात्रजनने समर्थे भवतः, न तु जीवेन योक्तुं जातकमिति । स्त्रीपुरुषयोर्या प्रजननात्मिका शक्तिस्तत्रोभयत्र रेतःशब्दः प्रयुक्तो वेदे—

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता च रेतसो भवाथः ।
मर्य इव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥
(अथर्व० १४-२-३७)

तथा च–'सह रेतो दधावहै"। भगवति सर्वव्यापके विष्णौ मातुः शक्तेरुत च पितुः शक्तेः सद्भावात् "त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो" (ऋग्०८-९८-११, अथर्वः २०-१०८-२) इत्यादिमन्त्रोक्तं संगच्छते । तेनैव विश्वकर्त्रा चतुर्विधसृष्ट्यां क्षेत्र–रूपात्मिका पोषणशक्तिमती स्त्री प्रक्लृप्ता, बीजरूपश्च पुमान् प्रक्लृप्तः, द्वावेव च स्त्री–पुरुषौ निजकार्यविधौ पूर्णौ सुखिनौ स्वस्थौ च दृश्येते । एतेन तस्य विश्वरेतो–नामवतो

वह शर्म नामक विष्णु जरा को प्राप्त नहीं होता है और न उसे अन्य दुःख से उदित कर्मबन्ध ही प्राप्त होते हैं । इसलिये वह शर्म-विष्णु अपने भक्त को अपने सायुज्य के साथ दुःखों से विमुक्त कर देता है ॥११४।

विश्वरेताः=विश्व का कारण ।

विश्व का बीज अर्थात् विश्वरेताः । रेतस् का अर्थ है बीज । रीङ् धातु का अर्थ है प्रस्रवण अथवा स्रवण । जो प्रस्रुत होता है वह है रेतस् वीर्य । चतुर्विधसृष्टि का बीजभूत अर्थात् सकल ब्रह्माण्ड का वही कारणभूत है अतः वह विश्वरेताः कहलाता है । पुरुष के वीर्य में बीज का सद्भाव होता है । स्त्रियां परस्पर मैथुन करने पर मांसपिण्डमात्र को पैदा करने में समर्थ होती हैं जीव से युक्त जातक के प्रजनन में नहीं । स्त्री और पुरुष में जो प्रजनन सम्बन्धी शक्ति है उसे दोनों स्थानों पर वेदों में रेतस् कहा है । "सं पितरावृत्विये सृजेथां' इत्यादि मन्त्र तथा 'सह रेतो दधावहै' इत्यादि मन्त्र से यह प्रमाणित है । सर्वव्यापक भगवान् विष्णु में मातृशक्ति और पितृशक्ति इन दोनों का सद्भाव होने से ही 'त्वं हि नः पिता' इत्यादि मन्त्र की सङ्गति होती है । इसीलिये विश्वकर्ता ने चतुर्विधसृष्टि में क्षेत्ररूपात्मिका पोषणशक्तिवाली स्त्री की रचना की है तथा बीजरूप में पुरुष की रचना की गई है । ये दोनों स्त्री पुरुष अपनी कार्यविधि में पूर्ण, सुखी और स्वस्थ दिखाई देते हैं । इससे उस विश्वरेता नामवाले विष्णु की सर्वज्ञता

विष्णोः सर्वज्ञत्वं सर्वकर्तृत्वं च व्यक्तं भवति। 'मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' 'रेतोधा आसन् महिमान' (ऋग्० १०-१२६-४। ।

वक्तव्यम्—वक्ष्यति माहात्म्ये "पुत्रार्थी पुत्रमाप्नुयात्" तत् संगच्छते, विश्वरेतस्त्वात् तस्य ।

भवति चात्रास्माकम्—

स विश्वरेताः सकलं प्रसूते पृथक् पृथक् क्षेत्रमथापि बीजम् ।
तस्मात् स माता स पिता च तस्माद् रेतःस्वरूपेण जगद् दधाति ।।११५।।

प्रजाभवः—८६

प्रजा भवन्ति सत्तां लभन्ते यस्मात् स प्रजाभवः । यद्वा, सर्वाः प्रजा यत्सकाशादुद्भवन्ति स प्रजाभवः । मन्त्रलिंगं च—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरान्त ॥
(यजुः० १७-३१)

"अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव" इत्यनेन ज्ञाप्यते यत् सर्वप्राणिमात्रस्यान्तः सर्वदैव सत्तातः सत्त्वात् सर्वाः प्रजा उद्भवन्तीति । एतेन जीवेश्वरयोः पार्थक्यं ज्ञापितं भवति ।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥
(ऋग्० १०-१२६-७)

विसृष्टिः=विविधा विचित्रा वा सृष्टिः । भवति चात्रास्माकम्—

और सर्वकर्तृत्व व्यक्त होता है । 'मनसो रेतः प्रथमं' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण हैं । और माहात्म्य में जो 'पुत्रार्थी लभते पुत्रं' कहेंगे उसकी भी सङ्गति इससे बैठ जाती है । यह सब कथन पद्य में इस प्रकार सङ्कलित है—

वह विश्वरेता सबकी रचना करता है जिनमें पृथक्-पृथक् क्षेत्र और पृथक्-पृथक् बीजों की रचना है । इसलिये वह विष्णु माता है और पिता है तथा रेतःस्वरूप से समस्त विश्व को धारण करता है ।।११५।।

प्रजाभवः=सारी प्रजा को उत्पन्न करनेवाला ।

प्रजा होती है अर्थात् प्रजा अपनी सत्ता को प्राप्त करती है अथवा सभी प्रजा जिस से उत्पन्न होती है वह प्रजाभव कहलाता है । 'न तं विदाथ य इमा' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण है । इससे ज्ञात होता है कि सर्व प्राणिमात्र के अन्दर सर्वदा ही उस सत्ताशाली की सत्ता रहने से सब प्रजाएं उत्पन्न होती हैं । इससे जीव और ईश्वर की भी पृथकता ज्ञात होती है । 'इयं विसृष्टियंत आबभूव" इत्यादि मन्त्र भी इसी कथन का पूरक है । यही बात पद्य में इस प्रकार कही गई है—

चतुर्विधा सृष्टिरियं विचित्रा प्रजाभवोपात्तभवा विभिन्ना।
यावानृजुर्यः स सुखप्रसूतस्तावान् दरीदृश्यत एव लोके ॥११६॥

पुंल्लिगप्रयोगो ज्ञानवत्त्वान्मनुष्यस्येति।

अहः—६०

अहः। नञुपपदाज्जहातेः कनिन् प्रत्ययो भवति। ओहाक् त्यागे जौहोत्यादिको नञ्पूर्वः। न जहातीति अहः--दिवसः। मन्त्रलिंगं च—

स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत। (अथर्व० १३-४-२९)

भवति चात्रास्माकम्—

अहः स विष्णुर्न जहाति कर्म वेदे च यत्नेन बहुत्र गीतम्।
अहःस्वभावस्य वशं गतो यः स भासते सूर्य इवाप्रतर्क्यः ॥११७॥

संवत्सरः—६१

संवत्सरः सम्पूर्वो वस निवासे भौवादिकः। "वसेश्च" (उ० ३-७१) सूत्रेण वसतेः सरन् प्रत्ययो भवति। संवसन्त्यस्मिन् ग्रह-नक्षत्र-र्तु-देवता इति संवत्सरः, द्वादशमासपरिभ्रमणकालो यावत् सूर्यस्य, अब्दो वर्षो वा। न हि तं विष्णुं विना कस्यापि सम्यक्तया समानरूपेण वासो निवासोऽस्तीति कृत्वा स एव कालः सन् कलयति सर्वम्, स एव वासः सन् वासयति सर्वं स्वस्मिन्, न हि तस्य कोऽपि वासयिता। तस्मात् परो ज्येष्ठो वास्तीति कृत्वा स संवत्सर उक्तः। मन्त्रलिंगं च—

यह चतुर्विध विचित्र सृष्टि उस प्रजाभव विष्णु के द्वारा अपने उद्भव को प्राप्त होती है। जो जितना सरल है वह उतना ही लोक में सुख प्रसूत दिखाई देता है ॥११६॥

अहः=प्रकाशरूप।

त्यागार्थक हा धातु से नञ् उपपद सहित कनिन् प्रत्यय होने पर उक्त शब्द बनता है। नहीं छोड़ता है वह है—अहः अर्थात् दिन। 'स वा अह्नोऽजायत' इत्यादि मन्त्र से भी यही प्रमाणित है। पद्य में भाष्यकार ने इस प्रकार कहा है—

वह विष्णु अह है, वह कर्म को नहीं छोड़ता है। यह बात वेदों में यत्न पूर्वक अनेक स्थानों पर कही गई है। जो अह स्वभाव के वशीभूत है वह सूर्य के समान बिना किसी तर्क के भासित होता है ॥११७॥

संवत्सरः=कालस्वरूप से स्थित।

सम् उपसर्गपूर्वक निवासार्थक वस् धातु से सरन् प्रत्यय होने पर संवत्सर शब्द बनता है। उत्तम रूप से इसमें ग्रह नक्षत्र, ऋतु और देवता निवास करते हैं इसलिए यह संवत्सर है। बारह मास का परिभ्रमण काल जो सूर्य का है, वह शब्द अथवा वर्ष ही संवत्सर है। उस विष्णु के बिना किसी का भी उत्तम रूप से अथवा समानरूप से निवास नहीं होता है, इसलिए वह ही काल बनकर निर्माण करता है और वास बनकर निवास कराता है। उससे अन्य कोई

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत । (ऋग्० १०-१९०-२)

सारांश:—योऽयं कालकृतो व्यवहारोऽस्ति न हि तं विना कस्यचिदपि सत्तास्तीति कृत्वा स संवत्सरनामा विष्णुः स्वात्मनि कालरूपेण सर्वं जगद्वासयतीति कृत्वा संवत्सर उक्तो भवति। तेनैतत् सिद्ध्यति यत् क्षणे क्षणे स एव सर्वकरुणाकरः स्मर्तव्यो ध्यातव्यश्चेति । भवति चात्रास्मकम्—

न कोऽपि कालाद् व्यतिरिच्य शेते संवत्सरोऽयं किमु भार्कचक्रम् ।
क्षणे क्षणेऽसौ स्मरणीय एव सोऽवीक्षते कालमिषेण सर्वम् ॥११८॥

भार्कचक्रम्=द्वादशराशिषु सूर्यादिकस्य परिभ्रमणात्मकं चक्रम् ।

व्यालः—९२

व्यालः । अत्र विपूर्वोऽलधातुर्भूषण-पर्याप्ति-वारणार्थेषु, तस्मात् घञि व्यालः । विशेषेणालति भूषते पर्याप्नोति वृणोति वारयतीति वा । अथवा विशेषेण पराक्रमेण, अल्यते=भूष्यते, पर्याप्यते, वार्यते, अन्येभ्यः पराक्रमशक्तिभ्यः पृथक्क्रियत इति व्यालः स विष्णुः ।

सर्पोऽपि व्याल एतस्मादेव यतः स जन्तुं विशेषेणालति वलयनैर्वृणोतीति ।

यस्माद् विष्णोर्भूषणगुणयुक्तस्य विविधविकसनैर्विकासितमिदं जगद् भूषितं भवति तस्मात् स एवास्य जगतो विशेषेण भूषयितास्तीति कृत्वा व्याल उक्तो भवति ।

बसानेवाला अथवा ज्येष्ठ नहीं है अतः वह संवत्सर कहा गया है। 'समुद्रादर्णवादधि संवत्सरः' इत्यादि मन्त्र इस में प्रमाण है, जिसका सारांश यह है कि—

यह जो कालकृत व्यवहार है उसमें उस विष्णु के बिना किसी की सत्ता नहीं है और यही कारण है कि वह संवत्सर नामा विष्णु स्वयं में कालरूप से समस्त जगत् को बसाता है अतः वह संवत्सर कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रतिक्षण उसी करुणाकर का स्मरण और ध्यान करना चाहिये । यह कथन पद्य में इस प्रकार ग्रथित है—

कोई भी काल को छोड़कर नहीं सोता है क्या संवत्सर और क्या सूर्यमण्डल। वह संवत्सररूप विष्णु प्रतिक्षण स्मरणीय है, वह काल के व्याज से सब कुछ देखता है ।।११८।।

व्यालः—सर्प के समान ग्रहण करने में न आसकनेवाला।

वि उपसर्ग तथा भूषण, पर्याप्ति एवं वारणार्थक अल धातु से घञ् प्रत्यय होने पर व्याल शब्द बनता है। विशेष रूप से जो भूषित होता है, पूर्ण होता है, वारित होता है अथवा वारण करता है वह है व्याल—विष्णु। सर्प का नाम भी व्याल है क्यों कि वह विशेष रूप से वलन क्रिया द्वारा शोभित होता है। जिस भूषणगुणवाले विष्णु से विविध विकास के द्वारा विकसित यह जगत् शोभित होता है वह ही इस जगत् का विशेषरूप से शोभाकारक है इसलिये उसे व्याल कहते हैं। अथवा कान, नाक, गला आदि शरीर के अवयवों से जो पृथक् स्थित है वह व्याल है। इससे यह ज्ञात होता है कि वह विष्णु शरीरावयव सम्बन्धी योग से रहित है।

यद्वा, विगतः पृथक् स्थितः कर्ण–नासा–गल–भुजदण्ड–भूषणेभ्य इति व्यालः, एतेन व्याल–नाम्ना ज्ञायते यत्तस्य विष्णोः शरीरकृतो योगो न भवति।

यद्वा, विशेषेण सर्वं जगत् परितोऽभित आप्यतेऽनेनेति व्यालः, विष्णुः। नास्त्यस्मादन्योऽस्य वा परित आप्ता तस्माद् "व्यालः" स विष्णुरुक्तो भवति।

यद्वा, स एव विशेषेण वारयिता दुष्टानां रक्षको वा जगतः, तस्मात् स विष्णु–र्व्याल उच्यते। विगत आलो रक्षाकर्त्ता यस्य स व्यालः, दुष्टानां सूदन इति।

एतेनैव व्यालत्वगुणेन लोकेऽपि च सस्यक्षेत्ररक्षार्थं व्यालो वारः परिकरो वा क्रियते। तेन विष्णुगुणेन गुणितोऽयं संसारः सरति गच्छतीति गमनरूप कर्म दधाति। गच्छतीति क्रियाधर्मेण च जगदुक्तं भवति।

संक्षेपत एवं ज्ञेयं योऽयं परिधेः क्रमः सर्वत्र दृश्यते तत्र तस्य विष्णोः सूक्ष्मरूपेण व्यालत्वमेव व्याप्तमस्तीति। तेन हेतुना भक्तेन रक्षादीपः प्रज्वाल्यो रक्षामन्त्राश्च नूनं पठनीयाः। सर्वत्र व्यापकत्वात्–आपो व्यालो वा। मन्त्रलिंगं च—

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः॥
(ऋग्० १०-९-४। अथर्व० १-६-१। यजुः० ३६-१२)

भवति चात्रास्माकम्—

व्यालः स विष्णुः परितोऽभ्युपैति स एव विश्वं परितो वृणोति।
स भूषयत्येव जगत् समस्तं यतः स्वयं भूषणभूषणः सः॥११९॥

अथवा विशेषतः समस्त जगत् को सब ओर से प्राप्त करता है अतः वह व्याल है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई सर्वव्यापी नहीं है अतः वह विष्णु व्याल कहा जाता है। अथवा वह विष्णु ही विशेषतया दुष्टों का वारण करनेवाला है और जगत् का रक्षक है इसलिये वह व्याल कहा जाता है। इस अर्थ के लिये 'विगत आल' ऐसी व्युत्पत्ति की जायेगी तथा आल का अर्थ होगा रक्षाकर्त्ता। इसी व्याल गुण से संसार में भी धान्य से युक्त क्षेत्र की रक्षा के लिए व्याल अर्थात् बाड़ की जाती है। इस विष्णु के गुण से युक्त यह संसार संसरण रूप धर्म को धारण करता है। जगत् का अर्थ भी धर्मानुसार गमन करना है। संक्षेप में यह समझना चाहिए कि 'यह जो परिधि-परकोटा बनाने का क्रम सर्वत्र दिखाई देता है, इसमें उस विष्णु का सूक्ष्मरूप में व्यालत्व ही व्याप्त है। इसीलिए भक्त को रक्षादीप जलाना चाहिए और रक्षामन्त्र पढ़ने चाहियें। सर्वत्र व्यापक होने से आप-जल भी व्याल कहा जाता है। 'शन्नो देवीरभीष्टय' इत्यादि मन्त्र से यह ज्ञात होता है। उपर्युक्त कथन पद्य में इस प्रकार निबद्ध है—

वह व्यालनामा विष्णु सर्वत्र प्राप्त होता है, वही विश्व को सब ओर से वारित करता है और वह समस्त जगत् को भूषित करता है इसलिये वह स्वयं भूषणों का भी भूषण है॥११९॥

भूषणभूषणः=भूषणान्यपि तमेव भूषयन्ति यत्र तस्य भूषणेश्वरस्य स्वयं सत्ता भवति। तद्यथालंकृतापि काचिद्वनिता मृता सती न शोभायै कल्पते। कुतः? तस्य भूषणेश्वरस्य भगवतो हिरण्यगर्भस्याग्नेरतस्यामभावात्, 'नष्टेऽग्नौ प्राणी म्रियते' इति न्यायात्।

प्रत्ययः—९३

प्रतिपूर्वः 'इण् गतौ' आदादिकस्तस्मात् 'एरच्' (पा० ३-३-५६) इति सूत्रेणाच् प्रत्ययः, प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययः। प्रत्येति वा प्रत्ययः। प्रत्ययो ज्ञानम्, प्रतीतिर्वा, प्रज्ञा वा, विश्वासो वा। प्रतीतो भवति विष्णुरनेन तस्मात् स प्रत्ययः। प्रतीयते वा जगद् दृष्ट्वा नूनमस्य कश्चित् कर्त्तास्तीति तस्मात् स प्रत्ययः। प्रत्याय्यते वानेनान्तर्बहिश्च वर्त्तमानेन स्वयं स्वरूपम्। मन्त्रलिंगं च—

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानः तन्वं परिस्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्त्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा॥ (ऋ० ३-५३-८)

"*रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव*" (ऋग्० ६-४७-१८) इत्यपि। भवति चात्रास्माकम्—

इयं विचित्रा कृतिरस्य कर्त्तुः प्रत्यायिकास्तीति मतं ध्रुवं मे।
स प्रत्ययः, प्रत्ययमात्रलभ्यो विष्णुः स्वयं रूपमवैत्यनन्तम् ॥१२०॥

इस पद्य में 'भूषण-भूषण' ऐसा कहा गया है जिस का सार यह है कि भूषण भी उसी को भूषित करते हैं जहां उस भूषणेश्वर की सत्ता होती है। जैसे कि—किसी मृत स्त्री को यदि अलंकृत कर भी दिया जाये तो वह शोभायुक्त नहीं कही जायेगी क्यों कि उस भूषणेश्वर भगवान् हिरण्यगर्भ अग्नि का उसमें अभाव रहता है और अग्नि के नष्ट होने पर ही प्राणी मरता है यह भी प्रसिद्ध है।

प्रत्ययः=उत्तम बुद्धि से जानने में आनेवाला।

प्रति उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक इण् धातु से अच् प्रत्यय होने से प्रत्यय शब्द बनता है। जिस के द्वारा प्रतीत होता है वह है 'प्रत्यय' अथवा जिससे प्रतीति करता है वह है 'प्रत्यय'। प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान।

प्रतीति, प्रज्ञा और विश्वास भी प्रत्यय के ही अर्थ हैं। इस जगत् में वह विष्णु प्रतीत होता है इसलिये उसे प्रत्यय कहा गया है। अथवा इस जगत् के देखने पर यह प्रतीति होती है कि निश्चय ही इसका कोई कर्त्ता है, इस दृष्टि से भी वह विष्णु 'प्रत्यय' नाम से सम्बोधित होता है। अथवा इस विष्णु के द्वारा अन्तः और बाहर अपने रूप की प्रतीति कराई जाती है इससे भी वह प्रत्यय कहलाता है। 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण हैं। इस उपर्युक्त कथन का पद्य में संकलन इस प्रकार है—

उस कर्त्ता की यह विचित्र कृति उसकी प्रतीति करानेवाली है ऐसा मेरा निश्चित मत है। और वह प्रत्यय नामक विष्णु ज्ञानमात्रगम्य है क्यों कि इस में विष्णु ही स्वयं अपने अनन्त-रूपों को जानते हैं ॥१२०॥

प्रत्ययमात्रलभ्यः=ज्ञानमात्रगम्यः।

सर्वदर्शनः—६४

सर्वदर्शनः। दृशिर् प्रेक्षणे भौवादिकः, तस्मात् भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिन–मिहर्यिभ्योऽनच्" (उ० ३-११०) सूत्रेणानच् प्रत्ययः। पश्यतीति दर्शनः। सर्वं पश्यतीति सर्वदर्शनः। स सर्वव्यापको विष्णुः। "करणाधिकरणयोश्च" (३-३-११७) इति भावकरणादौ ल्युटि प्रत्यये पश्यन्ति येन स दर्शनः सूर्यश्चन्द्रो वा, नेत्रं वा। सर्वं पश्यन्ति येन स सर्वदर्शनः। यथा यथा मनुष्यो भगवतो विष्णोर्ज्ञान-बल-क्रिया बुध्यते तथा तथा स विश्वमिदं सर्वदर्शनेन पश्यति। अतः स विष्णुः सर्वदर्शन उक्तो भवति।

अत्र सूत्रेऽतच् प्रत्ययो मुद्रितो दृश्यते, "दर्शन" शब्द-साधने माधवीयधातुवृत्ति–कृता "अनच्" प्रत्ययः पठितः, अत एव चास्माभिरनच् प्रत्ययोः लिखितः। मन्त्रलिंगं च—

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥
(यजुः ३३-४३)

वक्ष्यति सप्तोत्तर एकशततमे श्लोके चतुरशीत्युत्तरमष्टशततमं "सविता" इति नाम। स सवितृरूपः सूर्योऽपि तं विना न विद्योतत इति कृत्वा प्रत्यक्षरूपेण दृश्यमाने सूर्येऽपि स एव सर्वं पश्यन्नायाति। योऽयं सूर्ये यात्यायाति च व्यवहारः स प्रत्यक्षतो दर्शनक्रियायां प्रधानीकृत्योक्तो भवति।

सर्वदर्शनः=सब का द्रष्टा।

प्रेक्षणार्थक दृश् धातु से अनच् प्रत्यय द्वारा दर्शन शब्द बना है। देखता है वह है दर्शन। सर्व को देखता है वह है सर्वदर्शन। वह सर्वव्यापी विष्णु सब को देखता है। अथवा जिसके द्वारा देखते हैं वह है दर्शन अर्थात् सूर्य चन्द्र अथवा नेत्र। सभी को जिसके द्वारा देखते हैं वह है सर्वदर्शन। मनुष्य जैसे-जैसे भगवान् विष्णु के ज्ञान, बल और क्रिया को जानता है वैसे-वैसे इस संसार को सर्वदर्शन के द्वारा देखता है। इसलिए वह विष्णु सर्वदर्शन कहलाता है। 'भृमृदृशि' आदि उपर्युक्त शब्दसाधक पाणिनीय सूत्र में अतच् प्रत्यय का पाठ है किन्तु इस प्रत्यय से सर्वदर्शन शब्द की सिद्धि सम्भव न होने से तथा माधवीय धातुवृत्तिकार द्वारा भी 'अनच्' प्रत्यय का ही पाठ होने से हमने यहां 'अनच्' प्रत्यय का ही पाठ स्वीकार किया है। 'आकृष्णेन रजसा' इत्यादि यजुर्वेदीय मन्त्र से विष्णु के सर्वदर्शन नाम की सार्थकता सिद्ध होती है। अन्तिम १०७ वें श्लोक में ८८४ वें नाम 'सविता' का आगे कथन होगा। वहां सवितारूप वह सूर्य भी उस विष्णु के बिना प्रकाशित होता है इसलिए प्रत्यक्षरूप से उस सूर्य के दृश्यमान होने पर भी वह ही सबको देखता हुआ आता है। यह जो सूर्य में आने जाने का व्यवहार है वह प्रत्यक्ष में दर्शन-क्रिया को प्रधान मानकर कहा जाता है। जैसे कि वेद में—यतः सूर्य

तद्यथा वेदे—

यतः सूर्यं उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन॥
(अथर्व० १०-८-१६)

तत्रैव सप्तोत्तर एकशततमे श्लोके सूर्यपर्यायाश्च भगवतो नामानि स्वीकृतानि। तद्यथा—"रविः, विरोचनः, सूर्यः, सविता, रविलोचनः", अत एतदुक्तं भवति—यत् सवितरि स एव विष्णुः सर्वलोकाध्यक्षः सर्वाणि भुवनानि पश्यन्नायाति हिरण्ययेन रथेन "देवः" इति सवितुर्विशेषणम्।

तस्य भगवतः सर्वदर्शनत्वज्ञापनाय "विश्वतश्चक्षुः" इत्यपि तस्य नामास्ति। मन्त्रलिंग च तस्मिन् नाम्नि—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥
(ऋग्० १०-८१-३)

भवति चात्रास्माकम्—

स एव विष्णुः किमु सर्वदर्शनः, स विश्वतश्चक्षुरुतार्कलोचनः।
स्वयं चरैर्वा भुवनानि पश्यति, प्रमादलेशोऽस्ति न तद्व्यवस्थितौ॥१२१॥

चरैः=चरणशीलैः, सूर्य-चन्द्र-मंगल-बुध-बृहस्पति-शुक्र-शनिभिर्दीप्तिमद्भिः सचरैः राहुकेतुभ्यां च। वात्र समुच्चये।

उदेत्यस्त' इत्यादि मन्त्र में कहा गया है। तथा वहीं १०७ वें श्लोक में सूर्य के पर्यायवाची शब्दों को भगवान् के नामों में स्वीकृत किया है। जैसे—

रवि, विरोचन, सूर्य, सविता, तथा रविलोचन। इसलिए यह कहा जाता है कि सूर्य में वही सर्वलोकाध्यक्ष विष्णु समस्त भुवनों को देखता हुआ हिरण्मय रथ से आता है। यहां सविता का विशेषण देव भी है। उस विष्णु के सर्वदर्शनत्व का ज्ञापन करने के लिये ही 'विश्वतश्चक्षुः' नाम भी विष्णु का है। 'विश्वतश्चक्षुरुत' इत्यादि मन्त्र इस में प्रमाण है। पद्य में इसका सार इस प्रकार सङ्कलित है—

वह विष्णु सर्वदर्शन है वह विश्वतश्चक्षु है और सूर्य के नेत्रवाला है। वह स्वयं अपने चरों के द्वारा भुवनों को देखता है तथा उसकी व्यवस्था में प्रमाद का लेशमात्र भी नहीं है॥१२१॥

यहां चर से सूर्य, चन्द्रादि संचरणशील ग्रहों का सूचन है।

अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः ।
वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिःसृतः ॥२४॥

९५ अजः, ९६ सर्वेश्वरः, ९७ सिद्धः ९८ सिद्धिः, ९९ सर्वादिः, १०० अच्युतः, १०१ वृषाकपिः, १०२ अमेयात्मा, १०३ सर्वयोगविनिःसृतः ॥

अजः—९५

न जायत इत्यजः । जनी प्रादुर्भावे दिवादिकः । तस्मात् नञ्युपपदे ड-प्रत्ययः । "अन्येष्वपि दृश्यते" (पा० ३-२-१०१) सूत्रेण । डित्यभस्यापि टेर्लोपः । अजः । स भगवानज-नामा षड्भावविकाररहितत्वादज उच्यते । मन्त्रलिंगं च—

"शं नो अज एकपाद्देवः" (ऋग् ७-३५-१३) त्रिःकृत्वात्र विष्णुसहस्र-नामसु "अजः" इति नाम । भिन्नो भिन्नस्तत्रार्थः ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

"अजः" स विष्णुर्न जनिं दधाति सोऽन्तर्बहिश्चास्ति विराजमानः ।
किं मातृगर्भे किमु हृद्गुहायां न राजते तस्य महात्मनो भूः ॥१२२॥

तस्मादजोऽसौ न जनिं दधाति सोऽधीक्षते विश्वमिदं समस्तम् ।
स्वयं जरा-जन्म-विपाकहीनो नित्यं जराजन्मवतः स पाति ॥१२३॥

अजः, सर्वेश्वरः, सिद्धः, सिद्धिः, सर्वादिः, अच्युतः, वृषाकपिः, अमेयात्मा तथा सर्वयोगविनिःसृतः, - ये नौ नाम इस पद्य में गृहीत हैं ।

अजः=जन्म रहित ।

जो उत्पन्न नहीं होता है, वह है अज । प्रादुर्भावार्थक जन धातु से ड प्रत्यय द्वारा नञ्-समास से अज शब्द बनाया है । वह भगवान् अज षड्भावविकारों से रहित है अतः अज कहलाता है । 'शन्नो अज एकपाद्देवः' इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्र इसमें प्रमाण है । 'विष्णुसहस्रनाम' में यह 'अज' नाम तीन बार आया है जिसका प्रत्येक स्थान पर भिन्न-भिन्न अर्थ है इस अज के अर्थ का सङ्कलन पद्य में हमने इस प्रकार किया है—

वह विष्णु अज है अतः वह जन्म नहीं लेता है । वह अन्दर और बाहर सर्वत्र विराजमान है । क्या तो मातृगर्भ में और क्या हृदयरूपी गुहा में कहीं भी उस महात्मा की उत्पत्ति नहीं है ॥१२२॥

इसलिये यह अज जन्म धारण नहीं करता है, वह समस्त जगत् का समीक्षण करता है । स्वयं जरा और जन्म से रहित वह विष्णु नित्य जरा-जन्मशील प्राणियों की रक्षा करता है ॥१२३॥

अन्यच्चाप्यत्रास्माकम्—

अजं देवमुपासीनो मुच्यते मर्त्यनिष्ठया।
सत्त्वे सत्त्वमुपातिष्ठन्नजभूयाय कल्पते ॥१२४।

भूः=सत्ता। मर्त्ये परमात्मायमिति या निष्ठा तया=मर्त्यनिष्ठया। सत्त्वे=मनसि। सत्त्वम्=सत्यस्वरूपं शुद्धमिति। समुपासीनः=उपासनां कुर्वन्। नित्यं=सदा। जराजन्मवतः=जराजन्मशीलान्। "अज" शब्दस्य निरुक्तिर्महाभारते यथा—

न हि जातो न जायेऽहं न जनिष्ये कदाचन।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः॥
(शान्तिपर्व ३४२-७४)

सर्वेश्वरः— ९६

सर्वस्य ईश्वरः=सर्वेश्वरः। 'ईश्वर" शब्दो व्याख्यातचरः, चतुःसप्ततितमे ईश्वर-नाम्नो व्याख्यावसरे। अत्र भुवि यावन्त ईश्वरा सन्ति तेऽपि सर्वेश्वरस्यांशमादायैव भवन्ति। वक्ष्यति चाग्रे पंचपंचाशत्तमे श्लोके "स्थानदः" इति विष्णोर्नामसु, एतेनैतज्ज्ञाप्यते यद् यत् स्थानं यस्मै प्राप्तमस्ति तत् तत् स्थानं तेनैव सर्वेश्वरेण तस्मै प्रत्तमस्ति, कुतः ? विरुद्धमाचरतो जनस्य तत्स्थानं पदं वा स्खलति। नास्ति विरुद्धो व्ययोऽस्येत्यव्ययत्वात्तस्य। तस्मात् सर्वेषामीश्वराणामप्यसावेव विष्णुरीश्वर इति कृत्वा सर्वेश्वर उच्यते।

भवतश्चात्रास्माकम्—

अजदेव की उपासना में लीन मनुष्य मर्त्यप्राणी में जो परमात्मनिष्ठा से छूट जाता है, तथा मनमें उस सत्यस्वरूप शुद्ध परमात्मा की उपासना करते हुए विष्णुलोक का भागी बनता है ॥१२४॥

इस अज शब्द की निरुक्ति महाभारत में इस प्रकार की गई है—

मैं न तो उत्पन्न हुआ हूं, न उत्पन्न होता हूँ और न कभी उत्पन्न होऊंगा। मैं सब प्राणियों का क्षेत्रज्ञ हूं, इसलिए मुझे अज कहते हैं।

सर्वेश्वरः=समस्त ईश्वरों का भी ईश्वर।

सब का ईश्वर=सर्वेश्वर। ईश्वर शब्द की चुहोत्तर ७४ संख्यावाले नाम में व्याख्या कर चुके हैं। इस पृथ्वी पर जितने ईश्वर हैं वे भी इस सर्वेश्वर का अंश लेकर ही ईश्वर बनते हैं। पचपनवें पद्य में 'स्थानद' नाम आगे कहा जाएगा जिससे यह ज्ञात होता है कि जो-जो स्थान जिसको प्राप्त है वह-वह उस सर्वेश्वर के द्वारा ही उसको दिया गया है, क्योंकि विरुद्ध आचरण करनेवाले मनुष्य का वह स्थान अथवा पद क्षीण हो जाता है। जिस का विरुद्ध व्यय नहीं है ऐसा वह अव्यय है। यही कारण है कि सभी ईश्वरों का भी यही विष्णु ईश्वर है, अतः वह सर्वेश्वर कहा जाता है। भाष्यकार ने पद्य में इस प्रकार कहा है—

सर्वेश्वरः सर्वमिदं समोष्टे लोकेश्वराश्चापि तदंशयोगात् ।
स स्थानदः सर्वमिदं यथावद् व्यवस्थयास्थापयते समग्रम् ॥१२५॥

लोके ईश्वराः=लोकेश्वराः । लोकेषु मनुष्येष्वीश्वरा लोकेश्वराः ।

सर्वेश्वरोऽसौ सकलेश्वरोऽसौ महेश्वरोऽसौ भुवनेश्वरोऽसौ
इत्थं महेशं हृदि चिन्तयन् ना विमुक्तपापो भुवि राजते सः ॥१२६॥

सिद्धः- ९७

षिधु संराद्धौ दिवादिः । तस्मात् क्त-प्रत्यये सिद्धशब्दो निष्पद्यते । सर्वदैव निष्पन्नत्वात् सिद्धः, न केनापि साधनविशेषेण स साध्यते, अपि तु स्वयंसत्तावत्त्वात् सिद्ध उच्यते । तथा च वेदः—

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ (अथर्व १०-८-३२)

सन्तं=सिद्धं=वर्त्तमानमित्यनर्थान्तिरम् ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

विष्णुः स्वसिद्धौ न परं प्रमाणं, कर्तारमेवं समपेक्षतेऽतः ।
सिद्धः स उक्तोऽखिलसिद्धिमूलः, स्वयं श्रुतिश्चाथ जगत्प्रमाणम् ॥१२७॥

वह सर्वेश्वर इस सब पर शासन करता है । लोक में जो ईश्वर हैं वे भी इस सर्वेश्वर का अंश ग्रहण से लोकेश्वर बनते हैं । वह स्थानद है अतः इस सारे जगत् की उचित व्यवस्था करता है ॥१२५॥

यह सर्वेश्वर है, यह सकलेश्वर है, यह महेश्वर है और यह भुवनेश्वर है, इस प्रकार उस महेश का चिंतन-स्मरण करता हुआ मनुष्य पापों से विमुक्त होकर भूमि पर शोभित होता है ॥१२६॥

सिद्धः=नित्यसिद्ध ।

दिवादिगण के षिधु धातु से 'क्त' प्रत्यय द्वारा सिद्ध शब्द बनता है । सर्वदा निष्पन्न रहने से 'सिद्ध' होता है । वह कभी भी साधन-विशेष के द्वारा नहीं बनाया जाता है अपि तु वह स्वयं की सत्ता से सिद्ध कहा जाता है । 'अन्ति सन्तं न जहत्यन्ति' इत्यादि मन्त्र से यह प्रमाणित है । यहां सन्तं का अर्थ 'सिद्ध' है अतः अर्थान्तिर नहीं समझना चाहिए । भाष्यकार ने अर्थ संग्रह इस प्रकार किया है—

वह विष्णु सिद्ध है अतः अपनी सिद्धि के लिए प्रमाण अथवा कर्त्ता की अपेक्षा नहीं रखता है । यही कारण है कि वह सिद्ध कहा जाता है । इस सम्बन्ध में श्रुति और जगत् दोनों ही प्रमाण हैं ॥१२७॥

नानाविधा याः कृतयो महत्यो विचित्रवर्णाकृतिगन्धपूर्णाः ।
सिद्धं सदा तं विनिवेदयन्ति, सिद्धादृते नास्ति कृतित्वसिद्धिः ॥१२८॥

सिद्धिः—६८

षिधु संराद्धौ दिवादिः । तस्मात् "स्त्रियां क्तिन्" (पा० ३-३-९४) सूत्रेण स्त्रियां भावे क्तिन् प्रत्ययः । साधनं सिद्धिरिति । सर्वेषु साधनीयेषु प्रापणीयेषु निष्पाद्येषु स एव सिद्धिनामा भगवान् विष्णुः साधनीयः, साधकं तत्प्राप्त्यै प्रयतमानं नानाविधा लौकिक्यः सिद्धयः प्राप्नुवन्ति, परन्तु ताः सर्वा विनाशवत्यः, परन्तु भगवति सिद्धौ रममाणस्तद्भूयाय कल्पते । प्रधाना अष्टौ सिद्धयो यथा—

१-अणिमा २-महिमा ३-मूर्तेर्लघिमा ४-प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
५-प्राकाश्यं श्रुतदृष्टेषु ६-शक्तिप्रेरणमीशिता ।
७-गुणेष्वसंगो=वशिता ८-यत्कामस्तदवस्यति ॥
(भागवतस्कन्ध ११-१५-३तः ५)

एता औत्पातिका अष्टौ सिद्धयो विघ्नन्ति साधकं तस्मात् सर्वा इमा मनसो निरस्य साधकेन सा भगवतोऽपरनामा सिद्धिः साध्या ।

भवति चात्रास्माकम्—

प्राप्तव्यवर्गे परमं प्रधानं सिद्धिं हि तन्नामपरं वदन्ति ।
एतं विनाष्टाविह सिद्धयो या विघ्नन्ति भक्तं स हि साध्य एकः ॥१२९॥

अनेक प्रकार की जो महान् कृतियां विचित्र वर्ण, आकृति और गन्ध से पूर्ण हैं वे सब उस सिद्ध विष्णु की महत्ता को प्रकट करती हैं और उनका निर्माण उस सिद्ध के बिना कोई नहीं कर सकता है ॥१२८॥

- सिद्धिः=सब का फलरूप ।

दिवादिगण के षिधु धातु से क्तिन् प्रत्यय द्वारा सिद्धि शब्द बनता है । सिद्धि का अर्थ है साधन । सभी साधनीय, प्राप्त करणीय और निष्पादनीय वस्तुओं में वही सिद्धिनामा भगवान् विष्णु साधनीय है । उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते समय साधक को अनेक प्रकार की लौकिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं किन्तु वे सब विनश्वर होती हैं परन्तु भगवान् सिद्धि में रमण करते हुए वह उनकी सायुज्यता को प्राप्त करता है । प्रधान आठ सिद्धियां इस प्रकार हैं—

१- अणिमा, २- महिमा, ३- मूर्तलघिमा, ४- इन्द्रियों के द्वारा प्राप्ति, ५- श्रुत एवं दृष्ट में प्रकाश, ६- शक्ति प्रेरणरूप ईशिता, गुणों से असङ्गतिरूप वशिता और ८ जो कामना हो उसकी पूर्तिरूप प्राकाम्य । ये औत्पातिक आठ सिद्धियां साधक की साधना में विघ्न करती हैं अतः साधक को इनके प्रति उन्मनस्कता रखते हुए भगवान् के पर्यायवाची 'सिद्धि' नाम की साधना करनी चाहिये । हमने इसके सम्बन्ध में पद्य में इस प्रकार कहा है—

प्राप्तव्य वस्तुओं में सब से प्रधान सिद्धि उस विष्णु के नाम से सम्बन्धित सिद्धि को कहते हैं । इसके बिना जो अन्य आठ सिद्धियां हैं वे साधक के लिये विघ्नरूप हैं इसलिये भक्त को चाहिए कि वह एकमात्र उसकी साधना करे ॥१२९॥

सर्वादिः—६६

आङ्पूर्वाद्दातेः "उपसर्गे घोः किः" (पा०-३-३-९२) इत्यनेन किः प्रत्ययस्तेन आदि-शब्दो निष्पद्यते। 'डुदाञ् दाने' जौहोत्यादिकः। तस्य च "दाधा घ्वदाप्" (पा० १-१-२०) इति सूत्रेण घु-संज्ञा। आङ्पूर्वो ददातिर्ग्रहणे स्तम्भने वा, "उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयत" इति न्यायात्।

आदत्ते=गृह्णाति=स्तभ्नातीति आदिः। सर्वमादत्त इति सर्वादिः। सर्वस्यादि-ग्रहणकर्त्तेति सर्वादिः। मन्त्रलिंगं च—

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(ऋग्–१०–१२१–५। अथर्व–४–२–४। यजुः ३२–६)

भवतश्चात्रास्माकम्—

दिवं भुवं स्वर्दिनरात्रिनाथौ मरुज्जले वह्निमनल्पशक्तिम्।
सर्वादिरोमाददते समग्रं यथाक्ष आयच्छति वह्यचक्रम्॥१३०॥

सर्वादिरद्यापि तथैव सर्वं स्तभ्नाति तस्मात् स हि विष्णुरुक्तः।
जगन्नियत्या लभते विकारान् नासौ जहात्येकरसस्वभावम्॥१३१॥

सर्वादिः=सब भूतों का आदि कारण।

आ उपसर्गपूर्वक दा धातु से कि प्रत्यय होने पर आदि शब्द बनता है। यहां दा धातु का दान ग्रहण अथवा स्तम्भन अर्थ है जो उपसर्ग के बल से प्राप्त है। सभी को ग्रहण करता है अथवा स्तम्भन करता है वह है सर्वादि। अथवा सब का आदि ग्रहणकर्त्ता। 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी' इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण है। पद्य में इसका भाव इस रूप में सङ्कलित है—

आकाश, पृथ्वी, स्वर्ग, दिननाथ-सूर्य, रात्रिनाथ-चन्द्र, मरुत्, जल, अग्नि इन अनन्त शक्तिवालों को वह सर्वादि ओम् पूर्णरूप से ग्रहण करता है जैसे रथ के पहियों को बीच का धुरा (अक्ष) पकड़े रखता है॥१३०॥

वह सर्वादि आज भी सब को स्तब्ध करता है इसलिये वह विष्णु इस नाम से सम्बोधित किया गया है। जगत् प्रकृति के द्वारा विकार को प्राप्त होता है किन्तु यह अपने एकरसस्वभाव—जैसा सृष्टि के आरम्भ के क्षण में उस भगवान् ने इस सब का ग्रहण स्तम्भन अथवा प्रापण किया था वैसा ही आज भी धृत और स्तब्ध यह सारा विश्व है इसलिये वह विष्णु आज भी सर्वादि कहलाता है क्यों कि वह स्तम्भन शक्ति से सर्वत्र विद्यमान है उस को नहीं छोड़ता है॥१३१॥

सर्वादिः=ओम् । ओमव्ययस्तस्मान्न लिंगवचनेषु व्ययत इति कृत्वा तच्छक्तीनां बहुत्वमाश्रयीकृत्याददत इति बहुवचने प्रयोगः कृतः । दिवमित्यादयो द्वितीयान्ताः । अक्षः=रथचक्रयोः स्तम्भनसाधनीभूतः काष्ठमयो धातुमयो वा दण्डः । अयमक्षः पुंसि ।

नियतिः=प्रकृतिः, नित्या व्यवस्था वा, तया । एकरसस्वभावम्=यथा सर्गारम्भादिक्षणे तेन भगवता सर्वमिदमात्तं स्तब्धमागृहीतं चासीत् तथैवाद्यापि धृतं स्तब्धं वेदं सर्वं विश्वमास्त इति कृत्वा सोऽद्यापि सर्वादिर्विष्णुरुक्तो भवति स्तम्भनशक्तेः सर्वत्रविद्यमानत्वात् ।

अच्युतः—१००

च्युङ् गतौ भौवादिकः, तस्मात् क्तः, तेन च्युत-शब्दो निष्पद्यते । तत्र नञा योगेनाच्युत इति । न च्यवते=न स्खलितो भवतीति अच्युतो विष्णुः । अच्युतगुणवता विष्णुना व्यवस्थितमिदं लोकलोकान्तरानुस्यूतं जगत् तथैवाद्यापि स्वकक्षायां भ्रमति यथैवाद्यसर्गारम्भक्षणे व्यवस्थितमासीत् । तत्र याच्युतिः सा तस्याच्युतस्य विष्णोः, तेनाच्युत-धर्मेण वेवेष्टि चराचरं जगत् ।

भवति चात्रास्माकम्—

तमच्युतं शम्भुमनन्तवीर्यं जगद् व्यनक्त्येव हिरण्यगर्भम् ।
च्युतो न सूर्यः किमु चन्द्रमा वाच्युतेन कर्त्रास्ति जगन्निबद्धम् ॥१३२॥

संगच्छते चेदं भगवद्वचनम्—

"यस्मान्न च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा" इति ।

अच्युतः=अपनी स्वरूप स्थिति से कभी त्रिकाल में भी च्युत न होनेवाला ।

प्रथम गण के गत्यर्थक च्युङ् धातु से क्त प्रत्यय द्वारा च्युङ् शब्द बना है और फिर नञ् समास से अच्युत शब्द निष्पन्न हुआ है । जो स्खलित नहीं होता है वह है अच्युत अर्थात् विष्णु । अच्युत गुणवाले विष्णु के द्वारा व्यवस्थापित यह लोक-लोकान्तर से संसक्त जगत् उसी प्रकार आज भी अपनी कक्षा में घूमता है, जैसा कि सृष्टि के आरम्भिक क्षण में व्यवस्थित था । इस में जो अच्युतता-स्थिरता है वह उसी अच्युत-विष्णु की है, और उसी अच्युत धर्म से वह चराचर जगत् को व्याप्त करता है । भाष्यकार ने पद्य में यह वर्णन इस प्रकार किया है—

यह जगत् उस शम्भु-अनन्तवीर्य-हिरण्यगर्भादि विशेषण युक्त विष्णु को अच्युत के रूप में व्यक्त कर रहा है । उस अच्युत जगत्कर्ता से बन्धे इस विश्व में न सूर्य और न कभी चन्द्रमा गिरा है । सूर्य-चन्द्र का निर्देश उपलक्षण मात्र समझना चाहिये ।१३२॥

यहां भगवान् कृष्ण का 'यस्मान्न च्युतपूर्वोऽहम्' इत्यादि वचन भी सङ्गत होता है ।

वक्तव्यम्—अच्युतधर्मवन्तं विष्णुं भजता स्मरता भक्तेन विषमास्वपि परिस्थितिषु स्वके स्वभावे वाचि चाच्युतता नूनं धार्या ।

भवति चात्रास्माकम्—

नूनं मनुष्येण समस्तकृत्येऽच्युतस्वभावेन सदैव भाव्यम् ।
च्युतस्वभावश्च्यवते व्रताच्च विडम्बयन्त्येव जना मुहुस्तम् ॥१३३॥

इति श्री १०८ पण्डितसत्यदेववासिष्ठकृते महाभारता-
नुशासनपर्वान्तर्गतस्य (अ० १४९) विष्णुसहस्र-
नामस्तोत्रस्य सत्यभाष्ये प्रथमं नाम-शतकं
सम्पूर्णम् ।

अच्युत धर्मवाले उस विष्णु का भजन और स्मरण करते हुए भक्त को चाहिए कि वह विषम अवस्थाओं में भी अपने स्वभाव और वाणी में अच्युतत्व-स्थिरता को धारण करे । अतः भाष्यकार ने कहा है कि—मनुष्य को सदा समस्त कार्यों में अच्युत स्वभाववाला बनना चाहिए । जो च्युत स्वभाववाला होता है वह अपने व्रत से च्युत हो जाता है और जनता उस की विडम्बना करती है ॥१३३॥

व्याख्यातमाद्यं शतकं मयेदं मनोरमं विष्णुसहस्रनाम्नः ।
अनूदितं राष्ट्रगिरा च भूयाद् भव्याय दिव्यं भुवि भावुकानाम् ॥

वृषाकपिः—१०१

वर्षतीति वृषः, वृषु सेचने भौवादिकस्तस्मात् 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० ३-१-१३५) इत्यनेन कः प्रत्ययः। वर्षतीति वृषः। कपिः। कपि चलने भौवादिकस्तस्मात् "सर्वधातुभ्य इन्" (उ० १-११८) सूत्रेणेन् प्रत्ययः। "कटिकम्प्योनलोश्च" इतीन्प्रत्यये वार्त्तिकेन नलोपः। कम्पते चलतीति कपिः, न कम्पते न चलतीति–अकपिः। वृषो धर्मः, सर्वान् कामान् वर्षतीति कृत्वा, तस्याकपिः, अकम्पिता=वृषाकपिः, विष्णुः, रुद्रो वा।

सोऽयं भगवान् विष्णुर्वृषाकपिधर्मोऽद्यापि तथैव स्वान् धर्मान् नियमान् रक्षति व्यवहरति वा, यथैवाद्यारम्भक्षणे रक्षति स्म व्यवहरति स्म च। तद्यथा लोके पश्यामः, येयं विजातिभ्यां=भिन्नाभ्यां जातिभ्यामन्या जातिरुत्पाद्यते सा न भगवतोऽभिमता, असौ तस्या विकृतजातेर्बीजं न क्षमते न सहते, तस्मात् कारणात् सा न पुनस्तद्विधां योनिमुत्पादयितुं क्षमा भवति, अमुनव विधिना सर्वत्रैव भगवान् व्यापनधर्मा वृषाकपिः सन् धर्मरक्षाकर्तृत्वेन निजव्यापकधर्मेण सर्वं जगद् व्यवस्थापयति। यदि मनुष्य उल्लंघते तद्-धर्मं तदा स म्रियते, यथा वडवायां खरेणोत्पादिताः प्रजा यौवनं प्राप्य यदि मैथुनमेति तर्ह्यश्वतर्या उदर विदार्य जायमान उद्भाव्यते। अमुथैवेतरयोनिषु क्षुपपक्ष्यादिषु ज्ञातव्यम्। तथा चान्यदपि लोके पश्यामः—

वृषाकपिः—स्थिरधर्मवाला।

भ्वादिगण की सेचनार्थक वृषु धातु से इगुपध इत्यादि सूत्र से "क" प्रत्यय होकर वृष शब्द सिद्ध होता है। जो वरसता है, उसे वृष कहते हैं। चलनार्थक भ्वादिगण की "कपि" धातु से सर्वधातुभ्य इन् सूत्र से इन् प्रत्यय होकर "कटिकम्प्योर्नलोपश्च" इस वार्तिक से इन् प्रत्यय के न् का लोप होने पर कपि शब्द सिद्ध होता है।

जो गतिशील हो उसे "कपिः" कहते हैं। इसके विरीतार्थक अगतिशील या स्थिर को अकपिः कहते हैं। वृष धर्म का वाचक है। सब कामनाओं की वर्षा करने के हेतु एवं गुण धर्म पर स्थिर होने के कारण भगवान् विष्णु को वृषाकपि कहते हैं।

वृषाकपि धर्मवाला भगवान् विष्णु अपने धर्मों व नियमों की जैसे सृष्टि के प्रारम्भक्षण में रक्षा व पालन करता था उसी तरह आज भी करता है हम जगत् में देखते हैं कि भगवान् विष्णु को भिन्न जातियों से उत्पन्न इतर जाति अभिमत नहीं है। वह विकृत जाति के योग को सहन नहीं करता। यही कारण है कि विकृत जाति अपने समान योनि को उत्पन्न करने में असमर्थ रह जाती है। इसी भांति सर्वव्यापक भगवान् वृषाकपि (गुण धर्म में स्थिर) धर्म को व्यक्त करता हुआ धर्म रक्षण रूप अपने व्यापक धर्म द्वारा अखिल जगत् की व्यवस्था करता है। उसकी मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, घोड़ी और गधे के संयोग से उत्पन्न संतति यौवन प्राप्त करके जब मैथुन करती है तब प्रसव सहज सम्भाव्य नहीं अपितु उस खचरी का पेट काटने पर ही प्रसव होता है।

एवं पशु, पक्षी व वृक्ष की जाति में भी ज्ञेय है। संसार में हम यह भी देखते हैं कि वृक्ष

यद्रसापेक्षी यो वृक्षः स तस्मिन्नृतौ पुष्प्यति फलति च। न हि मासानपेक्षते, अर्थात् सूर्यकृतमासजनितर्तून् नापेक्षते। लोके यत्र सूर्यकृत उपतापः पूर्वं तथाविधतां प्राप्नोति यथाविधस्य रसस्य तद्वृक्षफलनकृतेऽभीष्टमस्ति तत्र तस्य पुष्पणं फलनं च प्रादुर्भवति यथाम्रफलवृक्षः। एवमन्यत्रापि योजनीयं भवति। तद्यथा—

यत्रौष्ण्याधिक्यं तत्र मनुष्या अपि शीघ्रं प्रजानां जननाय समर्था भवन्ति वयसा चाल्पवर्षीया अपीति सर्वत्र जीवयोनिषु संगन्तव्यम्। वृषाकपिधर्मं ध्यायता ध्यात्रा न कदापि प्रभोर्व्यवस्थोल्लंघनीयेति। यतः स ध्याता सर्वान् कामानवाप्नोति। वक्ष्यति च माहात्म्ये "कामानवाप्नुयात् कामी" (वि० स० १२४ श्लोके)। उक्तं चास्माभिः स्वकृते सत्याग्रहनीतिकाव्ये सत्याग्रहस्यादिमं स्रोतो विज्ञापयद्भिः। तद्यथा— *लोकान् सर्वविधान् विचार्य पुरतः [1]को व्याकरोत् पूर्ववत्,*
मर्त्यं चाथ पशुं वियच्चरमथाब्जं स्वेदजं भूरुहम्।
नैवाद्याप्यजहात् स्वसत्यनिभृतां [2]सन्धां [3]कविः सद्ग्रही,
जातौ नो क्षमते परं प्रसवितुं योनी[4] पृथक् चेत् पृथक्॥

1. कः=ब्रह्मा। 2. सन्धाम्=प्रतिज्ञाम्। 3. कविः=स्वयम्भूरीश्वरः। 4. प्रथमा—द्विवचनम्। मन्त्रलिंगं च—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥
(ऋग् १०-१९०-३)

जिस ऋतु के रस की अपेक्षा करता है वह सूर्य की गति के आधार पर व्यवस्थित मास जनित ऋतु की अपेक्षा न करके उसी ऋतु में पुष्प या फल देने लग पड़ता है जगत् में यह भी अक्षिगोचर होता है कि वृक्ष के फलने के लिये जिस रस की आवश्यकता होती है उसी के अनुसार रस का सहायक सूर्य का ताप हो जाता है। वही अभीष्ट रस ही वृक्ष के फलने व फूलने में साधक है, निदर्शनार्थ आम्र का वृक्ष। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

अधिक उष्ण प्रदेशों में मनुष्य छोटी उम्र में ही सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं। और यही नियम सभी जीव योनियों में लागू होता है।

वृषाकपि धर्म के ध्यान करनेवाले व्यक्ति ने कभी भी भगवान् की व्यवस्था का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। क्योंकि ध्याता की सब अभिलाषायें पूरी होती हैं। विष्णुसहस्रनाम के माहात्म्य बोधक १२४ वें श्लोक में आता है कि "प्रार्थना करनेवाला सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।"

भाष्यकार ने अपने सत्याग्रह नीति-काव्य में प्रकृति को सत्याग्रह का स्रोत बतलाते हुये कहा है—भगवान् ने अपनी सत्यप्रतिज्ञा या नियम के अनुसार, विचारपूर्वक प्रवर्तित प्रकृति के स्रोतों को आज तक उस ही रूप में रक्खा है जिस रूप में प्रवर्तित किया था, मनुष्य-पशु पक्षी जलचर भूरुह स्वेदज आदि का सर्जन कल्पारम्भ से अब तक समानरूप में होता आरहा है। यह ही परमात्मा का अटल नियम वा प्रतिज्ञा है इसका भङ्ग होना भगवान् को सह्य नहीं, जैसे विजातीय से विजातीय में उत्पन्न हुई सन्तान नियमविरुद्ध होने से आगे सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती।

यद्वा, महाभारते—

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपि प्राह काश्यपो मां प्रजापतिः ॥
(शान्तिपर्व ३४२-८९)

भवति चात्रास्माकम्—

वृषाकपिर्विष्णुरकम्पिताभवत् वृषस्य धर्मस्य स कल्पकृत् क्षणात् ।
यो याथवा यत् कुरुते विकर्म, यमाप्तिविग्नः क्षयमेत्यवार्यम् ॥

यः पुमान्, या स्त्री, यत् नपुंसकमिति त्रयः कर्त्तारः कर्मणामभिमताः । विकर्म=विरुद्धं कर्म, यमो दण्डो नियमयति प्रजा इति कृत्वा । क्षयम्=नाशम् । यमाप्तिविग्नः=दण्डप्राप्त्योद्विग्नः पश्चात्तापमतिरिति । सः, सा, तदिति नित्य-सम्बन्धत्वात् तदोऽध्याहारः ।

अमेयात्मा—१०२

अमेयात्मा=अमेयस्वरूपः । शब्दादिभिर्मातुमियत्तया परिच्छेत्तुमशक्योऽमेयः । अमेय आत्मा स्वरूपं यस्य सोऽमेयात्मा । विशिष्टं विवेचनं "अग्राह्य" इति नाम-व्याख्यावसरे द्रष्टव्यम् । सोऽमेयात्मा सर्वत्रैव स्वरूपेण तं प्रमातारमपि प्रकाशयतीति कृत्वा न किंचिदपि तं विष्णुं विनास्तीति कस्तद्भिन्नो यस्तं विष्णुं प्रमिमीत ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

विचित्र-रूपाकृति-वर्ण-देहवज्जगत् स्वयं तत्प्रभया[1] प्रकाशते ।
पृथक् प्रमेयः प्रमितिः पृथक् ततः प्रमाणकृच्चास्ति न तं विना पृथक् ॥

1. तस्य विष्णोः प्रभयेति । माङ् माने शब्दे च जौहोत्यादिकः । "अचो यत्" (पा० ३-१-९७) इत्यनेन यत्प्रत्ययः, ईद्यति (पा० ६-४-६५) सूत्रेण ईत्वे कृते गुणः । तेन प्रमेयः, अमेयः इत्यादिसिद्धिः । प्रमितिः-बाहुलकात् "क्तिन्" द्यतिस्यतिमास्था-मित् ति किति (पा० ७-४-४०) इत्यनेन इदादेशान् "मितिः" ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यद्वारा संक्षेप से इस प्रकार स्पष्ट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम वृषाकपि है, क्योंकि वह कल्पारम्भ से कल्पान्त तक कभी भी अपने धर्मरूप नियम से च्युत=स्खलित नहीं होता, जो पुरुष स्त्री अथवा कोई भी अपने धर्म से च्युत होकर नियम विरुद्ध कर्म करता है, वह दण्ड प्राप्ति से उद्विग्न होकर अवश्य ही नष्ट हो जाता है ।

कर्मों को पुरुष स्त्री या नपुंसक ये तीन ही करते हैं । विकर्म नाम विरुद्ध कर्म का है । यमाप्तिविग्न का अर्थ है, दण्डप्राप्ति से भीत पश्चात्ताप करनेवाला । यत् और तत् शब्द का नित्य सम्बन्ध होने से यहां स सा तद् इस प्रकार तत् शब्द का अध्याहार होता है ।

अमेयात्माः—१०२

अमेय शब्द का अर्थ है कि जो शब्दादि किसी साधन से भी न मापा जा सके । आत्मा स्वरूपार्थक का द्योतक है । भगवान् विष्णु को अमेय स्वरूप होने के कारण अमेयात्मा कहते हैं । इसी का विशेष विवेचन "भगवान् अग्राह्य" के नाम के व्याख्यान में है ।

अमेयात्मा भगवान् विष्णु सर्वत्र प्रमाता को भी अपने आलोक से प्रकाशित करता है ।

अतः स उक्तोऽनुपमेय--नामतो "न मेय आत्मे"ति च वासमासतः ।
स एव सूर्यः स उ वा निशाकरः स एव खं चास्ति स वा बृहस्पतिः ॥

छन्दोभेदेन पुनरस्माकम्—

"अमेयात्मा" न शक्योऽस्ति मातुं मानेन केनचित् ।
यथा मानं स्वकात्मानं मातुं नार्हति कर्हिचित् ॥

मन्त्रलिंगं च—

न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः ।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यचक्रुषे विश्वमानुषक् ॥
ऋग् १-५२-१४ ।

यस्य विष्णोरन्तं न सूर्यादयो लोका भूलोको वा अन्तरिक्षस्था आपश्चा-न्तमापुः । न च मेघो वृत्रस्तस्यान्तं स्ववृष्टिभिः प्राप्तवान् । कुतः ? स एक एव सर्वत्र "अनुव्यचः" अनुस्यूतोऽस्ति । स्वयं स्वसत्तया शक्त्या विश्वं "चक्रुषे" कृतवान् स्वयं चानुषक् सर्वस्मिन् विश्वे व्याप्तोऽस्ति । एतेन तस्य विष्णोरमेयत्वं विज्ञापितं भवति ॥ "अन्यत्" इत्येतेन मन्त्रोक्तपदेन तस्य जगद्रूपता वारिता भवति । प्रकृतिः पृथक्, कर्ता चानन्तशक्तिमान् पृथक् जीवश्च पृथक्, इति । तस्य सत्तां परित्यज्य न किंचिदित्यमेयत्वमुक्तं भवति ।

सर्वयोगविनिःसृतः—१०३

उससे रहित कुछ भी नहीं है । अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त है । उससे इतर कोई भी उस को माप नहीं सकता । "न यस्य द्यावा पृथिवी" इत्यादि वेद मन्त्र से भगवान् विष्णु का अनन्त गुण एवं अमेयत्वधर्म स्पष्ट होता है । इसके अतिरिक्त इस मन्त्र से सिद्ध होता है कि भगवान् विष्णु जगत् के कर्त्ता हैं तथा सर्वत्र व्याप्त हैं ।

इसी भाव को भाष्यकार अपने शब्दों में एवंविध व्यक्त करता है—जैसे विचित्ररूप, विचित्र आकृति एवं विचित्र वर्ण-वाला यह शरीर प्रकाशित होता है, वैसे भगवान् विष्णु की प्रभा से यह जगत् अपने आप ही प्रकाशित होता है । प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय तीनों ही रूप में वह स्वयं है । प्रमाता प्रमाण से प्रमेय को पहचान जाता है । भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है जो उसे माप सके । उसको अनुपमेय भी कहते हैं । वह ही सूर्य, चन्द्रमा, आकाश एवं वृहस्पति है । अतः भगवान् विष्णु को अमेयात्मा कहते हैं । भाष्यकार इसी भाव को छन्दो-भेद से अन्य श्लोक से अभिव्यक्त करता है—

अमेयात्मा को कोई किसी मान से माप नहीं सकता जैसे मान (नाप) स्वयं अपने आप को कभी भी माप नहीं सकता ।

सर्वयोगविनिःसृतः—१०३—सब प्रकार के सम्बन्धों से रहित ।

योग-शब्दो व्याख्यातचरः "योगः" इति नामव्याख्यावसरे। विनिःसृतः पृथग् भूतो निर्लेपो वा। सर्वेभ्यो योगेभ्यो विनिःसृतः इति 'सर्वयोगविनिःसृतः'=सर्वबन्धन रहितः, असङ्गो वा। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृ० उ० ४-३-१५) यदिद जगद् विविधरूपेषु बद्धं दृश्यते तथा चाकर्षणविकर्षणाभ्याञ्च बद्धं दृश्यते, ताभ्यां द्विविधबन्धनाभ्यां स विष्णुः सर्वथा सर्वदा च पृथक् निर्लेप एवास्तीति दृढ़ं ज्ञापयितुं 'सर्वयोगविनिःसृतः' इति तन्नाम प्रकाशतामानीतमिति।

मन्त्रलिंगं च—

"*परिभूः स्वयम्भूरि*"ति यजु० ४०-८

स्वयं भवति स्वसत्तया तिष्ठतीति स्वयंभूः स विष्णुरिति। सर्वयोगविनिःसृत इति गुणात्मकं विष्णोर्नाम स्मरता स्मर्त्रा नूनं निःसंगेन भवितव्यम्।

नानाशास्त्रैर्योऽयं विविधप्रकारकः क्रियाकलापो विहितोऽस्ति तत्र विनिःसृतः सारभूतः स एव।

भवति चात्रास्माकं—

सर्वं विरच्यापि बहुप्रकारं, जगत् पुनर्योगशतैश्च बद्ध्वा।
असंङ्ग एवेति पुनस्तमीष्टे, नानाविधानस्य स सारभूतः॥

योग शब्द का व्याख्यान 'योग' नाम की व्याख्या में पहिले किया जा चुका है। विनिःसृतः का अर्थ बन्धनों से पृथक् वा निर्लेप (पाप रहित) है। सब बन्धनों से रहित होने के कारण भगवान् विष्णु को सर्वयोग विनिःसृतः अथवा असङ्ग कहते हैं। वृहदारण्यक उप० में भी कहा है, भगवान् विष्णु संङ्ग रहित है, निर्लेप है। यह सम्पूर्ण जगत् आकर्षण और विकर्षण के द्वारा विविध प्रकार के रूपों में बन्धा हुआ दीखता है, इन दोनों प्रकार के आकर्षण–विकर्षण के बन्धनों से विष्णु सर्वथा और सदा पृथक् निर्लेप के समान है। इस वार्ता को दृढ़ता से बताने के लिए एवं वह अपनी सत्ता मात्र से निरपेक्ष है यह प्रकट करने के लिए भगवान् विष्णु को सर्वयोग विनिःसृतः नाम से निर्दिष्ट किया है।

परिभूः स्वयंभूः इस यजुर्वेदीय मन्त्र से स्पष्ट है कि स्वयं अपनी सत्ता से सर्वत्र विराजमान होने के कारण भगवान् विष्णु को स्वयंभूः कहते हैं।

सर्वयोगविनिःसृतः गुणोंवाले भगवान् को याद करनेवाले पुरुष को भी जगत् में निश्चय ही निःसङ्ग होकर रहना चाहिए। नाना प्रकार के शास्त्रों में जो विविध प्रकार के कार्य कलापों का विधान किया गया है वह भगवान् विष्णु के सर्वयोग विनिःसृतः नाम का सार मात्र ही है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक से व्यक्त करता है—सम्पूर्ण जगत् का विविध प्रकार से निर्माण करके और उसको सैंकड़ों प्रकार से सम्यक्तया बांध करके नाना प्रकार के विधि–विधानों के सारभूत "सर्वयोग विनिःसृतः" गुणोंवाला भगवान् विष्णु निःसङ्ग 'निर्लेप' होकर जगत् के पालन की इच्छा कर रहा है। छन्दोभेद से पुनः यही भाव स्पष्ट है—

छन्दोभेदेन पुनरस्माकम्—

निरपेक्षो निराधारः "सर्वयोगविनिःसृतः।
स विष्णू रचयन् सर्वं स्वयं सर्वं समीक्षते ॥१३६॥

वसुर्वसुमनाः सत्यः समात्मा सम्मितः समः।
अमोघः पुण्डरीकाक्षो वृषकर्मा वृषाकृतिः। २५॥

१०४ वसुः, १०५ वसुमनाः, १०६ सत्यः, १०७ समात्मा, १०८ सम्मितः। १०९ समः, ११० अमोघः, १११ पुण्डरीकाक्षः, ११२ वृषकर्मा, ११३ वृषाकृतिः ॥

वसुः—१०४

'वस निवासे' भौवादिको 'वस आच्छादने' आदादिकोऽस्मात् "शृस्वृस्निहित्रप्यसिहनिक्लिदित्रन्धिमनिभ्यश्च" (उण्० १-१०) सूत्रेण "उः" प्रत्ययो भवति नित्संज्ञश्च। वस्ते आच्छादयति दुःखं येन तद्वसु धनम्। यद्वा, वस्त आच्छादयति भक्तः स्वानि जन्मजन्मान्तराध्युषितानि पुण्यकर्मसु बाधकानि निन्द्यसंस्कारमात्राणि यद्भक्त्या तद्वसुर्ब्रह्म। यद्वा, वसन्ति निवसन्ति प्राणिनो येषु ते वसवोऽष्टौ। वसन्ति निवसन्ति कृतध्यानैकनिष्ठा यस्मिन् तद्वसुर्ब्रह्म। मन्त्रलिंगं च—

वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः। स्याम ते सुमतावपि ॥
(ऋग्० ८-४४-२४)

अग्ने! हे परमात्मन्! त्वं वसुरसि, इत्यादिः। अपरं च—

निरपेक्ष, निराधार सर्वयोगविनिःसृतः गुणोंवाला भगवान् विष्णु सम्पूर्ण जगत् का निर्माण करके पुनः स्वयं निःसङ्ग होकर उसका निरीक्षण कर रहा है। जगत् के पालन की इच्छा कर रहा है।

वसुः—१०४

भ्वादिगण की निवासार्थक वस् धातु से एवं अदादिगण की आच्छादनार्थक 'वस' धातु से उणादि के "शृस्वृस्नि" इत्यादि सूत्र से "उ" प्रत्यय और नित्संज्ञा होकर "वसु" शब्द सिद्ध होता है। जिससे दुःखों को ढकता है उसको 'वसु' धन कहते हैं। वसु शब्द धन का भी पर्यायवाची है। अपने जन्म जन्मान्तर के सञ्चित पुण्य कर्म के बाधक निन्द्य संस्कारों को भक्त जिसकी भक्ति से नष्ट करता है, उसे वसु कहते हैं। अथवा प्राणी जिन में निवास करते हैं, वे आठ वसु भी हैं। एकनिष्ठ योगिजन जिसका ध्यान करते हुए जिसमें रहते, विचरते हैं उस ब्रह्म को भी वसु कहते हैं।

मन्त्र प्रमाणः—वसुर्वसुपतिर्हि— इत्यादि ऋग्।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरागमत् ॥
(ऋग्० १-१-५)

सत्योऽविनाशी देवो विष्णुरिति । वसुर्धनपर्यायोऽपि । तद्यथा—

द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु ।
हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमर्थरैविभवा अपि ॥
(अमरे कां-२, वैश्यवर्ग, श्लोक ९०)

स हि वसुर्भगवान् विष्णुः सनातनात् कालात् स्वस्मिन् जगद् वासयति स्वयं च तस्मिन् वसति, न चासौ व्यभिचरति स्वकं वसुधर्ममिति कृत्वा स वसुरुक्तो भवति ।

भवति चात्रास्माकम्—

य आत्मनेदं सकलं सुखात्मा वस्तेऽथवा वासयते 'वसुः' सः ।
न तद्विनाष्टौ वसवोऽपि कामं, नरं क्षणं वासयितुं क्षमन्ते ॥१४०॥

सुखात्मा सः "कमस्यग्ने !" इति निर्दशितमन्त्रलिंगात् । यदुक्तं स एव वासयितेति, नित्यं पश्यामः तद्व्यवस्थया लब्धायुष्कः सकलं जीवनं तस्मिन् वासयितरि वसन्नतिवाहयति, क्षीणायुश्च म्रियते, यथा गृहपतिर्गृहान्निष्कासयति करप्रदानेन निवसन्तम् ।

वसुमनाः—१०५

वसु-शब्दो "वसुः" इति विष्णोर्नाम-व्याख्यावसरे (१०४) व्याख्यातः । मन ज्ञाने दैवादिको, मनु अवबोधने तानादिक, आभ्यां सर्वधातुभ्योऽसुन् (उण्० ४–१८६), इत्यनेन "असुन्" प्रत्ययं कृत्वा मनःशब्दः साधुर्भवति ।

अमरकोश में वसु शब्द को धन पर्यायवाची कहा है जैसे द्रव्यं वित्तं–इत्यादि ।

वसु धर्मवाला भगवान् विष्णु सनातन काल से सम्पूर्ण जगत् को अपने में बसाता है और स्वयं उसमें व्याप्त हो रहा है । वह भगवान् विष्णु कभी भी अपने वसु रूप को नहीं छोड़ता और इसीलिये उसको वसु कहते हैं ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त कर रहा है—वसु धर्मवाले विष्णु की व्यवस्था नित्य अक्षिगोचर होती है । उसकी व्यवस्था से निश्चित आयुवाला जीव सम्पूर्ण जीवन को इस जगत् में रहकर व्यतीत कर देता है । जिस प्रकार गृहपति किरायेदार को भवन-शुल्क (किराया) के समाप्त हो जाने पर निकाल देता है उसी तरह जीव भी आयु के पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

वसुमनाः—१०५

विष्णु के वसु नाम के व्याख्यान में वसु शब्द की व्याख्या हो चुकी है । ज्ञानार्थक दिवादिगण की मन धातु से अवबोधकार्थक मनु धातु से, उणादि असुन् प्रत्यय होकर मन शब्द सिद्ध होता है ।

मन्यते मनुते वा मनः, यद्वा मन्यते अवबुध्यते मनोज्ञानम् । जीवानां त्रिगुणात्मकान्तश्चारि वा मनः । वसुं मन्यते मनुते वा वसुमनाः, इयं चतुर्विधा सृष्टिः येन प्रकारेण निवसितुमर्हति, पृथक् पृथक् शरीरकृते कथंविधस्योष्णस्य, किंवा शीतस्य, किं वा जलस्य, किं वा वायोरावश्यकतास्तीति सर्वं विष्णुः जानाति=अवगच्छति तस्मात् स "वसुमनाः" उक्तो भवति । वसुमनसा भगवता सर्वं प्राणिमात्रं किं वा स्थावरमात्रं वासयितुं ज्ञानवता सता उषितं वासितं वास्ति । सारार्थंत इदम्— यस्मै प्राणिने यत् स्थानं यथाविधं च शरीरं दत्तमस्ति तत् तेन वसुमनसा विष्णुना सर्वं निजज्ञानेन परिज्ञपितमस्ति ।

भवति चात्रास्माकम्—

नूनं "वसुमना" विष्णुर्जीवं जीवं व्यवस्थया ।
आवास्यैव यथास्थानं तन्मनाः प्रतिबुद्ध्यते ॥१४१॥

तन्मनाः = वसुमनाः ॥

छन्दोभेदेन पुनः—

स्थानं न तद्यत्र न जीववासो जीवोऽपि सर्वो न समानदेहः ।
शरीरभेदादुपकर्तृभेदस्तं तं यथास्थानमनक्ति विष्णुः ॥१४२॥

उपकर्तृभेदः=उपकरणभेद इति । अनक्ति=व्यनक्ति ।

जो चिन्तन या मनन करे उसको मन कहते हैं । अथवा जिसके माध्यम से चिन्तन व मनन हो उसे मन कहते हैं । जीवों की सत्त्व, रज, तम तीन गुणोंवाली अन्तश्चारिणी शक्ति को मन कहते हैं ।

यह चार प्रकार की सृष्टि किस प्रकार बस सकती है, भगवान् विष्णु पृथक्-पृथक् शरीरों के लिये तत्-तत् अनुरूप शीत, उष्ण, जल एवं वायु की आवश्यकता को सम्यक् प्रकार से समझते हैं । यही कारण है कि उसको वसुमना कहते हैं । प्राणिमात्र एवं स्थावर मात्र को बसाने का ज्ञान रखने के कारण वह बसे हुये तथा बसाये हुये को बसा रहा है । सारांश में वसुमना विष्णु जिस प्राणी को जो स्थान व जैसा शरीर दिया हुआ है अपने ज्ञान से समझे हुये है । भाष्यकार इसी भावको अपने पद्य से व्यक्त कर रहा है:—

वसुमना विष्णु प्रत्येक जीव को व्यवस्थानुरूप उपयुक्त स्थान में बसाकर निश्चय ही अपने वसुमना धर्म से व्यक्त हो रहा है । अन्य छन्द के द्वारा भाष्यकार पुनः स्पष्टीकरण करता है:—

ऐसा कोई स्थान नहीं, जहां जीव का वास न हो । जीव भी सब एक समान शरीर-वाले नहीं हैं अर्थात् प्रत्येक जीव लघु गुरु भेद से पृथक् पृथक् आकृति को धारण करते हैं । शरीर भेद होने के कारण साधन भेद भी स्वाभाविक है । वसुमना विष्णु सबको ही युक्त स्थान देकर तथा युक्तियुक्त व्यवस्था करके अपने आपको प्रकट करता है ।

सत्यः—१०६

सत्यो हि नाम, सत्सु साधुः "तत्र साधुः" (पा० ५-४-९८) सूत्रेण यति सिद्धं, सन्तं विद्यमानमर्थं गमयतीति संगतार्थकम् । यद्वा "सदिति प्राणा अस्तीत्यन्नं यदित्यसावादित्यः" (ऐ० आ० २-१-५-६) वचनानुसारं, प्राणान्नादित्यानां सद्रूपाणां प्रवर्तकस्तद्रूपो वा सत्यनामा विष्णुः । सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितमिति महार्थवदेतत् सत्यं नाम । मन्त्रलिंगं च—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता च द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥
(अथर्व० १४।१।१)

भवति चात्रास्माकम्—

सत्यः स विष्णुः सृजतीह यद्यत्, तत्तच्च सत्यं स्वगुणानुरूपम् ।
कार्यं स्वकर्तारमनक्ति[1] तद्वत्, कुम्भो यथा कुम्भकृतं व्यनक्ति ॥१४३॥

1. अनक्ति=व्यनक्ति=प्रकाशयतीत्यर्थः ।

सत्यस्वरूपं कार्यं स्वकर्तारं सत्यस्वरूपं भगवन्तं विष्णुं प्रकटयति, कारणानुरूपं कार्यमिति न्यायात् । न हि प्रकृत्या सत्यया किञ्चिदसत्यं विज्ञाप्यते, सत्यनिष्ठ एतद्वेत्ति । इदञ्च प्रकृतेर्विज्ञापनं, शाकुनं शास्त्रं, शकुनिविद्येति व्याख्यातम् ।

सत्यः—१०६

सत्य शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ जो, सत्पुरुषों से आदृत, आदर पूर्वक स्वीकृत, तथा विद्यमान अर्थ को कहनेवाला हो ऐसा होता है । सत् शब्द से तत्र साधु अर्थ में यत् प्रत्यय करने से सत्य शब्द सिद्ध होता है । अथवा ऐ० आ० २-१-५,६ के वचनानुसार प्राण, अन्न, तथा आदित्य का नाम सत् है इन सबका प्रेरक, अथवा तद्रूप होने से भगवान् का नाम सत्य है । इस सकल दृश्य चराचर वर्ग की स्थिति सत्य में ही है, अर्थात् इस सम्पूर्ण स्थावर जङ्गमरूप दृश्यवर्ग का आधार सत्य ही है, इसलिये यह नाम महार्थप्रद है । इसी अर्थ को, सत्येनोत्तभिता भूमिरित्यादि अथर्व वेद वचन प्रमाणित करता है ।

भाष्यकार सत्य शब्द के रहस्य अर्थ को इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् सत्यनामा विष्णु ने, इस विश्व या विश्वान्तर्गत जिस जिस पदार्थ का सर्जन "निर्माण" किया है वह सब अपने मूलगत सत्यगुणानुसार सत्य ही है, तथा वह सत्यरूप विश्व या वस्तु अपने कर्ता की सत्यता को सर्वत्र प्रकट कर रहा है, जैसे कार्यरूप घट अपने कर्ता कुम्भकार को प्रकट करता है, क्योंकि कारण के गुणानुसार ही कार्य के गुण सिद्ध होते हैं ऐसा न्याय है ।

प्रकृति स्वयं सत्य है, इसलिये वह सत्य का ही ज्ञापन करती है, किसी असत्य पदार्थ का नहीं. इस महत्त्वपूर्ण विज्ञान की प्रतीति किसी सत्यनिष्ठ विद्वान् को ही होती है, और इस प्रकृति के विज्ञापन को ही शकुनशास्त्र या शकुनिविद्या कहते हैं ।

समात्मा—१०७

समानरूपेण सर्वप्राणिहृदयेषु वर्त्तमान आत्मा सर्वस्य हृदयं हृद्=अयते=प्राप्नोतीति, अन्तर्गर्भितण्यर्थो वा गमयति-अदृष्टवशेन गतिमत् करोतीति वा "समात्मा" विष्णोर्नाम संगच्छते। सर्गाद्यारम्भक्षणादारभ्याकल्पं समात्मा समानरूपेण सर्वस्य हृदयाकाशे विराजते। मन्त्रलिंगं च—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥
(अथर्व० १०-८-४३)

पुण्डरीकं=हृदयम्। अस्मिन् हृदये मनः, देहाभिमान्यात्मा, परमात्मा च समानरूपेण तिष्ठतीति कृत्वा समात्मा विष्णुरुक्तो भवति। आत्मनः सद्भावादेव हृदयं गतिमत्। विकृते हृदये तत्स्थास्त्रयो दोषा गुणा वा गतिं विषमयन्ति। आत्मा परमात्मा च समान एव सर्वजीवनवत्स्विति विज्ञापयितुं तस्य विष्णोः समात्मेति नाम ताद्भाव्यतामगमत्।

अष्टसंख्यात्मके 'भूतात्मा' इति नामव्याख्यानावसरे 'पुण्डरीकं नवद्वार'मित्यादिमन्त्रे कृतो विचारो द्रष्टव्यः। आत्म-शब्देन "आत्मा" सर्वलोकाधीश्वरोऽपि सर्वप्राणिहृदये समानरूपेण तिष्ठत्येवेति संक्षेपतोऽर्थो ग्राह्यः।

समात्मा १०७

समान रूप से सब प्राणियों के हृदय में वर्तमान आत्मा सबके हृदय को चलाता है, गति में रखता है एवं अपने अपने अदृष्ट हेतु कर्म के कारण सबके हृदय को जानता है। इसलिये उस विष्णु को समात्मा कहा जाता है।

आद्य सृष्टि से लेकर प्रलय तक समात्मा विष्णु सबके हृदय देश में समान रूप से बस रहा है।

पुण्डरीकं नवद्वारं, अथर्ववेदीय मंत्र से भी यही स्पष्टार्थ आभासित होता है।

पुण्डरीकम् हृदय को कहते हैं। उस हृदय में मन, देहाभिमानी आत्मा और परमात्मा समानरूप से रहते हैं अत एव विष्णु को समात्मा कहते हैं। आत्मा की विद्यमानता में ही हृदय गतिमान रहता है। आत्मा के निकल जाने पर हृदय की गति स्वतः बन्द हो जाती है। हृदय में ठहरे हुये विकृत दोष (वात-पित-कफ) व गुण सत्त्व-रज-तम हृदय की गति को विकृत कर देते हैं। आत्मा और परमात्मा सब प्राणियों में समान अवस्था में ही रहते हैं। विष्णु के इस गुण को बताने के लिये विष्णु का "समात्मा" नाम से कथन होता है।

८ संख्या वाले भूतात्मा नाम की व्याख्या में पुण्डरीकं नवद्वारं मंत्र की व्याख्या देखनी चाहिये।

संक्षेपतः—आत्मा शब्द से निर्दिष्ट किया गया विष्णु जो सम्पूर्ण लोकों का स्वामी है, सब प्राणियों के हृदय में समान रूप से विराजमान हो रहा है। समात्मा शब्द के सार को भाष्यकार अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करता है।

भवति चात्रास्माकम्—

आकीटगात्रात् स गजादिगात्रे, समानरूपेण विराजतेऽन्तः।
अतो विशिष्टः स समात्मनाम्ना, नाकल्पमेतं प्रजहाति धर्मम् ॥१४४॥

समात्मासम्मितः इति स्थितौ विग्रहग्रहो द्विविधो भवति, तेन 'सम्मितः' 'असम्मितः' इति नामद्वयं सम्पद्यते। तत्र—

सम्मितः—१०८

समित्येकीभावेऽव्ययम्। माङ् माने शब्दे च जौहोत्यादिकस्तस्मात् तकारादौ किति क्त-प्रत्यये परे "द्यति-स्यति-मा-स्थामित् ति किति" (पा० ७-४-४०), इत्यनेन मा-धातोराकारस्येदादेशात् "मितः" समुपसर्गः, सम्मितः। नञा युक्ते सति "असम्मितः"। एकीभाव एव मानं यस्य स सम्मितो विष्णुरिति। स सम्मितो विष्णुरेक एव, न द्वितीयः, न तृतीय इत्यादिः। मन्त्रलिंगं च—

स एष एक एकवृदेक एव। (अथर्व० १३-४-२०)
स परमेश्वर एक एव, एक एव, स एकवृत्, एक एव।
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। (अथर्व० १३-४-१६)
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। (अथर्व० १३-४-१७)
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। (अथर्व० १३-४-१८)
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति। (अथर्व० १३-४-२१)
द्यावाभूमी जनयन् देव एकः। (अथर्व० १३-२-२६)

यदुक्तम्—"असम्मितः" इति—न हि केनाप्येकीभावमाप्तेन मातुं शक्य इति कृत्वा "असम्मितः" इत्युक्तं भवति। भवति चात्रास्माकम्—

सूक्ष्म कीट के शरीर से लेकर स्थूल प्राणी के शरीर तक अर्थात् चींटी से लेकर हाथी तक सब शरीरों में भगवान् विष्णु समान रूप से विराजमान है, अपने इस विशिष्ट धर्म को वह प्रलय तक भी नहीं छोड़ता। अत एव उस विष्णु को परमात्मा कहते हैं।

सम्मितः—१०८

सम् यह शब्द एकीभाव अर्थ में अव्यय है। सम उपसर्ग पूर्वक शब्द और मान अर्थ में वर्त्तमान जुहोत्यादि गण की "माङ्" धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर 'द्यतिस्यति' सूत्र से मा धातु के "आ" को इदादेश करके सम्मितः शब्द साधु हुआ, नञ् समास करने पर "असम्मितः" शब्द साधु होता है।

वह सम्मित नाम से कहा जानेवाला विष्णु एक ही है। दूसरा व तीसरा नहीं। विष्णु के 'सम्मितः अथवा 'असम्मितः' नाम के प्रकट करनेवाले मंत्र-स एष एक—अथर्व।

विष्णु को "असम्मितः" नाम से इसलिये स्मरण किया गया है कि कोई भी स्वयं एक रूप में वर्त्तमान पदार्थ दूसरे पदार्थ की सत्ता के बिना किसी को समानता से नहीं माप सकता, क्योंकि उस विष्णु के सदृश कोई दूसरा है नहीं। सम्मित शब्द की व्याख्या भाष्यकार अपने शब्दों में इस प्रकार करता है—

भवति चात्रास्माकम्—

एकात्मता मानमिहास्ति यस्य स सम्मितो विष्णुरनन्तकर्मा ।
सर्वं क्षयं याति विनाशमुक्तं नैकोऽप्यलं मातुमिहास्ति कश्चित् ॥१४५॥

समः—१०९

समानं मानं यस्य स समः, समानोपपदेऽपि कः, बाहुलकाद्वा । यद्वा मा लक्ष्मीः, लक्ष्यते यया सा लक्ष्मीः । भगवांश्च जगता मारूपेण लक्ष्यते ज्ञायत इति मा, जगता सहान्तर्बहिश्च वर्तत इति कृत्वा समः, मन्त्रलिंगं च—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥
(ऋग्० १०-१२९-७)

स पर्यगात् । (यजु० ४०-८)

भवति चात्रास्माकम्—

समान-मानः स समोऽव्ययो वा, लक्ष्म्या च यो वा सहितः "समो" वा ।
लक्ष्मीर्हि लाभादुत लक्षणाद्वा, जगच्च 'मा' तत्सहितः "समो" वा ॥१४६॥

सर्गारम्भाद्यक्षणादाकल्पं विष्णुर्जगता लक्ष्यते विज्ञाप्यत इति समः=विष्णुः ।

अनन्तकर्मा एवं अद्वितीय मानवाले विष्णु के अतिरिक्त सब कुछ क्षय को प्राप्त हो जाता है । अतः कोई भी क्षयधर्मप्राणी या वस्तु उस "सम्मितः" अथवा असम्मित संज्ञक विष्णु का मान करने में समर्थ नहीं है ।

समः—१०९

समान है मान जिसका उसको समः कहते हैं । विष्णु जगत् के अन्दर और बाहर सह-मा=सहमान या समान रूप से व्यापक है अतः विष्णु को भी 'समः' नाम से पुकारा गया है । मंत्र प्रमाण—

'इयं विसृष्टि' इत्यादि ऋग् 'स पर्यगात्' इत्यादि यजुः ।

सह अर्थ में वर्त्तमान—'स' शब्द के उपपद होने पर 'बहुल-वचन' से 'माङ्' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'समः' शब्द साधु होता है । 'मा' प्रकृति या प्राकृत जगत् में विभूति साहचर्य से जो अनुभव किया जाये वह 'समः' कहा जाता है । मा शब्द लक्ष्मी का पर्य्याय-वाची है । लक्ष्मी अर्थात् जिससे लक्षित किया जाये । भगवान् विष्णु जगत् द्वारा लक्षित-लक्ष्य अनुभव-या आभासित किया जाता है । यहां हमारा यह श्लोक है, सह=समानमान (माप) वाला, वह अव्यय विष्णु "सम" है, अथवा जो लक्ष्मी के सहित हो, लक्ष्मी लाभ को कहते हैं, अथवा जिस से विशिष्टता लक्षित हो उस को लक्ष्मी कहते हैं, अथवा जगत् को 'मा' कहते हैं उस जगत् के सहित होने से विष्णु 'समः' कहाता है ।

सर्ग के आरम्भ से आज तक भगवान् इस जगत् की रचना से लक्षित होता है । प्रकृति–पुरुष सदा से ही साथ रहते आये हैं, ऐसा ही आगे भी होता रहेगा अतः 'सम' विष्णु कहलाता है ।

अमोघः—११०

न मुह्यतीति—अमोहः सन्नमोघ उच्यते। अन्वर्थः। अवितथसंकल्पः। सत्यसंकल्पो वा। मुह वैचित्ये, दैवादिकः तस्तात् पचाद्यच् मोहः, नञ्पूर्वोऽमोहः, पृषोदरादित्वात्, न्यङ्क्वादित्वाद्वा हस्य घत्वम् अमोघ इति। विष्णुर्हि स्वयं सत्यसंकल्पः सन् भक्तं सत्येन संकल्पेन युनक्ति, अर्थादमोघगुणवन्तं भगवन्तं ध्यायता ध्यात्रा स एव संकल्पः क्रियते यः प्रकृतेर्नियमं नोल्लंघते। मन्त्रलिंगं च—

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनहानि च।
विश्वमन्यन्निविशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः॥
(ऋग्० १०-३७-२)

सत्योक्तिः, सत्याज्ञा। अतः स सत्यसन्धः "अमोघ" उक्तो भवति। भवति चात्रास्माकम्—

अमोघविष्णोर्न हि कर्म मुग्धं न तद्व्यवस्था शिथिलत्वमेति।
भक्तेन काम्यं तदु यद्व भवितृ मोघांशमत्राशु जहात्यमोघः॥१४७॥

मोघांशं=प्रकृतेर्विरुद्धांशम्, व्यर्थांशं, असंभवांशम्।

पुण्डरीकाक्षः—१११

पुण्डरीकं=हृदयम्। तमश्नुते व्याप्नोतीति पुण्डरीकाक्षः। मन्त्रलिंगं च—

अमोघः—११०

वैचित्य (अयथार्थ ज्ञान) अर्थ में वर्तमान दिवादिगण की 'मुह' धातु से पचादि—'अच्' प्रत्यय होकर गुण, तथा पृषोदरादि आकृति गण सूत्र से अथवा न्यङ्क्वादि-आकृतिगण से हकारके स्थान पर "घत्व" होकर अमोघः शब्द साधु होता है। जो कभी मोह को प्राप्त नहीं होता वह अमोह होता हुआ अमोघ कहलाता है। अन्वर्थ अवितथ संकल्प एवं सत्य संकल्प ये "अमोघ" नामक विष्णु के पर्यायवाची शब्द हैं।

भगवान् विष्णु स्वयं सत्यसंकल्पवाले हैं। इसलिये अपने भक्त को भी सत्यसंकल्प बनाते हैं। उसके भक्त का संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता, अर्थात् अमोघ गुणवाले भगवान् विष्णु का ध्यान करनेवाला भक्त वही संकल्प करता है, जिस में प्रकृति के नियम का उल्लंघन न हो।

इसमें मंत्र प्रमाणः— सा मा सत्योक्तिः—इत्यादि ऋग्।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करता है—

अमोघ गुणवाले भगवान् विष्णु के कर्म व्यर्थ नहीं होते हैं और न ही उसकी व्यवस्था शिथिल होती है। उसके भक्त को पवित्र कामनायें करनी चाहियें। वह कर्मांश (प्रकृति के विरुद्ध नियम) को झटिति छोड़ देता है और इसलिये उसे अमोघ कहते हैं।

पुण्डरीकाक्षः—१११

शुभकर्म- अर्थ में वर्तमान तुदादिगण की पुण धातु से उणादि (४-२०) 'फर्फरीकादयश्च' सूत्र से ईकन्, धातु को ड-तथा सुट् का आगम गुणाभाव, जो अच्छा काम करता है वह पुण्डरीक कहाता है। पुण्डरीकम् हृदय को कहते हैं उस में जो रहता हो अथवा उसमें जो व्याप्त हो उसको पुण्डरीकाक्षः कहते हैं। मंत्र प्रमाण—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥
(अथर्व० १०-८-४३)

कीदृशः स इत्यग्रिमेण मन्त्रेण व्यनक्ति वेदः—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चोनः ।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥
(अथर्व० १०-८-४४)

भवति चात्रास्माकम्—

यश्चेतनः खैः कुरुते स्वकर्म तस्यास्ति हृत्, तत्र निगूढ उक्तः ।
स पुण्डरीकाक्षपदेन विष्णुर्ज्ञेयो नृभिर्यो 'न कुतश्चनोनः" ॥

वृषकर्मा— ११२

वृषो धर्मः, धारणलक्षणः । कर्म क्रिया । धारणलक्षणमेव कर्म = क्रिया यस्य स वृषकर्मा । एतेन वृषकर्मणा नाम्ना विज्ञाप्यते यत् सर्वत्र व्यापकेन विष्णुना यद्यथाविधं रचितं कृतं वा तथाविधं सदैव तद् धर्तुं जीवयितुं रूपेण वा संयोजयितुमर्ह्यते । तद्यथा—उच्चैस्त्वात् सूर्यस्य, नेत्रे अपि सर्वशरीर उत्तमांगे व्यवस्थापिते नान्यत्र । नीचैस्त्वात् पृथिव्याः, पादौ च पृथिवीस्थानीयौ तौ पृथिवीमन्यं वाधारं प्राप्य क्रियां कुरुतस्तत्र यदि कश्चित् प्रभोर्व्यवस्याक्रममनादृत्यान्यथाचरति स दुःखमेवाप्नोति,

---

पुण्डरीकं नवद्वारं—इत्यादि । कैसा है वह पुण्डरीकाक्ष विष्णु यह इस मंत्र से प्रकट करता है । 'अकामो धीरो अमृतः' इत्यादि । भाष्यकार अपने शब्दों में पुण्डरीकाक्ष नाम का भाव इस प्रकार प्रकट करता है । जो चेतन आत्मा इन्द्रियों के साहाय्य से अपने कामों को करता है उसका निवास स्थान पुण्डरीक अर्थात् हृदय है । उस हृदय में भी व्यापक होने से वह भगवान् विष्णु पुण्डरीकाक्ष कहलाता है वह विष्णु सर्वत्र परिपूर्ण है अर्थात् उसमें कहीं से भी ऊनता (कमी) नहीं है ऐसा मनुष्यों को जानना चाहिये ।

वृषकर्मा— ११२

वृषः धर्म को कहते हैं । जो धारण किया जा सके वह धर्म होता है । कर्म—क्रिया का द्योतक है, जिसकी धारण करने योग्य ही क्रियायें चेष्टायें हैं उसको वृषकर्मा कहते हैं । इस वृषकर्मा नाम से प्रकट होता है कि सर्वत्र व्यापक विष्णु द्वारा जो कुछ रचा या बनाया गया है, उसी प्रकार निरन्तरकाल तक उसे धारण करने, जीवित रखने, और उसी रूप से संयुक्त करने में भी वह समर्थ है । जैसे सूर्य के ऊंचा होने से सूर्य गुणवाले नेत्र भी, सम्पूर्ण शरीर के उच्च भाग में रखे हैं, अन्यत्र नहीं । पृथ्वी के नीचे होने से और पैरों के पृथ्वी स्थानीय होने से पैर नीचे रखे हैं । क्योंकि पांव पृथ्वी अथवा अन्य वस्तु का आधार लेकर ही क्रिया करते हैं । अत एव कोई प्रभु की व्यवस्था का अनादर करके विरुद्धाचरण करता है, वह दुःख

एतेन वृषकर्मणा नाम्ना विज्ञाप्यते यत् स एव विष्णुर्जगद्दधाति। सर्गारम्भादद्यावधि यावत् न तस्य कर्म्मणि विकारः संगच्छते। यस्तु क्वचिद्दृश्यते विकारः सोऽपि कश्चिद्दोषमपेक्ष्य, अधिकरणरूपस्य मातुः पितृरूपस्य च बीजस्य तद्दोषयुक्तत्वात्।

भवति चात्रास्माकम्—

वृषो हि धर्मो धृति-लक्षणोऽसौ करोति तद्येन धृतं जगत् स्यात्।

तत् कर्म विष्णोर्वृषकर्म--नाम्नो व्यस्तं क्षयायार्हति विश्वमेतत् ॥१४६॥

सर्वव्यापको विष्णुः स्वनियमविरुद्धं कर्म न करोतीति ज्ञापयितुं तस्य वृषकर्मेति नाम व्यवहारायोपक्लृप्तम्। व्यस्तं विरुद्धं कर्म चेत् तस्य स्यात् तदा विश्वमिदं नाशमाशूपेयात्।

वृषाकृतिः—११३

वृषो धर्मः सकलान् कामान् वर्षतीति कृत्वा। वृष इत्यत्र इगुपधलक्षणः कः प्रत्ययः। आङ्पूर्वात् करोतेः क्तिनि स्त्रियां भावे 'आकृतिः' शब्दो निष्पद्यते। आकारो वा तत्पर्यायः, रूपम् वा। लोकलोकान्तराणां धारणेन य उत्पद्यत आकारः सा आकृतिरस्येति वृषाकृतिः। मन्त्रलिंगं च—

का ही भागी होता है इस वृषकर्मा नाम से ही यह अवगत होता है कि वही भगवान् जगत् को धारण करता है सृष्टि के आरम्भ से लेकर आजतक उसके कार्यों में किसी प्रकार का विकार नहीं आया है। यदि कहीं पर विकार गोचर होता भी है तो वह भी नियमानुकूल ही है। जैसे-अधिकरणभूत माता के दोष से या बीजरूप पिता के दोष से कार्य अर्थात् उनका विकार भूतजातक उस दोष से युक्त होता है क्योंकि भूमि अथवा बीज के दोषयुक्त होने के कारण ऐसा हुआ है। भाष्यकार अपने शब्दों में वृषकर्मा नाम की व्याख्या इस प्रकार करता है—

वृष, धर्म को कहते हैं और वह धर्म धृति आदि लक्षणोंवाला है। भगवान् विष्णु वह कर्म करता है जिससे जगत् छवियुक्त रहे और कोई विकार न हो यही कारण है कि उसे वृषकर्मा कहते हैं। वृषकर्मा भगवान् विष्णु के विरुद्धाचार से सारे संसार का नाश सम्भव है अर्थात् उसके विरुद्धाचार से सारा संसार नष्ट हो जाये।

वृषाकृतिः—११३

वृषधर्म, जो सकल कामनाओं की वर्षा करता है वृष शब्द से इगुपध लक्षण कः प्रत्यय करने पर वृषशब्द साधु हुआ। आङ् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से स्त्रीविशिष्ट भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर "आकृति" शब्द साधु होता है। आकृति शब्द आकार अथवा 'रूप' का पर्यायवाची है। लोक लोकान्तर के धारण करने से जो स्वरूप उत्पन्न होता है वही है आकृति जिसकी उसको वृषाकृतिः कहते हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋग्० १०-१२१-५)

सारार्थतो यदिद यथास्थानस्थितं दृष्टिगम्यं दृष्टेर्वा परं चास्ति तत् सर्वं व्यापकस्य विष्णोरेव रूपम्, न हि तस्मात् परं किंचिद् यत् स्तभ्नाति लोकलोकान्तराणि। यथेदं लोकसम्मितं शरीरमिन्द्रियाणि, आशयान्, मनसो विकारांश्च धरति स्तभ्नाति वा, परन्तु तस्य शरीरस्यापि चेतयिता हृदयस्थ आत्मा पृथक् सन्नपि शरीरेणाहूयते लिंग्यते व्यज्यते, अमुथैवायं पुष्कराक्षो महान् सर्वमात्मनि धरन् "वृषाकृतिः" इति शब्देर्नर्षिभिर्व्यवहाराय शब्दितो ज्ञानसौलभ्याय।

भवति चात्रास्माकम्—

यल्लोकलोकान्तरधारणोत्थं रूपं विभोस्तन्न जरामुपैति।
वृषाकृतिः शम्भुरनामयो यं सनातनं रूपमिदं बिभर्त्ति ॥१५०॥

धारणोत्थम्, धारणा=धर्मस्तज्जम्।

रुद्रः—११४

रोदयतीति रुद्रः। यो हि रुद्रस्य विष्णोर्नियमानुल्लंघते स तं रोदयति तद्यथा—

इसमें मन्त्र प्रमाण—'येन द्यौरुग्रा' इत्यादि ऋग्।

तत्त्वार्थ तो यह है कि यथास्थान स्थित जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, अथवा दृष्टि से परे जो कुछ भी है, वह सब व्यापक विष्णु का ही रूप है, लोक लोकान्तरों को धारण करने वाला उस वृषाकृति विष्णु से परे कोई नहीं है। जैसे यह लोकसम्मित शरीर अपने अन्दर इन्द्रियों, आशयों और मन के विकारों को धारण करता एवं ठहरता है, किन्तु उस शरीर का चेतयिता हृदयस्थ आत्मा पृथक् होता हुआ भी शरीर के द्वारा आहूत (बुलाया) होता है, चिन्हित किया जाता है, व्यक्त किया जाता है। इसी प्रकार पुष्कराक्ष महान् विष्णु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का धर्त्ता होने से मनीषियों एवं ऋषिजनों से ज्ञानसुख के लिये वृषाकृति नाम से स्तुत्य होता है।

वृषाकृति नाम का वर्णन भाष्यकार इस प्रकार करता है—

लोक लोकान्तरों के धारण से जो रूप आकृति, उत्पन्न होती है, वह रूप उस विष्णु का ही है, यह विष्णु का रूप मुरझाता नहीं। निर्विकार एवं सब का कल्याणकर्त्ता 'वृषाकृतिः' संज्ञक विष्णु सनातन इस ब्रह्माण्ड रूप को धारण कर रहा है, अपने आप में सब कुछ धारण करते हुये पुष्कराक्ष विष्णु को व्यवहार के लिये वृषाकृतिः नाम से कहा है।

रुद्रः—११४

जो प्राणियों को रुलाता है उसे रुद्र कहते है। जो कोई जन्तु रुद्र गुणवाले विष्णु के

यदि कश्चित् प्रज्ञापराधाद् यानस्याग्रे पतति तं तद्यानमाघातप्रदानेन रोदयति ।
मन्त्रलिंगं च—

मृडा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते ।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु ॥
(ऋग् १-११४-२)

हे रुद्र ! विष्णो ! ।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

यः सर्वलोकानुगतस्य विष्णोर्विधानमाद्यं जगतो भनक्ति[1] ।
तं रोदयत्येव स रुद्रकर्मा विधानभंगोद्भवदुःखजालैः ॥१५१॥

1. वैदिकान्नियमानुच्चरते, स्वैरमाचरतीत्यर्थः ।

दुःखस्य रुद्रस्य च सारमित्वा प्रज्ञापराधाच्च भयं विमृष्य ।
नूनं नरः सत्त्वगुणप्रसूतान् क्रियाकलापान् विदधीत भूयः ॥१५२॥
प्रबुद्धसत्त्वस्य महाशयस्य दुःखानशेषानपहन्ति रुद्रः ।
भूयो यथा तुष्टमना विधिज्ञं, दुखैरशेषै रहितं विधत्ते ॥१५३॥

शिवपुराणे चेत्थं व्याख्यातम्—

रुर्दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति यः प्रभुः ।
रुद्र इत्युच्यते तस्माच्छिवः परमकारणम् ॥
(संहिता ६, अ०, ९, १४)

नियमों का उल्लंघन करता है उसे वह रुलाता है ।

जैसे—यदि कोई प्रज्ञापराध (बुद्धि दोष) से गतिमान यान के आगे गिरता है तो वह यान अपने आघात के द्वारा उस प्रज्ञापराधी को रुलाता है ।

इस में मन्त्र प्रमाण—'मृडा नो रुद्रोत नो' इत्यादि ऋग् ।

भाष्यकार रुद्र शब्द के सार को इस प्रकार व्यक्त करता है—

यः सर्वलोकानु—इत्यादि, दुःखस्य रुद्रस्य इत्यादि, सम्पूर्ण विश्व में व्यापक विष्णु के द्वारा बनाये हुये नियमों वा आज्ञाओं का जो कोई प्राणी उल्लङ्घन करता है, अर्थात् प्रभु द्वारा रचित प्राकृतिक नियमों को तोड़ता है उसको वह 'रुद्र' संज्ञक विष्णु नियम भंग करने के कारण नाना प्रकार की यातनाओं को भुगतवाता हुआ 'रुलाता' है । दुःख के और रुद्र के सार को समझकर तथा बुद्धि के दोष से होनेवाले भय को विचारकर मनुष्य को निश्चय ही सत्वगुण प्रधान क्रियायें करनी चाहियें ।

प्रबुद्धसत्त्व और महाशयों के सम्पूर्ण दुःखों को रुद्ररूप भगवान् विष्णु उसी प्रकार दूर कर देते हैं जैसे प्रसन्न हुआ राजा राज्यनियमों के विधान को जाननेवाले को बहुत सी सुख सुविधायें दे देता है ।

शिव पुराण में रुद्र शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है— 'रुर्दुःखं' इत्यादि ।

प्राणा वा उत्क्रामन्तो रोदयन्ति तस्मात्तेऽपि रुद्राः, सेन्द्रिय आत्मा एकादश इति ।

बहुशिराः—११५

बहुशब्दोऽनेकपर्यायः सहस्रपर्यायो वा, 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः' (यजु० ३०-१) इति मन्त्रलिंगात् । यथा लोके ज्ञात्रा स्वकं विविधं विज्ञानं ज्ञापयितुं नानाविधं कर्म क्रियते, शिल्पिना च शिल्प क्रियते, कविना च विविधं काव्यं क्रियते तथैव सर्वविज्ञानवता भगवता स्वकमनन्तं विज्ञानं विज्ञापयितुं पृथक् पृथक् योनीनां पृथक् पृथक् शिरसामाकृतयो निर्मीयन्ते । तासाञ्च योनीनां प्रतिवस्तु भिन्ना भिन्ना हानोपादानदृष्टिः । तद्यथा—मनुष्यास्तृणमखाद्यं मत्वा त्यजन्ति, पशवश्च तत् प्राणेभ्यो हितं मत्वाश्नन्ति । मृतं क्षिपन्ति हेयं मत्वा, गृध्राश्च तमश्नन्ति प्रियं हृद्यं च मत्वा । मलं=पुरीषं मनुष्या उत्सृजन्ति, सूकराश्च तदश्नन्ति । ष्ठीवनं ष्ठीव्यते, जले चेत् थूत्क्रियेत तदा मत्स्यास्तदश्नन्ति । कपोतो पाषाणकणानश्नाति । सर्पान्नरा बिभ्यति. नकुला मयूराश्चिल्लकाश्च तमश्नन्ति । पृथक् पृथक् चेन्द्रियगोलकानां निर्माणं पृथक् पृथग् योनीनाम्, एकं चापीन्द्रियगोलकं

रु नाम दुःख अथवा दुःख के कारण का है उसको जो हटाता है उसको रुद्र कहते हैं। सबका कल्याणकर्त्ता होने से एवं सब के दुःखों का हर्त्ता होने से विष्णु रुद्र कहलाता है।

प्राण निकलते हुये प्राणियों को रुलाते हैं, इसलिये प्राण भी 'रुद्र' कहलाते हैं। अथवा—इन्द्रियों सहित आत्मा निकलता हुआ रुलाता है पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां तथा आत्मा मिलकर १०+१=११ भी हो जाते हैं, अतः रुद्रों का ग्यारहपना भी सिद्ध हो जाता है।

बहुशिराः—११५

बहु शब्द अनेक अथवा 'सहस्र संख्या' का पर्यायवाची है। मन्त्र प्रमाणः—'सहस्रशीर्षाः पुरुषः इत्यादि ।

जगत् में जिस प्रकार ज्ञाता प्राणी अपने विविध-विज्ञान को बताने के लिये नाना प्रकार के कर्म करता है, शिल्पी शिल्प कर्म करता है, कवि नाना प्रकार के काव्यों की रचना अपने ज्ञान को बताने के लिये करता है। उसी प्रकार सर्वविज्ञानवेत्ता विष्णु ने अपने अनन्त विज्ञान को बताने के लिये पृथक् पृथक् योनियों के ऊर्ध्वांग=उत्तमांग गले से ऊपर शिर की आकृतियों को पृथक् पृथक् बनाया है, और वे योनियां प्रत्येक वस्तु को भिन्न भिन्न प्रकार से देखती (सोचती) हैं। मनुष्य जिस घास को अखाद्य मानकर छोड़ देता है, पशु उसको ही जीवन के लिये हितकर मानकर खाते हैं। हम मृत प्राणी को त्याज्य समझकर फेंक देते हैं और उसको गीध प्यारा एवं हितकर समझकर खाते हैं। पुरीष एवं मल का मनुष्य त्याग करते हैं, सूकर (सूअर) हितकर जानकर उसी पुरीष को खाते हैं। यदि जल में थूत्क्रिया (थूकना) की जाय अथवा ष्ठीवन (बलगम) डाला जाय तो मछलियां उसे खाजाती हैं। कपोत पत्थरों के कणों को खाते हैं। सर्प से मनुष्य डरता है परन्तु नेवला, मयूर, एवं चील उसको खाजाते हैं। प्राणियों के इन्द्रियगोलकों के आकार का निर्माण भी पृथक्

द्वयोरिन्द्रिययोः कर्म करोति तद्यथा सर्पश्चक्षुःश्रवेति नाम्ना प्रसिद्धः। भिन्नो भिन्नश्च मैथुनक्रमो भिन्न-भिन्नयोनीनामिति, सर्प-कच्छप-मत्स्यादीनामेकधैव शतशोऽण्डानां प्रसवनं, स्वेदजानां च भिन्नो भिन्नः प्रसवक्रमो ज्ञानं च पृथक् पृथक् तेषामिति, इत्थमानन्त्यं ज्ञानस्य विज्ञापयितुमेक एव सर्वव्यापको विष्णुर्बहुशिरोरूपं बिभ्रत् स्वकं व्यापकत्वं विज्ञापयति। एष हि सनातनः क्रमस्तस्य विष्णोरिति।

भवति चात्रास्माकम्—

अनन्तवेदः स महान् मनस्वी विधाय योनीर्विविधा विचित्राः।
शिरःसु सर्वेष्वधिवास्य वेदं स्वकं बहुत्वं शिरसां करोति ॥१५४॥

वेदो ज्ञानम्। शब्दमात्रस्य पर्यायत्वात् "सहस्रमूर्द्धा" इत्यप्येतेन व्याख्यानेन व्याख्यातोऽवगन्तव्यः।

मन्त्रलिंगं च—'*सहस्रशीर्षाः पुरुषः*' इति। आर्षप्रयोगो यथा—

विष्णुं सहस्रमूर्द्धानं चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति॥
चरके ज्वरचिकित्सिते।

सप्तत्रिंशत्तमे श्लोके द्विशतोत्तरं चतुर्विंशतितमत् नाम—'सहस्रमूर्द्धे'ति।

पृथक् है। एक इन्द्रिय गोलक, दो इन्द्रिय गोलकों का भी कार्य करता है। जैसे—सर्प चक्षुश्रवा नाम से प्रसिद्ध है। सर्प श्रवण एवं दर्शन का कार्य नेत्र गोलक से ही करता है। योनियों का मैथुन क्रम भी पृथक् पृथक् होता है। सर्प-कच्छप-मत्स्य आदि जन्तु एक बार में ही सैकड़ों अण्डों का प्रसवन करते हैं। स्वेदज (यूका-लिक्षा) आदि का प्रसवक्रम पृथक् है। इस तरह प्रत्येक योनि का ज्ञान भी पृथक् पृथक् है। इस प्रकार अनन्त ज्ञान को जतलाने के लिये वह एक ही सर्वव्यापक विष्णु बहुशिरा रूप को धारण करता हुआ अपने व्यापक धर्म को प्रकट कर रहा है। यही क्रम भगवान् विष्णु का सनातन काल से चलता हुवा आ रहा है।

भाष्यकार बहुशिरा शब्द के सार को इस प्रकार व्यक्त करता है—

अनन्त ज्ञान का ज्ञाता वह महान् मनस्वी विष्णु नाना प्रकार की विचित्र योनियों को बनाकर, उसने मस्तिष्क में अपने सत्य ज्ञान को निहित करके अपने बहुशिरा नाम को सार्थक कर रहा है।

सहस्रशीर्षाः पुरुषः इस वैदिक प्रमाण के होने से ज्ञात है कि बहुशिराः—सहस्रमूर्द्धा नाम में केवल शब्द मात्र का भेद है। अतः उसकी भी यही व्याख्या समझनी चाहिये।

सहस्रमूर्द्धा नाम का उल्लेख चरक में आता है। चर और अचर के स्वामी, सहस्रमूर्द्धा विष्णु के सहस्र नामों का जप सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट कर देता है। (चिकित्सास्थान)

"सहस्रमूर्द्ध" नाम ३७ श्लोक में २२४ संख्यावाला नाम है।

बभ्रुः—११६

भृञ् भरणे भौवादिको, डुभृञ् धारणपोषणयोः जौहोत्यादिकः, आभ्यां 'कुर्भ्रश्च' (उणा० १-२२) सूत्रेण प्रकृतेर्द्वित्वं कुश्च प्रत्ययः। अत्र 'द्वे' इति पदं पूर्वसूत्रादनुवर्तते। भरति बिभर्ति वा बभ्रुः। कपिलो वर्णः, नकुलो वा। अत्र सूत्रे बाहुलकात्—चक्रुः, पपुः, जघ्नुः प्रभृतयोऽपि सिद्धा भवन्ति।

भरणं नाम सर्वविधजीवनार्होपकरणैः सनाथीकरणम्। को नाम तं व्यापकं विष्णुं विना सूक्ष्मकीटादारभ्यामहच्छरीरं यावत् जीवान् सर्वविधेन्द्रियाणामर्थैस्तान् भरितुं समर्थं इति कृत्वा 'बभ्रुः' इति। विष्णोर्नाम व्यवहाराय प्रकॢप्तं तत्त्वदर्शिभिः।

भवति चात्रास्माकम्—
अनन्तयोनीर्विविधेच्छबद्धा वयश्च तासां विषमं पृथक्शः।
पृथक् पृथग् भोग्यशतैश्च तास्ता बिभर्ति "बभ्रु"र्भगवान् स विष्णुः॥१५५

विश्वयोनिः—११७

विश्वस्य सकलस्य योनिर्विश्वयोनिः। यु मिश्रणामिश्रणयोर्धातुरादादिको

बभ्रु—११६

भृञ् भरणे भौवादिकः, डुभृञ् धारणपोषणयोः जौहोत्यादिकः, इन धातुओं से "कुर्भ्रश्च" उणादि—१-२२ सूत्र से प्रकृति का द्वित्व, और 'कु' प्रत्यय होता है। इस सूत्र में द्वे शब्द की अनुवृत्ति-पूर्व सूत्र से आती है। जो धारण एवं पोषण करे उसको "बभ्रु" कहते हैं। कपिल-वर्ण एवं नकुल भी बभ्रु नाम से पुकारा जाता है। इस सूत्र से बहुल करके चक्रुः, पपुः, जघ्नुः आदि शब्द साधु किये जाने चाहियें।

जीवन-धारण करने योग्य सब प्रकार के साधनों से युक्त करने का नाम "भरण" है। कौन उस व्यापक विष्णु के बिना, सूक्ष्म-कीट से लेकर महान् शरीर तक के प्राणियों की इन्द्रियों को सब प्रकार के अर्थों से युक्त कर सकता है? वह विष्णु ही एक ऐसा है जो इस सामर्थ्य को रखता है इति कृत्वा तत्त्वदर्शियों ने विष्णु के इस गुण को प्रकट करने के लिये उसका सार्थक "बभ्र" नाम व्यवहार के लिये उपयोग में लाया है।

बभ्रु शब्द की व्याख्या भाष्यकार अपने शब्दों में इस प्रकार करता है—

अनन्त योनि प्राणियों को, विविध प्रकार की इच्छाओं से, विषम एवं पृथक् पृथक् आयु से, और शतशः पृथक् पृथक् भोगों से बान्धकर, उन सब प्राणियों का बभ्रु नामक भगवान् विष्णु धारण व भरण-पोषण कर रहा है।

विश्वयोनिः—११७

जो सम्पूर्ण जगत् का योनि कारण है, वह विश्वयोनि है। मिश्रण तथा अमिश्रण

यु जुगुप्सायां चौरादिको, "वहिश्रिश्रुयुग्लाहात्वरिभ्यो नित्" (उण्० ४-५१) अनेन सूत्रेण नि-प्रत्ययो निच्च स भवति तेन योनिशब्दो निष्पद्यते। यौति संयोजयति मिश्रणं करोति=पृथक्=अमिश्रणं करोतीति वा योनिः। युवन्ति मिश्रामिश्रितानि वा गर्भ-बीजानि भवन्त्यस्यामिति योनिः, गर्भाशयो वा कारणं वा, स्त्रीणामुपस्थेन्द्रियं वा। यौति जुगुप्सितः स्रावो वा स्रवत्यस्याः सा योनिः।

विश्वस्य सकलस्य बहुविधसृष्टेश्चतुर्विधायाः स याथार्थ्येन मिश्रणकर्त्ता विष्णुरेवेति कृत्वा विश्वयोनिरुच्यते। कैर्हानोपादानभूतैस्तत्त्वैः पुरुषः प्रक्लृप्तः, कैश्च स्त्री, कैश्च गौः, कैश्च श्वा, कैश्च सिंह-सूकर-मृगादयो प्रक्लृप्ताः कैश्चतेषां स्त्रिय इति। कैश्च पक्षिणः, कैश्च तेषां स्त्रिय इति। कैश्च मत्स्यकच्छपादयो निर्मिताः कैश्च तत्त्वविशेषैस्तेषां स्त्रियः प्रक्लृप्ता इति स एव विष्णुर्वेत्तीति कृत्वा स विश्वयोनिरुच्यते। अमुथैव स्थावरसृष्टेर्बहुविधविकल्पनया प्रक्लृप्तायाः स एव मिश्रणामिश्रणकर्त्ता येनाम्र-वट-श्लेष्मान्तकादीनां पार्थक्यं घासादीनां च विविधता भवति, नानाविधानां पाषाणानां सुवर्णादीनां च धातूनां पृथक्ता विद्योतिता भवति तेषां तत्त्वानां स एव संयोजयिता वियोजयिता चातः स विश्वयोनिरुक्तो भवति। श्रुतिश्च--तस्मात् विष्णोर्विराजोत्पत्तिमाचष्टे। द्रष्टव्यं (ऋग्० १०-९०-१तः १६ ऋचः। यजुष्यप्येवम् अ० ३१). शेषयोरपि। उद्धृताश्चात्रैव 'यतः सर्वाणि' इति

(पृथक् पृथक्) करना अर्थ में वर्त्तमान अदादिगण की "यु" तथा जुगुप्सा अर्थ में वर्त्तमान चुरादिगण की "यु" धातु से उणादि 'वहिश्रुयु" इत्यादि सूत्र से नित् अतिदेश से युक्त "नि" प्रत्यय होकर "योनिः" शब्द साधु होता है। जो मिलाती है या पृथक् पृथक् करती है वह 'योनिः' कहाती है, या जिस में गर्भ के बीज मिलते हैं या पृथक् होते हैं उसको योनि गर्भाशय, कारण अथवा स्त्रियों की उपस्थेन्द्रिय कहते हैं। जो मिलाती है अथवा पृथक् करती है या घृणित स्राव को बहाती है उसको योनि कहते हैं।

समस्त विश्व की चतुर्विध सृष्टि को यथार्थता में बनानेवाला या मिलानेवाला एवं पृथक् करनेवाला भगवान् विष्णु ही है अत एव उसे विश्वयोनि कहते हैं। कौनसे हान और उपादानभूत कारणों के द्वारा पुरुष को बनाया और कौनसे तत्त्वों से स्त्री को बनाया, कौनसे तत्त्वों से गौ, कुक्कुर, सिंह, सुअर, मृगादि को बनाया है, और कौनसे तत्त्वों से उनकी स्त्रियों को बनाया है? कौनसे तत्त्वों से मत्स्य, कच्छप तथा कौनसे विशेष तत्त्वों से उनकी स्त्री जाति को बनाया है? इन सब तत्त्वों को तत्त्ववेत्ता विष्णु ही जानता है, अत उसका कथन विश्वयोनि नामसे किया जाता है। इसी प्रकार स्थावर सृष्टि की नानाविध कल्पनाओं के द्वारों को निर्माणकर्त्ता, मिश्रणकर्त्ता, पृथक्कर्त्ता वह विश्वयोनि विष्णु ही है। आम, बड़, लेसवा (लसूड़ा) आदि वृक्षों में पृथक्ता एवं घास आदि में विविधता, नानाविध पत्थरों एवं सुवर्ण आदि धातुओं की पृथक्ता का ज्ञान करवानेवाला होनेसे एवं सब तत्त्वों का संयोग व वियोग करने के कारण विष्णु को विश्वयोनि कहते हैं। अत एव वेद भी कहता है कि विष्णु से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। देखिये— —ऋग्वेद–१०-९०-१ से १६ ऋचा तक, यजुर्वेद अ० ३१, शेष मंत्र ग्यारहवें

मन्त्रा एकादशे श्लोके ।

विकृतोत्पत्तिः क्षेत्रवीजयोर्विकृतत्वात् । मिश्रितोत्पत्तिः क्षेत्रबीजयोः पृथक् पृथग् योनिस्थयोः सद्भावात् ।

तेन विश्वयोनिना भगवता सकलं विश्वं सनातनात् कालादारभ्याकल्पं यथा–मर्यादं प्रसवाय नियन्त्रितमस्तीति कृत्वा स विश्वयोनिर्भगवान् विष्णुरुक्तो भवति ।

भवति चात्रास्माकम्—

> कैः कैरुपादानविभक्ततत्त्वैर्मर्त्यो मृगेन्द्रो झष–काक-यूकाः ।
> आम्रो लता प्रस्तर-हेम-वज्रं युवन्ति यो वेत्ति स विश्वयोनिः ॥१५६॥

शुचिश्रवाः—११८

शुचीनि श्रवांसि दिशोऽस्येति शुचिश्रवाः । भगवतः श्रोत्राद् दिशामुत्पत्तिरिति "दिशः श्रोत्रात्" (अ० ३१) इति याजुषो मन्त्रलिंगात् । शुच्यो दिशोऽस्येति समानं भवति शुचिश्रवा इति नाम्ना विज्ञपितार्थेन ।

सारार्थोऽयम्-न हि कापि दिक् तथाभूता विद्यते यत्र भगवतो विष्णोर्नामसंकीर्त्तनं सनातनात् कालान्न स्यात् । अत एव विष्णोः पर्यायनामानि पवित्राणि विज्ञायन्ते । गौणीवृत्यास्मदादीनां कर्णवतां श्रोत्राणि विष्णोर्नाम श्रवणेन पवित्राणि भवन्ति ।

श्लोक में उद्धृत कर दिये हैं ।

क्षेत्र एवं बीज में दोष होने पर विकृत सन्तान वा विकृत पदार्थ की उत्पत्ति होती है । पृथक् पृथक् रज और शुक्र का योनि में एक भाव (मिश्रीभाव) उत्पत्ति में कारण बनता है ।

उस भगवान् विष्णु ने सनातन काल से जिस चतुर्विध जगत् की उत्पत्ति का जो क्रम बांधा हुआ है वह ही सदा से बिना विकल्प के आ रहा है । अतः विष्णु को विश्वयोनि कहते हैं ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक के माध्यम से व्यक्त करता है—

मनुष्य, सिंह, काक, मीन (मछली) आम्र वृक्ष, लता पत्थर सुवर्ण आदि को पृथक् पृथक् उपादान विभक्त तत्त्वों से मिश्रित या पृथक् करने के ज्ञान को जाननेवाला विश्वयोनि भगवान् विष्णु है ।

शुचिश्रवा—११८

जिसके दिशा ही पवित्र कर्ण (श्रवण-श्रवण साधन) हैं उस भगवान् विष्णु को शुचिश्रवा कहते हैं । यजुर्वेद के "दिशः श्रोत्रात्" वचन से प्रकट होता है कि भगवान् के श्रोत्र से दिशाओं की उत्पत्ति हुई है । सम्पूर्ण दिशाओं में विष्णु के पवित्र नामों के श्रवण होने से विष्णु का (शुचिश्रवा) नाम सार्थक हो जाता है । तत्त्वार्थ—यह है कि ऐसी कोई दिशा नहीं है जहां सनातन काल से भगवान् विष्णु का नाम संकीर्त्तन नहीं होता है । विष्णु के शुचिश्रवा होने से व्यक्त है कि उसके पर्यायवाची नाम भी पवित्र हैं । गौणी वृत्ति से हमारे कर्ण विष्णु के नाम श्रवण से पवित्र होते हैं । जगत् में मनुष्य अपने कानों को कुण्डलादि के धारण से पवित्र

श्रवणयोः कुण्डलादीनां धारणेन च तयोः शुचित्वमभिलक्ष्यते ।

भवति चात्रास्माकम्—

न क्वापि दिक् यत्र न तं स्तुवन्ति ध्वनिर्न सा या दिशमन्तरा स्यात् ।
भूतात्मसंकीर्तन-नाम-यज्ञाच्छुचिश्रवाः स प्रणवादिवाच्यः ॥१५७॥

अमृतः—११९

न विद्यते मृतं मरणमस्येति 'अमृतः' । मन्त्रलिंगं च—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः, रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥
(अथर्व १०-८-४४)

भवतश्चात्रास्माकम्—

यः शोकमोहादिमनोविकारैर्जन्मादिबाल्यादिशरीरधर्मैः ।
मुक्तोऽव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता, सनातनो विष्णुरिहामृतः सः ॥१५८॥

जन्मादि, इत्यत्रादिशब्देन षड्भावविकारा गृह्यन्ते, तथा बाल्यादि इत्यादि-शब्देन तिस्रः शरीरावस्था बाल्ययौवनजरा गृह्यन्ते ।

प्राणाः सदार्हन्ति निवासहेतोर्मर्माणि शारीरविकारजानि ।
न तानि शम्भोरमृतः स विष्णुर्जगच्छरीरेण विराजते सः ॥१५९॥

प्रिय बनाता हुआ देखा जाता है ।

भाष्यकार अपने शब्दों में शुचिश्रवा नाम की व्याख्या इस प्रकार करता है ।

ऐसी कोई दिशा नहीं है जहां भगवान् विष्णु की स्तुति नहीं होती है, दिशाओं के बिना ध्वनि नहीं होती, अर्थात् ध्वनि दिशाओं के होने से होती है । प्राणियों के द्वारा नाम जपने के कारण ही भगवान् विष्णु 'शुचिश्रवा' व 'प्रणव' आदि नामों से पुकारा जाता है ।

अमृतः—११९

जो कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता उसे अमृत कहते हैं । इसमें वैदिक प्रमाणः—अकामो धीरो०—इत्यादि

भाष्यकार अमृत नाम को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करता है-यः क्लेशकर्माशय० इत्यादि ।

जो क्लेश, कर्म, आशय, व्याधि-चिन्ता तथा शरीर की वार्द्धक्य युवा-किशोरावस्थाओं से युक्त है । वह शाश्वत धर्मरक्षक सनातन विष्णु 'अमृतः' नाम से व्यक्त होता है ।

शरीर मर्मों के आश्रय प्राण रहते हैं परन्तु वह मर्मरहित ब्रह्माण्ड जगत् शरीर से विराजमान होने 'अमृत' कहलाता है ।

प्राणों के रहने का स्थान शरीर विकारोद्भव मर्म स्थान है । लेकिन भगवान् विष्णु मर्म रहित जगत् शरीर से शोभायमान होता है । अतः उसे अमृत कहते हैं ।

शाश्वतस्थाणुः—१२०

शाश्वतश्चासौ स्थाणुश्चेति शाश्वतस्थाणुः। स्थाणोर्व्याख्याप्रसंगे स्थाणु-शब्दो निष्पादित आस्ते, तत्र द्रष्टव्यम्।

भवति चात्रास्माकम्—

शश्वत् सदार्थेऽव्यय आत्मसिद्धः सदाभवः शाश्वत एव विष्णुः।
नगोऽचलः स्थाणुरनेकलिंगो यः शाश्वतस्थाणुरसौ हि विष्णुः॥१६०॥

वरारोहः—१२१

वरः श्रेष्ठ आरोह उत्पत्तिर्बीजानां फलेऽस्मादिति वरारोहो भगवान् सर्वव्यापको विष्णुरिति। तस्यैव महामहिमवतो विष्णोरेषा पद्धतिर्यत् प्रतिफलं तत्र फले तस्य बीजस्योदयो भवति, न ह्येवंविधिना कोऽपि बीजं निर्मातुं क्षम इति कृत्वा स विष्णु-र्वरारोहपदेनोच्यते। आकल्पात् कल्पान्तं यावत् सरणिरेषा विष्णोर्वरारोहत्वं ज्ञापयति। श्रुतिलिंगं च—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। (ऋग्० १०-१९०-१)

भवति चात्रास्माकम्—

ऋतं च सत्यं समुदीयतुस्ततो जगत्प्रसूतौ भवतश्च बीजे।
न यद्विनारोहति बीजयुग्मं फले 'वरारोह' इहास्ति विष्णुः॥१६१॥

शाश्वतस्थाणु—१२०

अनादिकाल से अचल होने से विष्णु को शाश्वतस्थाणु कहते हैं।

स्थाणु शब्द की व्याख्या भाष्यकार अपने शब्दों में इस प्रकार करता है—

शाश्वत् सदार्थे०—इत्यादि।

शश्वत् अव्यय नित्यार्थक है। वह विष्णु सदा एकरस एवं एकावस्था में रहता है। वह शश्वत नग, अचल एवं स्थाणु पर्यायवाची भगवान् विष्णु ही शाश्वतस्थाणु नाम से व्यवहार में आता है।

वरारोहः—१२१

जिससे श्रेष्ठ (उत्तम) आरोह (बीजों की उत्पत्ति) होती है उसे वरारोह कहते हैं। महा महिमावाले भगवान् विष्णु में यह सामर्थ्य है कि प्रत्येक फल में उसी वस्तु के बीज का प्रादुर्भाव होता है। अन्य कोई भी इस प्रकार से बीज बनाने में समर्थ नहीं है, इसीलिये उसे वरारोह कहते हैं। भगवान् का यही वरारोह गुण सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक एवं प्रलयान्त तक प्रकट होता रहेगा।

ऋतं च सत्यं—इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्र से भी भगवान् का वरारोह गुण सिद्ध होता है।

भाष्यकार वरारोह नाम की व्याख्या अपने शब्दों में निम्न प्रकार से करता है—

सृष्टि के प्रारम्भ में ऋत एवं सत्य की उत्पत्ति हुई और यही जगत् की उत्पत्ति में बीज रूप बने। भगवान् की व्यवस्था से ही ये दोनों बीज उत्पन्न होते हैं इसीलिये उसे वरारोह

वरः श्रेष्ठ आरोहोऽङ्को वास्य स वरारोहः सनातनो विष्णुः। मन्त्रलिंगं च—

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त।
'इयं विसृष्टिर्यत आबभूवे' ति मन्त्रलिंगाद् वरारोहः स विष्णुः।

महातपाः—१२२

तप सन्तापे धातुः। महदेकीभावेन तपोऽस्येति महातपाः। स हि विष्णुः सनातनात् कालल्लोकान् सृजन् विसृजन् धरन् याथार्थ्येन कर्मफलानि विभजन् महत्तप आतिष्ठन्निव विज्ञापयत्यात्मानमिति महातपा विष्णुरुक्तो भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

महत्तपो ज्ञानमजस्य यस्मात् महातपा विष्णुरजोऽमृतः सः।
भवाद्यकालात् क्षणमद्य यावत् बिभर्ति तेजांसि स खेचराणि ॥१६२॥

खेचराणि तेजांसि=दिविचरा ग्रहाः।

सर्वगः—१२३

सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः। सर्व-शब्दोपपदे गम् धातोः 'अन्तात्यन्त' (३-२-४८) इति डः प्रत्ययः। सर्वत्र व्याप्तत्वादेतदुक्तं भवति। सर्वं जगत् गमयति गतिं प्रापयतीति

कहते हैं।

'यत्र देवा अमृतम्' इत्यादि तथा 'इयं विसृष्टियतं आबभूव' इत्यादि मन्त्रों से भगवान् विष्णु वरारोह है।

महातपाः—१२२

तप धातु सन्तापार्थक है। महान् है तप जिसका उसको महातपाः कहते हैं। वह ही विष्णु सनातनकाल से सृष्टि को बनाता, प्रलय करता और धारण करता हुआ सम्यक् प्रकार से कर्म फलों का विभाजन करता हुआ महातपस्वी की भांति अपने आप को व्यक्त कर रहा है। अत एव वह विष्णु महातपाः नाम से उक्त होता है।

यहां भाष्यकार महातपा नाम की व्याख्या अपने शब्दों में निम्न प्रकार से करता है—

महत् तपः अर्थात् महान् ज्ञान है जिसका वह विष्णु महातपाः कहाता है, वह ही अज, तथा अमृत नामसे पुकारा जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक द्युलोक में स्थित तेजःपुञ्ज ग्रहों का धारण कर्त्ता होने से वह महातपा नाम से स्मरण किया जाता है।

सर्वगः—१२३

गमन (जाना) अर्थ में वर्त्तमान भ्वादिगण की गम धातु से सर्व शब्द के उपपद रहते अन्तात्यन्ताध्व०—इत्यादि सूत्र से 'ड' प्रत्यय होकर "सर्वगः" साधु होता है।

जो सब स्थानों पर विराजमान हो अथवा सर्वत्र जाये उसको सर्वगः कहते हैं। विष्णु क्योंकि सब जगह व्याप्त है इसलिये उसको सर्वगः नाम से स्मरण करते हैं, अथवा सम्पूर्ण जगत् को

वा सर्वगः, णिजर्थो वात्राभिमतः। मन्त्रलिंगं च—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
(यजुः ४० ५)

तदेजति णिजर्थोऽत्र तदेजयीति यावत्।

भवति चात्रास्माकम्—

स्थानं न तद् यत्र न तस्य सत्ता सोऽन्तर्बहिश्चास्ति वर्तमानः।
स सर्वगो विष्णुरनन्तवीर्यो जवेन सर्वं गमयत्यजस्रम् ॥१६३॥

सर्वविद्भानुः—१२४

सर्वं वेत्तीति सर्ववित्। सर्वं विन्त इति सर्ववित्। सर्वं विन्दतीति सर्ववित्। सर्वं विद्यत इति सर्ववित्। भवति चात्रास्माकम्—

स सर्वविद् विश्वमुखो मखोऽजः सर्वं जगत् वेत्ति स विष्णुरुक्तः।
गुप्तं न शंम्भोर्भुवि किंचिदास्ते जगत् समस्तं किल तत्र शेते ॥१६४॥

भानुः—भा दीप्तौ, आदादिको, दाभाभ्यां नुः (उण् ३-३५) सूत्रेण नु-प्रत्ययः। भाति दीप्यतेऽसौ भानुः, सूर्यः, प्रकाशः किरणो वा। प्रसंगप्राप्तं किञ्चिदुच्यते—स्वर्भानू राहुः। चित्रभानुः सूर्यः, अग्निर्वा। बृहद्भानुरग्निः परमेश्वरो वा, "बृहद्भानो" इति मन्त्रे सम्बुद्धौ दर्शनात्। भाययति दीपयतीति वा भानुः।

गतिमान करता एवं करवाता है इसलिये सर्वगः कहते हैं। इसमें वैदिक प्रमाण:—

तदेजति तन्नेजति०—इत्यादि यजुः०।

सर्वगः की व्याख्या भाष्यकार निम्न प्रकार से करता है—

अनन्तवीर्य, सर्वज्ञ विष्णु अन्दर और बाहर सब स्थानों पर व्याप्त है, ऐसा कोई स्थान नहीं जहां वह न हो अत एव वह अपनी ज्ञानरूपी शक्ति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जान रहा है।

सर्वविद् भानुः—१२४

सब कुछ जाननेवाले, सब पदार्थों को प्राप्त करनेवाले एवं सारे स्थानों में रहनेवाले को सर्ववित् कहते हैं।

इसी शब्द का भाव भाष्यकार अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

विश्वमुख, मख एवं अज इत्यादि नामों से प्रसिद्ध एवं ज्ञेय भगवान् विष्णु सम्पूर्ण जगत् को जानता है। उस प्रभु से छिपा हुवा इस जगत् में कुछ भी नहीं है, अपितु अखिल ब्रह्माण्ड उसी में है और वह सर्वत्र विद्यमान है। इसीलिये उसे सर्ववित् कहते हैं।

भानु शब्द की सिद्धि में अदादिगण की दीप्त्यर्थक भा धातु से "दाभाभ्यां नुः" उणादि सूत्र से "नु" प्रत्यय होता है। प्रकाशित या चमकनेवाले को भानु (सूर्य) कहते हैं। प्रसङ्गवश स्वर्भानु को राहु, चित्रभानु को सूर्य अथवा अग्नि कहते हैं। मन्त्रों में सम्बोधन के रूप में बृहद्भानो शब्द आता है जिस का अर्थ अग्नि या परमेश्वर होता है। सारांश यह है कि स्वयं प्रकाशित होनेवाले को या अन्यों को प्रकाशित करनेवाले को भानु कहते हैं।

भवति चात्रास्माकम्—

न यद्विना भाति तडित् कदाचिन्न यद्विना भान्ति खगाः समस्ताः ।
सोऽनन्तकर्मा स सखा स विष्णुः स एव भाता सकलस्य भानुः ॥१६५॥

सर्वविच्चासौ भानुश्च सर्वविद्भानुः । भवति चात्रास्माकम्—

स सर्वविद्भानुरसौ विभाता हृदन्तरा ज्ञानलवेन भाति ।
ज्ञानप्रभः सन्निखिलं विचष्टे स वाडवस्तापयते समुद्रम् ॥१६६॥

वाडवानलः समुद्राग्निर्यो हि भूस्थानि वारीणि तापयति ।

विष्वक्सेनः—१२५

'विषु'-अव्ययपूर्वोऽञ्चतिः क्विनन्तः । विश्वगिति सर्वतोभावेऽव्ययम् । इनो राजा तेन सह वर्त्तत इति विष्वक्सेनः । एको विश्वस्य भुवनस्य राजा (ऋग्० ६-३६-४) । इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनाम् (ऋग्७-२७-३) तेन भुवनस्य राज्ञा सह वर्त्तत इति सेना । विष्वक् सर्वदिग्गामिनी सेना अस्येति विष्वक्सेनो विष्णुः ।

भाष्यकार इस शब्द की व्याख्या एवंविध करता है:—

बिजली एवं आकाशस्थ समस्त सूर्यादिग्रह-आकाश में उस भानु संज्ञक भगवान् की उत्तेजना से चमकते हैं । वही अनन्तकर्मा भगवान् सर्वसखा है एवं सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक है ।

सर्ववित् एवं भानु शब्दों के गुण भगवान् में हैं अत: उसे सर्वविद्भानु कहते हैं ।

इसी शब्द के सारांश को भाष्यकार अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

सर्वविद्भानु संज्ञक भगवान् अपने ज्ञानांश से सभी के हृदय में प्रकाशित है । समुद्र के जल को तपाने वाली समुद्र में रहती हुई वडवानल नामक अग्नि की भांति ज्ञानप्रभावान् भगवान् विष्णु सम्पूर्ण जगत् में रहता हुवा अनेक रूप की क्रियाओं से इसको चलाता है ।

विष्वक्सेनः—१२५

विष्वक् चारों ओर जानेवाली—ईश्वर सहित सेना विष्वक्सेना कहलाती है । तद्युक्त विष्वक्सेन विष्णु को कहते हैं ।

गति—अर्थ में वर्त्तमान अदादिगण की इण धातु से उणादि 'इणसिञ्जि०' इत्यादि सूत्र से 'नक्' प्रत्यय होकर "इनः" शब्द ईश्वरवाची साधु होता है । सह शब्द को 'स' आदेश "वोपसर्जनस्य" सूत्र से होता है "तेन सहेति तुल्ययोगे" २-२-२८ सूत्र से बहुव्रीहि समास होता है

विषु—अव्ययपूर्वक गति तथा पूजा अर्थ में वर्तमान भ्वादिगण की अञ्चु धातुसे—ऋत्विक्-दधृक् ३-२-५८ इत्यादि से क्विन् प्रत्यय होकर विष्वक् शब्द साधु होता । तथा यह "विष्वक्' शब्द चारों ओर जानेवाले अर्थ में वर्त्तमान अव्यय भी है । "इन" शब्द राजा का पर्यायवाची है । विष्णु सम्पूर्ण संसार का राजा है । इसमें वैदिक प्रमाण:—

'एको विश्वस्य' इत्यादि । 'इन्द्रो राजा' इत्यादि ।

महती सेनावाला होने से विष्णु को "विष्वक्सेनः" कहते हैं ।

विष्वक्सेना, यथा—टिड्डीदलानि, मक्षिकादलानि, मधुमक्षिकादलानि, वरटिका-दलानि मशकदलानि, गृध्र-सूकर-सर्पदलानि, पालकवर्गे—गो-महिषी-अजादलानि, जलप्रदानाय—वायुदलानि, प्रक्षालनकर्तृवर्गे—मत्स्य-कच्छप-मकरादीनां दलानि, दिग्-दर्शनमात्रमुक्तं वाहुल्येन विज्ञैः स्वयमुन्नेयम् । एषा हि विष्वक्सेनस्य सेना न हि तदाज्ञां विना कमपि व्यथते दुःखयति वा । सनातनात् कालादाकल्पं यावद् रक्षन्नायाति रक्षयिष्यति च, विष्वक्सेनो निजसृष्टिरक्षार्थं पुरुषकल्पितसेनां वृथीकरोति ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

नभोऽथ वायुं पृथिवीं समुद्रं प्रकल्प्य तद्दोषविनाशनानि ।
यथार्हशारीरविकारवन्ति सृष्ट्वा स भूतानि विराजते तैः ॥१६७॥

अतो मुनीन्द्रैः कथितो हि 'विष्वक्सेनः' स विष्णुर्न विना तदाज्ञाम् ।
तदंगतोऽपीह हिनस्ति किंचिद् वृथीकरोत्येव चमू स विष्णुः ॥१६८॥

जनार्दनः—१२६

"विष्वक्सेनः" नामक विष्णु की सेना निम्न रूप से हैः—टिड्डियों के दल, मक्खियों के दल, मधुमक्खियों के दल, मच्छरों के दल, वरैयों के दल, गीध, सूअर, सांपों के समूह । पालक वर्ग में गाय, भैंस, बकरियों के समूह, जल देने के लिये वायु-दल । शोधन करनेवाले वर्ग में—बाढ़—नदी । जल को शोधन करनेवाले वर्ग में—मछली, कछुआ, मगरमच्छों के समूह, इस प्रकार यह तो विष्वक्सेन की सेना का दिग्दर्शन मात्र है, इस प्रकार अन्य सेना समुदायों की ऊहा स्वयं विद्वानों को करनी चाहिए । यह विष्वक्सेन की सेना उसकी आज्ञा के बिना किसी को भी व्यथा व दुःख नहीं पहुँचाती । वह विष्णु सनातन काल से इसी प्रकार सृष्टि की रक्षा करता आ रहा है, और आगे भी करता रहेगा विष्वक्सेन अपनी सृष्टि को रक्षा के लिये मनुष्य के द्वारा रचित सेना की अपेक्षा नहीं रखता है । भाष्यकार विष्वक्सेन की व्याख्या अपने शब्दों में इस प्रकार करता हैः—

आकाश, वायु, पृथिवी और समुद्र को बनाकर, उन वायु आदि के दोषों को दूर करने के निमित्त वायु आदि में रहने योग्य शरीरवाले अथवा शरीरों में उस दोष को दूर करने की शक्तिवाले प्राणियों को बनाकर वह 'विष्वक्सेन' विष्णु जगत् में विराजमान हो रहा है ।

भगवान् विष्णु की आज्ञा के विना उसकी सेना का कोई प्राणी दूसरे प्राणी को किंचित् मात्र भी हानि नहीं पहुंचाता है । वह विष्णु अपने बनाये हुये इस जगत् की रक्षार्थ मनुष्य की बनाई हुई सेना की अपेक्षा नहीं करता । अत एव श्रेष्ठ मुनिजन उस विष्णु को 'विष्वक्सेन' नाम से स्मरण करते हैं ।

जनार्दनः—१२६

जायत इति जनः, जन्मी, जन्तुर्वा । जनानर्दयति क्षोभयतीति जनार्दनो विष्णुः। जनार्दनो भगवान् विष्णुः शीतोष्ण-दिवारात्रि-सुखदुःख-क्षत्तृड्-सुभिक्ष-दुर्भिक्ष-सुदशादुर्दशा-वृद्धिक्षय-जन्ममृत्यु-यौवनजरा-रोगशोक-सकलांगविकलांग-सम्पद्-विपदादिभिर्युग्मैः सर्वजन्तूनर्दयति, तस्मात् स विष्णुर्जनार्दनसंज्ञां प्रापितो ज्ञानसौलभ्याय, पद्धतिरेषा च तस्य शश्वदायाति कल्पान्तं च तथैव यास्यति ।

भवति चात्रास्माकम्—

जनार्दनो विष्णुरयोनिजन्मा युग्मोदयेनार्दयते स जन्तून् ।
न सज्जनं शंसति, दुर्जनं नो हिनस्ति, तद्विक्रमणं हिनस्ति ।।१६६।।

विक्रमणम्-विरुद्धक्रान्तारं विरुद्धकर्त्तारमिति वा ।

वेदः— १२७

विद ज्ञाने आदादिको, विद सत्तायाम् दैवादिको, विद्लृ लाभे तौदादिको, विद विचारणे रौधादिको, विद चेतनाख्याननिवासपरिवादेषु चौरादिकः । विद-धातोः सामान्येन "हलश्चे"ति सूत्रेण 'घञ्' प्रत्ययः, तेन वेद इति निष्पद्यते, एवं धात्वर्थो वेदो भगवान् विष्णुः ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

उत्पन्न होनेवाले को जन जन्मी अथवा जन्तु कहते हैं । जो जनों (मनुष्यों) को कष्ट देता है उसे जनार्दन कहते हैं । भगवान् विष्णु सर्दी-गर्मी, दिन-रात, सुख-दुःख, भूख-प्यास, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, सुदशा-दुर्दशा, वृद्धि-क्षय, जन्म-मरण, यौवन-जरा, रोग-शोक, सकलांग-विकलांग, सम्पद्-विपद् आदि द्वन्द्वों से सब जीवों को उद्विग्न (दुःखी) करता है । इसीलिये उसको जनार्दन कहते हैं ।

यही विष्णु भगवान् की पद्धति सनातन-काल से चलती आ रही है और कल्पांत तक एवं-विध ही चलती रहेगी ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक से व्यक्त करता है—अयोनिजन्मा, जनार्दन भगवान् द्वन्द्वों के द्वारा सब प्राणियों को दुःख देता है । वह सज्जन की प्रशंसा नहीं करता और न ही दुर्जन को मारता है । प्रकृति के विरुद्ध आचरण ही कर्त्ता को मारता है ।

वेदः—१२७

अदादिगण में ज्ञानार्थक विद् धातु, दिवादिगण में सत्तार्थक विद् धातु, तुदादिगण में लाभार्थक विद्लृ धातु, रुधादिगण में विचारणार्थक विद् धातु एवं चुरादिगण में चेतना, आख्यान, निवास एवं परिवादार्थक विद् धातु है ।

सामान्य विद् धातु से घञ् प्रत्यय होने पर वेद शब्द सिद्ध होता है ।

सर्वत्र विद्यमान एवं यथार्थ में सब कुछ जाननेवाले को वेद कहते हैं । भगवान् विष्णु में ये दोनों गुण हैं अतः धात्वर्थक वेद नाम इसी का है ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में एवंविध व्यक्त करता है:—

विष्णुर्हि नूनं तमसः परस्तादतः स वेदः, स हि विद्यते वा।
स लभ्यते वेदविदा च वेदः स चेतनो वेदयतेऽथ वेदः। १७०॥
विचारपूर्वा कृतिरत्र शम्भोरतः स वेदो न हि तत्र दोषः।
व्याख्याति विश्वे प्रतिवस्तु वेदं[1] विश्वस्य सूत्रं स्थितमस्ति वेदे ॥१७१।
१—वेदम्--विष्णुम्।

सर्वज्ञानमयत्वाद् वेदरूपत्वाच्च विष्णोः श्रुतयोऽपि सर्वज्ञानंनिबद्धसूत्ररूपाः। यथा च मनुः—

सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः। (मनुः २-७)

अपरं च—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वार आश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥ (मनुः १२-९७)

वेदप्रकाशकाः—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम्-ऋग्-यजुः-सामलक्षणम्॥ (मनुः १-२३)

परब्रह्मणो वेदानां प्रकाशितत्वाद् वेदज्ञानमपि सनातनम्—
'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' । (ऋग् १०-७१ ३)
महाभारतेऽपि—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥

भगवान् विष्णु अन्धकार से परे है। अतः वह वेद नाम से प्रसिद्ध है, अथवा वह सर्वत्र विद्यमान है इसीलिये वेद संज्ञक है। उस वेद संज्ञक भगवान् विष्णु को वेदवित् ही प्राप्त करते हैं। वह चेतन गुणवान् भगवान् सबको जानता है अतः वेद संज्ञक है।

भगवान् के कार्य सब विचारपूर्ण हैं। उसके कार्य एवं ज्ञान में कहीं दोष नहीं है, इसी लिये उसे वेद कहते हैं। विश्व में प्रत्येक वस्तु विष्णु का व्याख्यान करती है, उसके ज्ञान में ही विश्व का सूत्र निहित है।

भगवान् का सर्वज्ञानमय एवं वेदरूप होने के कारण ही वेदों में भी ज्ञान सूत्ररूप से बन्धा हुआ है।

"सर्वोऽभिहितो वेदे" इत्यादि मनु के वचन से भी उसका ज्ञानमय होना सिद्ध होता है।

"अग्निवायु" इत्यादि मनु के वचनानुसार वेदों के रचयिता तीनों सनातन ज्ञानवान् ऋषि क्रमशः अग्नि वायु रवि हैं।

"यज्ञेन वाचः" इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्र से सिद्ध होता है कि जब भगवान् सनातन है तब उससे दिया हुआ वेद ज्ञान भी सनातन है। महाभारत के वचनानुसार स्पष्ट है कि युगों से अन्तर्हित इतिहास समेत वेदों का ज्ञान महर्षियों नें तपसे प्राप्त किया।

वेदरूपः स्वयं भगवान् तस्माद् वेदानां जातत्वात्। यथा च वेदः—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ (यजुः ३१-७)

वेदानां चतुष्ट्वज्ञापिका श्रुतिः—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वांगिरसो मुखम्,
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
(अथर्व० १०-७-२०)

अत्र ब्रह्मणो मुखरूपमथर्ववेदोऽभिहितः। नित्यत्वाद् ब्रह्मणो वेदा अपि नित्याः। यथाह श्रुतिः—

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ॥ (ऋग् ८-७५-६)

'वाचा विरूपनित्यया' वेदवाण्या नित्ययेति भावः। इति दिङ्मात्रमुक्तं वेदरूपः स भगवान्, भगवद्रूपो वा वेद इति।

भवति चात्रास्माकम्—

इदं जगन्नैव नरेण शक्यं यथार्थतो ज्ञातुमदोषयुक्तम्।
को नाम शक्नोति यथार्थशब्दैर्वक्तुं हि तज्ज्ञस्तु विना तदीशम् ॥१७२॥

तदीशम् तस्य जगत ईशं विनेत्यर्थः। उक्तं च—

"जगद्वेदस्य व्याख्यानं वेदो विश्वप्रकाशकः"। (स० नी० काव्ये ५-३-८)

यजुर्वेदीय "तस्माद् यज्ञात्" इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है कि ईश्वर से ही वेदों का ज्ञान प्रकट हुआ, इसीलिये वेदरूप भगवान् सनातन है।

"यस्मादृच" इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है कि वेद चार हैं। ऋग्वेदीय "तस्मै नूनमभिद्यवे" इत्यादि मन्त्र से प्रतीत होता है कि ब्रह्म नित्य है अतः उससे प्रादुर्भूत वेद भी नित्य है।

भगवान् विष्णु वेदरूप है अथवा विष्णुरूप वेद है—इसका दिग्दर्शन ही यहां किया है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—मनुष्य दोषरहित इस जगत् को यथार्थ रूप में नहीं समझ सकता। उस सर्वज्ञानी वेद संज्ञक विष्णु के बिना ऐसा कौन मनुष्य है जो इस जगत् का व्याख्यान कर सके अर्थात् कोई नहीं। वेद संज्ञक भगवान् ही इस जगत् का व्याख्यान कर सकता है।

भाष्यकार के स्वरचित सत्याग्रह नीतिकाव्य में "जगद् वेदस्येत्यादि" श्लोक से स्पष्ट है कि जगत् वेद का व्याख्यान है और वेद संसार का प्रकाशक है।

वेदवित्—१२८

विद्यते=ज्ञायते, ज्ञानविषयीक्रियत इति वेदः। विद्=ज्ञाने आदादिकाद्धातो-र्हलश्चेति पा० सूत्रेण कर्मणि घञि सिध्यति, तद्रूपे कर्मण्युपपदे विद्धातोः सत्सू-द्विषेति पा० सूत्रेण कर्तरि क्विप्, एवञ्च ज्ञानविषयीक्रियमाणं, प्रभवलयानुबन्धि, पुनः पुनर्भवदिदं वेदरूपं जगद्यो याथार्थ्यतो वेत्ति स वेदविद् विष्णुः।

सङ्गच्छते चैतद् यथा लोके कश्चिदपि कार्यस्य कर्ता यथा स्वकृतं कार्यं तत्त्वतो वेत्ति न तथान्यः। भगवता च विहितमेतद्-जगद्रूपं कर्म न कस्यचित्तिरोहितमपितु सर्वस्य प्रत्यक्षं तथाहि ब्रह्मापि सृष्टेरादिभूतमङ्ग नैव तत्त्वतो वेत्ति किमु साधारणो जनो बाह्यदृष्टिः। अत एवैतदसंविदानं वेदोऽन्ध इत्याचष्टे, तथाहि "पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः" ऋक्० १-१६४।१६।

भवति चात्रास्माकम्—

यथार्थतो वेदविदं तमाहुर्यो वेत्ति वेदं जगदात्मसृष्टम्।
पश्यन्न पश्यत्यपि बाह्यदृष्टिः, पुरःस्थितं वस्तु नरो यथान्धः[1] ॥१७३॥

१. विमूढः=विवेकरहितः।

वेदवित्—१२८

वेद नाम जो जाना जाये, ज्ञान का विषय बनाया जाये उसका है, विद् ज्ञाने धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है, और उस वद् धातु से ही वेदरूप कर्म के उपपद रहते हुए कर्ता अर्थ में क्विप् प्रत्यय करने से वेदवित् शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ यह है, ज्ञानका विषय, जन्म तथा मृत्यु से अनुगत, बार बार होने वाले इस दृश्य चराचर रूप जगत् का नाम वेद है, और जो इसको यथार्थ रूप से जानता है उसका नाम वेदवित् है, यह भगवान् विष्णु का नाम है, क्योंकि वह ही इस जगद्रूप वेद को तत्त्व से जानता है। संगत भी यह ही है; क्योंकि जैसे लोक में, जो कोई भी जिस कार्य को करता है, वह ही उसका पूर्ण जानकार होता है, वैसे कोई दूसरा जानकार नहीं होता।

इसी प्रकार भगवद् रचित यह जगत् सबके सामने प्रत्यक्ष है, किन्तु साधारण मनुष्यों की तो बात क्या है, जो कि केवल बाहर को ही देखते हैं, ब्रह्मा भी जो सृष्टि का आदिभूत अङ्ग है नहीं जानता। इसलिये इस वेद ज्ञान से रहित को "पश्यदक्षण्वान्नित्यादि वेद वचन अन्धा बताता है। भाष्यकार इस नाम के संक्षिप्त अर्थ को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

प्राक्तन विद्वान् महापुरुषों ने भगवान् विष्णु को ही अन्वितार्थ वेदवित् नाम से कहा है, क्योंकि वह ही अपने निर्मित इस वेदरूप जगत् को तत्त्व से जानता है, और दूसरे साधारण विवेकरहित पुरुष तो भगवान् के इस जगद् रूप को अपने सामने प्रत्यक्ष स्थित को देखते हुये भी, बाहर को दृष्टि होने से यथार्थ रूप से नहीं जानते।

अव्यंगः—१२९

अगि गत्यर्थो भौवादिकः। अंगति गच्छति क्रियायां साधनं भवतीत्यंगम्। न विद्यते दृश्यादृश्ययोनिवदंगमस्येत्यव्यंगः। हस्तपादादियुक्तवद् व्यक्तिर्न यस्य सोऽव्यंगो निराकारोऽजरोऽमरः। भवति चात्रास्माकम्—

आसर्गतोऽद्यावधि योऽविरामं, स्वाभाविकज्ञानबलक्रियाभिः।
अव्यङ्गनामा कुरुते हि विश्वं, नाप्नोति साङ्गो न निजेन्द्रियैस्तम् ॥१७४॥

ना=मनुजः।

वेदांगः—१३०

वेदाः अंगन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति यमसौ वेदांगो विष्णुः। वेदा अंगयन्ति गमयन्ति प्रापयन्ति यमसौ वेदांगो विष्णुरिति। मन्त्रलिंगं च—

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥
(अथर्व० १०-८-३३)

'अपूर्वेण' नास्ति पूर्वो यस्मात् तथाविधेन परमेश्वरेण 'इषिताः' प्रेरिता 'वाचो' वाण्यः श्रुतयः 'ता' 'वदन्ति' कथयन्ति वर्णयन्ति प्रकाशयन्ति 'यथायथम्' यथार्थम्। ता वदन्तो वाचो यत्र यस्मिन् गच्छन्ति तद् 'ब्राह्मणं महत्' विष्णुमाहुः। महदिति विष्णोर्नामसु पठितमास्ते। भवति चात्रास्माकम्—

अव्यंग—१२९

गति अर्थ में वर्तमान भ्वादि गण की 'अगि' धातु से घञ् प्रत्यय होकर अङ्ग शब्द साधु होता है। जो क्रिया करने में सहायक होता है उसे अङ्ग कहते हैं। जिसका दृश्य या अदृश्य योनि से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसे अव्यंग कहते हैं। अर्थात् हाथ पांव वाले की भान्ति जिसमें अङ्गों का प्रकाश (प्राकट्य) नहीं होता उस निराकार अजर-अमर विष्णु को 'अव्यंग' कहते हैं।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक से व्यक्त करता है।

वह अव्यंग विष्णु सनातन काल से आज तक अपने स्वाभाविक ज्ञान बल क्रियाओं के द्वारा विश्व को रच रहा है, तथापि पांच ज्ञानेन्द्रियों एवं अङ्गों वाला मानव उसको निज अङ्गों (ऐन्द्रिय ज्ञान) द्वारा प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है।

वेदाङ्ग—१३०

वेद का अर्थ ज्ञान है जिसको वेद अर्थात् ज्ञान प्राप्त होते हैं या जिसको वेद अर्थात् ज्ञान प्राप्त कराते हैं वह वेदाङ्ग नाम विष्णु है।

अपूर्वेणेषिता वाचः—इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है कि अपूर्व भगवान् के द्वारा प्रेरित वाणियां जिसको यथार्थ में कहती हैं या प्रकट करती हैं वह ब्रह्म है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है—

वेदा यमंगन्त्यथवांगयन्ति वेदांगसंज्ञः स हि विष्णुरत्र ।
महान् स उक्तः परमेष्ठिसंज्ञो, व्यक्तोऽपि विश्वेऽस्ति निगूढ एषः ॥१७५॥

वेदवित् – १३१

वेदान् विन्ते विचारयतीति वेदवित् । विचारपूर्वा कृतिरत्रास्येति स विष्णुर्वेदविदुच्यते । मन्त्रलिंगं च—"*यथापूर्वमकल्पयत्*" इति ।

भवति चात्रास्माकम्—

विन्ते स वेदानिति वेदवित् स, सृष्टिश्च तर्कानुगतां विधत्ते ।
चतुर्षु वेदेषु च बुद्धिपूर्वं, न्यधात् स्वकं ज्ञानमनन्तवेदः ॥

विचारपूर्वा कृतिर्वेद इति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ।

कविः—१३२

कु शब्दे आदादिकस्तस्मात् "अच इः" (उण्० ४-१३८) , कौति शब्दं करोतीति कविः । क्रान्तदर्शी, विद्वान् वा । कुङ् अव्यक्ते शब्दे भौवादिकः, कवतेऽव्यक्तं शब्दं करोतीति कविः ।

वेद=श्रुतियां जिसको प्राप्त कराती हैं या श्रुतियां जिसमें ठहरती हैं वह विष्णु वेदाङ्ग संज्ञक है । उसी का 'महत् परमेष्ठी' नाम से कहते हैं, वह "वेदाङ्ग" संज्ञक विष्णु इस विश्व में व्यक्त होता हुआ भी निगूढ अर्थात् दृष्टिगोचर नहीं होता है ।

वेदवित्—१३१

जो जाना या जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे वेद कहते हैं, उस वेद अर्थात् विचारने योग्य को जो जानता है, उसे वेदवित् कहते हैं । उसके किये हुये ऐसे कोई कर्म नहीं हैं जो छिपे हुये हों । उसके ज्ञान पूर्वक सम्पूर्ण कर्म किये हुये रात दिन दृष्टिगोचर होते हैं । लेकिन साधारण मनुष्य देखता हुवा भी उसके कर्म को यथार्थता में नहीं देखता है । केवल बाह्य दृष्टि से ही देखता है । वह अन्धे की तरह भगवान् के कर्म को न देखता हुआ चलता है ।

इसमें वैदिक प्रमाण:—पश्यदक्षण्वान्न—इत्यादि

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

विचारने योग्य को जानने वाला भगवान् विष्णु "वेदवित्" कहलाता है । तर्कानुगत संसार की रचना करता है । अनन्त ज्ञानवान् वेदवित् विष्णु ने अपने ज्ञान को बुद्धि पूर्वक चारों वेदों में रक्खा है ।

कविः—१३२

शब्दार्थक अदादिगण की कु धातु से एवं अव्यक्त शब्दार्थक भ्वादिगण की कुङ् धातु से "अच इः" इस सूत्र से इ प्रत्यय होकर कवि शब्द सिद्ध होता है ।

जो शब्द करता है अथवा स्पष्ट बोलता है उसे कवि कहते हैं । दूरदर्शी, असाधारण सूझ वाले व्यक्ति तथा विद्वान् को भी कवि कहते हैं ।

अत्र विश्वे सनातनात् कालात् नद्यादीनां निर्झराणां चाव्यक्तशब्द आयाति। अव्यक्तत्वात्तस्य, स हि सर्वव्यापकोऽनन्तकर्मेति प्रवाहतोऽनादिमिदं सर्वं विज्ञापयति, तस्याव्यक्तध्वनिं कवयो विद्वांसो भिन्नेन विज्ञापनेन विज्ञापयन्ति। वायुरप्यव्यक्तं शब्दं कुर्वन् तमेवाव्यक्तं तस्मिन् वर्त्तमानं व्यनक्ति। मनुष्यमन्तरेणान्ये जीवा अपि –

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्॥
(पाणिनीयशिक्षा)

इति विज्ञैराविष्कृतं सिद्धान्तमनुसरन्तो विविधां वाचं वदन्ति। परन्तु मनुष्याणां वागिव तेषां स्पष्टा वाङ् न भवतीति कृत्वा तेऽप्यव्यक्तं भाषन्त इति मन्यते। परन्तु तेऽप्यव्यक्तवचसा तमेव प्रातः स्तुवन्ति, गायन्तीति विज्ञानां पशुपक्षिविद्याविशारदानामयं समयः। अत इदं निर्विकल्पं वक्तुं शक्यते यत्तेनाव्यक्तध्वनिमता भगवता स्वकमव्यक्तं काव्यं स्रोतःसु पक्षिषु पशुषु च व्यक्तीकृतमास्ते। मनुष्याणां वाक् व्यक्ता ताल्वादिप्रयत्नविशेषैरुच्चार्यमाणत्वात्। ते मनुष्याः प्रतिपदं विष्णुं तत्कर्माणि पश्यन्तस्तमनुपद गायन्ति कथयन्ति काव्यानि च विदधते।

भगवान् स्वयं अव्यक्त है और इस विश्व में नदी एवं स्रोत दोनों के अव्यक्त शब्द सनातन काल से होते आरहे हैं। सर्व व्यापक अनन्तकर्मा भगवान् जतला रहा है कि यह चराचर अखिल ब्रह्माण्ड प्रवाह से अनादि है। इसकी अव्यक्त ध्वनि को विद्वान् एवं कविजन भिन्न २ प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं। वायु भी अव्यक्त शब्द करता हुआ अपने में वर्त्तमान उस अव्यक्त को व्यक्त करता है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी अव्यक्त वाणी बोलते हैं।

पाणिनीय शिक्षा के प्रमाणानुसार आत्मा बुद्धि से प्रयोजन समझकर मन को बोलने के लिये नियुक्त करता है। मन कायाग्नि को आहत करता है और वह अग्नि वायु को प्रेरित करती है। तब वायु उरोभाग में चलती हुई मन्द स्वर करती है।

उपर्यंकित तत्त्वज्ञों द्वारा आविष्कृत सिद्धान्त का अनुसरण करते हुये अनेकविध वाणी को बोलते हैं। लेकिन मनुष्यों की वाणी की तरह अन्य जीवों की स्पष्ट भाषा न होने के कारण उनको अव्यक्तभाषी मानते हैं। तथापि पशु पक्षियों की विद्या में कुशल पण्डितों के सिद्धान्तानुसार वे सब अव्यक्त वाणी से प्रातः उसी भगवान् का स्तवन करते हैं।

इसलिये यह निर्विकल्प कहा जासकता है कि अव्यक्त भगवान् ने अपना अव्यक्त काव्य पशुओं, स्रोतों एवं पक्षियों में व्यक्त किया है।

मनुष्य ताल्वादि स्थान के भेद से उत्पन्न व्यक्त शब्द करने से व्यक्तवाक् है। वह पद पद पर भगवान् के कर्मों को देखता हुआ उसके गुण गान करता है और काव्य का निर्माण करता है।

कवेः कर्म च काव्यं, कविशब्दस्य ब्राह्मणादिषु सद्भावात् "गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि ष्यञ्" (पा० ५-१-१२४) सूत्रेण ष्यञ्-प्रत्ययः। तेन काव्य-शब्दो निष्पद्यते। काव्यं चापि द्विविधं, शब्दरूपं वेद इति यथा। दृश्यं-लोक इति यथा। सर्वव्यापकस्य विष्णोः कवित्वबोधकं मन्त्रलिंगं च—"*कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू*"*रित्यादि* (यजु० ४०-८)। काव्यविज्ञापकं मन्त्रलिंगं यथा—"*पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति*" (अथर्व० १०।८।३२)। जगद्वेदौ चानादी प्रवाहतः। वाचां चतुष्ट्वविज्ञापिका ऋक्—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
ऋग्० १-१६४-४५, अथर्व० ६-१०-२७, निरुक्त० १३।६)

तासां नामानि—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इति। वाचामेकोंऽशः—स्रोतःसु, द्वितीयोंऽशः पक्षिषु, तृतीयोंऽशः पशुषु, तुरीयोंऽशो मनुष्येषु। ब्रह्म इदं ब्राह्मणं, तद्विदो ब्राह्मणाः, तत्रापि च मनीषिणो ब्राह्मणा वाचां चतुष्ट्वं विदन्ति, त्रीणि परिमितानि नियतानि पदानि पदनार्हाणि वचांसि गुहायां निहितानि तानि नेङ्गयन्ति, न चेष्टन्ते-इच्छानुसारं स्वार्थान् नाभिदधति, अर्थात् स्रोतसां वाक् नियता, पक्षिणां च वाक् नियता, पशूनां च वाक् नियता, मनुष्याणां वाक् न नियता, ते मनुष्या यथाभिलाषं सर्वविधां सप्तस्वरोपेतां वाचं वदन्ति। कविवरस्य विष्णोर्वेदनामात्मकं काव्यं मनुष्यैर्ज्ञातुं वक्तुं चार्हमस्ति।

कवि का श्रेष्ठतम कर्म काव्य ही है। कवि शब्द ब्राह्मणादि गण में होने से "गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि ष्यञ्" (पा०५-१ १२४) सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय होने पर काव्य शब्द सिद्ध होता है। काव्य भी दो प्रकार का है। शब्दरूप जैसे वेद और दृश्यरूप जैसे लोक

'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूरित्यादि यजुर्वेदीय मन्त्र से स्पष्ट है कि सर्वव्यापक विष्णु भगवान् कवि हैं।

"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' इस अथर्ववेदीय मन्त्र से स्पष्ट है कि भगवान् विष्णु का दृश्य काव्य अवलोकनीय है। जगत् और वेद प्रवाह से अनादि है।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि इत्यादि ऋचा से प्रतीत होता है कि वाणियां चार प्रकार की हैं, जिनके नाम परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी हैं।

वाणी का एक अंश (भाग) स्रोतों (झरनों) में, दूसरा पक्षियों, तीसरा पशुओं में और चौथा भाग मनुष्यों में है। बुद्धिमान् तत्त्ववेत्ता वाणी के इन भागों को सम्यक्तया समझते हैं।

स्रोतों, पक्षियों और पशुओं की वाणी नियत है। वे इच्छानुसार अपने प्रयोजनों को नहीं कहते। मनुष्यों की वाणी नियत नहीं है। वे अपनी इच्छानुसार सात स्वरों से युक्त वाणी को बोलते हैं।

भगवान् कवि संज्ञक विष्णु का वेद नाम वाला काव्य मनुष्यों ने पढना एवं समझना चाहिये।

नाम-अख्यात-उपसर्ग-निपाताख्या च वाक् पतंजलिना व्याकरणमहाभाष्ये पस्पशाह्निके व्याख्याता, निरुक्ते च। तत्र द्रष्टव्यम्। अस्माभिस्तु निजं प्रसंगमधिकृत्य व्याख्यातम्।

भवति चात्रास्माकम्—

कविर्मनीषी भगवान् स विष्णुश्चकार काव्यं श्रुति-विश्वरूपम्।
स्रोतःसु गां वीषु चतुष्पदेषु न्यधात् स वेधा नृषु गां च तुर्याम्॥१७७॥

गाम्-वाणीम्। स्रोतःसु नदीषु निर्झरेषु च। श्रुति-विश्वरूपम्-श्रुतिरूपम्, विश्वरूपमिति पृथक्शः।

लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षो धर्माध्यक्षः कृताकृतः।
चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः॥२८॥

१३३ लोकाध्यक्षः, १३४ सुराध्यक्षः, १३५ धर्माध्यक्षः, १३६ कृताकृतः।
१३७ चतुरात्मा, १३८ चतुर्व्यूहः, १३९ चतुर्दंष्ट्रः, १४० चतुर्भुजः॥२८॥

लोकाध्यक्षः—१३३

अक्ष-शब्दो व्याख्यातचरः। लोकानध्यश्नुते व्याप्नोतीति लोकाध्यक्षः स भगवान् विष्णुः। मन्त्रलिंगं च—

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
(अथर्व० १०-७-२२)

नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात के भेद से निरुक्त एवं पातञ्जल महाभाष्य में वाणी के चार भेद प्रतिपादित हैं। विशेष उन २ स्थलों से समझना चाहिये। यहां केवल प्रसंग प्राप्त दिग्दर्शन कराया है।

इसी भाव को भाष्यकार अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

भगवान् विष्णु मनीषी एवं कवि है। उसने वेद तथा जगत् रूप काव्य बनाया है। झरनों, पक्षियों, पशुओं में वाणी की व्याप्ति के साथ २ उसने मनुष्यों में चौथी वाणी का न्यास किया है।

लोकाध्यक्षः—१३३

अक्ष शब्द का व्याख्यान हो चुका है। लोक लोकान्तरों में व्याप्त होने के कारण भगवान् विष्णु को लोकाध्यक्ष कहते हैं।

अथर्ववेदीय यत्रादित्याश्च रुद्राश्चेत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है कि भगवान् विष्णु को सब लोकों का ध्यान है एवं सर्वत्र व्याप्त है।

लोकानध्यक्षतीति लोकाध्यक्षः। अक्षू व्याप्तौ, भौवादिकः-अनादिनिधनं विष्णु-(वि० स० ६) मित्यादिश्लोकेऽपि लोकाध्यक्ष इति पदं व्याख्यातमास्ते। अध्यक्षशब्दः स्वामिपर्यायोऽपि। तेन लोकानां स्वामीति लोकाध्यक्षो भगवान् विष्णुः।

भवति चात्रास्माकम्—

सप्तोर्ध्वलोकानुत सप्त निम्नानध्यश्नुते विष्णुरयोनिजन्मा।
तथा यथा ज्ञानबलेन देहं जीवोऽश्नुतेऽध्यक्षति चात्र विष्णुः ॥१७८॥

सुराध्यक्षः—१३४

सूपसर्गपूर्वात् रा दाने आदादिकस्तस्मात् आतश्चोपर्गे (पा० ३।१।१३६) इति कः प्रत्ययः, सुष्ठु राति ददातीति सुरः, तानध्यश्नुते, अध्यक्षतीति वा सुराध्यक्षो विष्णुः। श्रद्धया सूक्त्या वा दानिनां स्वामी, यदा स विष्णुर्दक्षिणं पार्श्वमलंकरोति तदा दाता दातृगुणेनालंकृतो भवति। सर्वमेवैतद् जगद् दानादानाभ्यां स्थितिमातिष्ठति विष्णोः सत्तया सद्भावितं सत्। दानविषये सूक्तयः—

त्वं नो देव ! दातवे रयिं दानाय चोदय (अथर्व० ३-२०-५)। दातवे-दानकर्मणि प्रवृत्ताय, रयिं-सर्वभोगसाधनं धनम्, चोदय-च, उत्, अय-वर्धस्व। चोदय=प्रेरय वा।

भ्वादिगणीय 'अक्षु व्याप्तौ" व्याप्त्यर्थक अक्षुधातु से अक्ष शब्द बनता है।

अनादिनिधनं विष्णुं इत्यादि पूर्वागत श्लोक से लोकाध्यक्ष शब्द का व्याख्यान हो चुका है।

अध्यक्ष शब्द का स्वामी अर्थ भी है। इसीलिये लोकों का स्वामी होने के कारण भगवान् विष्णु को लोकाध्यक्ष कहते हैं।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में एवं व्यक्त करता है:—

अयोनिजन्मा भगवान् विष्णु सात ऊर्ध्व लोकों एवं सात अधः लोकों का स्वामी है एवं वहाँ व्याप्त है। जिस प्रकार जीव शरीर में अपने ज्ञान बल से सर्वत्र व्याप्त है एवं शरीर का स्वामी है, उसी प्रकार भगवान् विष्णु सब लोकों का स्वामी है तथा सर्वत्र व्याप्त है। इसीलिये इसे लोकाध्यक्ष कहते हैं।

सुराध्यक्षः—१३४

"सु" उपसर्गपूर्वक अदादिगणीय दानार्थक रा धातु से "आतश्चोपसर्गे" सूत्र से क प्रत्यय होकर सुर शब्द सिद्ध होता है।

भली प्रकार दान देनेवाले (सात्विक दाता) को सुर कहते हैं, उसके स्वामी को सुराध्यक्ष कहते हैं।

श्रद्धा एवं प्रिय वचन पूर्वक दान देनेवाले व्यक्तियों के भगवान् दाहिने रहता है एवं उसको दाता बनाये रखता है।

भगवान् की सत्ता से सद्भावित यह समस्त जगत् दान एवं आदान के कारण ही स्थित है।

अथर्ववेद के " त्वं नो देव ! दातवे रयिं दानाय चोदय" मन्त्र से स्पष्ट है कि धन होने पर दान देने की बुद्धि यशस्कर है।

मुक्तहस्तेन दानं देयम्—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर (अथर्व० ३-२४-५)। संकिर-सम्यक्तया बीजवप्तुरिव विकिर। वस्त्राणां भूमेः, भवनानाम्, हिरण्यस्य च दातुः पुण्यलोकावाप्तिर्भवति।

वासो हिरण्यं दत्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् (अथर्व० ९-६-२९)

दातुरपकीर्तिर्न भवति—

न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते (अथर्व० २०-२१-१)

कार्पण्यं पापाय दुःखायेति—

वेद त्वामहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते! (अथर्व० ५-७-७) हे अराते! कृपणते! इति दिङ्मात्रं संगृहीतम्।

भवति चात्रास्माकम्—

य: श्रद्धया राति सुरः स देवः सूक्त्यायवाताननुयाति विष्णुः।
अध्यश्नुते विश्वसदः स दातॄनतः सुराध्यक्ष इहास्ति विष्णुः ॥१७८॥

धर्माध्यक्षः—१३५

धर्म।-धारणलक्षणा सत्ता, तं सत्तात्मकं धर्ममध्यश्नुत इति धर्माध्यक्षः। यत् परस्परं लोकधारकं कर्म तस्याध्यष्टा स्वामी वा। मन्त्रलिंगं च—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।
(यजु० १३।४)

"शतहस्त समाहार" इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है कि अर्जन करने के सामर्थ्यसे दान देने का सामर्थ्य (मनोभाव) अधिक होना चाहिये। अर्थात् मुक्तहस्त से दान देना चाहिये।

अथर्ववेद में "वासो हिरण्यं दत्वेत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है कि दाता को उत्तम लोक प्राप्त होते हैं।

"न दुष्टुति', इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है कि दाता अपकीर्ति का पात्र नहीं होता है।

अथर्ववेदीय "वेद त्वामहमित्यादि" मन्त्र से स्पष्ट है कि कृपणता हेया है, कारण इससे दुःख सम्भव है।

यहां भाष्यकार ने दिग्दर्शन ही कराया है, और इसी भाव को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है।

श्रद्धा एवं प्रियवचन बोलकर दान देने वाला "सुर" होता है। भगवान् विष्णु इस गुण वाले व्यक्ति को साहाय्य देने के लिये उद्यत रहता है। इसलिये उसे सुराध्यक्ष कहते हैं।

धर्माध्यक्षः—१३५

धारण करनेवाली सत्ता को धर्म कहते हैं। धर्म के अधीक्षक अथवा परस्पर धारणात्मक सत्तारूप कर्म के स्वामी को धर्माध्यक्ष कहते हैं।

स दाधार पृथिवीं इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र से स्पष्ट है कि भगवान् विष्णु ही पृथ्वी आदि को धारण करता है।

भवति चात्रास्माकम्—

न कोऽपि धाता भुवने विना तं योऽध्यश्नुवीताऽखिलधर्मपालान् ।
तथाश्नुते धर्मपदानि विष्णुर्यथांगमंगं दृढसन्धिवद्धम् ॥१८०॥

देहे यथाङ्गानि सन्धिना दृढबद्धानि स्व-स्व धर्मेण सत्तया वा पराण्यंगानि सत्तावन्ति विदधति, तत्र या सत्ता सा तस्यैव धर्माध्यक्षस्येति कृत्वा सर्वाङ्गपूर्णं वपुर्वदिदं सकलं जगद्भूतमस्त्यत: स धर्माध्यक्ष उच्यते । मन्त्रलिंगं च—

तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा । (यजु० ३१।१९)

कृताकृतः—१३६

कृतं चाकृतं च यस्य स कृताकृतः । कृतमिति भूतकालेन सम्बध्यतेऽकृतमिति च भविष्यत्कालेन सम्बध्यते । भूतभविष्यतोस्तस्मिन् ब्रह्मणि प्रतिष्ठितत्वात् कृताकृतमिति विष्णोर्नाम संगच्छते । यद्यप्येकरसात्मके ब्रह्मणि भूतभविष्यतो-र्योगो न संगच्छते तद्यपि मनुष्यबुद्धिमभिलक्षीकृत्यैष प्रयोगः । मन्त्रलिंगं च —

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
(अथर्व० १०-७-२२)

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

धर्माध्यक्ष विष्णु के बिना इस लोक (विश्व) में ऐसा कोई अन्य धाता (धारण करने वाला) नहीं है जो समस्त धर्मपालकों को धारण करता हो।

जिस प्रकार शरीर का एक अवयव (भाग) दृढ़ संधि से बन्धे हुये शरीर के दूसरे अवयव (भाग) को बांधे हुये है, उसी प्रकार भगवान् परस्पर धारण करने वालों को धारण करता है। या यों कहिये कि जिस प्रकार सर्व वैभव पूर्ण शरीर सब अङ्गों को दृढता से धारण करता है, उसी तरह भगवान् ने यह सारा संसार धारण कर रक्खा है। अतः इसे धर्माध्यक्ष कहते हैं।

यही बात यजुर्वेदीय "उसमें सब भुवन ठहरे हुये हैं अर्थात् वह सब भुवनों को धारण करता है" मन्त्र से स्पष्ट सिद्ध है।

कृताकृत:—१३६

जिसने कुछ किया है एवं कुछ नहीं किया है या करना है उसको "कृताकृत" कहते हैं। सर्गारम्भ से आजतक "कृत" शब्द से आभासित होता है। भविष्यत् काल में होने वाला "अकृत" शब्द से ध्वनित होता है। भगवान् ने अतीत काल में किया एवं भविष्य में भी कुछ करना है। अर्थात् यों समझना चाहिये कि भूत एवं भविष्य की प्रतिष्ठा ब्रह्म में ही है। अतः भगवान् विष्णु का नाम "कृताकृत" युक्ति संगत है।

यद्यपि ब्रह्म एक रस है और उसमें भूत-भविष्यत् काल का योग नहीं होना चाहिये तथापि मनुष्य बुद्धि की अपेक्षा करते हुये ही ऐसा कहा है।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्चेत्यादि अथर्ववेद के मन्त्र से यही ध्वनित होता है।

यथा सूर्यस्योदयास्तौ न भवतःतथापि व्यवहारो भवति मनुष्यबुद्धिमधिकृत्य भूगोलमधिकृत्य वा। मन्त्रलिंगं च यथा—

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन॥
(अथर्व० १०-८-१६)

चतुर्दश मन्वन्तराणि जगत आयुरिति वेदविदो भाषन्ते। अत इदं विज्ञायते सम्भाव्यमान-सूर्योदया अपि तद्ब्रह्मणि नियताः सन्ति, परन्तु मनुष्यबुद्धिमधिकृत्य ते सम्भाव्यमाना अकृतमिव मन्यन्ते। पूर्णत्वात् तस्य ब्रह्मणः। एष हि तस्य सनातनो धर्मः कल्पान्तं यास्यतीति "कृताकृतः" इति ब्रह्मणो नाम सुतरां संगच्छते।

भवति चात्रास्माकम्—

कृतं नियन्त्रा सकलं स्वबुद्धौ व्यवस्थितत्वादकृतं तथा स्यात्।
यथा नियन्ता विनियम्य यन्त्रं सम्भाव्यमानानि निरीक्षतेऽत्र॥१८१॥

स्वबुद्धौ–तस्य स्वज्ञाने। नियन्ता–सामान्यो यन्त्रनिर्माता शिल्पी, सामान्यो वा जनः स्वं संभाव्यमानं ज्ञाने कृतमिव पश्यतीति भावः।

कृताकृताह्वोऽमरमाननीयो विष्णुः सनात् पश्यति यन्त्रबद्धम्।
प्रवाहतो नित्यमिदं समस्तं, तथा यथा ज्ञानदृशा नियन्ता॥१८२॥

जिस प्रकार सूर्य का उदयास्त नहीं होते हुये भी मनुष्य बुद्धि से भूगोलदृष्टि से इसका उदयास्त व्यवहार में आता है। "यतः सूर्य उदेत्यस्तमित्यादि" अथर्व वेद के मन्त्र में भी सूर्य का उदयास्त स्पष्ट है।

वेदवित् इस सृष्टि की आयु चोदह १४ मन्वंतर मानते है। इसलिये यह स्पष्ट है कि उस कृताकृत संज्ञक भगवान् ने भविष्य के बुद्धि की अपेक्षा से वे सूर्योदय किये जायेंगे। एवं विध कार्य अकृत शब्द से समझे जाते हैं।

भगवान् की एवंविध कृत-अकृत व्यवस्था कल्पांत तक चलती रहेगी। अतः ब्रह्म का "कृताकृत" नाम युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

भाष्यकार इस भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

जिस प्रकार नियन्ता (यंत्र बनाने वाला) कर्म करता हुआ यंत्र के कुछ भाग को कर लेने पर भविष्य में करने वाले काम को अपनी बुद्धि में होने के कारण अकृत को भी वर्तमानवत् समझता है। उसी प्रकार सर्व जगत् के नियन्ता भगवान् ने भी सारी व्यवस्था अपनी बुद्धि से सोच रक्खी है। जो व्यवस्था वर्त्तमान हो जाती है वह "कृत" शब्द से व्यवहार में आजाती है और जो भविष्य में होनी है वह अकृत शब्द से समझी जाती है। अत एव भगवान् को "कृताकृत" कहते हैं।

भाष्यकार इसी भाव को पुनः शब्दान्तर से व्यक्त करता है:—

जिस प्रकार कुशल यन्त्रकार अपने ज्ञान के कारण यन्त्र के कुछ भाग को बनाकर शेष भाग को बनाने के सामर्थ्य के कारण अकृत को भी कृत समझता है, उसी प्रकार कृताकृत संज्ञक भगवान् विष्णु सनातन काल से ही इस जगत् को एवं इसकी व्यवस्था को प्रवाह से ही बनाये हुये है। कारण शब्द की व्याख्या आगे की जायेगी।

चतुरात्मा—१३७

चते याचने धातुर्भौवादिकस्तस्मात् "चतेरुरन्" (उ० ५-२-५८) इत्युरन्। तेन चतुरः। अततीत्यात्मा। चतुर्षु-अर्थात् उद्भिज्ज-स्वेदज- अण्डज-जरायुजेषु भूतेष्वततीति चतुरात्मा स विष्णुः सर्वकलाभिरामः मन्त्रलिंगं च—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥
(यजु० ३२-११)

प्रसंगतः—यद्यदिह चतुर्विधविकल्पं तस्यात्मेति चतुरात्मा स विष्णुः। एष हि क्रमः सनातनस्तस्य विष्णोराकल्पं यातो यास्यति च।

भवति चात्रास्माकम्—

चतुर्विधां सृष्टिमुतापि लोकान् विवल्प्य विष्णुश्चतुरात्मसंज्ञः।
विराजते तत्र विचित्रशक्तिरात्मानमञ्जन् स्वयमात्मना सः॥१८१॥

विचित्रा शक्तिर्यस्य सः, विचित्रशक्तिः। मन्त्रलिंग च—

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु॥
(यजुः—३२ ८)

चतुर्व्यूहः—१३८

ऊह वितर्के भौवादिकः, ऊह्यते वितर्क्यते इत्यूहा "गुरोश्च हलः" (३।३।१०३) इति

चतुरात्मा—१३७

याचना (मांगना) अर्थ में वर्त्तमान स्वादि गण की 'चते' धातु से उणादि (चतेरुरन्) सूत्र से 'उरन्' प्रत्यय होकर 'चतुरः' शब्द साधु होता है। चार प्रकार के उद्भिज्ज-स्वेदज-अण्डज जरायुज भूतों में जो सतत विराजमान रहता है उस सर्वकलाभिराम विष्णु को "चतुरात्मा" कहते हैं।

यजुर्वेदीय मन्त्र- परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्० इत्यादि से यही अर्थ स्पष्ट है। यहां जो २ चार प्रकार का विकल्प प्रत्यक्ष हो रहा है उसकी आत्मा को चतुरात्मा कहते हैं। यह क्रम सनातन काल से उस विष्णु का आरहा है और आगे भी इसी प्रकार से रहेगा।

यहां भाष्यकार इस भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है विचित्र शक्ति वाला भगवान् विचित्र रचनामय लोक एवं चतुर्विध सृष्टि को बनाकर स्वयं उसमें विराजमान हो रहा है। इस संसार में वह विष्णु चतुरात्मा संज्ञा को धारण करता हुआ स्वयं ही अपने आपको साक्षी रूप से व्यक्त कर रहा है।

मन्त्र प्रमाण—वेनस्तत् पश्यन्निहितं—इत्यादि

चतुर्व्यूहः—१३८

वितर्क अर्थ में वर्तमान स्वादिगण की 'ऊह' धातु से "गुरोश्च हलः" सूत्र से स्त्रीलिंग

स्त्रियाम् अप्रत्ययः, विशिष्टा ऊहा व्यूहा, चतुर्षु चतुर्विधभूतवर्गेषु व्यूहा यस्य स चतुर्व्यूहः, एतेन नाम्ना विज्ञाप्यते यद् भगवतो विष्णोर्विषयिकामूहां कर्त्तुं चतुर्विध-प्राणिनां बीजमिश्रणकालादारभ्य मृत्युपर्यन्तं सर्वं सम्यग् दृष्ट्वा तस्यानन्तकर्मत्वमूहितं भवति। एषा हि तस्य सनातनी पद्धतिः। अत एव गूढ इति संज्ञां स प्रापितोऽस्ति विज्ञैः।

भवति चात्रास्माकम्—

> चतुर्व्यूहः स सर्वज्ञस्तर्क्यो भूतचतुष्टये।
> विश्वयोनिं दधन्नाम सर्वं पश्यन् विराजते ॥१८२॥

अथवा—

> व्यूह्यात्मानं चतुर्धा वै वासुदेवादिमूर्त्तिभिः।
> सृष्ट्यादीन् प्रकरोत्येष विश्रुतात्मा जनार्दनः ॥
> (इति व्यासवचनम्)

प्रकारान्तरेण व्याख्यानं पुनरस्मत्—

द्वादशमासात्मकोऽयं संवत्सरः। संवत्सरश्च कालात्मकः। सृष्टिं प्रवर्त्तयता भगवता त्रिविधविकल्पा राशयश्चतुर्धा व्यूढाः। तद्यथा—

विशिष्ट भाव में 'अ' प्रत्यय होकर 'ऊहा' शब्द साधु होता है। विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'वि' उपसर्ग के लगाने से 'व्यूहा' शब्द सम्पन्न हो जाता है। चतुर्विध भूत वर्ग में विशेष 'ऊहा' तर्कणा वाले को चतुर्व्यूहः कहते हैं। भगवान् विष्णु के उस नाम से जाना जाता है कि विष्णु सम्बन्धी ऊहा करने के लिये चतुर्विध सृष्टि के बीजारम्भ से मृत्यु पर्यन्त सब कुछ भली प्रकार से तर्कित करके उस भगवान् की अनन्त शक्ति की ऊहा की जाती है। यही उस भगवान् की सनातन पद्धति है। इसीलिये उसे "गूढ" नाम से कहते हैं क्योंकि सृष्टि में व्यवस्थित हो रहे कर्मों को देखकर किसी निगूढ की तर्कणा करनी पड़ती है जो सर्वत्र अपनी व्यवस्था से सबको नियम में रख रहा है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

यह चतुर्व्यूह संज्ञक भगवान् विष्णु चतुर्विध सृष्टि में अतर्क्य है, सर्वज्ञ है एवं 'विश्वयोनि' संज्ञक होने के कारण सम्पूर्ण चराचर जगत को देखता हुआ सर्वत्र विराजमान हो रहा है।

अथवा—अपने आपको वासुदेवादि रूप चार ४ मूर्तियों में विभक्त करके 'जनार्दन' तथा विश्रुतात्मा संज्ञक विष्णु सृष्ट्यादि को बनाता है। भावार्थ यह है कि एक ही चार ४ शक्तियों में बंट कर चतुर्विध सृष्टि को बना रहा है। यह व्यास का वचन है।

भाष्यकार इसी नाम की व्याख्या प्रकारान्तर से करता है—

बारह मास का संवत्सर होता है. संवसत्रकाल पुरुष का नाम है। सृष्टि को बनाते हुये भगवान् ने राशियों की तीन वर्गों में चार चार की कल्पना की है। जैसे—

मेषः,	मकरः,	तुला,	कर्कः,
वृषः,	कुम्भः,	वृश्चिकः,	सिंहः,
मिथुनम्,	मीनः,	धनुः,	कन्या,

नवांकयोगेनापरो राशिरुत्पद्यते। द्वादशतोऽधिको राशिर्द्वादशतस्तष्ट्यः। तद्यथा– मेषः समानं भवत्येकांकेन तत्र नवांकानां योगे कृते दश भवन्ति, दशांकाश्च भवन्ति समाना मकरेण। मकरे युक्ता नवांका एकोनविंशति जायन्ते द्वादशतोऽधिकाः सन्तीति कृत्वा द्वादशभिस्तष्ट्याः, तत्र शिष्यन्ते सप्त, ते च सप्त भवन्ति समानं तुला–राशिना। ते च सप्त नवांकेन युक्ता भवन्ति षोडश,ते षोडश द्वादशभिस्तष्ट्याः, शेषाश्चत्वारः, चत्वारो भवन्ति समानाः कर्क-राशिना, एष हि क्रमः परयोर्द्वयोर्वर्गयोः, एतस्य विज्ञानस्य विशेषं व्याख्यानं पृथक् प्रबन्धे विशदीकर्त्तुं प्रयत्यते। उक्तं च किंचित् प्रसंगप्राप्तं भाव इति सप्तमे नामव्याख्याने, आदित्य–नामव्याख्याने च, तत्संख्या–३९ एकोनचत्वारिंशत्तमी। एवं वक्तुमर्हते यत् चतस्रो व्यूहा अस्येति चतुर्व्यूहः स भगवान् विष्णुः सनात् कालात् स्वात्मानं चतुर्विधव्यूहे व्याप्तीकृत्यास्ते।

मेष	मकर	तुला	कर्क
वृष	कुम्भ	वृश्चिक	सिंह
मिथुन	मीन	धनुः	कन्या

एक राशि में नव (९) का अङ्क जोड़ने से दूसरी राशि उत्पन्न हो जाती है यदि बारह से योग अङ्क अधिक हो जाये तो बारह उस अधिक योग अङ्क से घटा दिये जाने पर शेषांक अभिमत राशि बन जाता है। जैसे मेष राशि एक (१) अङ्क के समान है तो उसमें ९ जोड़ने से १० हुये तो वे १० अङ्क मकर राशि के समान हैं। पुनः उस मकर=१० में ९ युक्त करने पर उन्नीस (१९) हुये वें १२ से अधिक हैं अतः १२ उसमें से निकाल देने पर शेष सात बचे, वे ७=तुलाराशि के समान हैं। उन सात (७) में पुनः नव (९) मिलाये तो हुये सोलह (१६), १२ से भाग देने पर शेष बचे ४, वे चार (४) कर्क राशि के समान हैं। यह ही क्रम शेष राशियों के द्विविध वर्ग में भी समझना चाहिये। जैसे—२+९=११=कुम्भ। ११+९=२०(१ वृश्चिक राशि उत्पन्न हुई। ८+९=१७, १२ निकाल दिये शेष रहे ५=
२ ८

सिंह राशि उत्पन्न हुई। इसी प्रकार मिथुन ३+९=१२, मीन १२+९=२१, १२ निकाल दिये ९=धन राशि हुई। ९+९=१८, १२ निकाल दिये शेष रहे ६=कन्या राशि हुई। भाष्यकार इस विज्ञान की व्याख्या को पृथक् प्रबन्ध में करने के निमित्त प्रयत्न कर रहा है। कुछ थोड़ासा व्याख्यान ७ वें (भाव) नाम की व्याख्या पर और ३९ वें 'आदित्य' नाम की व्याख्या में किया है। अतः यह ऊहा ठीक है कि चार व्यूहों वाले को चतुर्व्यूह कहते हैं और उस चतुर्व्यूह संज्ञक भगवान् सदा से ही चार प्रकार के व्यूहों में अपने आपको व्याप्त कर रखा है।

भवति चात्रास्माकम्—

मेषादयो द्वादश नामभिन्ना नवांकयोगेन सुवन्ति चान्यम् ।
जगच्चतुर्व्यूहमयं समस्तं व्याप्तश्चतुर्व्यूहपदः स तस्मिन् ॥१८३॥

चतुर्दंष्ट्रः—१३९

दंष्ट्रा, दशि दशने चौरादिकस्तस्मात्, दंश दशने भौवादिकाद्वा सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (४।१६९) इत्युणादिष्ट्रनोऽपवादेन "दाम्नीशसयुयुजेति (पा० ३।२ १८२) करणे ष्ट्रन् प्रत्ययः। दश्यते यया सा दंष्ट्रा, चतस्रो दंष्ट्रा यस्य स चतुर्दंष्ट्रः। अत्र भगवत्कृतायां सृष्ट्यां नखिनां हिंस्रस्वभाववतां द्वे द्वे दंष्ट्रे नीचैरुच्चैश्च मुखे भवतः, ताश्च संकलिताश्चतस्रो भवन्ति। याभिर्हिंस्रः स्वकमाखेटं दंशयति, एतेन 'चतुर्दंष्ट्र'नाम्नेदं विज्ञाप्यते यद् भगवान् सर्वव्यापको विष्णुः सर्वकमेतं विश्वं मुखे, निग्रह्य वास्ते, न हि किंचित् तं विष्णुमुपेक्षीकृत्य विचरितुं तिरोहितीकर्तुं वात्मानं शक्नोति। एतमेवार्थं गीतायामर्जुनो व्याचष्टे—

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि, दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म, प्रसीद देवेश ! जगन्निवास ॥११।२५॥

एतेनेदमपि विज्ञायते यदेकशफानामनेकशफानामुत च नखिनामान्त्रस्थापन-

---

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है।

ये मेषादि बारह राशियां पृथक् पृथक् अपने सहित नौ (९) के योग से दूसरी राशि को उत्पन्न कर देती हैं। यह जगत् चतुर्विध राशि समूहमय है, इसलिये वह चतुर्विधव्यूह संज्ञक भगवान् विष्णु इसमें व्याप्त हो रहा है।

चतुर्दंष्ट्र—१३९

दशन (काटना) अर्थ में वर्त्तमान चुरादिगण की 'दशि' धातु अथवा भ्वादि गण की दश धातु से उणादि के (सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्) सूत्र को बान्धकर दाम्नीशसेत्यादि (पा० ३-२-१८०) से ष्ट्रन् प्रत्यय होकर दंष्ट्रा (दाढ़) शब्द बनता है। चार दंष्ट्रा वाले को चतुर्दंष्ट्र कहते हैं। इस भगवान् की सृष्टि में हिंसक प्राणियों के मुख के नीचे और ऊपर के जबाड़े में दो दो दाढें होती हैं। उनका योग करने से वे चार होती हैं। जिन चार दाढों से हिंसक अपने आखेट (शिकार) को फट पकड़ता है। इस "चतुर्दंष्ट्रा" शब्द से जाना जाता है कि सर्वव्यापक विष्णु इस सारे विश्व को अपने मुख में पकड़े हुये है, कोई भी प्राणी उस भगवान् की उपेक्षा करके विचर नहीं सकता है और ना ही कोई अपने आपको उससे छिपा सकता है। इसी भाव को गीता में अर्जुन ने कहा है कि मृत्यु के समान दाढों से व्याप्त आपके मुख को देखकर न कोई भागने की दिशा में है, और न कहीं शरण लेनें को उसके लिये स्थान हैं इसलिये हे जगन्निवास आप प्रसन्न मुद्रा हो जाओ।

इस से यह भी जाना जाता है कि एक शफ (खुर) वालों को तथा अनेक

प्रकारोऽप्युदरे भिन्नो भिन्न एव। एतेन दंतनिवेशनेन दन्तवतां गुण-धर्मस्वभावा अपि सौकर्येणावगन्तुं शक्या भवन्ति। भवतश्चात्रास्माकम्—

नखी यथाऽऽखेटमुपात्तवीर्यो निगृह्य दंष्ट्राभिरमुं निहन्ति।
विष्णुश्चतुर्दंष्ट्रपदेन वाच्यस्तथैव निगृह्य जगत् प्रशास्ति ॥१८४॥

भुक्तं यथा पाकमुपैति जन्तोः कृतं तथा कर्म च याति पाकम्।
विष्णुश्चतुर्दंष्ट्रपदेन वाच्यो ददाति जीवाय यथार्हयोनीः ॥१८५॥

नखिनः—श्वविडालसिंहप्रभृतयः।

चतुर्भुजः—१४०

चतुरो भुनक्तीति चतुर्भुजः। चतुरो भुंक्त इति चतुर्भुजः। चतुरो भुजति कौटिल्यं=यथान्यायं—ऊर्ध्वं चाधो तिर्यक् च गमयन् भावाभावौ च प्रापयन् जगद् विष्णुः स्वेन चतुर्भुजधर्मेण विश्वं व्याप्य तिष्ठतीति चतुर्भुजः।

चतेरुरन (उण् ५-५८)। चते भ्वादिको याचनार्थकः, चतते याचतेऽसौ चतुः, संख्यावाची वा। चतुरनडुहोरामुदात्तः (पा० ७।१।९८)। इत्यनेनाम्-चत्वारः। स्त्रियां चतस्रः।

शफों (चिरे खुर वालों) के उदर में आन्त्रों (अन्तड़ियों) का विन्यास भी भिन्न भिन्न प्रकार का है। मुख में किये हुये दन्तविन्यास को देखकर पशुओं के गुण-धर्म स्वभाव भी सुगमता से जाने जा सकते हैं।

भाष्यकार इस भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

जिस प्रकार शक्तिशाली नखी अर्थात् सिंह-व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी अपने आखेट को झपट कर दातों से पकड़ कर उसको मार देता है उसी प्रकार चतुर्दंष्ट्र संज्ञक भगवान् विष्णु इस विश्व को पकड़ कर इस पर शासन करता है। भुक्तं यथा,—इत्यादि। खाया हुआ पदार्थ जैसे पचकर प्राणी का अंश बन जाता है, इसी प्रकार मनुष्य का किया हुआ कर्म भी परिपाक को प्राप्त होता है। चतुर्दंष्ट्रः संज्ञक भगवान् विष्णु जिस जीव को जैसी योनि चाहिये वैसी ही उस को योनि दे देता है।

नखी—जैसे कुत्ता–बिल्ली–सिंह–इत्यादि

चतुर्भुजः—

चतुर्-शब्द की व्याख्या की जा चुकी है। रक्षा-करना तथा कुटिलता (टेढापन) अर्थ में वर्तमान भुज धातु से भुजा शब्द बनता है "चतुर्भुज" संज्ञक विष्णु चतुर्विध सृष्टि को भोजन देता है, रक्षा करता है, ऊपर नीचे, तिर्यक् जगत् को गतिमय बनाता हुआ विश्व को सुख-दुःख में भरमाता हुआ सारे विश्व में व्यापक हो रहा है। 'चते' धातु से 'उरन्' प्रत्यय होकर चतुः शब्द साधु होता है, जो चार की संख्या का वाचक होता है। चतुर् शब्द से आम् आगम होकर "चत्वारः" शब्द साधु होता है। स्त्रीलिंग में चतस्र बनता है।

द्वितीयान्तचतुरुपपदाद् भुजतेः कः प्रत्ययः। क-प्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् (पा० ३।२।५) सूत्रवार्तिकम्।

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रात्मकेन विक्लृप्तमिदं जगत् पुरुषसंज्ञां लभते। "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" (३१।२) इति यजुषो मन्त्रलिंगात्। प्रश्नः—

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादावुच्येते॥
(यजु० ३१-१०)

अत्र मन्त्रे पुरुष-शब्दो जगत्पर्यायः, यदित्यनेन सम्बोधितत्वात्। उत्तरम्—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥
(यजु० ३१-११)

तत्र कालात्मा संवत्सरोऽपि चतुर्विधः। तत्र द्वादशराश्यात्मकः संवत्सरोऽपि चतुर्विधः, तत्स्थराशयोऽपि चतुर्विधाः। तत्तद्राशि-स्था ग्रहा अपि चतुर्विधाः। यथाविधे काले जन्म तथाविधो जन्मो ब्राह्मणादिवर्णेषु भवन् तथाविधां संज्ञां लभते। तद्यथोदाहरणम्—

मत्कं जन्म एकोनसप्तत्युत्तरैकोनविंशतितमे वैक्रमाब्देऽभूत्। इष्टा संख्या चतुःसंख्यया विभक्ता सति—एकेन ब्राह्मणसंज्ञां लभते। अमुथैव द्वित्रिचतुर्भिः क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रसंज्ञां लभते। शतात्मिका संख्या चतुर्भिर्विभक्ता निःशेषतां प्राप्नोति, शतोत्तरां सख्यां चतुर्भिर्विभज्य ब्राह्मणादिसंज्ञां प्रापय्य तद्भवस्तत्संज्ञया व्यवहर्त्तव्यः। तत्र ब्राह्मणसंवत्सरे—जन्मलग्नम्—

द्वितीयान्त 'चतुर्' शब्द के उपपद रहते 'मूल विभुज आदि' से 'क' प्रत्यय होकर चतुर्भुज बनता है। ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य-शूद्र रूप चार प्रकारों में विभक्त इस जगत् को पुरुष कहते हैं।

यत् पुरुषं व्यदधुः— इत्यादि यजुर्वेदीय मंत्र से स्पष्ट है। जिस पुरुष=जगत् को चार भेदों में विभक्त किया है उस का मुख, बाहू, ऊरू, पाद (पैर) क्या क्या हैं? इस मंत्र में नपुंसक लिंग में प्रयुक्त पुरुषं शब्द जगत् का पर्य्यायवाची है। इसी प्रश्न का उत्तर अग्रिम मंत्र में ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्–इत्यादि में स्पष्ट है:— ब्राह्मण इसका मुखस्थानीय है। राजन्य बाहू स्थानीय है, वैश्य, ऊरू स्थानीय है, शूद्र पाद (पैर) स्थानीय है। ऐसी स्थिति में— कालात्मक संवत्सर भी चार (४) प्रकार का है। राशियाँ भी चार प्रकार की हैं, उन राशियों पर स्थित ग्रह भी ४ प्रकार के हैं। जिस ब्राह्मणादि संज्ञावान् संवत् में जन्मता है वह भी उसी वर्ण का होता है। जैसे—मेरा। इस विष्णुसहस्रनाम के भाष्य लेखक का जन्म विक्रमाब्द १९६९ में हुआ है। इष्ट संख्या को ४ से विभक्त करने पर जो बचे वह १ से ब्राह्मण, २ से क्षत्रिय, ३ से वैश्य, ४ से शूद्र कहाता है। चूंकि १०० की संख्या ४ से पूरी विभक्त हो जाती है। कुण्डली के भाव भी ब्राह्मणादि संज्ञा को प्राप्त होते हैं। ६९ को ४ से विभक्त करने पर १ शेष रहा, अतः इस संवत् की ब्राह्मण संज्ञा हुई।
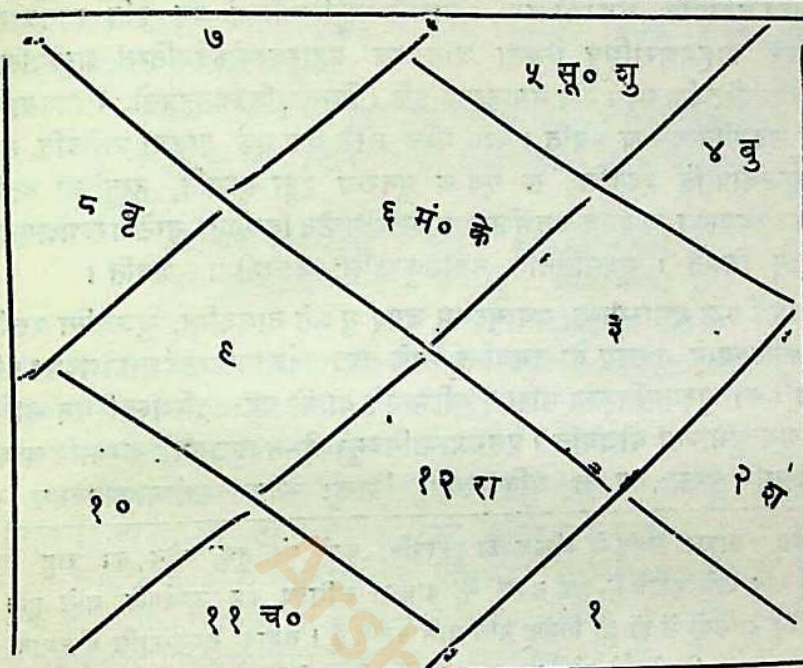
तत्र त्रिवर्गात्मके राशिवर्गे चतुर्वर्णता-यथा—

१, ५, ९ ब्राह्मणाः । २, ६, १०, क्षत्रियाः ।

३, ७, ११, वैश्याः । ४, ८, १२, शूद्रा इति ॥

यथासंज्ञं राशिस्थिता ग्रहा अपि तत्संज्ञाभाजो भवन्ति । एवमेव पुंस्त्रीनपुंसकसंज्ञाभाजोऽपि भवन्ति । विशेषं त्रिस्कन्धज्योतिर्वेदेनावगन्तव्यं निदर्शनमात्रमेवात्रास्माकमभिमतम् । तत्र ब्राह्मणो वैश्यं पश्यति प्रीणाति वा, ब्राह्मणेन निर्दिष्टकर्मसु धनस्यावश्यकत्वात् । क्षत्रियः शूद्रं पश्यति निगृह्णाति वा, यथा चौरं निगृह्णाति राजपुरुषः । ग्रहाणां भुक्तभोग्यांशमधिकृत्य गणितद्वारेण दृष्टिः स्फुटनं पाराशरहोराशास्त्रादिषु स्फुटं विन्यस्तमस्ति, तत्र द्रष्टव्यं जिज्ञासुभिः । तद्यथा—ब्राह्मणात्मके संवत्सरे

इस त्रिवर्गात्मक राशि वर्ग में चतुर्वर्णता इस प्रकार है—

१, ५, ९, ब्राह्मण, २, ६, १० क्षत्रिय, ३, ७, ११, वैश्य एवं ४, ८, १२ शूद्र हैं । इन ब्राह्मण राशियों पर बैठे ग्रह भी उसी ब्राह्मणादि संज्ञा को प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार से स्त्री–पु०–नपुसंक संज्ञा भी राशि के आश्रय से ग्रह की हो जाती हैं । इस विद्या का विशेष ज्ञान त्रिस्कन्ध ज्योतिष से करना चाहिये । भाष्यकार का लक्ष्य तो इस "चतुर्भुजः" नाम की व्यापकता से है । हम जगत् में देखते हैं कि—ब्राह्मण वैश्य को देखता है, प्रसाद अनुभव करता है । यतः ब्राह्मण के द्वारा निर्दिष्ट कर्म के लिये धन की आवश्यकता होती है । क्षत्रिय शूद्र को देखता है, पकड़ता हैं जैसे— राजपुरुष (सिपाही) चोर को पकड़ता है । ग्रहों की अंशों के अनुपात से स्फुट दृष्टि पाराशर होरा शास्त्रादि में लिखी है वहां से जिज्ञासुओं को जाननी

वृश्चिकस्थो बृहस्पतिः, कर्कस्थो बुधः, मीनस्थो राहुस्तिर्यक्त्वं गत इति ज्ञातव्यम् । शूद्रसंवत्सरे ब्राह्मणराशिषु स्थिता जातकस्य ग्रहास्तस्योर्ध्वगतित्वं ज्ञापयन्ति । वैश्यक्षत्रिययोस्तिर्यक्त्वम् । समे समानगुण इति । भिन्नराशिस्थग्रहवतोः समानग्रहयोरपि द्वेष उदासीनत्वम् च भवति । पश्यामश्च लोके एक एकं दृष्ट्वा प्रसीदति, स एव च परं दृष्ट्वाप्रीतिं व्यनक्ति, स एव च पुनरन्यं दृष्ट्वा क्रुध्यति, हन्तुं वा यतते । इत्यादिका व्यवस्था स्वयमेव चतुर्भुजनामगुणविशिष्टेन विष्णुना सृष्टेरारम्भक्षणादद्य क्षणं यावत् क्रियते । सूक्ष्मज्ञानाय नवांशकुण्डलिः कल्पनीया भवति ।

एवमेते ग्रहा यथास्थूलम्, यथासूक्ष्मम् जगद् भुंजते नाशयन्ति, भुञ्जन्ति रक्षन्ति, भुञ्जन्ति कौटिल्याय दुःखाय वा गमयन्ति, स्वके दशान्तर्दशाप्रत्यन्तर्दशाप्राणदशा परिपाककाले । कालपुरुषमधिकृत्य यस्मिन् यस्मिन्नंगे यो यो ग्रहस्ततस्मिंस्तस्मिन् काले तं तमेवांगं शुभाशुभाभ्यां योजयति । प्रसंगप्राप्तमिदमुच्यते–न ह्यद्यावधि कस्यापि चत्वारो भुजाः केनापि दृष्टाः, न च भविष्यत्यपि विष्णुः स्वकं सर्वव्यापकत्वरूपं गुणं

चाहिये, जैसे – ब्राह्मण संवत् में वृश्चिक का बृहस्पति, कर्क का बुध, मीन का राहु तिर्यक् (तिरछी) गति वाले कहाते हैं, शूद्र संवत् में ब्राह्मण राशिस्थ ग्रह ऊर्ध्वगति वाले होते हैं, वैश्य क्षत्रिय राशियों में हों तो तिर्यक् गति वाले कहाते हैं । समान संवत्-राशि में समान गुण तथा भिन्न भिन्न राशि में बैठे हुये समान ग्रहों में भी कभी उदासीनता तथा द्वेष होता है, हम जगत् में देखते हैं कि एक मनुष्य, एक मनुष्य को देखकर प्रसन्न होता है । तथा दूसरा उसी मनुष्य को देखकर क्रोध करता है, घृणा अप्रीति व्यक्त करता है, मारने को दौड़ता है, इस प्रकार की व्यवस्था स्वयं ही चतुर्भुज-नाम एवं तद्गुणविभूषित भगवान् विष्णु ने सृष्टि के आरम्भ से आज तक की हुई है । और भी सूक्ष्म ज्ञान के लिये नवांश कुण्डली बना कर देखना चाहिये ।

इसी प्रकार-बारहवें स्थान में सिंह के शुक्र-सूर्य-वृषराशि के शनि को उत्पन्न करते हैं— उन दोनों के तर्क-वितर्क-ज्ञान-धन और यश का विधान करता है । वृष राशि का स्वामी भुक्ति मात्र जीवन के लिये विवश करता है । संग्रह नहीं होने देता, इस प्रकार से यह स्वतः सिद्ध की तरह ग्रह के अपने दशा परिपाक के समय में होता है ।

नक्षत्र के जिस चरण पर ग्रह होता है उसी प्रकार के करने का स्वभाव बनता है । ज्योतिष-विद्या भूत और भविष्य को बताती हुई भगवान् के "परम स्पष्ट" नाम को चरितार्थ करती है—समान-वर्ग-राशिस्थग्रह—अपने अपने बल से प्रत्येक ग्रह को बल देता है, हम जगत में भी देखते हैं कि एक ही स्थान को जाने पर एक ही समुदाय के यात्री-अपने गुण-ज्ञान-बल से प्रत्येक साथी को गुण, ज्ञान, बल से युक्त करते हैं, जैसे कि एक के पास रक्खा हुआ धन सब साथियों की आवश्यकता पूरी करता है, एक साथी का बल समय पड़ने पर सब की रक्षा करता है, परन्तु भिन्न गन्तव्य के पथिक भिन्न समुदाय के यात्रियों को पुष्ट नहीं करते हैं ।

इसी प्रकार ज्ञान-बल क्रियाओं से विभूषित चतुर्भुज नाम से विष्णु सनातन से व्यापक हो रहा है, एवं ज्ञान विज्ञान वेत्ताओं ने भिन्न २ ऊहा कर लेनी चाहिये । यह दिग्दर्शन मात्र कथन

विहनिष्यति इति दिङ्मात्रमुक्तम् । एतेन भगवतो मिषतो वशित्वमपि व्याख्यातं भवति, भवति चात्रास्माकम्—

चतुर्विधं विश्वमिदं विक्लृप्तं भुनक्ति भुंक्ते भुजतीह विष्णुः ।
चतुर्भुजः स्वेन गुणेन विश्वं यथाव्यवस्थं गमयत्यजस्रम् ॥१८६॥

कवेर्जन्म—

नन्दतर्काङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रे भौमेऽग्निभूदिने ।
धनिष्ठाभाग्निपःदेऽथ, वस्विष्टे चाङ्गनोदये ॥
(अभूदिति शेषः)

विक्रमसम्वत् (१९६९), भाद्रपदमासि । प्रवेशाहः–१३, मंगलवासरे, सूर्योदया-दिष्टघट्यः– अष्टौ, धनिष्टाभस्य तृतीयचरणे, कन्यालग्ने जन्म ।

यथास्थूलं विघ्नविज्ञापनम्—

उत्पादकोत्पाद्यमानयो राश्योरन्तरे यद् ग्रहं तदुत्पद्यमानस्याभिप्रेतं विहन्ति । विघ्नो हि नाम कार्यसिद्धौ बाधकः । तद्यथा निर्दिष्टकुण्डल्याम्—

भ्रातृस्थानस्थो वृश्चिकराशिस्थो बृहस्पतिरुत्पादयति व्ययभावस्थं सिंहस्थं सूर्यं शुक्रं च, तयोर्मध्ये कन्यास्थौ मंगल–केतू पित्तव्याधि शरीरकार्श्यं च कृत्वा विघ्नक-र्त्तारावभूताम् । व्ययभावस्थौ सिंहराशिमुपयातौ शुक्रसूर्यौ वृषराशिस्थं शनिमुत्पादयतः । तयोर्मध्ये कर्कस्थो बुधः =तर्कवितर्कौ विहन्ति, ज्ञानम्, धर्मम्, धनम्, यशश्च । वृषराशीशो शुक्रो भुक्तिमात्रसाधनं तं जीवयितुं विवशयति । इत्यादिकं स्वतः सिद्धमिव स्वके दशापरिपाककाले भवति । यच्च नक्षत्रचरणं ग्रहोऽधितिष्ठति तथा-विधेनैव स्वभावेन तं कर्मसु प्रापयति । ज्योतिषो विद्या कृतं करिष्यमाणं च विज्ञापयन् भगवतोऽपरं 'परमस्पष्टः' इति च नाम सार्थकं कुरुते । समानवर्गराशिस्थो ग्रहः प्रत्येकं स्वकेन बलेन पुष्णाति । तद्यथा लोकेऽपि च पश्यामः—समानगन्तव्यपथिकाः परस्परं प्रत्येकं पोषयन्ति । एकस्थं धनं सर्वानावश्यकतानुसारं तर्पयति, एकस्य विद्यावलं सार्थान् स्वकेन ज्ञानगुणेन तर्पयति । एकस्थं विशेषबलं सर्वान् रक्षति, परन्तु भिन्न-गन्तव्य-वर्गः पथिको न पुष्णाति तद्भिन्न-गन्तव्य-पथिक-वर्गस्थान् ।

एवं ज्ञानबलक्रियाभिर्विशिष्टो विष्णुश्चतुर्भुजरूपेण व्याप्नोत्यात्मानं सनात् कालात् । एवं ज्ञान-विज्ञानकुशलेनोहितव्यमिति दिङ्मात्रमुक्तं ज्ञानवैशद्याय व्याख्या-क्रमविज्ञापनाय च ।

पुनश्चात्रास्माकम्—

व्याख्याक्रमस्तस्य चतुर्भुजस्य न्यस्तो यथाबुद्धिबलोदयाय ।
इयत्त्वमस्त्येव न तस्य विष्णोर्भुजाश्चतस्रश्च न तस्य दृष्टाः ॥१८७॥

केवल ज्ञान एवं व्याख्या क्रम को दर्शाने के लिये है ।

भाष्यकार पुनः इसी शब्द के भाव को अपने श्लोक से व्यक्त करता है अपनी बुद्धि एवं बल पूर्वक यथागम्य भगवान् विष्णु के चतुर्भुज नाम का व्याख्यान किया है । भगवान् की इयत्ता होती ही नहीं और किसी ने इसकी चार भुजायें देखीं भी नहीं हैं ।

भ्राजिष्णुः—१४१

भ्राजृ दीप्तौ भौवादिकस्तस्मात् तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकार्यादिषु 'इष्णुच्' प्रत्ययः। 'भुवश्च' इति (पा० ३-२-१३८) सूत्रस्य 'चकार'-निर्देशात्। भ्राजत इति तच्छीलो भ्राजिष्णुः। सूर्यादिषु दीप्तिमत्सु यत् तेजः, तत् तस्यैव ब्रह्मण इति। असौ भ्राजिष्णु नामा विष्णुः स्वकेन दीप्तिमच्छीलेन सर्वं जगद् भ्राजते, भ्राजयति वा सूर्यादिभ्यस्तेजोमद्भ्य इति, सूर्य इति च विष्णोर्नामसु पठितमास्त इति कृत्वा।

मन्त्रलिंगं च—

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः (यजु० २३-४८) सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य इति च।

भवति चात्रास्माकम्—

भ्राजिष्णुना विश्वमिदं समस्तं देदीप्यतेऽतः स महः स विष्णुः।
अनन्तता चापि च तस्य विष्णोः पृथक् पृथक् भाति च वस्तुमात्रे ॥१८८॥

यदा भ्राजिष्णुता नश्यति वस्तुनः, नाशोन्मुखता वा भ्राजिष्णुताया भवति, तदा ब्रह्मपराङ्मुखं सत् तन्नश्यतीति भावः।

भोजनम् – १४२

भुज्यत इति भोजनम्। प्रतिवस्तु पृथक्पृथक्स्वभाववतः पृथक् पृथग् भोजनम्।

भ्राजिष्णुः—१४१

दीप्ति (प्रकाश) अर्थ में वर्तमान भ्वादि गण की भ्राजृ धातु से तच्छीलादि अर्थों में "भुवश्च" सूत्र के 'चकार' निर्देश से 'इष्णुच्' प्रत्यय होता है। चमकने स्वभाव वाले को भ्राजिष्णुः कहते हैं। प्रकाश देने वाले सूर्यादि ग्रहों में जो तेज है, वह उस ब्रह्म का ही है।

वह भ्राजिष्णु संज्ञक भगवान् विष्णु अपने दीप्ति शील स्वभाव से सम्पूर्ण जगत् को दीप्तिमान् कर रहा है अथवा तेज से तेजोवान् सूर्यादिकों द्वारा विश्व को भ्राजिष्णु (प्रकाशमान) करवा रहा है।

सूर्य विष्णु का नाम है जो इसी विष्णुसहस्रनाम में संग्रहीत है। ब्रह्म सूर्य समं ज्योतिः और "सूर्यो ज्योतिः, ज्योतिः सूर्यः" इत्यादि यजुर्वेदीय मन्त्रों से उपरि लिखित कथन सत्य है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

भ्राजिष्णु नामक भगवान् विष्णु इस विश्व को सर्गारम्भ से प्रकाशित करता आ रहा है, इसलिये वह विष्णु ही 'मह' नाम से ज्ञेय है। भगवान् की अनन्तता इस जगत् की पृथक् पृथक् वस्तु में स्पष्ट आभासित होती है। जब किसी वस्तु की अथवा मनुष्य की प्रभा (आभा) नष्ट होने लग जाती है तब यह समझना चाहिये कि ब्रह्म का गुण उस वस्तु या मनुष्य को छोड़ने लग पड़ा और यह वस्तु अथवा मनुष्य अब नष्ट हो जाता है, या मर जाता है।

भोजनम्—१४२

खाये जाने वाले या भोगे जाने वाले पदार्थ को भोजन कहते हैं। प्रत्येक वस्तु को पृथक्

तद्यथा—विषं तदुद्भवं कीटं जीवयति, अपरं च मारयति, अर्थात् मृत्यवे भोजनमुपकल्पयति। भुज्यते रक्ष्यतेऽनेन विषेण रोगाज्जन्तुरिति भोजनम्। विषम् अमृतं वा अपेक्षाकृतं भवति। भुज्यते सर्वं जगद् भ्रमयितुं कौटिल्यभावं प्राप्यत इति भोजनम्। यद्वस्तु यदाश्रित्य स्थितिमातिष्ठति तदेव तस्य भोजनमिति कृत्वा सर्वाधारकत्वात्तस्य तद् ब्रह्म स विष्णुर्भोजन-नाम्नोक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्। (ऋ० १०-४८-१)

भवति चात्रास्माकम्—

परस्पराकर्षणसूत्रसंधृतं जगत् समस्तं प्रतिवस्तु भोजनम्।

स एव धाता सकलस्य यस्मात् तस्मादनक्त्येव स भोजनाख्याम् ॥१८६॥

भोक्ता—१४३

भुज पालनाभ्यवहारयोः रौधादिको, भुज कौटिल्ये तौदादिकः, आभ्यां धातुभ्यां तृचि प्रत्यये "भोक्ता" इति निष्पद्यते। सर्वाधारत्वाद् भोजनरूपो विष्णुरिति व्याख्यातचरम्। कर्तारं पाक उपयातीति नियमाद् "भोक्ता" विष्णुरित्युक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—*पक्तारं पक्वः पुनराविशति*। (अथर्व १२ ३-४८)। एतत् सर्वं

पृथक् भोजन है, अर्थात् जीवन है, जैसे विष के कीडे को विष जीवन देता है और वही विष दूसरे प्राणी को मार देता है। जिस विष के द्वारा जन्तु रोग से मुक्त होता है वह उसका भोजन कहाता है, युक्ति युक्त विष अमृत है। अमृत भी युक्तिहीन विष हो जाता है। जगत् का टेढा चलना भी भोजन है। जो वस्तु जिसके आश्रय मे रहती है वह उस वस्तु का भोजन है। इसलिये सर्वाधारभूत ब्रह्म ही भोजन कहाता है।

अहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ऋग्वेदीय मन्त्र से स्पष्ट है कि भगवान् विष्णु ही सबको भोजन देता है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में एवंविध व्यक्त करता है:—

परस्पर (आपस के) आकर्षण सूत्र से बन्धा हुआ इस जगत् में एक वस्तु दूसरी वस्तु का भोजन है। भगवान् विष्णु ही सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है। अतः वह भगवान् ही भोजन संज्ञा को धारण करता हुवा इस जगत् में अपने आपको व्यक्त करता है।

भोक्ता—१४३

पालन और अभ्यवहार-(खाना) अर्थ में वर्तमान रुधादि गण की भुज धातु से तथा तुदादि गण की कुटिल अर्थ में वर्तमान भुज धातु से 'तृच्' प्रत्यय होकर भोक्ता शब्द सिद्ध होता है।

भोजनरूप सर्वाधार विष्णु की व्याख्या की जा चुकी है। कर्त्ता को कर्म का फल मिलता है—इस नियम में विष्णु को "भोक्ता" कहते हैं।

पक्तारं पक्वः पुनराविशति—इस अथर्ववेदीय मन्त्र से भी उपरोक्त कथन सिद्ध है।

चराचरं निखिलमपि जगत् तस्मिन्नेव लयं याति, यद्वा तद्व्यवस्थया प्रलयं गच्छति, कस्तत्तस्मिन् काले व्यवस्थापयति ? स एवेति कृत्वा "भोक्ता" इत्युक्तं तस्य विष्णोः सार्वकालिकं गुणं प्रकाशयति।

लोकोदाहरणं यथा—सर्वा नद्यः समुद्रमेवाभिद्रवन्ति, तस्मिन्नेव चाभिविशन्ति। सर्वासामपां योनिरान्तरिक्ष्य आप, तस्मात् सूर्याग्निवातसाहाय्यात् जलं वियति गच्छत्यमुथैव सर्वमेतत् तस्मिन् भोक्तरि विष्णौ स्थितिमातिष्ठतीति "भोक्ता" विष्णुरुक्तो भवति। प्राञ्चश्चाहुः—भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरमिति।

भवति चात्रास्माकम्—

भुनक्ति, भुंक्ते, भुजतीति "भोक्ता" पाको ह पक्तारमुपैत्यवश्यम्।
सृष्ट्वा स 'भोक्ता' सकलं स्वजम्भैर्गृह्णन् जगत् स्वात्मनि वेत्ति वेद्यम् ॥१९०॥

सहिष्णुः—१४४

षह मर्षणे, भौवादिकस्तमात् अलंकृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रप-वृतुवृधुसहचर इष्णुच् (पा० ३-२-१३६) इत्यनेन तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिष्वर्थेषु 'इष्णुच्' प्रत्ययः। सहिष्णुः=सहनशील इत्यर्थः।

यह सारा चराचर जगत् उसी में लीन हो जाता है, अथवा उसकी व्यवस्था से यह जगत् प्रलय को प्राप्त होता है। उस समय इस जगत् की व्यवस्था कौन करता है? इत्यादि बात से स्पष्ट है कि वही भगवान् विष्णु ही ऐसे समय में जगत् की व्यवस्था करता है। अतः ही इस गुण से भगवान् का भोक्ता नाम तद् गुण विशिष्ट होने से चरितार्थ होता है।

उदाहरण यह है—सारी नदियां समुद्र की ओर ही जाती हैं और उसी में समा जाती हैं। सब जलों का मूल स्रोत अन्तरिक्षस्थ जल है। सूर्य के ताप तथा वायु के सहारे से जल आकाश में जाता है। इसी तरह यह सारा संसार उस भोक्ता नामक भगवान् विष्णु में ही स्थिति को धारण करता है। पूर्वाचार्यों ने सब यज्ञ और तपों का तथा सूर्य लोक का वह महेश्वर ही भोक्ता कहा है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

वह भगवान् विष्णु जगत् की रक्षा करता है, प्रलय करता है, उच्च नीच गति में जगत् को भरमाता है, इसलिए उसे "भोक्ता" कहते हैं। पाक-कर्त्ता को अवश्य ही प्राप्त होता है। वह भगवान् इस सम्पूर्ण विश्व को रचकर अपने जबाड़े में धारण करता हुआ अपने स्वरूप में इस विश्व की सब कलाओं को जानता है।

सहिष्णुः— १४४

मर्षण (सहना) अर्थ में वर्त्तमान भ्वादि गण की 'सह' धातु से "अलंकृञ्"—इत्यादि सूत्र से 'इष्णुच्' प्रत्यय तच्छीलादि अर्थों में होकर 'सहिष्णु' शब्द साधु होता है। सहिष्णु सहन-शील को कहते हैं।

मन्त्रलिंगं च—*सहोऽसि सहो मयि धेहि* (यजु० १९-९)

विष्णुर्हि सनात् कालात् सर्वं सहते। अस्मिन् चराचरे जगति प्रतिवस्तु या सहिष्णुता सहनशीलता वा दृश्यते सा सहिष्णुनामवतो विष्णोरेव गुण:। सर्वमेतज्जगत् तेनाक्षेणाधारभूतेन धृतमस्ति। न कदाचिदप्यसौ तप्यते।

मन्त्रलिंगं च—*नाक्षस्तप्यते भूरिभार:।* (ऋग्)

भवति चात्रास्माकम्—

> **नृभि: सदुक्तं किमु वा दुरुक्तं सर्वं विमृष्यन् सहते च विश्वम्।**
> **न यात्यधैर्यं भुवनानि मृष्यन् लोके सहिष्णु: स हि विष्णुरेक:॥१९१॥**

फलितार्थत:—यस्मिन् मनुष्ये यावती सहिष्णुता विद्यते तावानेव विष्णोरंशस्तस्मिन् वर्तत इति।

जगदादिज:—१४५

जङ्गमीतीति गच्छतीति जगत्। आदौ जायत इत्यादिज:। जगत आदिज इति जगदादिज:। मन्त्रलिंगं च—*अपूर्वेणेषिता वाच:* (अथर्व १०-८-३३)। व्याख्यातचरोऽयं मन्त्र:, वेदांग इति १३० तमे नामव्याख्याप्रसंगे। *ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादित्यादि:*

सहोऽसि सहो मयि धेहि—इत्यादि मंत्र से भगवान् का मर्षण गुण ध्वनित होता है। सहिष्णु संज्ञक विष्णु सनातन काल से ही सब कुछ सह रहा है। इस विश्व में प्रत्येक वस्तु में जो सहन करने का गुण है वह उस 'सहिष्णु' संज्ञक विष्णु का ही गुण है। उस स्वयं निराधार ने यह सम्पूर्ण चराचर जगत् धारण किया हुआ है।

नाक्षस्तप्यते भूरिभार: इस ऋगवेदीय मंत्र से स्पष्ट है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में एवं व्यक्त करता है:—मनुष्यों के द्वारा की स्तुति एवं अपस्तुति (अपयश) को क्षमा करता हुआ भगवान् सारे विश्व को धारण करता है। वह समस्त भुवनों को धारण करता हुआ अथवा क्षमा करता हुआ अपने धैर्य को नहीं छोड़ता अर्थात् अधैर्यवान् नहीं होता। इस विश्व में वह अकेला भगवान् विष्णु ही सहिष्णु सहनशील गुण विशिष्ट है अत: उसका नाम सहिष्णु है।

तात्पर्य यह है कि जो जितना २ सहनशील होगा उतना २ अंश भगवान् का उसमें समझना चाहिये। अत: श्रद्धावान् ने यह सहिष्णु गुण अपने आप में अधिकाधिक बढाना चाहिये।

जगदादिज:— १४५

गतिशील को जगत् कहते हैं। आदि में होने वाले या जन्मने वाले को "आदिज" कहते हैं। जगत् के आदि में होने वाले को जगदादिज कहते हैं।

अपूर्वेणेषिता वाच:— इत्यादि अथर्ववेदीय का १३० वें "वेदांग" नाम की व्याख्या में व्याख्यान किया है जिससे उपर्युक्त कथन सत्य है।

मंत्र-ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादित्यादि:—यजु:। कार्य से पूर्व कारण का होना

(यजु० १३-३)

कार्यरूपाज्जगतः प्राक् तस्य कर्त्रा नूनं भवितव्यमिति कृत्वा जगदादिजः स विष्णुरुक्तो भवतीति न्यायरमणोयमेतत् । लोकेऽपि च पश्यामः—घट-निर्माणात् पूर्वं कुम्भकारेण नूनं पूर्वं तज्ज्ञानवता भवितव्यं भवतीति कृत्वा जगन्निर्माणात् पूर्वं विष्णुना नूनं भवितव्यम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

जगत् समग्रं कुरुते स्वयंभूर्विराजते चापि स तत् पुरस्तात् ।
स एव विष्णुर्जगदादिजोऽव्ययो घटात् पुरस्तात् घटकृद् यथास्ते ॥१६२॥

अनघः—१४६

अघः पापं न विद्यतेऽस्मिन्नित्यनघः । अपापविद्ध इत्यर्थः । अनघत्वाद् ब्रह्मणस्तस्य सर्वाः कृतयोऽपि निर्दोषा एव । यो हि यावान् निर्दोषः, प्रभुसत्ता तावती तस्मिन् विराजत इति ज्ञातव्यम् ।

मन्त्रलिंगं च—*शुद्धमपापविद्धमित्यादिः* (यजु० ४०-८) । *नैनमंहोऽश्नोत्यन्तितो न दूरात्* । (अथर्व० ३-५६-२)

भवति चात्रास्माकम्—

आवश्यक है इसी तरह इस चराचर जगत् की उत्पति से पहले जगत् के बनाने वाले का होना परम न्यायोचित है, । इसलिये विष्णु को जगदादिजः कहते हैं । हम जगत् में भी देखते हैं कि घड़ा बनाने से पहिले इसके निर्माण का ज्ञाता कुम्हार अवश्य होना चाहिये और वास्तविक में होता ही है । इसी तरह निश्चय ही इस जगत् के निर्माण से पहिले जगन्निर्माण ज्ञान युक्त ज्ञानी का होना आवश्यक है । अतः भगवान् विष्णु को ही "जगदादिजः" नाम से कहा है ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में एवं व्यक्त करता है:—स्वयंभूः भगवान् इस सम्पूर्ण जगत् को बनाता है और जगत् के निर्माण के पूर्व ही विराजमान है । घड़े से पहिले कुम्हार का होना जिस प्रकार युक्ति संगत है, इसी प्रकार जगत् से पहले जगदादिजः विष्णु है ।

अनघः—१४६

अघ का अर्थ पाप है । अघ अथवा पाप रहित को अनघ कहते हैं । भगवान् के सदा ही पापों से विमुक्त होने के कारण उसकी समस्त रचनायें भी दोष रहित हैं । जो व्यक्ति जितना दोष रहित है उतनी ही मात्रा में भगवान् की सत्ता उसमें विराजमान है ।

"शुद्धमपापविद्धमित्यादिः"—यजुवद के मंत्र से भगवान् का पाप रहित होना स्पष्ट है ।

"नैनमंहोऽश्नोति" इत्यादि अथर्ववेद के मंत्र से भी यही सिद्ध होता है कि पाप भगवान् को न दूर से और न समीप से ही व्याप्त करते हैं ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

अघो न विष्णावनघः स उक्तः सोऽपापविद्धः स विशुद्ध उक्तः ।
न कापि शम्भोः कृतिरस्ति दुष्टा कर्ताऽनघो विश्वकृतेर्यतोऽतः ॥१९३॥
विश्वकृतेः=सकलकृतिमात्रस्येति भावः ।

विजयः—१४७

जि जये, भौवादिकः । वि-उपसर्गः । तस्माद्विपूर्वात् "अज्विधिः सर्वधातुभ्यः" अच् प्रत्ययः । विविधं विशेषेण वा जयतीति 'विजयः' सत्-चित्-आनन्दमयत्वात् सर्वं विजयते-अतिशेते वा सर्वमिति विजयः ।

मन्त्रलिंगं च—*इतो जयेतो विजय संजय जय !* (अथर्व० ८-८-२४)

भवति चात्रास्माकम्—

जयः स विष्णुर्विजयः स विष्णुर्व्याप्नोति विश्वं स विजेतृधर्मा ।
सत्ये जयो वा विजयोऽस्ति गुप्तो यत्रास्ति धर्मो विजयोऽस्ति तत्र ॥१९४॥

जेता—१४८

जि जये, भौवादिकः । तस्मात् तृच् "ण्वुल्तृचौ" (पा० ३-१-१३३) इति सूत्रेण, जेता । सर्वं जगत् स जयति । एतेनैतद्विज्ञायते यत्-यद् यद् विश्वे भवति तत् तत् सर्वं

भगवान् विष्णु को अघ (पाप) रहित होने के कारण अनघ,अपापविद्ध एवं विशुद्ध कहते हैं। संसार की समस्त रचनाओं का निर्माण अनघ संज्ञक भगवान् ने किया है, अतः किसी भी रचना में कोई दोष नहीं है।

विजयः—१४७

व्युपसर्ग पूर्वक भ्वादि गणीय जयार्थक "जि" धातु से अज् विधिः सर्वधातुभ्यः से अच् प्रत्यय होने पर विजय शब्द सिद्ध होता है।

अनेकविधता एवं विशेषता से जय प्राप्त करने वाला ही "विजय" नाम से व्यवहार में आता है।

प्रकृति सत्; जीव सत् एवं चित् है। ईश्वर सत् चित् एवं आनन्दमय होने के कारण सब (प्रकृति एवं जीव) पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त जीव मात्र में दृश्यमान शक्ति सीमा में है अर्थात् सीमित है। परमप्रभु सब शक्तियों का मूलस्रोत है। अतः वह भगवान् सब को ही लांघ देता है अर्थात् सब पर सर्वविध विजय प्राप्त करता है।

अथर्ववेदीय मंत्र "इतो जयेतो"—इत्यादि इस कथन में प्रमाण है। भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में एवं व्यक्त करता है:—

विजेतृधर्मा भगवान् इस विश्व में व्याप्त है और वही जय एवं विजय संज्ञा को धारण करता है। सत्य में विजय निहित है और जहां धर्म है वहां विजय है।

जेताः—१४८

जय (जीतना) अर्थ में वर्तमान भ्वादिगण की 'जि' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' सूत्र से 'तृच्' प्रत्यय होकर "जेता" शब्द सिद्ध होता है इसका अर्थ जीतने वाला है। वह भगवान् समस्त जगत् को

तस्य जेतुर्व्यवस्थयैव जितमिवास्ते । भगवान् भगवत्कृतां व्यवस्थामुच्छिद्यमानां न सहते, तस्मात् "जेता" उक्तो भवति ।

मन्त्रलिंगं च—

ईशे हि शक्रस्तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् ॥६॥.
इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः स नः स्वर्षदति द्विषः ॥७॥
[साम्नो महानाम्न्यार्चिके]

भवति चात्रास्माकम्—

स एव जेता सकलस्य लोके न कोऽपि तं जेतुमिहास्ति शक्तः ।
यो हन्ति विष्णोरचलां व्यवस्थां सहस्रधा शातयते ह तं सः ॥१८५॥

यो हि सत्यं स्थिरं पक्षमवलम्व्य युद्ध्यते स विजयते, जेतृधर्मेण स विष्णुः सर्वं विश्वं व्यश्नुवान आस्त इति कृत्वा ।

विश्वयोनिः—१४९

विश्वस्य सकलस्य योनिः कारणं प्रसविता वा-विश्वयोनिरुक्तो भवति, विश्वं वा तस्मिन् कारणात्मके, ब्रह्मणि लीनमिति तद् विश्वयोनिरुक्तं भवति ।

जीतता है । भगवान् के इस 'जेता' नाम से ज्ञान होता है कि जो कुछ इस विश्व में हो रहा है वह सब कुछ उस जेता संज्ञक भगवान् के द्वारा विजय करने की व्यवस्था की तरह विजय किया हुआ है । भगवान् अपनी व्यवस्था के उल्लंघन को सहन नहीं करता अर्थात् जो उसकी मर्यादा को भंग करता है या बिगाड़ता है उसे वह निःशक्त कर देता है । अतः एव उसका नाम जेता है ।

ईशे हि शक्रस्तमूतये इत्यादि एवं

इन्द्रं धनस्य सातये इत्यादि सामवेद के मंत्रों से भगवान् का जेतृधर्म स्पष्ट होता है ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में एवं व्यक्त करता है:—

वही भगवान् इस समस्त जगत् का जेता (जीतने वाला) है उस पर विजय पाने में कोई भी समर्थ नहीं है । जो जीव भगवान् की अचल (अटूट) व्यवस्था को बिगाड़ता है उसको वह अनेक प्रकार से नष्ट भ्रष्ट कर देता है ।

स्थिर सत्य का पक्षावलम्बन करने वाला योधा विजयी होता है । भगवान् जेतृधर्म से समस्त विश्व में व्याप्त है । अतः उसको जेता कहते हैं ।

विश्वयोनिः—१४९

समस्त विश्व (संसार) की योनि को विश्वयोनि कहते हैं । अर्थात् सम्पूर्ण विश्व की योनि अर्थात् कारण अथवा उत्पादक को विश्वयोनि कहते हैं ।

कारणभूत ब्रह्म में समस्त विश्व लीन होने के कारण भगवान् को विश्वयोनि कहते हैं । प्रजापतिश्चरति इत्यादि. अथर्ववेद के मंत्र से स्पष्ट है कि संसार का कारण ईश्वर ही है ।

मन्त्रलिंगं च—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥
(अथर्व० १०-८-१३)

भवति चात्रास्माकम्—

स विश्वयोनिर्भगवान् वरेण्यो वियौति संयौति च विश्वमात्रम् ।
सोऽदृश्यमानो विविधं प्रसूते व्यनक्ति जातस्तनु विश्वयोनिम् ॥१४९॥

जातः=उत्पत्तिं प्राप्तस्तं विश्वयोनिं व्यनक्ति, कुतः ? न हि तेन विश्वयोनिना प्रसूतमिवापरो जनः प्रसवितुं क्षमत इति कृत्वा ।

पुनर्वसुः—१५०

पुनः आवृत्तावव्ययम् । "वसुः" १०४ संख्याके नामव्याख्याने विशदतः प्रकृति-प्रत्ययावुक्तौ ।

पुनर्वासयति धर्मेण विश्वं व्यश्नुवानो भगवान् पुनर्वसुरुक्तो भवति ।

मन्त्रलिंगं च—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ (ऋ० १०-१९०-३)

लोकेऽपि च पश्यामो यदेकदा प्रसूतं तत् पुनः पुनः प्रादुर्भावमुपैति ।

भवति चात्रास्माकम्—

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक से एवं व्यक्त करता है:—

वह विश्वयोनि संज्ञक भगवान् विष्णु सारे विश्व को संयोग तथा वियोग युक्त करता है । वह स्वयं अदृश्य होता हुआ विविध रचना से संवलित उस जगत् को बनाता है । उत्पन्न हुआ हुआ उस विश्वयोनिसंज्ञक भगवान् को व्यक्त करता है विश्वयोनि भगवान् की तरह अन्य कोई सृजन करने में समर्थ नहीं है अर्थात् उसका उत्पन्न करने का क्रम अद्वितीय है ।

पुनर्वसुः—१५०

क्रिया के आवर्त का बोधक पुनः अव्यय है । वसु शब्द का प्रकृति प्रत्यय पूर्वक अर्थ व्याख्यान समेत स्पष्टीकरण भगवान् के स्वतंत्र १०४ वें "वसु" नाम के व्याख्यान में किया है । जो पुनः बसा देता है वह पुनर्वसु है अर्थात् भगवान् में पुनः बसाने का सामर्थ्य है और इस पुनः बसाने के धर्म से वह इस संसार में व्यक्त है । अतः उसको पुनर्वसु कहते हैं ।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।

दिवं च पृथिवीं चान्तारिक्षमथो स्वः । ऋग्वेद के मंत्र का स्पष्टार्थ यही है कि प्रलय के पश्चात् भगवान् सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि की पूर्व की तरह ही कल्पना कर देता है ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक से एवं व्यक्त करता है:—

जातं पुनर्वासयते स विष्णुः पुनर्वसुं चांकति जातमात्रम् ।
यथैकधा यत् कृतमस्ति तत् तथा पुनः पुनर्म्नाति सनात् पुनर्वसुः ॥१६७॥

जातमात्रम्=यत्किंचिदपि तेन पुनर्वसुना भगवता सृष्ट्यामुत्पादितम्, तथाविधं न केनाप्युत्पादयितुं शक्यं सत् तज्जातमात्रं तमेव पुनर्वसुं, अंकति=व्यनक्ति, प्रकाशत इत्यर्थः । म्ना अभ्यासे धातुः, म्नाति अभ्यसति ।

उपेन्द्रो वामनः प्रांशुरमोघः शुचिरूर्जितः ।
अतीन्द्रः संग्रहः सर्गो धृतात्मा नियमो यमः ॥३०॥

उपेन्द्रः १५१, वामनः १५२, प्रांशुः १५३, अमोघः १५४, शुचिः १५५, ऊर्जितः १५६, अतीन्द्रः १५७, संग्रहः १५८, सर्गः १५९, धृतात्मा १६०, नियमः १६१, यमः १६२,

उन्पेद्रः— १५१

उप+इन्द्र=उपेन्द्रः । उपेन्द्रः सूर्यः, सूर्य-नाम्नां संग्रहेऽपि पठ्यते । अत्र विष्णु-सहस्रनाम-संग्रहे सूर्य इति नाम विष्णोर्नामसु संगृहीतमस्ति । यथा सूर्यो जगतस्त-स्थुषश्चात्मा तथैव विष्णुरपि सर्वस्य चराचरस्यात्मा । सूर्यस्य उपेन्द्रता-ज्ञापकं मन्त्रलिंगं यथा—

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् । स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति, स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् । तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति । उद्वेपय रोहित प्रक्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ अथर्व (१३-३-१३)

भगवान् विष्णु उत्पन्न हुये को पुनः वसा देता है अर्थात् उत्पन्न हुवा जब मरता है, तब भगवान् उसको पुनः उत्पन्न कर देता है, कारण इसमें यह है कि इस सृष्टि में पुनर्वसु संज्ञक भगवान् ने उत्पन्न कर दिया वैसा अन्य कोई भी उत्पन्न नहीं कर सकता । अतः अनुपमता के कारण प्रत्येक जातक उस पुनर्वसु संज्ञक भगवान् को व्यक्त करता है ।

जिस जीव को जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में बना दिया उसी प्रकार बार बार बना देता है योनि अर्थात् कारण सृष्ट्यारम्भ से आज तक उसी रूप की ही चली आती है । अतः भगवान् को पुनर्वसु कहते हैं ।

उपेन्द्रः - १५१

उप+इन्द्रः=उपेन्द्रः । उपेन्द्र सूर्य का नाम है । क्योंकि सूर्य के नामों में उपेन्द्र सूर्य का नाम पठित है । इस विष्णु नाम सग्रंह में सूर्य नाम विष्णु के नामों में पढा है । जैसे सूर्य इस चराचर का आत्मा है इसी प्रकार विष्णु भी चराचर का आत्मा है, सूर्य की उपेन्द्रता बताने वाला मंत्र :— स वरुणः सायमग्निर्भवति—

उपोपसर्गः—हीनेऽधिके च वर्त्तते। अतिक्रान्तमध्यान्तरिक्षश्च सूर्यं उपेन्द्र उक्तो भवति। एतमेवार्थं ज्योतिर्विदो दशम-लग्न-साधने नत-साधनेन व्यवहरन्ति, तद्यथा स्पष्टार्थगर्भं पद्यम्—

पूर्वं नतं स्यात् दिन-रात्रिखण्डं दिवानिशोरिष्टघटीविहीनम्।
दिवानिशोरिष्टघटीषु शुद्धं द्युरात्रिखण्डं त्वपरं नतं स्यात्॥
(ताजकनीलण्कठी अ० १ श्लोक २०)

दिनार्धं रात्र्यर्धं च क्रमात् दिवानिशोरिष्टघटीविहीनं चेत् तदा पूर्वं नतं स्यात्, अथ चेत् दिवानिशोरिष्टघटीषु क्रमेण, द्युरात्रिशुद्धं स्यात् तदा परं नतं स्यात्। प्रकृतमनुस्रियते—यथा वैशाखे सूर्योदयो मेषाख्ये लग्ने भवति, कर्के लग्ने मध्यं भवति दिनस्य, कर्कात् पूर्वपश्चिमौ यथाक्रमं मिथुन-सिंह-राशिस्थौ सूर्यौ उपेन्द्रौ स्तः, तत्र हीनाधिकार्थं उपोपसर्गो व्यनक्ति, तस्मात्-उपेन्द्रः सूर्यः, वृत्ताकारमिदं ब्रह्माण्डं व्याप्नोति, अभीष्टात् स्थानात्। तथैव तेन भगवता विष्णुना प्रतिक्षणं, प्रतिलोक-लोकान्तरं च स्वके गर्भेऽन्तरभिरक्षितं चास्ति, न हि विष्णुना विना किञ्चिदप्यास्ते, उक्तं च संगच्छते—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

लोकेऽपि च पश्यामः शरीरस्य मध्यमेन सम्पृक्तौ-बाहू, शिरः, पूर्वनतार्थीय उपेन्द्र इव, ये इमे जंघे ते परनतार्थीय उपेन्द्र इव, प्रतिवस्तु आत्मन पूर्वपरांशयोजनेन

—स इन्द्रो भूत्वा तरति मध्यतो दिवम्—इत्यादि अथर्व। उप-उपसर्ग-हीन तथा अधिक अर्थ में वर्त्तमान होता है। जब सूर्य अन्तरिक्ष के मध्य से कुछ अभी पूर्व ही प्रतीत होता है उस अवस्था के सूर्य को उपेन्द्र कहते हैं। इसी प्रकार जब वह सूर्य अन्तरिक्ष के मध्य को कुछ लाघ चुका हुआ प्रतीत होता है तब वह सूर्य उपेन्द्र कहाता है। इसी वास्तविकता को ज्योतिषी लोग दशम लग्न साधन में 'नत' नाम से साधना करते हैं। जैसे कहा भी है—

पूर्वं नतं स्यात्—इत्यादि, दिनार्ध तथा रात्र्यर्ध क्रम से सूर्योदय के इष्ट से तथा सूर्यास्त के इष्ट कालों में से घटाने पर दिन रात का जो शेष है तब वह 'परनत' होता है, अपने प्रसंग में आते हैं—जैसे बैसाख में सूर्योदय मेष लग्न में होता है, कर्क लग्न में दिन का मध्य होता है, कर्क लग्न से यथाक्रम मिथुन लग्नस्थ सूर्य तथा कर्क से अग्रिम लग्न सिंह लग्नस्थ सूर्य उपेन्द्र हुए। उप-उपसर्ग हीन (कम) तथा अधिक अर्थ को व्यक्त करता है इसलिये उपेन्द्र सूर्य इस वृत्ताकार ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रहा है, अपने २ अभीष्ट स्थान से प्रत्येक स्थान के प्रति सूर्य की उपेन्द्रता बनी ही रहती है। सूर्य की भांति भगवान् इस चराचर को अपने गर्भ में रक्खे हुये है, क्योंकि भगवान् की व्यापकता बिना कुछ भी नहीं है। वेद का मंत्र भी युक्ति युक्त प्रमाणित हो जाता है—तदेजति तन्नेजति०—

हम संसार में भी देखते हैं कि शरीर के मध्य भाग में लगे हुये बाहू और सिर "पूर्वनत" के समान ही हैं। प्रत्येक वस्तु अपने में पूर्व तथा पर भाग को लिये रहती है, मुख—तथा पुच्छ

युक्तं सत् सर्वत्र तस्यैव विष्णोर्वैष्णवं गानं गायति, तमेव प्रकाशयति। शरीरस्थं पित्तं सूर्यदैवतकम्, उक्त च काश्यपसंहितायाम्—"अग्निमादित्यं च पित्तं श्रितम्"। सर्वत्रैव प्राणिनः मध्याह्नपूर्वं परं वा समुदीर्णपित्तका भवन्ति। तच्च पित्तं भोजनेन शाम्यते। मध्यरात्रेऽपि पित्तं समुदीर्यते, सप्तमदृष्ट्या दर्शनात् भूभागस्य। मन्त्रलिंगं च—

अथौपादान भगवो जंगिडामितवीर्य।
पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ॥ (अथर्व १९-३४-८)

स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवमित्यर्थे मन्त्रलिंगं च यथा—

उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमादधौ।
अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे॥ (अथर्व १९-३४-९)

जंगिड इत्योषधेर्नाम। मन्त्रलिंगं च—

न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः।
विबाध उग्रो जंगिड परिपाणः सुमंगलः॥ (अथर्व १९-३४-७)

भवति चात्रास्माकम्—

उपेन्द्रनामा भगवान् स विष्णुः पूर्वापराभ्यां बध्नाति विश्वम्।
ददाति वीर्यं निखिलौषधिभ्यः, तन्मूलमूलाश्च भवन्ति जीवाः॥१९८॥

मध्य भाग को पूर्व और पर स्थानीय होने से "उपेन्द्रवत्" ही सर्वत्र दीख रहे हैं। इसलिये उपेन्द्र नाम से सर्वत्र भगवान् का प्रत्यक्ष व्यापकत्व दृष्टिगोचर हो रहा है। यह शरीर पित्त सूर्य देवतात्मक है। काश्यप संहिता में कहा भी है—

"अग्निमादित्यं च पित्तं श्रितम्" पित्त का अधिष्ठान देवता अग्नि और सूर्य है, सब ही स्थानों पर मध्याह्न के कुछ आगे पीछे प्राणियों को पित्त जाग्रत की ज्ञापक क्षुधा लग जाती है, इस प्रकार से मध्यरात्रि में भी पित्त का उद्रेक होता है।

इसलिये कहा भी है प्रत्येक लग्न अपने से सातवें लग्न को देखता है—

यदि दिन का मध्य वैशाख मास में कर्क में है तो कर्क सहित सातक लग्न मकर=१० रात्रि का मध्य होगा जो उस समय के सामने होने से मध्य रात को पित्तोद्रेक होता है।

मन्त्र—अथोपादान भगवो०—इत्यादि

स इन्द्रो भूत्वा०—इत्यादि

जंगीड औषध का नाम—न त्वा पूर्वा ओषधयो०—इत्यादि

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—उपेन्द्र-नामा भगवान् इत्यादि, उपेन्द्र संज्ञक विष्णु पूर्व और पर से सारे विश्व को बांध रहा है, उपेन्द्र संज्ञक सूर्य सकल औषधियों को बल देता है औषधियों के आश्रय ही प्राणियों के जीवन रहते हैं।

तन्मूलमूलाः=औषधय एव कारणं निमित्तं भवन्ति जीवानां पारवृद्धय इति भावः। अथवा प्राणिनां मूलं प्राणाः, ते प्राणा औषधाधीना अत उक्तं भवति—औषधिमूलमूलकं प्राणिजगत् समस्तम्।

उक्तं चाथर्ववेदे (११-४)

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः॥६॥
या ते प्राण प्रिया तनूर्या ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे॥६॥
यदा प्राणोऽभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत् प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति॥५॥
आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते तदा त्वं प्राण जिन्वसि॥१६॥
यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दन्त्योषधीः।
सर्वं तदा प्रमोदते यत् किं च भूम्यामधि॥४॥

एतद्व्याख्याप्रसंगेन—"इन्द्रकर्मा" श्लोके—६७, नामसंख्या—७८६, इत्यपि व्याख्यातं भवति

इन्द्र सूर्यं यो विष्णुः कर्मणे गमयति, यतो वा नियमयति, एवंविधं इन्द्रस्य व्यवस्थापनं वा कर्म यस्य स "इन्द्रकर्मा" विष्णुरित्युक्तं भवति। मन्त्रलिंगं च—

सर्वं तदिन्द्र ते वशे।

वामनः—१५२

टुवम उद्गिरणे भ्वादिः। उद्गिरणं-छर्दनम्। वम्यतेऽनेनेति वमनम्। वमन्त्यस्मिन्निति वा वमनम्। करणेऽधिकरणे वा ल्युट् प्रत्ययः। वमन एव वामनः स्वार्थेऽण् प्रत्ययः। अथवा वमतेर्णिजन्तात् ल्युट्. वाम्यतेऽनेनेति वामनः। वामयन्त्यस्मिन्निति वा वामनः। एवंविधार्थयोजनया ज्ञायते यत् यत्किंचिदत्र चराचरे जगति दृश्यते तत्

औषध को लेकर अथर्ववेद में ये मन्त्र हैं— अभिवृष्टा-इत्यादि। इस "उपेन्द्र" नाम की व्याख्या के प्रसग से "इन्द्रकर्मा" ७८६ वां नाम व्याख्यात हो जाता है, जो विष्णु सूर्य को चेष्टा के निमित्त गति करता है या करवाता है। इस प्रकार की व्यवस्था है जिसकी वह "इन्द्र कर्मा" विष्णु कहाता है। मन्त्रार्थ—हे इन्द्र सब कुछ तेरे वश में है।

वामनः—१५२

उद्गिरण (मुख से गिरना) अर्थ में वर्तमान भ्वादिगण की 'वम' धातु से करण तथा अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय होकर वमन शब्द साधु होता है, स्वार्थ में अण् प्रत्यय होने से अथवा णिजन्त वम से ल्युट् होने से वामन शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार की संगति से जाना जाता है कि जो कुछ इस जगत् में दीख रहा है वह उस यज्ञात्मक ब्रह्म का अपने

सर्वं तस्य यज्ञात्मकस्य ब्रह्मणः स्वात्मज्ञानकृतम्, न हि तेन ब्रह्मणा कुतश्चित् पूर्वं ज्ञानमाप्तं ततो नु जगत् कृतम् = निर्मितमिति। ज्ञानमयत्वात्तस्य। यथा हि लोके स्थूलोदाहरणं पश्यामः—स्रोतस्विन्यः स्वयं सततं जल प्रस्रवन्त्यो वहन्ति यत् स्रोतसां स्वयं जलस्य प्रवाहणं कर्म तत् वमनमिव, उद्गिरणमिव-प्रच्छर्दनमिव, सनादद्य यावत् स्रोतांसि स्रवन्ति। अनेनैव प्रकारेण सर्वव्यापको विष्णुः सनातनात् कालाद् विविधज्ञानानुस्यूतं युक्तियुक्तं कर्म कृतवान्। तस्य ब्रह्मणः प्रतिपदं कर्म तस्यैवात्मन उपज्ञातमिति कृत्वा "वामनः" इति नाम्ना विष्णुर्व्यंज्यते।

भवति चात्रास्माकम्—

यदत्र किंचिद् भुवि दृश्यमानं ज्ञानेक्षणेनापि च चिन्त्यमानम्।
तद् वामनेनात्र विक्लृप्तमेतज्ज्ञानस्वरूपेण निजात्मयोगात्॥१६६॥

निजात्मयोगात्-निजज्ञानयोगात्, ज्ञानमयो हि सः। ज्ञानं हि प्रकाशः। उक्तं—"तमसः परस्तात्" (यजुः ३१-२८)। उक्तार्थं मन्त्रलिंगं च—"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" इत्यादि। अपरथा च व्याख्यानम्—

मन स्तम्भे चुरादिः। मन ज्ञाने दिवादिः। मनु अवबोधने तनादिः। वा उपमार्थे विकल्पार्थे चाव्ययम्। मानयति स्तम्नाति, मन्यते जानाति, मनुते बुध्यते इति मनः "सर्वधातुभ्य असुन्" (उणादिः ४-१८९) इति असुन् प्रत्ययान्तो मनः शब्दः। वा

ज्ञान से बनाया हुआ है। उस ब्रह्म ने पहले किसी से ज्ञान प्राप्त करके अनन्तर इस जगत् को नहीं बनाया। वह ब्रह्म स्वयं ज्ञानमय है। जैसे कि हम ससार में देखते हैं—स्रोत (झरने) स्वय ही जल उद्वमन करते हुये निरन्तर जल का वहन करते हैं। झरने से सतत निकलने वाला जल "वमन वत्" ही झरने का कर्म है। वमन, उद्गिरण, प्रच्छर्दन ये समानार्थक हैं। प्रभु का वमन धर्म सदा से ही निरन्तर होता आ रहा है और इसी प्रकार सर्वव्यापक विष्णु ने सदा से ही ज्ञान पूर्वक और युक्ति युक्त कर्म किया है। उस ब्रह्म का प्रत्येक कर्म उसके अन्दर के ज्ञान से ही उत्पन्न है इसलिये विष्णु को "वामन" कहते हैं।

यहां हमारा संक्षेप श्लोक है—यदत्र किंचिद्—इत्यादि

जो कुछ इस विश्व में नेत्रों से दीख रहा है या ज्ञान से जाना जाता है, वह "वामन" नामक भगवान् ने अपने स्वयं के ज्ञान से ही उपज्ञात किया हुआ है। वह स्वयं ज्ञान-मय है, प्रकाश स्वरूप है। वह तमस से परे है इस यजुर्वेदीय मन्त्र से भी उसका ज्ञानमय होना सिद्ध होता है।

तस्मात् यज्ञा०—इत्यादि मन्त्र से भी स्पष्ट है कि उसी भगवान् से वेदादि पदार्थों का आविर्भाव हुआ।

भाष्यकार इसी वामन शब्द का व्याख्यान अन्य रूप से करता है:—

स्तम्भ अर्थ में वर्तमान चुरादिगण की 'मन' धातु तथा ज्ञान अर्थ में वर्तमान दिवादिगणकी 'मन' धातु से अवबोधन अर्थ में वर्तमान तनादिगण की 'मन' धातु से उणादि के सर्वधातुभ्य

तत्र पूर्वमुपात्तः। भगवतः कर्मसु विकल्पनात्मिका सृष्टिः। तत्रापि च न हि सर्वाः प्राणिजातय, एकस्मिन् काले-ऋतौ वा प्रसवं प्राप्नुवन्ति। न हि एकेन सूर्यमात्रेण विश्वमिदं धृतमस्ति। तत्रापि च सप्तसूर्यादीनां ग्रहाणां विकल्पनास्मद्भूमिमुपकरोति, तथा चाप्रकाशग्रहाश्च-असंख्याता दिवि दृश्यमानास्ताराश्च।

अमुथैवास्मत्-शरीरे-एक एव पितात्मको वन्हिः शरीरोपकाराय पंचधात्वं प्राप्त आस्ते। एकमेव जलं- भूमिसाहाय्येन-कफतां प्राप्तः शरीरोपकाराय पंचधात्वं प्राप्त आस्ते। एक एव वायुः पंचधात्वं दशधात्वं वा प्राप्तः शरीरोपकाराय प्रक्रमते। सर्वस्मिन् ब्रह्मकर्मणि-अनेकविधविकल्पना-दृश्यते। तद्यथा प्रतिशरीरांगे सन्धयो दृश्यन्ते। प्रतिवृक्षमनेकशाखाः सन्धिमन्त्यो दृश्यन्ते, एकस्मिन् पक्षि-पक्षे-बहूनामुपपक्षाणां विकल्पना दृश्यते। संक्षेपादिदं ज्ञातव्यं-यत् भगवता सर्वत्र विकल्पना कृतास्ति, सा विकल्पना सनातनात् कालादद्य क्षणं यावत् तथैवाक्षुण्णरूपेणायाति-यावत् कल्पोदय-स्तावद् यास्यति च। वामनः=विकल्पनः-मनः। वामनः=विकल्पनः-स्तम्भनः। वामनः=विकल्पज्ञानो विष्णुः—वामन उक्तो भवति। एक एव जातवेदस्त्रेधा विहितः, मन्त्रलिंगं च—

> शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात् तपैनम्।
> एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके॥
> (अथर्व १८-४-११)

असुन् सूत्र से (असुन्) प्रत्यय होकर मनः शब्द साधु होता है, उपमा तथा विकल्प अर्थ में वर्तमान 'वा' अव्यय है। जो स्तम्भ (ठहरना) करता है, जानता है या समझता है उसे मनः कहते हैं। 'वा' मनः के पूर्व में लगा हुआ भगवान् के कर्मों की रचना में विकल्प आभासित होता है। या भगवान् के कर्मान्तर्गत संसार की रचना रूप कर्म में विकल्प प्रतीत होता है।

सब प्राणियों का प्रसव एक ही काल में या एक ही ऋतु में नहीं होता है। एक ही सूर्य से यह विश्व धारण किया हुआ नहीं है अपितु सूर्यादि ग्रह तथा उपग्रह हैं। असंख्यात तारे भी आकाश में दीखते हैं, इसी प्रकार मानव शरीर में एक ही पित्त पांच प्रकार का होकर शरीर का उपकार करता है, एक ही जल भूमि के अनुबल से 'कफ' बनकर शरीर में पांच प्रकार का होकर शरीर को क्रियामय बनाने में समर्थ कर रहा है। इसी प्रकार एक ही वायु पांच या दस रूप धारण करके शरीर को गतिमान् कर रहा है। भगवान् की इस सारी रचना में अनेक विध विकल्पनायें दीखती हैं। जैसे प्रत्येक योनि के शरीर के अवयवों में संधियां अनेकविधता को द्योतित करती हैं। प्रत्येक वृक्ष में अनेक शाखायें हैं। पक्षी के पक्ष में अनेक छोटे छोटे पक्ष को बनानेवाले पक्ष होते होते हैं। संक्षेप में यह है कि भगवान् ने सब जगह ही विकल्पना कर रखी है। यह विविधता सदा से ही निर्बाध चली आरही है और इसी प्रकार से आगे भी चलती जायेगी।

विकल्पिक मन, स्तम्भन एवं ज्ञानवान् विष्णु को वामन कहते हैं। अथर्व वेद के शमग्ने—

अत्र मन्त्राद्धरणम्-एकस्त्रेधा विहितो जातवेद इति व्यंजयितुमेव।

अंगिरसामयनं पूर्वोऽग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः।
महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समंगः सर्व उप याहि शग्मः ॥
(अथर्व १८-४-८)

इति निदर्शनमात्रमुपन्यस्तम्-बहवो मन्त्रास्त्रिविध-विज्ञानस्य सन्ति। ते ज्ञानेप्सुना तत एवोन्नेयाः।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुले ॥ (ऋग्०)
त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः।
तथा व्यक्रामद् विष्वङशनानशने अनु ॥
तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥
(अथर्व १९-६-२।३)

विविधविकल्पनमनस्त्वं विविधविकल्पज्ञानवत्त्वं तस्य वामनस्य विष्णोः सर्वत्र व्यापकं दृश्यते। मनुष्योऽपि स्वानि कर्माणि कुर्वन् बहुविधसाधनान्यपेक्षते, तत्र-एक एव मूलतो धातुर्भवति, तद्यथा एकस्यैव लोहस्य-विविधोपकरणानि कुरुते, तद्वदस्य

इत्यादि मन्त्र में स्पष्ट है कि एक जातवेद ही आह्वनीयाग्नि गार्हपत्याग्नि एवं दक्षिणाग्नि नाम भेद से पृथक्-पृथक् नाम से व्यवहार में आता है। एवंविध अनेक मन्त्रों से अग्नि का वैविध्य स्पष्ट है। ज्ञानेच्छु ने वे मन्त्र वेद से देख कर लेने चाहियें।

जैसे इदं विष्णु विचक्रमे०—यह विष्णु नामक सूर्य-उदय-मध्य एवं अस्तावस्था को प्राप्त होता हुआ तीन रूपों में व्यक्त होता है।

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्—इत्यादि अथर्व।

तावन्तो अस्य महिमान—इत्यादि अथर्व।

विविध—विकल्प मनस्कता, विविध विकल्प ज्ञानवत्ता, भगवान् विष्णु की सर्वत्र व्यापक हो रही है। मनुष्य भी अपने कर्मों के साधन हेतु नाना प्रकार के साधनों (उपकरणों) की अपेक्षा करता है। एक ही धातु अनेक रूपों में परिवर्तित होकर मनुष्य का उपकार करती है—जैसे एक ही लोहा दांती, खुरपा, कस्सी, तलवार, बन्दूक, फरसा आदि रूपों को धारण करता हुआ अनेक उपकरणों के रूप में दीखता है। अर्थात् मनुष्य एक ही लोह धातु के अनेक उपकरण बना लेता है।

यह अनेकविध उपकरणों की रचना-अल्पज्ञानी, शरीराभिमानी साधारण मनुष्य का कर्म पूर्ण ज्ञानमय भगवान् विष्णु के वामन रूप को ही चरितार्थ करता है।

मनुष्यस्य विविधोपकरणकर्तृत्वं तत्तस्यैव वामनस्य विष्णोर्ज्ञानानुस्यूतस्येव शरीराभिमानिनोऽल्पज्ञानवतो जीवस्य कर्म।

भवति चात्रास्माकम्—

जगत् सिसृक्षुर्भगवान् स विष्णुर्विकल्पनैर्वा-मन आ विभाति।
जीवोऽपि तज्ज्ञानपथानुगः सन् विकल्पनैस्तोषमुपैति भूयः ॥२००॥

स्रष्टुमिच्छुः सिसृक्षुः। आसमन्तात् विविधं भातीति-आविभाति। वामनः ह्रस्वोऽपि। मन्त्रलिंगं च—

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च (यजु १६-३०)

प्रांशुः—१५३

प्रांशुरुन्नतपर्यायः। तथा चामरः—*उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुंगे* (कां ३ विशेष्यनिघ्नवर्गः १ श्लोक ७०)

भगवतो विष्णोरुन्नतस्वरूपवर्णनं वेदे, यथा—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमथोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

या यों समझना चाहिये कि अनन्त या अपार ज्ञानी भगवान् विष्णु के विविध मनस्त्व का अनुकरण अल्पज्ञानी मनुष्य अपने कर्मों में करता है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

जगत् की रचना का इच्छुक भगवान् विष्णु अनेकविध विकल्पनामय रचनाओं का सर्जन करके अपने आप वामन रूप में प्रकाशित होता है। जीव भी उसी ईश्वर के ज्ञानमार्ग का अनुसरण करता हुआ एक वस्तु के अनेक प्रकार बनाता हुआ बार बार संतोष प्राप्त करता है।

छोटे को भी वामन कहते हैं। यह यजुर्वेद के "नमो ह्रस्वाय च वामनाय च"—इत्यादि मंत्र से स्पष्ट है।

प्रांशुः—१५३
प्रांशुः उन्नत शब्द का पर्याय वाची है।
उच्चप्रांशुरुन्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुंगे इत्यादि अमरकोश से सिद्ध होता है।
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्ष०—इत्यादि
यस्य सूर्यश्चक्षु— "
यस्य वातः प्राणापानौ "

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥
(अथर्व १०-७ मन्त्र ३२ तः ३५)

लोकसम्मितोऽयं पुरुष इत्यस्य सिद्धान्तस्य चरकेणानुमोदितस्य मूलं यथा—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तयामे मघवन्मादयस्व ॥ (यजु: ७-५)

तथा च—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ (अथर्व १०-७ १७)

अंशु-शब्दः प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां 'चन्द्रांशु' नामनि द्रष्टव्यः । ह्रस्वपर्य्यायवामन-शब्दार्थाद् विपरीतमर्थं ब्रुवाण विष्णोः प्रांशुनामार्थत एव निगदव्याख्यातं भवति। इति दिङ्मात्रमुक्तम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

प्रांशुर्हि वेवेष्टि जगत् समस्तं नोच्चैर्हि तस्मात् न परं च किंचित् ।
तस्यैव गर्भे स्थितिमेति विश्वं ह्रस्वायते तारकितं नभश्च ॥२०१॥

अमोघः— १५४

मुह वैचित्ते, चित्तं हि नाम-संज्ञानार्थकाच्चेतयतेः । समेकीभावे, संज्ञानं नाम एकात्मकं संशयरहितं ज्ञानं-संज्ञानम्, विगतं सम्+ज्ञानं विचित्तं, विचित्तस्य भावः

स्कम्भो दाधार—इत्यादि वेद मन्त्रों में भगवान् विष्णु के अनन्त स्वरूप का वर्णन है ।

"अन्तस्ते पृथिवी" इत्यादि यजुर्वेदीय मन्त्र "ये पुरुषं ब्रह्म विदु" इत्यादि अथर्व का मन्त्र "यह पुरुष-शरीर लोक के समान है' इस सिद्धान्त के चरकानुमोदन को पुष्ट करते हैं ।

ह्रस्व के पर्य्यायवाची 'वामन' शब्द के विपरीतार्थक प्रांशु शब्द की व्याख्या मन्त्रों से ही व्याख्यात हो जाती है । यह व्याख्या निदर्शन मात्र है ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता हैं:—

प्रांशु-संज्ञक भगवान् सारे चराचर को अपने में समाविष्ट कर रहा है, उससे ऊंचे या नीचे में कुछ भी नहीं है । उसी भगवान् के गर्भ में यह समस्त जगत् स्थिति को प्राप्त करता है तथा तारकाओं से विभूषित आकाश लघु रूप धारण करता है ।

अंशु शब्द के धातु एवं प्रत्यय "चन्द्रांशु" नाम के व्याख्यान में देखने चाहियें ।

अमोघः—१५४

विचित्त अर्थ में वर्तमान दिवादिगण की 'मुह' धातु से 'अच' अथवा घञ् प्रत्यय होकर मोहः, हकार को पृषोदरादि गण से अथवा न्यङ्क्वादि से कुत्व होकर मोघः, निषेधार्थक 'नञ्'

कर्म वा वैचित्त्यम्, निश्चयात्मकस्य सम्यग्ज्ञानस्य वाभावो:, मोह इति। मोहो यस्मिन् नास्ति स "अमोहः" सन् अमाघ इत्युच्यते, सर्वज्ञानमयत्वात्तस्य ब्रह्मणो विष्णोर्वा स अमोघ इत्युक्तो भवति। नैमित्तिकज्ञानवति मुग्धतोत्पद्यते, कारणानां शैथिल्याद् दोषदुष्टत्वाद्वा। तद्धि ब्रह्मणि विष्णौ न युज्यते, स्वयं ज्ञानस्वरूपत्वात्तस्य, तस्मात् स-अमोघः=अ+वि+अर्थः=अव्यर्थः। लोकेऽपि पश्यामः-लतासु कुष्माण्डानां कालिन्दानां कोषातक्यादीनाम् फलनम्, वृक्षकाण्डे पनसादीनाम् भारवतां नियोजनं तस्य-अमोघस्य निर्भ्रान्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानमयत्वं प्रकाशयति। यदि मोहवशाद्विपरीतं क्रियेत तदा नूनं हानिः स्यादेव, तद्यथा दुर्बलसूत्रे गुरुतमपदार्थनिबन्धनं तत्सूत्रं छिनत्ति भारातिशयात्। अपरमुदाहरणम्-अंगुलयस्त्रिपुटकाः परन्त्वंगुष्ठो द्विपुटकः, तत्र यदि त्रिपुटात्मकोऽगुंष्ठोऽभविष्यत् तर्हि आदानसौकर्यमनक्ष्यत्, धावनगुणवतोऽश्वस्य पादाः शफरूपेण स्वावयवेन तमश्वं-शीतात् तापाद्घर्षणोत्थदुःखाच्च त्रायन्ते रक्षां कुर्वन्ति इति भावः। समुद्रे महाकायानां मत्स्यानां निवासः। अश्वः सिकताततभूमौ न धावितुं तथा क्षमो भवति यथा स कठिनभूमौ। तत्र मनुष्योपकारायामोघेन विष्णुना मृदुलवितानगुणमन्निविष्टपादवतां महाकायानामुष्ट्राणां विकल्पनं कृतम्। सैकतभूमौ जलस्य दुर्लभत्वात्-उष्ट्रोदरे जलस्य कोषार्थं पृथगाशयस्य कल्पनं दृश्यते, महोच्चेषु दृढतमशिलोच्चयवत्सु पर्वतेषु

से समान होने पर 'नलोपो नञः' सूत्र से 'नकार' का लोप होकर अमोघ शब्द सिद्ध होता। "चिति" धातु संज्ञान अर्थात् एकीभाव अर्थात् संशयरहित ज्ञान-संज्ञान, जिसमें से 'संज्ञान' निकल जाता है वह "विचित्त" कहलाता है, मोह जिसमें नहीं है वह 'अमोघ' कहाता है। ब्रह्म के सर्वज्ञानमय होने से विष्णु 'अमोघ' कहाता है। नैमितिक ज्ञान में "मुग्धता" उत्पन्न हो जाती है। साधनों की शिथिलता से अथवा वात, पित्त, कफ के दूषित होने से ज्ञान में दोष उत्पन्न हो जाता है। विष्णु के स्वयं ज्ञानस्वरूप होने-ब्रह्म में 'मोह' विचित्तता न होने से 'अमोघः' कहाता है।

अमोघः=मोह रहित=ज्ञान स्वरूप। हम लोक में भी देखते हैं कि लताओं (वेलों) में पेठा, तरबूज, घियाकद्दू, तोरई आदि का लगना, कटहल जैसे भारी फलों का वृक्ष के स्तम्भों में लगता है, इस प्रकार ब्रह्म के ज्ञान की अमोघता=निःसंशयता व्यक्त होती है, यदि मोह से उलटा कर देता तो महती हानि होनी सम्भव थी। जैसे दुर्बल सूत्र में भारी पदार्थ को बांध देने से वह भारी पदार्थ उस सूत्र को तोड़ देता है। दूसरा उदाहरण—प्रत्येक अंगुली में तीन पुट हैं और अंगूठे में दो पुट बनाये हैं, यदि अंगूठे में भी तीन पुट कर देता तो आदान सुकरता नष्ट हो जाती, दौड़ने वाले घोड़े के पैर शफ में बदल दिये, जिससे घोड़े को शीत, ताप जनित दुःख से बचाता है। बहुत बड़े मच्छों का निवास स्थान समुद्र बना दिया। रेतीले प्रदेश में घोड़ा दौड़ नहीं सकता, इसलिये रेतीले प्रदेश के उपयुक्त कोमल कोमल तथा फैलने वाले पैरों वाला ऊंट बना दिया। रेतीले प्रदेश में पानी की दुर्लभता को ध्यान में रखते हुए भगवान् ने ऊंट के पेट में पानी का कोष बना दिया, जिससे वह कई कई दिन बिना पानी पीये ही मनुष्य का उपकार कर सकता है। बड़े बड़े ऊंचे पहाड़ों पर पानी के निर्झर प्रचलित कर दिये

निर्झराणामजस्रं प्रस्रवणना दृश्यते, स्थालिपुलाकवन्निर्दिश्यमानं कर्म सनात् कालात् यथावस्थितमायाति; कल्पान्तं यावद्यथायथं चामुग्घं यास्यतीति कृत्वा "अमोघः" सर्वव्यापको विष्णुरुक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम्॥
(यजुः ३८-२६)

अक्षितं, अच्युतं, अविकृतमिति, अमुग्धमिति वा।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (यजु ४०-७)

अमोघः, विशोकः, एकः सः, तद्विज्ञातर्यपि मोह-शोकयोर्हानिर्भवति। अनेकः स इति बुद्धश्च हानिर्भवति-एकत्वात्-अमुग्धत्व त्-विशोकत्वाच्च खस्य=ब्रह्मणो विष्णोरिति वा। मनुष्यो हि यथा यथामोघ ब्रह्म ध्यायति तथा तथा तस्य कर्मणि पूर्णता, युक्तियुक्तता चायाति। मनुष्यकर्मसु परिष्कारिता मनुष्यस्य संशयात्मकं मोहात्मकं दोषपूर्णं वा परिष्कारतः पूर्वकं कर्म व्यनक्ति। परन्तु नैतद्विष्णोर्युज्यते, तस्मात् स अमोघ उक्तो भवति। जीवो हि अल्पज्ञानः, विष्णुरनल्पज्ञानः।

अल्पज्ञाने कथमेतत् कुर्याम्, कथं वा नैतत् कुर्यामित्यादयो विसंशया मोहा वा भवन्ति। अमोघत्वपदलिप्सुना प्रतिपदं जगत् पठनीयं, किं कदा कथं वा भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

अनल्पविद्ये न हि मोहसत्ता, सनातनो विष्णुरमोघ उक्तः।
जगत् समस्तं महिमानमस्य, व्यनक्त्यमोघस्य बुधं सुनेत्रम्॥२०२॥

हैं। यह व्याख्यान दिग्दर्शनमात्र किया है, प्रभु की अपनी रचनाओं में अमोघता, अपने ज्ञान में अमोघता सदा से चलती आई है तथा आगे भी ऐसी ही चलती जायेगी।

मंत्र—यावती द्यावापृथिवी इत्यादि यजुः।

इस मंत्र में आये "अक्षितं" पद का अर्थ है - अमुग्ध।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्या—इत्यादि यजुः।

वह एक भगवान् विष्णु-अमोघ, तथा अशोक है, अतः उस अमोघ विशोक संज्ञक का उपासक भी अमोघ—विशोक हो जाता है। मनुष्य जैसे जैसे अमोघ अथवा विशोक ब्रह्म का ध्यान करता है वैसे वैसे ही उसके कर्मों में पूर्णता तथा युक्ति युक्तता आजाती है। मनुष्य अपने कर्मों में उत्तरोत्तर परिष्कार करता जाता है, वह परिष्कार करने की प्रवृत्ति यह जतलाती है उसके कर्म में दोष रह गया है। परन्तु भगवान् के कर्मों में परिष्कार नहीं होता क्यों कि वह अमोघ है। अल्प ज्ञान में ही यह करूं या वह करूं, यह करूं या न करूं इत्यादि संशय होते हैं। अमोघ गुण को प्राप्त करने के लिए मनुष्य ने जगत् में होरही व्यवस्था को बहुत ही सूक्ष्म बुद्धि से पढ़े पढ़े पढ़ना, समझना चाहिये कि जगत् का क्या, कब कैसे हो रहा है।
यही हमारा यह संक्षेप श्लोक है "अनल्पविद्ये" इत्यादि।

अनल्पा विद्या यस्य सः, अनल्पविद्यो विष्णुः। नीयतेऽनेनेति नेत्रम् शास्त्रं, गुरुः, चक्षुषी वा। तन्नेत्रं सुष्ठु शोभनं निर्दोषं यस्य स सुनेत्रस्तम्।

शुचिः—१५५

ईशुचिर् पूतीभावे, दिवादिः। शुच्यत इति शुचिः। इगुपधात् कित् (उणादि ४-१२०) इत्यनेन इन् प्रत्ययः किच्च सः। भगवती विष्णावपवित्रता नास्तीति कृत्वा स शुचिरुक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
(यजु० ४०-८)

अस्मिन् मन्त्रे-स एक एव विष्णुः शुद्धम् अपापविद्धम् चोक्तः। यद्धि शुद्धम्, तदेव च शुचिः। तथा चापरम्—

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा।
ब्रह्म तेन पुनातु मा॥ (यजु० १९-४१)

अग्नेरर्चींषि यत् पवित्रं शुचिः शुद्धं वा अन्तरा मध्ये विततं ब्रह्म। तेन पवित्र-स्वरूपेण पुनातु माम्। अग्निः पवित्रं स मा पुनातु इत्यपि सूक्तम्। शुचिर्विष्णुः। उक्तं चात्रैव पूर्वं—"*पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगल*"मिति।

अनन्त ज्ञान में मोह नहीं होता अतः भगवान् के ज्ञानमय होने से उस के बनाये जगत् में कोई भी पदार्थ संशययुक्त नहीं इसलिये यह सारा जगत् उस अमोघ की महिमा को व्यक्त करता हुआ ज्ञानी को अपना निर्देश—वा—ज्ञान नेत्र देता है।

शुचिः—१५५

पूतीभावार्थक दिवादिगणीय "ईशुचिर्" धातु से उणादि सूत्र "इगुपधात् कित्" से इन् प्रत्यय होकर किच्च सः से अनन्तर शुचिः शब्द साधु होता है।

भगवान् विष्णु को पूर्ण या सर्वथा पवित्र होने के कारण शुचिः कहते हैं।

"शुचिष्ठमसि" ऋग्वेद के मन्त्र से भगवान् का शुचि होना स्पष्ट है। "स पर्यगाच्छुक्रम"-इत्यादि यजुर्वेदीय मन्त्र से भगवान् को ही शुद्ध एवं अपापविद्ध कहा है।

जो शुद्ध शब्द का अर्थ है, वही शुचि शब्द का है।

"यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा"—इस यजुर्वेद के मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना स्वयं पवित्र होने के लिये की गई है। अग्नि की ज्वाला में जो पवित्र करने का धर्म है उससे ब्रह्म शुचि रूप से वर्तमान है, अग्नि देवता पवित्र है। 'अग्निः पवित्रं स मा पुनातु' इस सूक्त में पवित्र बनाने की प्रार्थना है एवं अग्नि की शुचिता व्यक्त है।

"शुचिः" विष्णु का नाम है। इसी विष्णु के सहस्रनाम के प्रारम्भ में "पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्" इत्यादि पद से भी स्पष्ट है कि भगवान् पवित्रों में भी पवित्र है अर्थात् पवित्रतम है।

भगवत्कर्मसु सर्वत्रैव शुचिता शुद्धिर्वा दृश्यते। सनात् कालादद्य यावत् तस्य जगति दृश्यमानं सर्वं कर्म निजेनाविकृतरूपेण प्रचलति, प्रचलिष्यति च। यत् शुद्धं कर्म तत् विष्णोरेवेति कृत्वा विष्णुभक्तेनापि मनसा वचसा कायेन पूतोभावाय प्रयतनीयम्।

भवति चात्रास्माकम्—

यदत्र विश्वे शुचिमत् स्वरूपं स्वभावतो वा शुचिमत् प्रसिद्धम्।

शुचिः स विष्णुः स्वयमास्थितः सन्, सर्गादितः शुच्यत एव सर्वम् ॥२०३॥

शुचिस्वरूपस्य विष्णोः सर्वं कर्म शुचिमद् भवति। तद्यथा लोके निर्झरेभ्यः प्रस्रवज्जलं निर्दोषं भवति। वृक्षशुंगाश्च निर्दोषाः, प्रिया मनोहराश्च दृश्यन्ते। पुष्पेषु शुचिमत्त्वं तस्यैव शुचिमतो विष्णोः स्वकं रूपम्। अनेन विधिना शुचिः सर्वत्र व्यापको दृश्यते, सर्वत्र सर्वदा व्यापकत्वमेव विष्णोः स्वरूपम्। लोकतो नानाविधा उदाहरणोहा ऊहितव्या भवन्ति। काश्चन सूक्तयः संगृह्यन्ते।

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ (अथर्व० ६-१९-१)

पवमानो जातवेदाः, पावको वा।

अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥ (अथर्व० ६-१९-३)

चक्षसे द्रष्टुम्। प्रभोर्महिमा येन हेतुना दृश्यते।

भगवान् के समस्त कार्यों में पवित्रता अक्षिगोचर होती है। भगवान् के रचे हुये इस विश्व में प्रत्यक्षीभूत सब कर्म विकार के बिना ही अर्थात शुद्ध रूप में चलते हैं और भविष्य में भी एवंविध चलते रहेंगे। शुद्ध कर्म को भगवान् का ही स्वरूप समझ कर विष्णु के भक्त ने मन वचन एवं काय से पवित्र कर्म करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में एवंविध व्यक्त करता है:—

इस विश्व में जो स्वाभाविक या रूढ़ि से शुद्ध स्वरूप है, शुचि संज्ञक भगवान् विष्णु उस सब में विराजमान है एवं वह सब वस्तुओं को सृष्ट्यारम्भ से शुचि (पवित्र) कर देता है। शुचि स्वरूप भगवान् विष्णु के समस्त कार्यों में ही पवित्रता है। उदाहरणार्थ, संसार में निर्झरों से निकला हुआ जल सदा ही पवित्र है। वृक्षों की टहनियों में उत्पन्न कोमल पत्ते सर्वथा निर्दोष हैं एवं प्रिय व मनोहर दीखते हैं। पुष्पों में पवित्रता उस शुचि स्वरूप भगवान् का ही अपना रूप है।

एवं विधि से शुचि सर्वत्र व्यापक दीख रहा है अथवा यों समझिये सदा एवं सब स्थानों में शुचि धर्म से वह भगवान् व्याप्त है। अतः शुचि संज्ञक भगवान् सब ही जगहों पर विराजमान है। व्यापक शुचिता के निदर्शन संसार में अनेक कल्पित कर लेने चाहियें।

पुनन्तु मा देवजना—इत्यादि, पवमानो जातवेदाः—इत्यादि एवं चक्षसे द्रष्टुम् इत्यादि सूक्तियों से ईश्वर का शुचित्वं एवं स्वयं शुचि होने के लिये प्रार्थना स्पष्ट है।

ऊर्जितः—१५६

ऊर्ज बलप्राणनयोः, चुरादिः। ऊर्जयतीति ऊर्क्। 'भ्राजभास' (पा० ३-२-१७७) इत्यादिना क्विप् प्रत्ययः। "चोः कुः' (पा० ८-२-३०) इति कुत्वम्। णिलोपस्य पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् इति स्थानिवत्त्वस्य निषेधात् पदान्तता, संयोगान्तलोपस्तु "रात्सस्य" (पा० ८-२-२४) इति नियमान्न भवति।

अत्र विश्वे सर्वं वस्तुजातं प्राणेन बलेन च युक्तमस्ति। यदा वस्तु कृमयोऽश्नन्ति, ते कृमयस्तदौषधबलेन प्राणेन च बलवन्तः प्राणवन्तश्च सन्तस्तमौषधं निष्प्राणं निर्बलं च कुर्वन्ति, दूषितसंयोगश्च बलं प्राणं च विहन्ति। प्रतिवस्तु तस्य निजं बलाधानात्मकं प्राणाधानात्मकं च शक्तिमत् कर्म भवति। तस्य-ऊर्जो निधापयिता कः, इति प्रश्नोत्तरं उक्तं भवति—स एक एव विष्णुरूर्जित-नामा। तस्य विष्णोः सर्वत्र व्यापकस्य यदूर्ङ्मयं कर्म प्रतिवस्तु निष्ठं सनात् कालादद्य यावदास्ते तदेवोर्ग् रूपेण तस्य व्यापनं परिलक्ष्यते। धीराः पश्यन्ति। उक्तं च—

ऊर्जितः—१५६

बल तथा प्राण अर्थ में वर्त्तमान चुरादिगण की ऊर्ज धातु से "भ्रजभास" इत्यादि से क्विप् प्रत्यय होकर तथा "चोः कुः" से कुत्व होकर णिलोप के स्थानिवत् न होने से पदान्तता बनी रहती, है "संयोगान्तस्य लोपः" सूत्र से प्राप्त संयोगान्त 'क' का लोप इसलिये नहीं होता कि-' रात्सस्य" सूत्र नियम कर देता है कि रेफ से परे संयोगान्त 'सकार' का ही लोप होता है—अन्य वर्णों का नहीं, इस प्रकार ऊर्क् शब्द साधु होता है।

अथवा-णि प्रत्यय के बहुल निर्देश से उसके अभाव पक्ष में—"गुरोश्च हलः" सूत्र से स्त्रीलिंग भाव में अ प्रत्यय पुनः 'अजाद्यतष्टाप्' इस से स्त्रीलिंग का टाप् प्रत्यय होकर—'ऊर्जा' शब्द साधु होता है, वह ऊर्जा उत्पन्न हो गई है जिसकी, इस अर्थ में 'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्' सूत्र से प्रत्यय होकर ऊर्जितः शब्द साधु होता है। अथवा—ण्यन्त ऊर्जः से अथवा अण्यन्त अकर्मक ऊर्ज धातु से—'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्' इत्यादि सूत्र से कर्त्ता कारक में 'क्त' प्रत्यय होकर—पुनः इट् होकर —निष्ठायां सेटि सूत्र से 'णि' का लोप होकर ऊर्जितः शब्द साधु होता है। अण्यन्त से—क्त—इच् होकर "ऊर्जित" साधु होता है।

इस सम्पूर्ण विश्व में सब वस्तु बल तथा प्राणदायक हैं। जब क्रिमि किसी वस्तु को खाकर निकम्मी कर देते हैं तब उस औषध के प्राण और बल से वे क्रिमि बलवान् एवं प्राणवान् होते हुये औषध को नीरस एवं निष्प्राण कर देते हैं अर्थात् वह मलभूत ही रह जाती है। प्रत्येक वस्तु में अपनी २ बल तथा प्राण देते वाली शक्ति होती ही है। प्रत्येक वस्तु में ऊर्ज अर्थात् बल एवं प्राण का न्यास कारक कौन है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि ऊर्जितः नाम भगवान् विष्णु है। सृष्टि के आरम्भ से प्रलय तक सर्वत्र व्यापक भगवान् विष्णु का प्रत्येक वस्तु में ऊर्जः कर्म चलना ही ऊर्जित रूप से उसकी व्यापकता को जतला रहा है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ।। (यजु० १६-५)
परमं पदं सूक्ष्मातिसूक्ष्मं ज्ञातुमर्हं कर्म ।
ऊर्गस्यांगिरस्यूर्णम्म्रदा ऊर्ज्जं मयि धेहि ।। (यजु० ४-१५)
"यज्ञो वै विष्णुः"

पाषाणकणान्यपि कपोतं कपिंजलकं जीवनेन योजयन्ति वपुषा च बलयन्ति पुष्यन्तीति वा । तृणानि पशुं बलेन प्राणेन च योजयन्ति । तद् यत् तत्र "ऊर्क्" नियोजनं कर्म तत् तस्यैव कलाधरस्य कलात्मकं कर्म । सर्वेस्य ऊर्क्तमः सन् स विष्णुरूर्जित उक्तो भवति । ऊर्जितः, बलस्वरूपः प्राणस्वरूपश्च ।

बलमसि बलं मयि धेहि । (यजु० १६-६)
ऊर्जो बलं स ओजो म आगन् । (अथर्व० १८-४-५३)
ऊर्जः प्राणाः ।
भवति चात्रास्माकम्—

यदत्र किंचिद् बलवत् प्रसिद्धं, विराजते प्राणयुतं च यद्वयत् ।
तदूर्जितेनैव ततं समस्तं सनाद्ध वै विष्णुरिहोर्जितः सः ।।२०४।।

ऊर्जा संजाता अस्येति—ऊर्जितः-तत्र मन्त्रलिंगं च—
अहमिन्द्रो न पराजिग्ये । (ऋग्०)

इसी भगवान् के ऊर्जित रूप को धीर अर्थात् पण्डित जन देखते हैं । वेद के—तद्विष्णो परमं पदं०— इत्यादि से भी यही बात पुष्ट होती है ।

"उर्गस्यांगिरस्यूर्णम्म्रदा ऊर्ज्जं मयि धेहि" इस यजुर्वेद के मंत्र से भी भगवान् का ऊर्जित होना ध्वनित होता है कारण ऊर्ज के लिये प्रार्थना है । भोजन रूप में प्रयुक्त पत्थरों के कण भी कबूतर एवं कुक्कुट को जीवन प्रदान करते हैं एवं उनके शरीर को बल देते हैं अर्थात् शरीर का पोषण करते हैं । एवं भोजन रूप से लिया हुआ तृण (घास) पशुओं को बल प्रदान करता है तथा उनके शरीर की वृद्धि करता है । सारांश कि प्रत्येक वस्तु में ऊर्ज का अस्तित्व उसी कलाधर ऊर्जित रूपे भगवान् की कला का ही फल है ।

सब से बलवान् (ऊर्जतम) होने के कारण उसको ऊर्जित कहते हैं । ऊर्जित का अर्थ— बल स्वरूप या प्राण स्वरूप है । अतः वेद में भी है—बलमसि बलं मयि धेहि यजुः । ऊर्जो बलं स ओजो म आगन् । मंत्र में सर्वबली भगवान् से बल की याचना की है ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त करता है:—

इस विश्व में जो बल एवं प्राणों से विराजमान दीख रहा है वह सब प्रारम्भ काल से अब तक भगवान् के व्यापक होने का फल एवं उसी के द्वारा प्राण एवं बल प्राप्त है । सनातन काल से भगवान् ही ऊर्जित है । उससे अधिक कोई बलवान् एवं प्राणवान् नहीं है ।

अथर्व वेद के ऊर्जो बलमित्यादि मंत्र में ऊर्ज प्राणवाचक है अतः ऊर्ज शब्द का प्राण वाचक होना सिद्ध होता है ।

अतीन्द्रः—१५७

इन्द्रमतिक्रमते, इन्द्रमतिवर्त्तते वाऽतीन्द्रः। दिव्यं, सुपर्णं गरुत्मन्तं सूर्यं बहुविधनामभिर्विप्रा आहुः, तेषु विविधनामसु इन्द्रोऽपि तस्य नाम। तज्ज्ञापकं मन्त्रलिंगं च—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्० १-१६४-४६)

अत्र इन्द्रपदोक्तः सूर्यः. एतेन ज्ञायते यद्यत् कर्म वर्णनं इन्द्र-मित्र-वरुण-अग्नि-सुपर्ण-गरुत्मद्यममातरिश्वादिभिर्नामभिर्वेदेषु वर्णितमस्ति तत्तत् सर्वं कर्म इन्द्र-नामा भगवान् सर्वव्यापको विष्णुरतिवर्त्तते, तस्माद् विष्णुरतीन्द्र उक्तो भवति।

सूर्यतो भिन्नार्थे इन्द्रप्रयोगः, स चेन्द्रः सूर्यमरोचयत्, विश्वानि भुवनानि च यमयति। मन्त्रलिंगं च—

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः॥
(ऋग्० ८-३-६)

यः शवो, ब्रह्मा, इन्द्रः स सूर्यमप्यतिवर्त्तते, तस्मात् स सर्वव्यापको विष्णुरतीन्द्र उक्तो भवति-यस्मात् स इन्द्रः सर्वाणि भुवनानि यमयति-नियमयति वातः स यमो नियमो वोक्तो भवति, सर्वनियामकः सन् स सर्वनियन्ता नियन्ता वोक्तो भवति। या

अतीन्द्रः · १५७

"इन्द्र" को जो लांघ जाए अथवा इन्द्रको पीछे कर जाये वह अतीन्द्र कहाता है। सूर्य के मंत्रोक्त विविध नामों में "इन्द्र" भी सूर्य का वाचक नाम कहा गया है। जैसे कि मंत्र—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो— इत्यादि ऋग्। इस मंत्र में इन्द्र सूर्य का वाचक है, इससे जाना जाता है कि जिस जिस कर्म का वर्णन-इन्द्र-मित्र-वरुण-अग्नि-सुपर्ण-गरुत्मत्-यम-मातरिश्वा आदि नामों से किया है उन सब कर्मों का भगवान् अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् लांघ जाते हैं इसलिये विष्णु का "अतीन्द्र" नाम है।

सूर्य से भिन्न अर्थ में भी इन्द्र का प्रयोग आता है। जैसे-उस इन्द्र ने सूर्य को चमकाया और सब भवनों को नियम में रखा है।

इन्द्रो मह्ना रोदसी—इत्यादि ऋग्वेद के मंत्र से स्पष्ट है कि इन्द्र सूर्य से भिन्न शब्द का बोधक है।

जो शव-ब्रह्म-इन्द्र नाम से कथित किया गया है वह सूर्य को अतिवर्तित कर देता है, इसलिये उस सर्व व्यापक विष्णु को "अतीन्द्रः" कहते हैं। वह इन्द्र सब भवनों को यम-नियम में रखता है अतः उसे यम तथा नियम भी कहते हैं। सम्पूर्ण विश्व का नियामक होने के कारण उसे सर्व नियन्ता अथवा नियन्ता कहते हैं। [illegible] करने के

हि तस्मिन्निन्द्रे सर्वातिवर्त्तनशक्तिस्तया स जगद् व्यश्नुवानो विष्णुः सन्नतीन्द्र उच्यते ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

> यदिन्द्रनाम्ना वरुणेन नाम्ना यमेन नाम्नाऽथ सुपर्णनाम्ना ।
> सूर्येण नाम्ना किमु वाग्निनाम्ना कर्मास्ति वेदेषु बहुत्र गीतम् ॥२०५॥
> तत् कर्मजातं ह्यतिवर्त्तते यः, स पावनो विष्णुरतीन्द्र उक्तः ।
> स मातरिश्वा स यमः स उग्रस्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥२०६॥

अतीन्द्रव्याख्याप्रसंगेन विष्णोर्नाम्नी यम-नियमावपि व्याख्याते भवतः । पृथक्शश्च व्याख्याते द्रष्टव्ये संख्या—१६१, १६२ । नियन्ता सर्वनियन्ता चापि ।

संग्रहः—१५८

समुपसर्गः । ग्रह उपादाने, क्रैयादिकः । विभाषा ग्रहः (पा० ३-१-१४३) इति सूत्रेण णः प्रत्ययो विकल्प्यते । अचोऽपवादः । इयं व्यवस्थितविभाषा, तेन नित्यं चलचरे ग्राह एव, ज्योतिषि च ग्रह एव । समेकीभावेन गृह्यते संग्रहः । '*उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते*' इति । अनेकस्यैकीभवनमेकीभावः । संक्षेपत इदं वक्तुमर्ह्यते यत्—

सामर्थ्य के कारण इस विश्व में व्यापकधर्मा होने के फल स्वरूप भगवान् को "अतीन्द्र" कहते हैं ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने दो श्लोकों से व्यक्त करता है:—

जो कुछ भी 'इन्द्र' 'वरुण' 'यम' 'सुपर्ण' 'सूर्य' एवं 'अग्नि' नाम से वेदों में बहुत स्थानों पर अथवा विविध मंत्रों में कर्म=शक्ति का वर्णन किया है, उस सम्पूर्ण कर्म को लांघने वाले या अतिक्रमण करने वाले उस पावन विष्णु को अतीन्द्र नाम से कहते हैं । वह अतीन्द्र ही मातरिश्वा है यम है एवं उग्र है । उसी अतीन्द्र नामक भगवान् में सम्पूर्ण विश्व ठहरे हुये हैं या विराजमान हैं ।

इस अतीन्द्र नाम की व्याख्या के प्रसंग में–यम–नियम–नियन्ता एवं सर्वनियन्ता नामों का भी व्याख्यान हो गया है तथापि अपना स्वतंत्र नाम (१६१-१६२) संख्या पर भी व्याख्यात है वहां भी देख लेना चाहिये ।

संग्रह—१५८

सम्—उपसर्ग है । उपादान (समीप से प्राप्त करना) अर्थ में वर्त्तमान क्र्यादिगण की 'ग्रह' धातु से 'विभाषा ग्रहः" सूत्र से 'ण' प्रत्यय विकल्प से होता है । यह 'अच्' प्रत्यय का अपवाद है । यह विभाषा व्यवस्थित विभाषा है अतः जलचर प्राणी के अर्थ में 'ण' होकर ग्राह तथा सूर्यादि द्युचरों के अर्थ में "अच्" होकर 'ग्रहः' सम=एक रूप से ग्रहः= पकड़ता है='संग्रह" कहाता है । उपसर्ग धातु के साथ लगकर धातु को उसके अपने मूलार्थ से भिन्न अर्थ में प्रवृत्त कर देता है । अनेक का एक होना 'एकीभाव' कहाता है ।

अनेकविधविकल्पनविभूषितमिदं जगत् तेन सग्रहनामवता गुणवता वा विष्णुनैकमिव गृह्यते धार्यते पोष्यते व्यवस्थाप्यते च। स्थूलोदाहरणम्—यथा शरीराभिमान्यात्मा सर्वाङ्गसमुदितं शरीरमेकीभावेन धारयति स्तभ्नाति, आहारस्य च रसः सर्वाङ्ग-मेकीभावेन पुष्णाति, तथैव भगवान् विष्णुः सर्वं जगदेकमिव धारयति पोषयति स्तभ्नाति व्यवस्थापयति वा तस्मात् संग्रहः स उक्तो भवति। सनात् कालादेषा व्यवस्थायात्यायास्यति च।

सूर्यादयो ग्रहा अपि सर्वं विश्वमेकीभावेन गृह्णन्तो विश्वेनैकीभावेन गृह्यमाणा वा ग्रहाः सन्तः संग्रहा एव। अत एव चोक्तं भवति—भगवान् सूर्यनारायणः, अपां पतिर्भगवांश्चन्द्रः, भगवान् मंगलः, भगवान् बुधः, भगवान् बृहस्पतिः, भगवाञ्छुक्रः, भगवाञ्छनिः, भगवान् राहुः, भगवान् केतुरिति। तेषां ग्रहाणामपि संग्रहीता स भगवान् सर्वशक्तिमान् संग्रहनामा विष्णुरेव। मन्त्रलिंगं च—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ (ऋग्-१-२२-२०। अथर्व-७-२६-७, यजु० ६-५) साम्नि च।

तथा च—

यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। (यजुः-३२ ८)

एकनीडम्=मुष्टिरिवैकमिव गृहीतं- संगृहीतमिति भावः। अपरं च—

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अनेकविध विकल्पनाओं से परिपूर्ण यह जगत् उस संग्रह नाम तथा संग्रह गुण वाले विष्णु के द्वारा एक की भांति धारण पोषण तथा व्यवस्था में रक्खा जाता है। यहां पर यह उदाहरण है जैसे—यह देह का अभिमानी जीवात्मा सर्वांग समुदित शरीर को एकवत् धारण करता, जीवाये रखता है; इसी प्रकार का सारभूत रस एक रूप में ही सारे शरीर को पुष्ट करता है इसी प्रकार भगवान् इस सम्पूर्ण विविध रूपों से परिपूर्ण विश्व को एक की भांति धारण करता है। पुष्ट करता है ठहराये रखता है व्यवस्था में रखता है अतः वह भगवान् सग्रह गुण से सर्वत्र व्यापक होने से विष्णु कहाता है। उसकी ऐसी व्यवस्था सदा ले चलती आ रही है और आगे भी चलती जाएगी।

सूर्यादि ग्रह स्वयं पृथक् पृथक् गृहीत होते हुए भी इस विश्व को एक रूप में ग्रहण करने से "ग्रह" होते हुए भी "संग्रह" ही हैं इसीलिये सूर्य "भगवान् सूर्य नारायण" ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार भगवान् चन्द्रमा, भगवान् बुध, भगवान् बृहस्पति, भगवान् शुक्र, भगवान् शनि, भगवान् राहु, भगवान् केतु। उन ग्रहों का संग्रह कर्त्ता वह सर्वशक्तिमान् संग्रह नामा विष्णु ही है।

मंत्र प्रमाणम्—

तद्विष्णोः परमं पदं—इत्यादि ऋग्-यजु-अथर्व-साम अन्यच्च-यत्र विश्वं भवत्येक-नीडम्-यजु

यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः ।
त्रयः कोशास उपसेचनासो मध्वश्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥
(ऋग्० ७-१०१-४)

भवति चात्रास्माकम्—

स संग्रहः सर्वगतः स विष्णुर्गृहीतकेशेव[1] जगत् समस्तम् ।
संगृह्य, संग्राह उ संग्रहो वा विश्वं विधत्ते स उ चैकनीडम् ॥२०७॥

1. व=इवार्थकः, गृहीतकेश इवेत्यर्थः ।

सर्गः—१५९

सृज विसर्गे, दिवादिः, तुदादिश्च । सृजतेर्घञ् प्रत्ययः । सर्जनं सर्गः सोऽस्यास्ति सर्वत्र-मत्वर्थीयोऽच् । व्यापको विष्णुः । मन्त्रलिंगं च—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
(यजु० ३१-१९)

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥
(ऋग्० १०-१२९-३)

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ।
(ऋग्० १०-१२९-७)

एकनीडम्–एक घर की भाँति पकड़ा हुआ है। और भी "यस्मिन् विश्वानि भवनानि तस्थुः-इत्यादि

यहां पर हमारा यह संक्षेप श्लोक है—"स संग्रहः सर्वगतः स विष्णुः" इत्यादि

वह सर्वगत विष्णु—इस सारे विश्व को केशों से पकड़े हुये के समान पकड़ कर इस सारे विश्व को एक घर की भांति बनाये हुये है अतः वह ही संग्रह है।

सर्गः—१५९

विसर्ग (छोड़ना) अर्थ में वर्तमान तुदादिगण या श्वादिगण की "सृज" धातु से (घञ्) प्रत्यय होकर (सर्ग) शब्द साधु होता है। चराचर का नित्य सर्जन करने वाले को सर्ग कहते हैं।

प्रजापतिश्चरति गर्भे—इत्यादि—यजुः

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे—इत्यादि—ऋग्

इयं विसृष्टिर्यत—इत्यादि—ऋग्

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
(ऋग्० १०-१२९-४)

विसृष्टिः विविधा सृष्टिः । सर्जनम्-सृष्टिः । सनातनः सर्गः सर्गाद्यक्षणाद्य यावद् यथाव्यवस्थं सृजतीति कृत्वा स सर्गो विष्णुरुक्तो भवति । तस्य सर्गस्यैषा व्यवस्था आकल्पं यावत्तथैव यास्यतीति ।

भवति चात्रास्माकम्—

सर्गः स शम्भुः समुदीर्णवीर्यो रेतो विधायैव मनोमयं सः ।
ससर्ज विश्वं विविधस्वरूपं कामः स विष्णुः स हि सर्ग उक्तः ॥२०७॥

धृतात्मा—१६०

धृतं सर्वमात्मना येन स धृतात्मा । निजधारणात्मिकया शक्त्या सर्वत्र व्यश्नुवानो विष्णुर्धृतात्मोच्यते । मन्त्रलिंग च—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुः १३-४)

लोकेऽपि च तच्छायानुस्यूत कर्म जीवात्मनोऽपि दृश्यते । तद्यथा सनातनोऽमृतोऽल्पज्ञानी देहाभिमानी जीवोऽपि-स्वकीया सत्तया शक्त्या वा पार्थिवमिदं भंगुरं शरीरं

कामस्तदग्रे समवर्तताग्रि—इत्यादि ऋग्वेदीय मंत्रों से स्पष्टार्थ है कि भगवान् सर्व व्यापक विष्णु संसार का निर्माता है। उत्पन्न हुये संसार के जीव ही सृष्टि शब्द से ज्ञात होते हैं।

सृष्टि के आरम्भ से आज तक भगवान् अपनी व्यवस्थानुसार जीवों का सर्जन करता है अतः उसको सर्ग कहते हैं।

सर्ग संज्ञक भगवान् की यही व्यवस्था कल्प पर्यन्त तक अबाध रूप से इसी प्रकार चलती रहेगी।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक से एवं व्यक्त करता है:—

महाशक्तिशाली भगवान् विष्णु, अपने मनोरूप या मन से अभिन्न कामरूप रेतः (इच्छा) के द्वारा इस विविध विश्व की रचना करने के कारण काम या सर्ग नाम से उक्त होता है।

धृतात्मा—१६०

धृतात्मा धैर्य स्वरूप। अपनी धारणात्मक शक्ति से भगवान् इस विश्व में सर्वत्र व्यापक हो के भगवान् विष्णु धृतात्मा कहाता है।

मंत्र प्रमाण:— स दाधार पृथिवीं०—इत्यादि यजुः

इस श्लोक में जीव भी धृतात्मा विष्णु की अनुवृत्ति करता हुआ देखा जाता है, जैसे कि सनातन अमृत अल्पज्ञानी देहाभिमानी जीव अपनी सत्ता शक्ति से इस भंगुर पार्थिव

धारयति गमयति पुष्पगन्धवल्लघुतममिव मन्वानश्चपलयति । इयं या व्यवस्था सनात् कालादद्यक्षणं यावद् दृश्यते सा तस्यैव घृतात्मनो भगवतोंऽशतोऽनुस्यूतं कर्म जीवस्य दृश्यते, तस्मात् स सनातनो विष्णुर्घृतात्मोक्तो भवति ।

भवति चात्रास्माकम्—

घृतात्मना विश्वमिदं समस्तं धृतं विराजं स उ प्राविशच्च ।
तथैव जीवोऽपि निजात्मयोगाद् धियन् वपुर्विष्णुमनक्त्यनन्तम् ॥२०८॥

अनक्ति व्यनक्ति प्रकाशयतीत्यर्थः ।

यदुक्तं स उ प्राविशत् विराजं शरीरम्, तत्र मन्त्रलिंगं च—

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥
अथर्व० ११-८-३०

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥
अथर्व० ११-८-३२

सर्वमेवैतत् सूक्तं विशेषज्ञानार्थिभिरध्येयम् ।

नियमः—१६१

यमः—१६२

शरीर को धारण करता है । फूल की गन्ध के समान हल्का अनुभव करता हुआ इसको यथेष्ट गति से युक्त करता है । यह जो व्यवस्था सदा से दीख रही है वह उसी घृतात्मा भगवान् विष्णु का अंश मात्र गुण इस जीव में है, इसलिये सनातन विष्णु "घृतात्मा" कहाता है । यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—घृतात्मा विश्वमिदं—इत्यादि । घृतात्मा भगवान् ने इस सारे विश्व को धारण किया हुआ है । और इस विराट् में विराजमान हो रहा है । उसी प्रकार से जीव भी अपनी स्वाभाविक शक्ति से इस पार्थिव शरीर को धारण करता हुआ अनन्त शक्ति वाले विष्णु के स्वरूप को व्यक्त कर रहा है ।

श्लोकोक्त—विराट् शरीर में ब्रह्म प्रवेश करता है उसमें मंत्र प्रमाण:—या आपो याश्च देवता—इत्यादि

इसीलिये विद्वान् इस सम्पूर्ण पुरुष—जगत् को ब्रह्म समझता है, इसी ब्रह्म में सारे देवता इस प्रकार ठहरे हुये हैं, जैसे गोशाला में गौवें ।

विशेष विज्ञानियों को चाहिये इस सारे सूक्त को पढ़ें ।

नियम:—१६१

यम:—१६२

यम उपरमे, भौवादिकः। यम परिवेषणे, चौरादिकः। यच्छति इषुगमियमां छः (पा० ७-३-७७) इति सूत्रेण शिति प्रत्यये छत्वविधानम्। यम परिवेष्टने चौरादिकः केचित् यमोऽपरिवेष्टन इति पठन्ति, तदनार्षम्। इह परिवेषणं परिवेष्टनं, न तु भोजना, नापि वेष्टना। तद्यथा यमयति चन्द्रम्, चन्द्रम् परिवेष्टत इत्यर्थः, यच्छति, यमयति वा यमः। नि–उपसर्गपूर्वो नियमः। पचाद्यच्। भगवान्विष्णुर्नियमन–शक्त्या सकलं विश्वं व्याप्नोति तस्मात् स नियम उच्यते। यो हि यं निर्मिमीते स तं नियच्छतीति कृत्वा स सकलसृष्टिकर्त्ता नियम उच्यते।

यमः–सर्वं भूतमात्रमुपरमयति तस्मात् विष्णुर्यम उक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किंचन।
यमो अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान॥
(अथर्व १८-२-३२)

परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥
(अथर्व १८-३-४६)

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥
(अथर्व० १८-३-१३)

मृत्युर्हि यमस्य दूतः। मन्त्रलिंगं च—

उपरम अर्थ में वर्तमान भ्वादिगण की 'यम' धातु से, तथा 'परिवेषण' अर्थ में वर्तमान चुरादिगण की 'यम' धातु से शित् प्रत्यय परे 'इषुगमियमां छः' सूत्र से यच्छति में धातु के 'म' को 'छ' हो जाता है। कोई २ आचार्य चुरादिगण की "यम" धातु को अपरिवेषण अर्थ में पढ़ते हैं वह अनार्ष है। यहां परिवेषण का अर्थ परिवेष्टन है। न तो भोजन परोसना और न ही वेष्टना–लपेटना–अपितु आवरण करना है—जैसे 'यमयति चन्द्रम्' चन्द्र को ढांकता है, यच्छति यमयति वा यमः। नि–उपसर्ग पूर्वक णीञ् प्रापणे धातु से पचाद्यच् प्रत्यय होने से नियमः शब्द साधु होता है। भगवान् विष्णु नियमन शक्ति से सारे विश्व को व्याप्त कर रहा है अतः वह नियम कहाता है, जो जिसको बनाता है वह उसका नियमन भी करता है इसलिये सृष्टि कर्त्ता भगवान् विष्णु 'नियमः' कहाता है।

यमः– सब प्राणिमात्र को भगवान् उपरत (उपसंहृत) करता है, इसलिये भगवान् विष्णु यम कहाता है। मंत्र प्रमाण—

यमः परोऽवरो विवस्वान्—इत्यादि अथर्व

यमं राजानं हविषा सपर्यत। यो ममार –इत्यादि

मृत्यु यम का दूत है। मंत्र प्रमाण—अथेमं जीवा—इत्यादि।

अथेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयांचकार ॥
(अथर्व० १८-२-२७)

यमस्य दूतो मृत्युर्यन्नोपैति सोऽमृत्युर्भगवान् विष्णुः, तस्मात् स अमृत्युरुक्तो भवति । विशिष्टममृत्युरिति नाम्नो व्याख्याप्रसंगे द्रष्टव्यम् ।

विवस्वान् यमः, यमो वा विवस्वान् विवसनधर्मस्य विवासनधर्मस्य वा भगवति निहितत्वात्, सर्वस्यास्य क्षयोन्मुखत्वात् । मृत्योर्विवासनधर्मोऽस्ति । जीवं तद्वासरूपाच्छरीरात् पृथक्करोतीति कृत्वा विवस्वान् यमो मृत्युर्वा । एवं प्रसंगतो विवस्वानिति च व्याख्यातम् । विवस्वत इदं वैवस्वतम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

यमो विवस्वान् नियमो यमो वा नियामके विश्वमिदं नियम्य ।
स मृत्युदूतः नियमेन सर्वं जगद्व्यवस्थापयते ह विष्णुः ॥२०६॥

प्रसंगतः—नि-उपसर्गपूर्वाद्यच्छतेस्तृचि प्रत्यये नियन्ता, नियच्छतीति नियन्ता, प्रत्ययभेदाच्छब्दभेदो न त्वर्थभेदः । नियन्ता ८६४ चतुःषष्ट्युत्तरमष्टशततमं चापि नाम व्याख्यातं भवति । अनियमः, ८६५ पंचषष्ट्युत्तरमष्टशततमं नाम चापि नञा युक्तत्वात् सन्धिविच्छेदेनैवं गम्यते, तदा न हि तस्य विष्णोः कश्चिदपि नियमयिताऽस्ति तस्मात् सोऽनियम उक्तो भवति । सन्धिमन्तरा स नियमः, नियमाश्च संख्यया पंच । तद्यथा शौच-संतोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः, पातंजलयोग-

---

यम का दूत मृत्यु जिस तक नहीं पहुंचता है वह अमृत्यु (अमर) भगवान् विष्णु कहाता है । अमृत्यु शब्द का विशेष विवेचन स्वतंत्र (अमृत्यु) नाम की व्याख्या पर देखना चाहिये । 'विवसन' अथवा 'विवासन' धर्म भगवान् में ही स्थित है, यतः सब कुछ क्षय की ओर बढ़ रहा है । विवासन (बाहर करना) मृत्यु का धर्म है । जीव के वसने योग्य शरीर से मृत्यु जीव को पृथक् कर देता है अतः यम, मृत्यु, विवस्वान् एक ही अर्थवाले हैं । इस प्रकार प्रसंग से 'विवस्वान्' नाम का भी व्याख्यान किया गया है । विवस्वान् का कर्म—अथवा विवस्वान् से उत्पन्न कार्य वैवस्वत कर्म, मृत्यु अथवा यम कहाता है । यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—विवस्वान् यमः, अथवा यम-नियम संज्ञक भगवान् विष्णु अपने नियमों से इस विश्व को बांधकर वह विष्णु मृत्यु द्वारा सदा से ही इस विश्व को व्यवस्था में रख रहा है ।

प्रसंग से—नियम के ही अर्थ में "नियन्ता" भी भगवान् का वाचक होता है, केवल तृच् प्रत्यय का ही भेद है । अतः ८६५ वां नियन्ता नाम भी इसी व्याख्या में व्याख्यात हो जाता है । ८६५ वां नाम सन्धि के विच्छेद से निषेधार्थक 'नञ्' से नियम शब्द समस्त होकर "अनियमः" शब्द साधु होता है इससे यह जाना जाता है कि उस ब्रह्म का कोई और नियन्ता अथवा नियामक नहीं है । यम—नियम नाम से 'पातञ्जल योग शास्त्र' में तथा मनुस्मृति में पांच पांच समूह रूप में पढ़े हैं व पृथक् पृथक् भी यम तथा नियम कहाते हैं । शौच सतोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम हैं—इनका सेवन विष्णु का पूजन

शास्त्रे कृतषा संज्ञा मनोर्वा[1]। नियमान्निश्छलानस्यस्यन्ना विष्णुमेवार्चतीति मन्तव्यम्। नियमस्य विष्णोर्नामिस्वन्तर्भावात्।

1—मनुस्मृतौ इत्यर्थः—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ अ० ४ श्लोक २०४॥

विस्तरस्तत्रैव द्रष्टव्यः। कैश्चिद् दश-दश यम-नियमा व्याख्याताः।

एवमेव-सन्धिच्छेदे-अयमः, यमो वा। न हि कश्चित्तस्य यमयिता तस्मादयमः, स विष्णुः। यमान्निश्छलानस्यस्यमानो ना विष्णुमेवार्चतीति मन्तव्यम्। विष्णोर्नामसु यमस्यान्तभूतत्वात्। यमाश्च पंच। तद्यथा–अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्या-परिग्रहा यमाः, पातंजलयोगशास्त्रस्य कृतैषा संज्ञा, मनोर्वा। षट्षष्ट्युत्तरमष्टशततमं नाम ८६६ अयमः, यमो वा। एव प्रसंगतः—नियन्ता नियमो यमः, अथवा—नियन्ताऽनियमोऽयमः, इत्यपि व्याख्याता भवन्ति।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्नियन्ता नियमोऽयमो सौ विष्णुर्नियन्ताऽनियमोऽयमः सः।
प्रकाशते विश्वमिदं समस्तं यमैर्नियामैश्च कृतव्यवस्थम् ॥२१०॥

नियामैः=नियमैरित्यर्थः।

'यमः समुपनिविषु च' (३-३-६३) इति पक्षे घञ् नियमः, नियामः।

वेद्यः—१६३

विद ज्ञाने, आदादिकः। वेदमर्हति, वेदितुं योग्य इति वा वेद्यः, तदर्हति (पा०

ही है यदि वे छल से रहित होकर सेवन किये जाते हैं तो सन्धि का छेद करने पर—अयमः, यम, उस विष्णु का यमन करनेवाला नहीं है इसलिये वह विष्णु—अयम कहाता है। निश्छल होकर यमों का सेवन ही विष्णु का सेवन है, क्योंकि विष्णु के 'यम' नाम में भी उनका अन्तर्भाव हो जाता है। यम पांच है - अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य्य-अपरिग्रह। इनकी यम-संज्ञा पातञ्जल योग में तथा मनुस्मृति में की गई है। इस प्रकार प्रसंग से—नियन्ता, नियम, यम, अथवा नियन्ता-अनियमः—अयमः से भी व्याख्यात किये गये हैं। यहाँ हमारा यह संक्षेप श्लोक है--

विष्णु ही–वह नियन्ता–नियम–और यम है। वह ही विष्णु-नियन्ता, अनियम-तथा अयम है यह सारा विश्व यमों तथा नियमों से व्यवस्थित किया हुआ नियन्ता से प्रकाशित हो रहा है भगवान् स्वयं इसमें—उपरोक्त गुणों से विराज कर अपने आप को प्रकाशित कर रहा है।

मनुस्मृति का श्लोक इस प्रकार है--

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

वेद्यः—१६३

ज्ञान अर्थ में वर्तमान अदादि गण की 'विद' धातु है। इसमें अर्हति (योग्य) अर्थ में

५-१-६३) इत्यनेन यत् प्रत्ययः। भगवद्व्यवस्थाव्यवस्थिते विश्वे किं वेद्यमस्तीति जिज्ञासायामुक्तं भवति भगवतो व्यवस्थापनं कर्म, तेन व्यवस्थापनकर्मणा स सर्वं विश्वं व्याप्नुवन् 'वेद्य' इति नाम्ना वक्तुमर्हो भवति। अथवा स एव सर्वत्र सर्वकलासु वेद्यत्वेन व्यश्नुवानः सन् वेद्य इति नाम्ना विष्णुरुक्तो भवति। मृत्युमतिचिक्रमिषवो मुमुक्षवस्तमेव तावद् वेद्यं मन्यन्त इति कृत्वा स वेद्य इति नाम्नोक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

"*तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय*"। (यजु० ३१-१८)

तथा च—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थु र्भुवनानि विश्वा॥
(यजु० ३१-१९)

मन्त्रलिंगं च—

शुत्कर्णाय कवये वेद्याय वचोभिर्वाकैरुपयामि रातिम्।
यतो भयमभयं तन्नो अस्त्वव देवानां यज हेडो अग्ने॥
(अथर्व० १९-३-४)

भवति चात्रास्माकम्—

स एव वेद्यः सकलैः पुराणो वेद्यं कविं तं कथयन्ति वेदाः।
वेद्ये स्थितं विश्वमिदं समस्तं तस्माज्जगच्चापि च वेद्यमाहुः॥२११॥

'यत्' प्रत्यय है। जानने योग्य को 'वेद्य' कहते हैं। भगवान् की व्यवस्था से व्यवस्थित इस विश्व में जानने योग्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि "भगवान् की व्यवस्था" जानने योग्य है। इस विश्व में व्यवस्था सर्वत्र ही दीख रही है अतः व्यवस्था रूप में वह सर्वत्र व्यापक होता हुआ "वेद्यः" कहाता है। अथवा सब कलाओं में वह भगवान् ही वेद्य रूप से व्यापक हो रहा है। मुक्त होने की इच्छा वाले मुमुक्षु जन उसी को 'वेद्य' मानते हैं इसलिये भी वह ही महापुरुष 'वेद्य' नाम से कहा गया है।

मंत्र प्रमाणः—"तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। यजुः"
प्रजापतिश्चरति—इत्यादि

वेद्य नाम का मंत्र में—श्रुत्कर्णाय कवये वेद्याय—इत्यादि-अथर्व
यहां पर हमारा यह संक्षेप श्लोक है—स एव वेद्यः० इत्यादि।

वह पुराण—सनातन—नामों से प्रसिद्ध भगवान् सब के द्वारा जानने योग्य होने से 'वेद्य' है। उसी वेद्य को वेद कवि शब्द से कहता है। यह सारा विश्व उस "वेद्य" में ही ठहरा हुआ है, इसलिये इस जगत् को "वेद्य" अर्थात् "जानने योग्य है" ऐसा कहते हैं।

वैद्यः—१६४

विद ज्ञाने, आदादिः । संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः, (पा० ३-३-९९) इत्यनेन सूत्रेण विद-धातोः स्त्रियां क्यप् प्रत्ययः स चोदात्तो भवति । ततः "अजाद्यतष्टाप्" (पा० ४-१-४) इति सूत्रेण टाप् स्त्रियाम् । वेद्यते ज्ञायते यया सा विद्या, क्यब्विधायके सूत्रे "भावे" इति न स्वर्यते । यया दोषरहितया पद्धत्या यज्ज्ञेयं ज्ञायते सा तद्विषयिकी विद्या, तद्यथा—शब्दानुशासनं व्याकरणं शब्दविद्या, न्यायशास्त्रं तर्क-विद्या, गानं विदन्ति यया सा गानविद्या, तत्रापि च प्रधानतया द्वे विद्ये-परा, अपरा च, त्रिगुणात्मलोकस्य ज्ञानदातृत्वात् किमु वा मनुष्योपदेशकर्तृत्वाद् वेदा अपि त्रिगुणा एव, तस्मात् परायां विद्यायां परिगण्यन्ते । 'त्रैगुण्यविषया वेदाः" (२-४५) इति गीतायामुक्तं संगच्छते । यया तदक्षरमधिगम्यते सा विद्याऽपरा विद्या, सर्वविद्या विष्णोर्गर्भानुस्यूतत्वात् स सर्वज्ञानो विष्णुर्ज्ञानमात्रेण सर्वत्र सनाद् विश्वं व्याप्नोतीति कृत्वा वैद्य इति नाम्नोच्यते । विद्यां वेत्तीत्यर्थे "तदधीते तद्वेद" (पा०४-२४९) इति सूत्रेण यथाविहितमण्प्रत्ययो भवति, 'यस्येति च' इत्यनेन आकार-लोपः । भगवता विष्णुना यद् यद्विहितमस्ति तत् तत् सर्वं विद्यामयं, तद्यथा—

वैद्यः—१६४

अदादिगण की ज्ञानार्थक विद् धातु से "संज्ञायां समजनि" इत्यादि सूत्र से स्त्रीलिङ्ग भाव में क्यप् प्रत्यय होता है और वह उदात्त होता है। अनन्तर "अजाद्यतष्टाप्" सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होने पर विद्या शब्द सिद्ध होता है।

जिस दोष रहित पद्धति से ज्ञेय जाना जाये, वह पद्धति उस विषय की विद्या होती है अथवा ज्ञेय के जानने के दोष रहित मार्ग को उस विषय की विद्या कहते हैं। उदाहरणार्थः—शब्दानुशासन नामक व्याकरण शास्त्र को शब्दविद्या, न्याय शास्त्र को तर्कविद्या एवं गायन कला के जानने के मार्ग को गान विद्या कहते हैं। इन विद्याओं में भी प्रधानतया परा, अपरा नाम भेद से दो विद्यायें हैं। त्रिगुणात्म विश्व का ज्ञानदाता एवं मनुष्योपदेशकर्त्ता वेद भी परा विद्या की गणना में आते हैं। गीता का कथन "त्रैगुण्यविषया वेदाः" की संगति एवं-विध ही है।

उस अक्षर (ब्रह्म) का बोध अपरा विद्या से होता है अथवा उस अक्षर (ब्रह्म) का बोध कराने वाली विद्या को अपरा विद्या कहते हैं

सब विद्याओं का आदि स्रोत भगवान् ही है। अतः सृष्ट्यारम्भ एवं स्वकीय ज्ञान से सर्वत्र व्यापक होने के कारण उस सर्वविद्य ज्ञान के अधिष्ठाता भगवान् विष्णु को वैद्य कहते हैं।

विद्या को जानता है—इस अर्थ में "तदधीते तद्वेद" सूत्र से अण् प्रत्यय होकर "यस्येति च" सूत्र से अकार का लोप होने पर वैद्य शब्द सिद्ध होता है।

भगवान् की प्रत्येक रचना उसके विद्यामय होने का प्रमाण है।

मनुष्यनिर्माणं पशूनां पक्षिणां विविधानां चोद्भिज्जातीनां निर्माणं कया विद्यया भगवता वेदेन कृतमिति स एव वेत्ति नान्यः कश्चित्। न हि कोऽपि चेतनानिष्ठं पुरुषमपरं वा चेतनानिष्ठं प्राणिनं निर्मातुं क्षमं इति कृत्वा स एव विष्णुस्तां पद्धतिं तं मार्गं वा वेदेति कृत्वा स विष्णुर्वैद्य इत्युक्तं भवति। मन्त्रलिंगं च—

विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। (यजु० ७।४३)

भवति चात्रास्माकम्—

विश्वस्य निर्माणकलामशेषां विष्णुर्हि वेदेति स वैद्य उक्तः।
तं सर्वविद्यं य उ वेत्ति वैद्यं विद्यामयः सोऽप्युपयाति वैद्यम् ॥२१२॥

इतरोऽपि वैद्य एतस्मादेव। यतः स रोगोदयोपशमनं वेद। आयुषो विद्यामधीते वेद वा वैद्यः।

सदायोगी—१६५

सदायोगी शब्दस्त्रिधा विभज्यते, सतः आयोगी सदायोगी। सदा योगी-सदायोगी, सदा+अयोगी=सदायोगीति। धातवश्चापि बहवः प्रयोगं लभन्ते—युजि वर्जने, युंजति वर्जनं करोति स्वादिः, तस्मात् सदा पूर्वात् सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (पा० ३-२-७) इति णिनिः। सदायोगी-युज समाधौ, दिवादिः, युजिर् योगे

मनुष्य, पशु एवं पक्षियों के शरीर का निर्माण तथा अनेक प्रकार की उद्भिज्जाति की रचना भगवान् ने जिस विद्या से की है उस विद्या को वही जानता है।

भगवान् के अतिरिक्त कोई भी चेतनायुक्त पुरुष या किसी भी प्रकार के प्राणी को बनाने में समर्थ नहीं है।

भगवान् ही चेतनायुक्त पुरुष या प्राणी के बनाने की पद्धति या मार्ग को जानते हैं। अतः भगवान् को वैद्य कहते हैं।

यही कथन "विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्" मन्त्र से सिद्ध होता है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक में व्यक्त करता है:—

विश्व के निर्माण की सम्पूर्ण कला को विष्णु भगवान् जानता है अतः उसको वैद्य कहते हैं। उस सर्वविद्यामय को जो पुरुष समझ लेता है वह विद्यामय होकर उस वैद्य संज्ञक भगवान् के गुण को प्राप्त कर लेता है।

आयुष्य विषयक ज्ञान के जाननेवाले को भी वैद्य कहते।

सदायोगी—१६५

सदायोगी शब्द का संधिक्रम निम्नांकितरूप से तीन प्रकार का है:—

(१) सदा+आयोगी=सदायोगी
(२) सत्+आयोगी=सदायोगी
(३) सदा+योगी=सदायोगी

रुधादि:, आभ्यां "सम्पृचानु० (पा० ३-२-१४२) इति सूत्रेण घिनुण्-प्रत्ययः। युज संयमने चुरादिः। तस्मादेवं वक्तुमर्हतें-सदा युंगति वर्जन-स्वभावमातिष्ठतीति सदायोगी। तद्यथा—

अक्षैर्मा दीव्यः (ऋ० १०-३४-१३)।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा (अथर्व० ३-३०-३)।

मा गृधः कस्य स्विद्धनम् (यजु० ४०-१)।

इत्यादि वर्जनं सनादेव तस्य भगवतो दृश्यते। विपरीताचरणे दुःखोदयस्य दृष्टत्वात् स परमकारुणिकः सदैव वर्जनं कुर्वाणः—सदायोगी स भगवान् विष्णुरुक्तो भवति। सदैव योजयति, संयमयति, विश्वान् लोकांस्तस्मात् स सदायोगी, संयमनशक्त्या स्वात्मानं व्याप्नुवानः सदायोगी भगवान् विष्णुरुक्तो भवति। सदा युनक्ति कर्मणि क्रियायां विश्वमिति सदायोगी। मन्त्रलिंगं च—

युञ्जते मन उत युञ्जते (यजुः ५-१४)

सदा युङ्क्ते समादधाति निजं ज्ञानं विश्वरचनासु तेन हेतुना स भगवान् विष्णुः सदायोगी नाम्नोक्तो भवति।

धातु अनेकार्थक हैं एवं शब्द भी अनेक धातुओं से निष्पन्न होता है। सदा पूर्वक स्वादिगण की वर्जनार्थक युगि धातु से "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" सूत्र से णिनि प्रत्यय होने पर सदायोगी शब्द सिद्ध होता है।

दिवादिगण की समाध्यर्थक युज धातु से एवं रुधादिगण की योगार्थक युजिर् धातु से "सम्पृचानु०" सूत्र से घिनुण् प्रत्यय होने पर भी सदायोगी शब्द सिद्ध होता है। संयमनार्थक चुरादिगण की युंज धातु से भी इस शब्द की सिद्धि होती है।

सदैव निषेध (वर्जन) करनेवाले स्वभाव को धारण करनेवाला सदायोगी होता है।

अक्षैर्मा दीव्यः। मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। मा गृधः कस्यस्विद्धनम् इत्यादि वेद मंत्रों से स्पष्ट है कि भगवान् की वर्जनपद्धति प्रारम्भ से ही है।

विपरीत आचरण करनेवाला अर्थात् निषेधात्मक वचनों की उपेक्षा करनेवाला सदा दुःख पाता दीखता है। वह परमदयालु भगवान् सृष्ट्यारम्भ से ही निन्द्य कर्मों का वर्जन करता है। अतः उसको सदायोगी कहते हैं।

आदिकाल से ही भगवान् सारे लोकों का संयमन करता है। यही कारण है कि वह सदायोगी भगवान् अपनी संयमन शक्ति से अपने आप को सर्वत्र व्याप्त करता है। अतः उसको सदायोगी कहते हैं।

सम्पूर्ण विश्व को कर्मात्मक क्रिया में रखने के कारण भी भगवान् को सदायोगी कहते हैं।

उपर्युक्त वाक्य यजुर्वेद के "युञ्जते मन उत युञ्जते" मन्त्र से स्पष्टार्थ है।

संसार की रचनाओं में अपने ज्ञान को सदा धारण करने के कारण भगवान् को सदा योगी कहते हैं।

सम्-एकीभावेन, आ समन्ताद् धारणम्-समाधिः, समादधाति-एकरूपतया समन्तात् सर्वभावेन धारयति पोषयति विश्वमिति तस्मात् स समायोग्यप्युक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। (यजु० १३-४)

तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा। (यजु० ३१-१९)

संयमनार्थे मन्त्रलिंगं—

इन्द्रो ह विश्वा भुवनानि येमिरे। (ऋग्०)

भवतश्चात्रास्माकम्—

स वर्जनं निन्द्यकृते विधत्ते, युङ्क्ते स्वयं विश्वकृतौ विधाता।
स विश्वमेतं परितो दधाति, स युज्यते सर्वकलासु दक्षः ॥२१३॥
एवं सदायोगमुपेयिवांसं बुधाः सदायोगिनमाहुरग्र्यम्।
विष्णुं पुराणं सुलभं शुचिं तं, पश्यन्त आयुक्ततत सदैव ॥२१४॥

आयुक्ततम्-आयुक्तेन ततं व्याप्तं सदैव सनात् कालादिति। सदायोगोऽस्यास्तीति त सदायोगिनम्। सदायोगशीलं-स्वभावधर्माण वा।

प्रसंगतः—समोयोग्यपि व्याख्यातं भवति।

वीरहा—१६६

वि-उपसर्गः, ईर गतौ कम्पने च आदादिकः। ईर क्षेपे चौरादिकः। वि पृथग्वि-

---

एकरूप से एवं सर्वभाव से अखिल ब्रह्माण्ड का धारण एवं पोषण करने के कारण भी भगवान् को सदायोगी कहते हैं। इन्हीं हेतुओं के कारण भगवान् को समायोगी भी कहते हैं।

उपर्युक्त वाक्यावलि यजुर्वेद के "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम एवं "तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" मन्त्रों से सिद्ध होती है।

ऋग्वेदीय "इन्द्रो ह विश्वा भुवनानि येमिरे" मन्त्र से भगवान् की लोकसंयमन शक्ति की पुष्टि होती है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने दो श्लोकों से एवं व्यक्त करता है:—

भगवान् विष्णु मनुष्य के लिये निन्द्य कर्मों का वर्जन (निषेध) करता है और सदा से ही विश्व की रचना में अपने आप को लगाये हुये है। वह इस विश्व को सब रूपों में धारण करता है और सब कलाओं में चतुर है। एवंविध सदायोग को प्राप्त सबके अग्रभूत शुचि, सुलभ, पुराण एवं विष्णु नामों से प्रसिद्ध सृष्ट्यारम्भ से आयुक्त रूप से व्याप्त उस भगवान् को पण्डित जन सदायोगी कहते हैं।

सदायोगी के प्रसंग से "समायोगी" शब्द का भी व्याख्यान हो गया है।

वीरहाः—१६६

वीरहा शब्द में पृथक् करना तथा विशेष अर्थ में वर्तमान 'वि' उपसर्ग है। कम्पन तथा

शेषार्थयोः। विगतो कम्पनगत्या वीरः। विशिष्टो वा गतो वीरः। वि-उपसर्गसहित ईर कण्ड्वादिषु चापि पठ्यते शूर वीर विक्रान्तौ इति, तस्मात् पचाद्यच्।

यदा हि मनुष्यः सबलः स्वकान् असून् प्रीणाति तदा स दुर्बलान् तंकति कृच्छ्रेण प्राणिनः योजयति, तदा सोऽपराधी, दोषी शत्रुर्वोक्तो भवति। तदर्थं अभिपूर्वो युज् क्विबन्तः प्रयुक्तो भवति। तन्नाशाय च प्रार्थ्यते। मन्त्रलिंगं च—

.. विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य। (ऋग्० ५-४-५)

संक्षेपत इदं वक्तुमर्ह्यं यत्-विरुद्धगतिकर्तॄनसुषु रममाणान् भगवान् हन्ति, प्रज्ञापराधमाप्नुवन् स विरुद्धगतिः कर्त्ता प्रजानां कोपभाजनः सन् नाशोन्मुखं पन्थानमधितिष्ठति। यः प्रजासु कोपोदयः स स्वयं भगवानेव। "क्रोधकृद्" विष्णोर्नामसु पठितत्वात्। ❀क्रोधकृदर्थे मन्त्रलिंगं च—

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। (यजु० १९-९)

विरुद्धगतीन् भगवान् विष्णुर्हन्तीति कृत्वा "वीरहा" विष्णुरुक्तो भवति। अथवा

गति अर्थ में वर्त्तमान अदादि गण की 'ईर' तथा क्षेप (फेंकना) अर्थ में वर्त्तमान चुरादिगण की 'ईर' धातु है, इस से पचादि लक्षण अच् प्रत्यय होकर वीर शब्द साधु होता है। जो अभिमत क्रिया सिद्धि में काम्पता नहीं वह वीर है। अथवा जिसकी अभिमत प्राप्ति के प्रति प्रशस्त गति विधि है वह वीर है। अथवा जो युद्ध में विशेष शौर्य को लिये हुए चेष्टायें करता है वह वीर है; अथवा जो अपने विरोधियों को उखाड़ फैंकता है वह वीर है। इस प्रकार वीर शब्द के उपपद रहते 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' सूत्र से हिंसा और गति अर्थ में वर्त्तमान अदादिगण की 'हन' धातु से क्विप् प्रत्यय होता है, यहां हन् धातु से क्विप् ब्रह्मभ्रूणवृत्र—इन उपपदों से ही होता है ऐसी बात एकान्ततः नहीं है, अतः कामहा, क्रोधहा, भगहा, इत्यादि भी साधु समझने चाहियें, अथवा—हन् धातु से सोपपद से या निरूपपद से 'क्विप् च' सूत्र से क्विप् होकर—"सौ च" से दीर्घ होकर वीरहा शब्द साधु होता है। इस प्रकार 'वीर' शब्द से गमक गुणवाले को भी जो अकिञ्चित् कर देता है वह वीरहा भगवान् कहाता है। वीरहा गुण से सर्वत्र वर्त्तमान होने से वह विष्णु है। इसलिये जिधर भगवान् स्वयं होते हैं युद्धों में अथवा विवादों में उधर ही विजय होती है चाहे विजेता दुर्बल सहाय वाला भी क्यों न हो। इसलिये यह कहावत चरितार्थ हो जाती है कि जिधर धर्म है उधर जय होती है।

जब सबल मनुष्य अपने सुखोपभोगों के लिये दुर्बलों को तंग करता है तब वह अपराधी दोषी-अथवा शत्रु कहा जाता है इसी अर्थ में अभिपूर्वक क्विबन्त युज धातु का 'अभियुज्' प्रयोग होता है, उन अभियुजों-(शत्रुओं) के नाश के लिये वेद में जीव अग्नि को सम्बोधित करके प्रार्थना करता है—"विश्वा अग्ने अग्नियुजो विहत्य" ऋग्। संक्षेप में इस प्रकार कहा जाता है कि ऐश्वर्य मद में रत स्वेच्छाचारी–कुपथगामी जनों को नष्ट करता है।

अर्थात् वह कुपथगामी प्रज्ञापराध को प्राप्त हो जाता है, अतः प्रजा उसके विरुद्ध हो

❀ मन्युर्ज्ञानपूर्वकं भवति। मन्यु ज्ञानपूर्वक क्रोध होता है।

प्रकृतेर्नियमविरुद्धमाचरन्तं हन्तीति कृत्वा वीरहा भगवान् विष्णुरुक्तो भवति।

अत्र स्मरणीयं विदुरस्य पद्यम्—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥
बुद्धौ कलुषीभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते।
अनयोर्नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति॥ (विदुरनीतौ)

यत्तूक्तं क्रोधकृत् विष्णुरिति–तत्र मन्त्रलिंगं च—

नमस्ते रुद्र मन्यवे। (यजु० १६-१६)

सत्कर्तॄन् वीरान् मा नाशयेत्यर्थे च प्रार्थना श्रूयते। तद्यथा मन्त्रलिंगं च—

मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीः। (यजु० १६-१६)

अत्र व्याख्याप्रसंगे क्रोधकृदिति च व्याख्यातं भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

विरुद्धकर्तॄन् स हिनस्ति वीरान्, प्रज्ञापराधी विनिपातमेति।
स मन्युमान् विष्णुरमेयकर्मा, स वीरहा लोक-हिताय युक्तः॥२१५॥

जाती है इस प्रकार वह नष्ट कर दिया जाता है—प्रजाजनों में उस विरुद्धाचारी के प्रति क्रोध का उदय है। वह स्वयं भगवान् ही 'क्रोधकृत्' रूप से उदित कर नाश करता है। क्रोधकृत भगवान् विष्णु का नाम है। क्रोधकृत् अर्थ में मन्त्र—मन्युरसि मन्युं मयि धेहि—यजुः

विरुद्धगति वालों को भगवान् नष्ट करता है इसलिये वीरहा विष्णु कहाता है। अथवा जो प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करता है भगवान् विष्णु उसका नाश करने से "वीरहा" कहाता है। यहां विदुर का पद्य स्मरणीय है जैसे

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति—इत्यादि (१)
बुद्धौकलुषी भूतायां—इत्यादि (२)

जो 'क्रोधकृत" विष्णु का नाम है, इसमें मन्त्र प्रमाण।—

"नमस्ते रुद्र मन्यवे" इति यजु०। सत्कर्ता वीरों को मत मारिये इस अर्थ में भी वेद में प्रार्थना सुनी जाती है—मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीः। यजुः।

इस व्याख्या में प्रसङ्ग से "क्रोधकृत" शब्द भी व्याख्यात किया गया है।

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—"विरुद्धकर्तॄन् स" इत्यादि।

विरुद्धाचारियों को भगवान् नष्ट करता है, प्रज्ञापराधी नष्ट हो जाता है। वह अमेय-कर्मा विष्णु "मन्युमान्" कहाता है, वह भगवान् लोक को व्यवस्थित रखने के लिये विरुद्धा-चारियों का मान मर्दन करता है।

माधवः—१६७

अग्रिमे "मधु" १६८ तमे नामनि प्रकृतिप्रत्ययौ द्रष्टव्यौ। मधुः, ज्ञानमस्यास्तीति माधवः। मधुः,–ज्ञानमस्मिन्नस्तीति वा माधवः। 'अण् च' (पा० ५-२-१०३) सूत्रस्य गणवार्तिकम् अण्प्रकरणे–ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम् इत्यत्र निःक्षेपात् तत्स्थोदाहरण-संग्रहो नेतावत्त्व गणस्य ज्ञापयति। मन्त्रलिंगं च—

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः। (ऋग्० १-१५४-५)

उत्सः-स्रोतः। अथवा-मातीति माः, क्विप् च (पा० ३-२-७६) धातुमात्रात् क्विप्-प्रत्ययस्य सद्भावात्। धू विधूनने सौवादिको, धू-तौदादिको, धू कम्पने चौरादिको-धुनोति- धुवति-धूनयति, 'धूप्रीणोर्नुग् वक्तव्यः' धवयति वा ऋदोरप् (पा० ३-३-५७) इति सूत्रेणाप् प्रत्ययः। तेन धव इति। मा-धव-माति एतावत्त्वं विश्वस्य चराचरस्य जानन् स तस्मिन् कम्पनं गतिं करोतीति माधवो विष्णुः। मन्त्रलिंगं च—

तदेजति तन्नैजति–तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ (यजु० ४०-५)

एजति, एजयतीत्यर्थः। मया लक्ष्म्या धव इति माधवः। केचित्—मा-हरस्य विद्या ज्ञानं वा, तस्या मायाः धवः-माधव इत्यपि च व्याचक्षते। उदाहरन्ति च—

मा विद्या च हरेः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान्।
तस्मान्माधवनामासि धवः स्वामीति शब्दितः॥ (हरिवंशे ३-८८-४९)

माधवः—१६७

मधुः ज्ञान को कहते हैं। जिसका या जिसमें ज्ञान हो वह माधव होता है। मधुः शब्द के प्रकृति प्रत्यय भगवान् के स्वतन्त्र मधु (१६८ वें संख्या) नाम के व्याख्यान में देख लेने चाहियें।

"विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः" इस ऋग्वेद के मंत्र में मधु शब्द का उल्लेख है। यहां उत्स शब्द स्रोत का पर्यायवाची है।

माधव शब्द में मा एवं धव दो पृथक् शब्द हैं। मा धातु से "क्विप् च" इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय होकर मा शब्द सिद्ध होता है। विधूननार्थक धू धातु तुदादिगणीय धू एवं कम्पनार्थक चुरादिगण की धू धातु से ऋदोरप् सूत्र से अप् प्रत्यय होकर धव शब्द सिद्ध होता है।

इस चराचर जगत के एतावत्त्व को जानते हुए इसमें कम्पन गति करनेवाले को माधव कहते हैं। यही कथन "तदेजति"–इत्यादि यजुर्वेद के मंत्र से चरितार्थ होता है।

मा लक्ष्मी को भी कहते हैं। धव स्वामी या पति का पर्यायवाची है। लक्ष्मी के स्वामी या पति को भी माधव कहते हैं।

कतिपय आचार्यों के मत से मा शब्द से हर की विद्या या ज्ञान समझना चाहिये। एवं-भूता विद्या या ज्ञान के स्वामी को भी माधव कहते हैं। इस कथन की संगति में वे हरिवंश के "मा विद्या च हरेः प्रोक्ता" इत्यादि श्लोक का प्रमाण देते हैं।

भवति चात्रास्माकम्—

स ज्ञानवान् ज्ञानमयोऽथ विष्णुर्मात्वा जगद् धूनयतीह शश्वत् ।

लक्ष्मीस्तु मा, मा च हरस्य विद्या तस्याः स ईष्टे स उ माधवोऽतः ॥२१६॥

यत्तूपरिष्टादुक्तम्-माया लक्ष्म्या धवो माधव इति । उक्तं च—

विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रियाम् ।

लक्ष्मीं प्रियसखीं भूमिं नमाम्यच्युतवल्लभाम् ॥ (श्रीसूक्ते २५)

माधवी विष्णुपत्नी, सा च "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावि"ति मन्त्रसिद्धा ताम्, माधवस्य स्त्री पत्नी वा माधवी ताम्, 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० ४-१-४८)इति ङीष् । इतरो धवः स्वामिपर्य्यायोऽप्येतस्मादेव । स हि स्वं धूनयति, यथाभिमतेनादेशेन गतावास्थापयति । स्त्रीणां धवोऽप्येतस्मादेव, स हि योनिं बीजावपनकर्मणि धूनयति कम्पयति क्षुभ्नाति वा । मन्त्रलिंगं च

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।

या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥

(अथर्व० १४-२-३८)

मधुः—१६८

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक में एवं व्यक्त करता है:—

ज्ञानवान् अथवा ज्ञानमय भगवान् विष्णु जगत् को समझकर सदा से ही उसको गतिमान् करता है । लक्ष्मी का पर्यायवाची मा शब्द है अतः इसके स्वामी या पति को माधव कहते हैं तथा हर की विद्या को भी मा कहते हैं अतः उसके स्वामी या पति को भी माधव कहते हैं ।

'विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं' इत्यादि श्रीसूक्त के वचनानुसार सिद्ध होता है कि मा अर्थात् लक्ष्मी के स्वामी या पति को माधव कहते हैं ।

माधव की स्त्री या पत्नी को माधवी कहते हैं । 'पुंयोगादाख्यायाम्' इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय होता है ।

धव शब्द स्वामी का पर्यायवाची इसलि . है कि वह अभिमत आदेश से सबको गति में रखता है ।

बीजवपन के समय स्त्री की योनि का धूनन करने के कारण ही पुरुष को स्त्री का धव कहते हैं ।

'तां पूषञ्छिवतमाम्' इत्यादि अथर्व के मंत्र से स्पष्ट है कि पुरुष स्त्री की योनि को कम्पन देता है ।

तात्पर्य यह है कि माधव संज्ञक भगवान् अपनी माया को अनुशासन में रखने के कारण सर्वत्र व्याप्त हो रहा है ।

मधुः—१६८

मनेर्धश्छन्दसि (उण० २-११६) इति सूत्रेण, मनु अवबोधने तनादिः, मन ज्ञाने दिवादिः, उसिः प्रत्ययः, धकारश्चान्तादेशः। मधुः। मन्यते मनुते वा मधुः। अथवा मन्यते बुध्यते यत् येन वा मधुः पवित्रम्।

सनातनो विष्णुर्ज्ञानधर्मेण व्याप्नुवन् सर्वं विश्वं मन्यते जानाति, तस्मात् मधुः। मन्त्रलिंगं च—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। (यजु० ४०-५)

सर्वत्र तस्य सद्भावात् स सर्वं मनुत इति कृत्वा स मधुरुक्तो भवति। "ज्ञानमयो हि सः" इति यतः।

भवति चात्रास्माकम्—

न तत् स्थलं यत्र न सोऽस्ति सृप्तो, न कर्म तद् यन्न स वेत्ति वैद्यः।
स एव मन्वान इदं समस्तं, व्याप्नोति विष्णुर्मधुराप्तकामः ॥२१७॥

आप्तकामः=विष्णुरीश्वरः। वैद्यः=विष्णोर्नाम।

अतीन्द्रियः—१६९

इन्द्रियं नाम शब्दादिग्राहकं जीवात्मनो भोगसाधनं=करणं=अनुमापकमित्यर्थः। इन्द्र आत्मा स चक्षुरादिना करणेनानुमीयते, कुतः? न ह्यकर्तृकं करणमस्ति। इन्द्रशब्दात् षष्ठीसमर्थाल्लिंगमित्येतस्मिन्नर्थे घप्रत्ययो भवति, तत्सूत्रम् "इन्द्रियमिन्द्रलिंगमित्यादि (पा० ५-२-९३)। अस्मिन्निन्द्रियमिन्द्रादिसूत्रे इति-करणः

तनादिगण की मनु अवबोधने, दिवादिगण की मन ज्ञाने धातु से 'मनेर्धश्छन्दसि' इस उणादि सूत्र से 'उसि' प्रत्यय तथा धकार अन्तादेश होकर—मधुः शब्द साधु होता है, जो ज्ञान का तथा पवित्र का पर्य्यायवाची है।

वह सनातन विष्णु अपने ज्ञान धर्म से सर्वत्र व्यापक सारे विश्व को जानता है इसलिये 'मधुः' विष्णु का नाम हुआ। मंत्रप्रमाणः—'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः—यजुः वह भगवान् सर्वत्र है, इसलिये सबको जानता है इसलिये वह मधुः कहाता है क्योंकि वह भगवान् 'ज्ञानमय' है।

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—

न तत् स्थलं यत्र न० इत्यादि

ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां वह पहुंचा हुआ नहीं है, ऐसा कोई कार्य नहीं जिसको वह 'वैद्य' संज्ञक भगवान् जानता नहीं। वह इस सम्पूर्ण विश्व को जानता हुआ आप्तकाम विष्णु चराचर को व्याप्त कर रहा है।

अतीन्द्रियः—१६९

जीव के शब्दादि विषयों के ग्राहक अन्तः साधन इन्द्रियां कहाती हैं। इन्द्र अर्थात् आत्मा करणभूत चक्षुः आदि इन्द्रियों के द्वारा अनुमित किया जाता है, क्योंकि कोई भी करण कर्त्ता बिना कार्य साधक नहीं होता है। षष्ठी विभक्त्यन्त इन्द्र शब्द लिंग=ज्ञान अर्थ में "इन्द्रियमिन्द्रलिंग०" इस सूत्र से 'घ' प्रत्यय होता है, उस 'घ' को 'इय्' आदेश होकर इन्द्रिय शब्द

प्रकारार्थः, सति सम्भवे व्युत्पत्तिरन्येनापि प्रकारेण कर्तुमर्हा भवति, रूढेरनियमात्। वा शब्दश्च तत्र विकल्पनायाः स्वातन्त्र्यं दर्शयति। तद्यथा—इन्द्रियस्य लिंग-चक्षुः, नासा, कर्णौ जिह्वेत्यादि। चक्षुः इन्द्रियम्, इन्द्रिय वा चक्षुः, अननेव विधिना प्रतीन्द्रियं योजनीयं भवति। तद्यथा–नासा इन्द्रियं–इन्द्रियं वा नासा इन्द्रस्य जीवस्य लिंगं ज्ञापन-साधनं वा नासा, त्वक्-इत्यादि। एव समनस्कमेकादशेन्द्रियग्रामोऽत्राभिप्रेतः। सोऽयं सर्वत्र विविधशक्त्या व्यश्नुवानो भगवान् विष्णुरिन्द्रियर्मातुं लिंगितुं वा सर्वात्मना न शक्यतेऽतः सोऽतीन्द्रिय उक्तो भवति। मन्त्रलिंग च—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(ऋ० १०-१२१:४)

सर्वमेवैतत् सूक्तं प्रजापतेः कस्य महत्वज्ञापकं, तमेवंविधं-उरुचक्षसं को नु इन्द्रियैर्लिगितुं सर्वात्मना शक्नोति? न कोऽपीति कृत्वा स विष्णुरतीन्द्रिय उक्तो भवति।

प्रतिप्राणिजातीन्द्रियगोलकानां पृथक् पृथग् विन्यसनात् सर्वको हि प्राणी सर्वत्र भेदं पश्यति। तद्यथा—कुणिताद् वयमुद्व्रजामः, अपक्रामः=अपसराम इत्यर्थः। श्वा च तस्मिन् प्रसीदति। एवमेव नेत्रन्द्रियनिर्माणं प्रतिप्राणिजाति भिन्नं भिन्नं दृश्यते। मनुष्यो हि इन्द्रियगोलकानामेव भगवत्कृतानां याथार्थ्यतो ज्ञानं कर्तुं न शक्नोति पुनः कथमसौ तं व्यापकं विष्णुं शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धग्रहसाधनै-र्ज्ञानेन्द्रियैः समनस्कै-

---

साधु होता है, इस सूत्र में 'इति' शब्द प्रकार के अर्थ में है। रूढि के नियत न होने से व्युत्पत्ति किसी भी प्रकार से की जा सकती है, 'वा' विकल्प के पक्ष में स्वतन्त्र, व्युत्पत्ति वाक्य को 'स्वतन्त्र' बनाये रखता है। इन्द्र का लिंग आंख-नाक-जिह्वादि, चक्षुः इन्द्रिय है अथवा इन्द्रिय चक्षु है, इसी प्रकार सब इन्द्रियों से योजना जाननी चाहिये—नाक इन्द्रिय है, अथवा इन्द्र जीव को जतलाने वाली नाक है, त्वक् है, इत्यादि। इस प्रकार मन सहित दशेन्द्रियां अभिप्रेत हैं। इस प्रकार वह भगवान् विविध शक्तियों से विश्व में व्यापक होता हुआ इन इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता है, इसलिये वह अतीन्द्रिय कहा गया है।

मंत्र प्रमाण:—यस्येमे हिमवन्तो महित्वा—इत्यादि ऋग् यह सारा ही सूक्त उस भगवान् की महिमा का ज्ञापक है। इस प्रकार से उस 'उरुचक्षस' भगवान् को इन्द्रियों से कौन जान सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं इसलिये वह विष्णु अतीन्द्रिय कहाता है। प्रति प्राणी 'जाति' में इन्द्रियों के गोलक पृथक्-पृथक् आकार में होने से सब ही प्राणी जातियां प्रत्येक वस्तु को पृथक् रूप में देखती समझती हैं जैसे—कुणित (गले-सड़े) से हम मनुष्य परे हटते हैं, और कुत्ता उसमें प्रसाद-(आनन्द-तृप्ति) अनुभव करता है। इसी प्रकार से प्रति प्राणी जाति में नेत्र इन्द्रिय का निर्माण भिन्न-भिन्न है। जब मनुष्य इन्द्रिय गोलकों को यथार्थरूप में जानने में समर्थ नहीं तो इन इन्द्रियों के द्वारा उस व्यापक विष्णु को कैसे व्यक्त कर सकता है इसलिये अती-न्द्रिय कहाता है।

व्यंजयितुं शक्नोति। अतः सोऽतीन्द्रियः। अत एव च विष्णुः शब्देन सर्वात्मना वक्तुमनर्हः सन्-अशब्द उक्तः। चक्षुषा सर्वात्मना द्रष्टुमनर्हः सन्-अरूप उक्तः। कल्पनैषा सर्वत्र योजनीया भवति। चिन्तनेन न हि सर्वात्मना विष्णुश्चिन्त्यो भवति तस्मात् सोऽचिन्त्य उक्तो भवति। एवंविधव्याख्यानेनोपपन्नं भवति निम्नतो न्यस्तं पद्यम्—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥
(कठोपनिषद् १-३-१५)

भवति चात्रास्माकम्—

अतीन्द्रियो विष्णुरनल्पशक्तिर्न शक्यते त्वविकलेन वक्तुम्।
गायन्ति वेदास्तमुदात्तवीर्यं ध्रुवं महीयांसमशब्दरूपम् ॥२१८॥

महामायः—१७०

महती माया यस्य सोऽयं महामायः। माया शब्दो हि माङ् माने अदादिः। मानं हि नाम-अन्तर्भावः। मातीति माया। माङ् माने शब्दे च जुहोत्यादिः। मिमीते इति माया। सामान्येन अकारान्तत्वात्-श्याद्व्यधा (पा० ३-१-१४१) इत्यादिना सूत्रेण "णः" प्रत्ययः। आतो युक् चिण्कृतोः (पा० ७-३-३२) सूत्रेण युगागमः। स्त्रियाम्-जाद्यतष्टाप् (पा० ४-१-४) इति टाप्। एतस्मिन् विश्वे यावती मनुष्यस्य गम्यता

यतः वह विष्णु शब्द से नहीं बताया जा सकता इसलिये वह ब्रह्म 'अशब्द' कहाता है। आंखों से देखा न जा सकने के कारण—अरूपः कहा जाता है। इसी प्रकार—अस्पर्श अगन्ध-अतर्क अचिन्त्य—इत्यादि में भी योजना करनी चाहिये।

इस प्रकार यह निम्न पद्य उपपन्न होता है—

अशब्दमस्पर्शं०—इत्यादि कठोपनिषद्

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—

अतीन्द्रिय अनन्त शक्ति विष्णु किसी भी मनुष्य के द्वारा सर्वात्मना नहीं कहा जाता है। उसी महाशक्ति-ध्रुव तथा महत् अशब्द संज्ञक का वेद सर्वात्मना गान करते हैं।

महामायः—

महती (बड़ी) मायावाले को महामायः कहते हैं। अदादिगण की मानार्थक माङ् धातु से माया शब्द की निष्पत्ति है। जुहोत्यादिगण की मानार्थक एवं शब्दार्थक माङ् धातु से भी माया शब्द बनता है।

इन दोनों धातुओं से "श्याद्व्यध" इत्यादि सूत्र से णः प्रत्यय होकर "आतो युक् चिण्कृतोः" सूत्र से युक् आगम होकर स्त्रीलिङ्ग में 'अजाद्यतष्टाप्' सूत्र से टाप् प्रत्यय होने पर माया शब्द सिद्ध होता है।

विद्यते तां तां गम्यतां प्राप्नुवन् स मनुष्य एतस्य सकलस्य चराचरस्य कर्त्तारमन्ततोऽनुभवति । विविधाः कृतयः शुद्धसत्त्वरूपं बलादेव तं विश्वकर्त्तारं सद्भावयन्ति, मिमते मायन्त इति वा मायाः, ताश्च विविधरचनाः । ता विविधरचना यस्मिन् ता महत्यो विविधा रचना वा यस्य, स महामायो विष्णुः । स सर्वव्यापकः स्वकाभिर्महत्काभिर्विज्ञापकविद्याभी रचनाभिर्वा निजकं सद्भावं विज्ञापयन् व्याप्नोति स्वकमिति "महामायः" स विष्णुरुक्तो भवति ।

प्रसंगतो नास्ति एका माया यस्य स नैकमायः । नैकमायो महामायः । महामायो नैकमायो वा समानार्थविज्ञापकावेव । पुरूणि रूपाण्यस्येति वा पुरुरूपेऽपि समानार्थक एव महामायः, नैकरूप इति । मन्त्रलिंगं च—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । (ऋग्०)

पुरुरूपो बहुरूपः, विविधरचनासु व्याप्नुवन् स स्वं महिमानं प्रतिमनुष्यं प्रतिप्राणि वा विज्ञापयन् महामायः, नैकरूपः, नैकमायः, पुरुरूपो वा भवति ।

इस संसार में मनुष्य अपनी गम्यता (पहुंच) के अनुसार गम्यता (पहुँच) को प्राप्त करता हुवा इस चराचर जगत् के करनेवाले प्रभु को अन्त में अनुभव करता है । शुद्धान्तःकरणवाला मानव भगवान् की अनेकविध रचनाओं के कारण विश्व के रचयिता को मानने के लिये बाधित हो जाता है अथवा यों कहिये कि विविध रूप में जगत् का निर्माण ही भगवान् के अस्तित्व का भान कराता है । अतः विविध रचनायें ही माया है । महान् अथवा अनेकविध माया जिसकी अथवा जिसमें होती है उसको महामायः कहते हैं । अतः भगवान् का ही नाम महामायः हुवा ।

भगवान् अपनी महती रचनाओं से अपने रूप को व्यक्त करता हुवा सर्वत्र व्याप्त होने के कारण महामायः शब्द से व्यवहृत होता है ।

प्रसंग से नैकमायः शब्द का भी व्याख्यान जानना चाहिये । एक से अधिक मायावाले को नैकमायः कहते हैं । महामायः एवं नैकमायः समानार्थक शब्द हैं ।

बहुत से रूपवाले को पुरुरूप कहते हैं । नैकरूप एवं पुरुरूप समानार्थक शब्द हैं । उपर्युक्त चारों शब्द महामायः, नैकमायः, पुरुरूप एवं नैकरूपः समान भाव के ही द्योतक हैं ।

ऋग्वेदीय "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" मंत्र से भी उपर्युक्त वाक्य सिद्ध होता है ।

पुरुरूपः एवं बहुरूप. पर्यायवाची शब्द हैं । भगवान् विष्णु प्रत्येक मनुष्य अथवा प्रत्येक प्राणी के निर्माण में अपनी महिमा को विज्ञप्त करता हुवा महामायः, नैकमायः, पुरुरूपः एवं नैकरूपः संज्ञा को धारण करता है ।

हृदय रचना को देखने से मनुष्यादि प्राणियों के निर्माता का महान् विज्ञानबल स्पष्ट होता है । जिस जीव में रक्त का संचार होता है उसी में हृदय है । भाष्यकार स्वयं आयुर्वेदशास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित है । अतः उसने शवच्छेदन करके प्रत्यक्ष देखकर ऐसा लिखा है ।

अत्र "महामाय" इति नाम्नो व्याख्याप्रसंगेन महामायः, नैकमायः, पुरुरूपः, इति च व्याख्याता भवन्ति ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

स सर्वविद्यो निजकाभिरग्रचो, मायाभिराप्नोति बहुत्वमत्र ।
तं नैकरूपं पुरुरूपकं वा विज्ञा महामायमुतामनन्ति ॥२१९॥
स व्याप्नुवन् विश्वमिदं समस्तं, न यत्र मर्त्यस्य मनोऽपि याति ।
व्यनक्ति रूपैर्विविधैः स्वरूपं विष्णुर्महामाय उ नैकमायः ॥२२०॥

निजकाभिर्निजाभिः, कः प्रत्ययोऽत्र स्वार्थे । पुरुरूपकं पुरुरूपं स्वार्थेऽत्र कः प्रत्ययः । महामायः सूर्योऽपि तस्यैव महामायस्य शक्त्या पुरुरूप विश्वं बिभर्त्तीति कृत्वा । तदर्थे मन्त्रलिंगं च—

न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः ।
नारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः ॥
(ऋग्० २-३८-९)

महोत्साहः—१७१

महच्छब्दे सान्तमहतः संयोगस्य (पा० ६-४-१०) इत्यनेन महत उपधाया दीर्घत्वं भवति सर्वनामस्थाने परतोऽसम्बुद्धौ । महान्–उत्=उच्चैः, साहः मर्षः ।

महामायः शब्द के व्याख्यान में नैकमायः पुरुरूप एवं नैकरूपः शब्दों का व्याख्यान भी हो गया है ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने दो श्लोकों में एवं व्यक्त करता है:—

सारी विद्याओं का ज्ञाता वह भगवान् विष्णु अपनी माया से अर्थात् अपनी अनेक रचनाओं से बहुत्व को प्राप्त होता है । पुरुरूप अथवा नैकरूप उसको पण्डितजन महामायः कहते हैं । वह परमेश्वर इस सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता हुआ मनुष्य के मन की पहुंच से भी अधिक अनेक प्रकार की रचनाओं का निर्माण करके अपने रूप को प्रकट करता है । अतः उसको महामायः अथवा नैकमायः कहते हैं ।

उसी महामाय की शक्ति से महामाय सूर्य भी बहुरूप वाले इस संसार का भरण पोषण करता है । ऋग्वेदीय "न यस्येन्द्रो वरुणो न इत्यादि मंत्र से प्रथम लिखित वाक्य सिद्ध होता है। सवितारं देवं का अर्थ सूर्य को अथवा भगवान् को समझना चाहिये । "सविता" शब्द विष्णु के नामों में आता है ।

महोत्साहः—

महोत्साहः शब्द का विच्छेद महान्+उत्+साहः है । "सान्तमहतः संयोगस्य" सूत्र से महत् शब्द की उपधा को सम्बुद्धि भिन्न सर्वनाम संज्ञक सु, औ, जस् इत्यादि के परे दीर्घ हो जाता है ।

षह मर्षणे भौवादिकः चौरादिकश्च। ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः (पा० ३-१-१४०) इत्यनेन णः प्रत्ययः। पक्षेऽच्। तेन सहः, साहो वा समानार्थः। महानुच्चैः साहो मर्षो यस्य, यस्मिन् वा स महोत्साहः। अथवा महान्तं-उच्चैस्तमं साह सहते, साहयति "आधृषाद्वा" नियमेन णिचो विकल्पः। सहति वा स "महोत्साहः" वर्त्तमानप्रधानः। मन्त्रलिंगं च—

नाक्षस्तप्यते भूरिभारः। (ऋग् १-१६४-१३)

अश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षः परमेश्वरः सूर्यो वा, सग्रहोपग्रहनक्षत्रः। अथवा न क्षीयत इत्यक्षः परमेश्वरः। अक्षरोऽपि स एव। मन्त्रलिंगं च—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥
(ऋग्० १-१६४-३९। अथर्व० ९-१०-१८)

महोत्साहमधिकृत्य मन्त्रलिंगं च—

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥
(ऋग्० १-१६४-३६)

लोकेऽपि च पश्यामः--प्रति शरीरमात्मा सनादेव स्वं शरीरं वहन्नोद्विजते। न हि सूर्यादयो ग्रहा सनक्षत्रा विश्वमिदं भ्रियन्तोऽवसीदन्ति। सर्वेषामुत्साहवतां

भ्वादिगण एवं चुरादिगण की मर्षणार्थक षह धातु से एव दिवादिगण की तृप्त्यर्थबोधक षह धातु से "ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः" सूत्र से ण् प्रत्यय एवं पक्ष में अच् प्रत्यय होने पर एक ही अर्थ बोधक सहः तथा साहः शब्द दोनों सिद्ध होते हैं।

जिसकी बड़ी सहनशीलता है अथवा जिसमें बड़ी सहनशीलता है उसको महोत्साह कहते हैं।

महान् उच्चतम सूर्यादिग्रहों को वश में रखनेवाले अथवा सहनेवाले को महोत्साह कहते हैं। इसी कथन की चरितार्थता "नाक्षस्तप्यते भूरिभार" ऋग्वेदीय मंत्र से है। व्यापक को अक्ष कहते हैं। ईश्वर एवं ग्रहोपग्रह युक्त सूर्य अक्ष शब्द से यहां गृहीत है।

सर्वत्र व्याप्त अक्ष संज्ञक भगवान् अथवा नक्षत्रोपनक्षत्र सहित सूर्य सम्पूर्ण भार का वहन करते हैं। कभी भी थकावट का अनुभव नहीं करते हैं अथवा स्थानच्युति कदापि नहीं है।

नष्ट न होनेवाले को भी अक्ष; कहते हैं। अक्षर भी समानार्थक है।

ऋग्वेदीय एवं अथर्ववेदीय "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" इत्यादि मंत्र से उपर्युक्त कथन सिद्ध होता है।

ऋग्वेदीय "सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो"—इत्यादि मंत्रसे महोत्साह धर्म का स्पष्टीकरण है।

भगवान् के महोत्साहधर्म को हम लोक में भी देखते हैं। प्रारम्भ से ही प्रत्येक शरीर में आत्मा अपने शरीर का वहन करती है। कभी भी जीवात्मा इस पार्थिव शरीर के वहन से

योऽधिष्ठाता स महोत्साहो भगवान् वरेण्या देवः। सहत इति सहः। मन्त्रलिंगं च—

सहोऽसि सहो मयि धेहि । (यजु० १९-९)

खादीनि पंचमहाभूतानि तेन महोत्साहेन सहेन वा घृतानि स्वं स्वं धर्मं प्रमादं विना सहन्ते, तद्विकाराश्च स्वं स्वं कार्यं कुर्वाणा अजरास्तिष्ठन्तीति कृत्वा तं सर्वस्य धर्त्तारं महोसाहं विष्णुं व्यञ्जन्ति।

अत्र महोत्साहव्याख्याप्रसंगे सहः ५३ तमे श्लोके ३६८ संख्याकं नाम इत्यपि व्याख्यात भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्महोत्साह उ वा सहोऽसौ, सोढं महोत्साहवता समस्तम् ।
बिभ्रत् सनादेव स भूरिभारः, कदाचिदप्याश्रयते न तापम् ॥२२१॥

तापम्–उद्वेजनम् ।

महाबलः— १७२

महान् बलोऽस्यास्मिन्निति वा स महाबलः। बल प्राणने, धान्यावरोधे च भौवादिकः। ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः (पा० ३-१-१४०) इत्यनेन णः प्रत्ययो वा

थकती नहीं है। नक्षत्रो नक्षत्र सहित सूर्यादिग्रह भी इस विश्व को धारण करते हुये उद्विग्न नहीं होते हैं अर्थात् थकते नहीं हैं।

सहन करनेवालों के सहनेवाले को महोत्साहः कहते हैं।

यजुर्वेद के "सहोऽसि सहो मयि धेहि" मंत्र से भगवान् का सहन गुण सिद्ध होता है।

उस महोत्साह संज्ञक भगवान् के द्वारा धारण किये हुये आकाश आदि पांच भूत अपने-अपने धर्म को प्रमाद के बिना ही सहते हैं। इन भूतों के विकार अपने-अपने कार्य को करते हुये अजर रूप से रहते हुये उन सबके धारण करनेवाले महोत्साह संज्ञक भगवान् को व्यक्त करते हैं एवं अपने २ धर्म को प्रमाद के बिना सहते हैं अर्थात् इन्द्रियां अपने २ विषय को निश्चितावधि ग्रहण करती हैं।

इस महोत्साह शब्द की व्याख्या प्रसंग से ५३ वें श्लोक में पठित ३६८ वें सहः नाम का व्याख्यान भी हो गया है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक में एवं व्यक्त करता है:—

भगवान् विष्णु ही महोत्साहः एवं सहः संज्ञा को धारण करता है। उसी भगवान् ने सम्पूर्ण विश्व को सहा है अर्थात् धारण किया है। वही महोत्साह संज्ञक भगवान् सृष्ट्यारम्भ से ही-भूरिभार को धारण करता हुवा कभी भी ताप को (कष्ट को) अनुभव नहीं करता है।

महाबलः—१७२

महान् बल है इसका, इसमें वह महाबलः कहाता है। प्राण तथा धान्यावरोध अर्थ में वर्तमान भ्वादिगण की 'बल' धातु से "ज्वलितिकसन्तेभ्यो ण" सूत्र से 'ण' प्रत्ययहोता है, पक्ष

भवति। पक्षेऽच्। तेन बलः, बालो वा समानार्थः। प्राणनं जीवनम्। प्राण्यते जीव्यतेऽनेनेति बलम्। करणस्य कर्तृत्वोपचारादच् प्रत्ययः।

बलति प्राणिति विश्वं बलम्। सर्वेषां बलानां स एव महाबलोऽधिष्ठातेति कृत्वा स महाबलो विष्णुरुक्तो भवति। यत् यदस्य प्राणनं तत् तत् तस्य बलमिति। तद्यथा—विद्याबलम्, विद्या बलति प्राणितीति कृत्वा, अनेनैव विधिना क्षात्रबलम्, धनबलम्। सेनाबलम्। अन्नबलम्। योगबलम्। पशुबलम्। भूमिबलमित्यादि। मन्त्रलिंगं च—

> *इन्द्रो ब्रह्मेन्द्रः ऋषिरिन्द्रः पुरू पुरुहूतः।*
> *महान् महीभिः शचीभिः॥* (ऋग्० ८-१६-७)

शची सेना।

> *इन्द्रो विश्वैर्वीर्यैः पत्यमान उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा।*
> *पुरंदरो वृत्रहा धृष्णुषेणः संगृभ्या न आ भरा भूरि पश्वः॥*
> (ऋग० ३-५४-१५)

भवति चात्रास्माकम्—

यद् यद् बलं यस्य जगत् प्रसिद्धं, तत् तत् बलं तस्य महाबलस्य।
स धृष्णुषेणः, स महान् शचीभिर्व्याप्नोति विश्वं स बलः स विष्णुः॥२२२॥

अत्र व्याख्याप्रसंगे 'सुषेणः' इत्यपि च व्याख्यातं भवति। सुष्ठु शोभना-धृष्णुगुण वती सेना यस्य स धृष्णुषेणः सन् सुषेण इत्युक्तो भवति। ५४० तमम्।

सर्वाः प्राणिजातयः पंचभूतविकारा वा तदाज्ञया उपद्रुता महान्तमपि हन्तुं क्षमा भवन्ति। तदाज्ञया सर्वा प्राणिजातयः परस्परमुपकाराय वा समर्था भवन्ति। लोके

में 'अच्' होकर बलः और बालः शब्द समानार्थक साधु होते हैं। प्राणन का अर्थ जीवन। जिससे जीवन प्राप्त हो 'बल' कहाता है। करण को कर्तावत् मानकर 'अच्' प्रत्यय होता है। जो विश्व को प्राण देता है वह 'बल' कहाता है। सब बलों का वह ही भगवान् अधिष्ठान है, इसलिये विष्णु महाबलः कहाता है। जो-जो जिसको प्राण देता है वह वह उसका बल है। विद्या बल देती है अथवा प्राण देती है जिनको, उनके लिये विद्या बल है। इसी प्रकार से "क्षात्रबल", धनबल, सेनाबल, अन्नबल, योगबल, पशुबल, भूमिबल इत्यादि।

मंत्रप्रमाण:—इन्द्रो ब्रह्मेन्द्रो ऋषिरिन्द्रः पुरू पुरुहूतः महान् महीभिः शचीभिः॥ ऋग्।

शची शब्द सेना का पर्य्यायवाची है। इसी प्रकार—इन्द्रो विश्वैर्वीर्यैः पत्यमान— इत्यादि ऋग्

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—यद् यद् बलं यस्य जगत् प्रसिद्धं० इत्यादि। जिस-जिसका जो जो बल जगत् प्रसिद्ध है वह वह सब प्रकार का बल उस महाबल संज्ञक भगवान् का है, वह 'धृष्णुषेण' है वह अपनी महती सेनाओं के बल से महान् अर्थात् महाबली है वह विष्णु अपने बल से इस सारे विश्व को व्याप्त कर रहा है।

दृष्टाया सेनाया अप्युभयविधं कर्म दृश्यते, शत्रुनाशनं स्वपक्षरक्षणं च। अत एव च स पृतनाषाट् उक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व। (अथर्व० ५-१४-८)

भवति चात्रास्माकम्—

स धृष्णुषेणः स सुषेण उक्तो विश्वं समस्तं स हि पाति हन्ति।
इन्द्रो ह राजा स चराचरस्य, तमेव विष्णुं प्रणमन्ति सेनाः ॥२२३॥

महाबुद्धिः—१७३

बुध ज्ञाने दैवादिकः। तस्मात् "स्त्रियां क्तिन्" (पा० ३-३-९४) इति सूत्रेण भावे क्तिन् प्रत्ययः। बोधनमेव बुद्धिः। महद् बोधनं ज्ञानं यस्य स महाबोधनो विष्णुर्महाबुद्धिरित्युक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥
(यजु: ३१-७)

यज्ञो वै विष्णुः।

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्। (अथर्व० ५-३-१)

इस व्याख्या में "सुषेण" नाम भी व्याख्यात हो जाता है अच्छे घर्षण करने वाली सेना है जिसकी वह "धृष्णुषेण" होता हुआ "सुषेणः" कहाता है। सुषेण ५०० वां नाम है। सब प्रकार के प्राणियों की जातियां—तथा पंच महाभूतों के विकार वायु-अग्नि जल आदि उसकी आज्ञा से उपद्रव को प्राप्त होकर बड़े से बड़े को नष्ट करने में समर्थ हैं।

उसकी आज्ञा से सब प्राणी जातियां परस्पर उपकार करने में भी समर्थ होती हैं। लोक में भी हम सेना के दोनों ही कर्म देखते हैं शत्रुपक्ष का नाश करना, तथा अपने पक्ष का संरक्षण करना, इसीलिये भगवान् 'पृतनाषाट्' कहाता है।

मंत्र प्रमाण:—अग्ने पृतनाषाट् पृतना: सहस्व ॥ अथर्व

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—धृष्णुषेणः स सुषेण उक्तः—इत्यादि

वह धृष्णुषेण है वह सुषेण है, वह ही सारे विश्व की रक्षा करता है तथा सारे विश्व का नाश करता है। वह इन्द्र संज्ञक भगवान् ही इस चराचर का राजा है, इसलिये उसी विष्णु को सब सेनायें प्रणाम करती हैं।

महाबुद्धि:—१७३

ज्ञान अर्थ में वर्त्तमान दिवादिगण की 'बुध' धातु से स्त्रीलिंग भाव में 'स्त्रियां क्तिन्' सूत्र से क्तिन् प्रत्यय होने पर "बुद्धिः" शब्द साधु होता है। महत् बोधन ज्ञान है जिसका वह महाबोधन विष्णु "महाबुद्धि" कहाता है।

मंत्र प्रमाण:—तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः०—इत्यादि—यजु:। यज्ञ शब्द विष्णु का वाचक है।

न त्वदन्यः कवितरो०—इत्यादि अथर्व।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् । (अथर्व० १-१६४-३९)

यदक्षरं परं व्योम तद् ब्रह्म, स विष्णुः, स महाबुद्धिरिति ।

"धामानि वेद भुवनानि विश्वा" । (यजु० ३२-१०)

"विश्वानि देवः वयुनानि विद्वान्" । (यजु० ४०-१६)

इत्यादि मन्त्रलिंगं बहुत्रास्ति ।

यदेतत् प्रतिप्राणि बुद्धितत्त्वं व्यवस्थितं दृश्यते, तत्तस्य महाबुद्धेर्विष्णोरेव ज्ञानरूपेण व्यापनं दर्शयति । नक्षत्रादीनां यथास्थानावस्थानं, सूर्यादिग्रहोपग्रहाणां यथाव्यवस्थं निवेष्टनं च तमेव महाबुद्धि विष्णु व्यंक्तेः । तस्य महाबुद्धेरनुकरणमात्रमेव कुशलशिल्पिनो निजके यन्त्रे यन्त्रोपयन्त्रविन्यासेनेन स्वकं ज्ञानमाविष्कुर्वन्ति ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्महाबुद्धिरनन्तविद्यो, बुद्धेर्वितानं तत एव लोके ।
ज्ञानातियोगाद् ध्रियते स विश्वं, जीवेन कर्माणि च बुद्धियोगात् ॥२२४॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्– ऋग् जो परम व्योम–परम रक्षक है, वह ब्रह्म है, वह विष्णु है, वह महाबुद्धिः है ।

"धामानि वेद भुवनानि विश्वा"—यजु:

विश्वानि देवः वयुनानि विद्वान्"—यजुः

इस प्रकार बहुत से मन्त्र उस ब्रह्म के महाज्ञानतत्त्व को बतलाते हैं । जो प्रत्येक प्राणी के बुद्धि तत्त्व की व्यवस्था दीखती है वह उस महाबुद्धि संज्ञक विष्णु की ज्ञान रूप से सर्वत्र व्यापकता को प्रकट करती है । स्थावर योनियों में भी बुद्धि तत्त्व का दर्शन होता है–जैसे–विद्युत् से स्तनयु (कडक) में का मुरझाना, लज्जावन्ती का स्त्री हस्त प्रदत्त जल सिंचन से बढ़ना तथा पुरुष स्पर्श से तथा पुरुष हस्तकृत जल सिंचन से मुरझाना, इस प्रकार बड़े बड़े वृक्षों में भी बड़े बड़े विचित्र कर्त्तव्य देखे जाते हैं जैसे—प्राणियों का रक्त चूषण करना । विपासोदय में अपने कन्दुली (कटोरी) सम बने पत्रों से नदी के तीर से जल लेकर जड़ों में उढेलना इत्यादि–उसी महाबुद्धि भगवान् के प्रकाशक उदाहरण हैं जिसने इस प्रकार ज्ञान की स्थापना चतुर्विध सृष्टि में की है । नक्षत्रादि को यथास्थान रखना तथा सूर्यादि ग्रहोपग्रहों का नियत कक्षाचक्र में बनाये रखना इत्यादि, इसी प्रकार शरीर के अंगों को यथास्थान बांधे रखना तथा क्रियाशील बनाये रखना, उसी महाबुद्धि भगवान् का प्रकाशात्मक कर्म है । इसी महाबुद्धि भगवान् का अनुकरण मात्र मनुष्य अपने यन्त्रों में करता है, उस महायंत्र को उपयंत्र नेता (चालक) को बोधन देते रहते हैं उन यन्त्रोपयंत्रों का बोधन बनानेवाले के महत् बुद्धि कौशल को व्यक्त करता है । यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—

वह विष्णु ही महाबुद्धि तथा अनन्त विद्यावाला है, उस ही महाबुद्धि से विश्व में यत्र तत्र सर्वत्र ज्ञान प्रसार हुआ है । वह महाबुद्धि अपने ज्ञानातिशय से विश्व की यथास्थान स्थिति को

ध्रियन्त इति शेषः। ज्ञानरहितस्य कर्मणां विकृतत्वेन दृष्टत्वात्।

महावीर्यः—१७४

वीर्यं बलम्। महद् वीर्यं यस्य यस्मिन् वा स महावीर्यः। वीर्य-शब्दो हि—वीर विक्रान्तौ चुरादिरदन्तः। तस्माण्णिच्, "अतो लोपः" (पा० ६-४-४८) सूत्रेण अल्लोपः, "अचो यत्" (पा० ३-१-९७) यत्-णेर्लोपश्च। तेन "वीर्यं" शब्दः बलपर्याये साधुर्भवति। मन्त्रलिंगं च—

वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि । (यजु० १९-९)

यद्यदत्र विश्वे वीर्यवद् दृश्यते, तत्तेनैव वीर्यधर्मेण व्याप्नुवता विष्णुना विश्वमिदं यथावश्यकं वीर्यवत् क्रियते, तस्मात् स महावीर्य उक्तो भवति। वीर्यवतामधिपतिरिति वा। न हि कश्चित् महावीर्यवन्तं सूर्यं विष्णुं वा विना जगतो निर्माणं धारणं वा कर्त्तुं क्षमः स्यात्। मन्त्रलिंगं च—

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
(अथर्व० १०-७-१२)

भवति चात्रास्माकम्—

स वीर्यवान् विष्णुरनन्तवीर्यः, लोकान् समस्तान् स्ववशे विधत्ते ।
यद् वीर्यमात्रं तदु तस्य वीर्यं, दिष्टो महावीर्यपदेन विष्णुः ॥२२५॥

धारण किये हुए हैं उसी भगवान् का अनुकरण मात्र ही जीवन का कर्म है, अर्थात् जीव अपने कामों को बुद्धि से विचार पूर्वक करता है।

महावीर्यः—१७४

वीर्य शब्द बल का पर्य्यायवाची है। महत् वीर्य बल है जिसका, जिसमें वह महावीर्य कहाता है। विक्रान्त (शौर्य प्रकाशन) अर्थ में वर्त्तमान चुरादिगण की 'वीर' धातु से-णिच्, णिच् परे अकार का लोप-पुनः "अचो यत्" सूत्र से यत् प्रत्यय होकर णि का लोप होकर वीर्यः शब्द साधु होता है।

मंत्र प्रमाणः—वीर्यमसि वीर्यंमयि धेहि। यजुः

इस विश्व में जो कुछ शक्तियुक्त दीखता है वह सब वीर्य धर्म से सर्वत्र व्यापक विष्णु द्वारा ही शक्तियुक्त किया गया है, इसलिये वह भगवान् स्वयं महावीर्य कहाता है, अथवा शक्तिशालियों का वह स्वामी होने से भी महावीर्य कहाता है। कोई भी उस महाशक्तिशाली सूर्य अथवा विष्णु के बिना इस विश्व को बनाने अथवा धारण करने में समर्थ नहीं हो सकता है।

मंत्र प्रमाणः—यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्न०—इत्यादि अथर्व

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है - स वीर्यवान् विष्णुरनन्तवीर्यः इत्यादि।

वह अनन्त शक्तिशाली शक्तिस्वरूप विष्णु अपनी शक्ति से समस्त विश्व को अपने वश में

महाशक्तिः—१७५

शक्तिः, शक मर्षणे दिवादिः। स विभाषा श्यनं प्राप्नोति, शक्लृ शक्तौ सौवादिकः। शक्तिमर्षणं सहनमिति, तत्र शक-धातोः—भावे स्त्रियां क्तिन्, तेन शक्तिः, बलं वा। महती शक्तिर्यस्य स महाशक्तिर्विष्णुः। महोत्साहो महाशक्तिर्वा समानार्थौ धातुभेदाच्छब्दभेदः। यन्महोत्साहव्याख्याने, महावीर्यपदव्याख्याने चोक्तं तत् सर्वं महाशक्तिव्याख्यानेऽपि संगच्छते।

भवति चात्रास्माकम्—

> स मर्षणः शक्तिरसौ सहः सः, विष्णुर्महाशक्तिरिहास्ति गीतः।
> न शक्तिमद् दृष्टिरयेऽस्ति किंचित् तस्मात्परं शक्तिमयं च यत् स्यात् ॥२२६॥

स महाशक्तिर्विष्णुः स्वकेन शक्तिरूपेण धर्मेण विश्वमिदं व्याप्नोति।

महाद्युतिः—१७६

द्युत दीप्तौ, तस्मात् "इगुपधात् कित्" (उणा० ४-१२०) इत्यनेन "इ" प्रत्ययः किच्च सः। द्योतत इति द्युतिः। महांश्चासौद्युतिर्महतां द्युतिमतां सूर्यादीनां

रखे हुए है। जिसमें जो वीर्य (शक्ति) है वह उस भगवान् की ही शक्ति है इसलिये "महावीर्य" नाम से भगवान् विष्णु कहा गया है।

महाशक्तिः—१७५

शक्तिः—शब्द में मर्षण (सहना) अर्थ में वर्त्तमान दिवादिगण की 'शक' धातु से 'श्यन्' प्रत्यय विकल्प से होता है। शक्ति अर्थ में वर्त्तमान स्वादिगण की शक्लृ धातु से स्त्रीलिंग भाव में क्तिन् प्रत्यय होकर "शक्ति" शब्द साधु होता है।

शक्ति बल का पर्य्याय वाची है शक्ति बल है, अथवा बल शक्ति है ये दोनों समानार्थक हैं। महती शक्ति है जिसकी वह महाशक्तिः विष्णु कहाता है। महाशक्ति तथा महोत्साह ये दोनों शब्द समान अर्थ वाले हैं केवल इनमें धातु का भेद ही शब्द के स्वरूप को भिन्न कर रहा है। जो कुछ हमने महोत्साहः नाम के व्याख्यान में तथा महावीर्यः नाम के व्याख्यान में लिखा है, उस व्याख्यान को इस "महाशक्ति" नाम पर भी समझना चाहिये।

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—स मर्षणः शक्तिरसौ० इत्यादि

जो विष्णु मर्षणः-शक्तिः—तथा 'सहः' नामों से कहा गया है वह ही विष्णु 'महाशक्ति' नाम से कहा जाता है। इस विश्व में ऐसा कोई भी शक्तियुक्त नहीं है जो उस महाशक्तिः विष्णु से अधिक शक्तिशाली हो।

वह महाशक्ति विष्णु अपने शक्ति रूप धर्म से इस विश्व को व्याप्त कर रहा है।

महाद्युतिः—१७६

द्युतिः शब्द से दीप्ति अर्थ में वर्त्तमान स्वादिगण की द्युत धातु से 'इगुपधात् कित्' उणादि सूत्र से 'इः' प्रत्यय कित् होता हुआ होता है। जो प्रकाशित हो रहा है वह "द्युतिः"

द्योतयिता वा। स महाद्युतिः विष्णुः। सर्वत्र या द्युतिर्दृश्यते सा द्युतिस्तस्यैव भगवतः, स द्युति-रूपेण सर्वत्र विराजमान आस्ते। मन्त्रलिंगं च—

इन्द्रः सूर्यमरोचयत्। (ऋग्०)

रुच दीप्तौ, द्युत दीप्तौ, द्वयोरर्थस्तु समानः, अरोचयत् समानो भवति अद्योतयत् इत्यनेन।

भवति चात्रास्माकम्—

यद् दीप्तिमज्ज्ञानदृशास्ति लभ्यं, प्रत्यक्षतो वा नयनेन दृश्यम्।
महाद्युतिर्द्योतयते समस्तं व्याप्नोति दीप्त्या भुवनानि विष्णुः॥२२७॥

मन्त्रलिंगं च—

यस्ते दिवि सूर्ये महिमा सम्बभूव।
तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्यः॥ (यजु० २३-२)
यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव।
तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा॥ (यजु० २३-४)
युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि॥ (यजु० २३-५)
नव भूमिः समुद्रा उच्छिष्टेऽधिश्रिता दिवः।
आसूर्यो भात्युच्छिष्टे अहोरात्रेऽपि च तन्मयि॥ (अथर्व० ११-७-१४)

कहाता है। प्रकाशयुक्त ग्रह नक्षत्रों का भी जो द्योतयिता (प्रकाशयिता) है वह विष्णु महाद्युतिः कहाता है।

इस विश्व में न्यून अथवा अधिक जो दीप्ति-प्रकाश तेजस्विता-रोचिष्णुता है वह सारी की सारी उसी महाद्युति का अंश रूप में सर्वत्र व्यापन हो रहा है।

मंत्र प्रमाण:—इन्द्रः सूर्यमरोचयत्॥ ऋग्

रुच दीप्तौ तथा द्युत् दीप्तौ दोनों धातुओं का अर्थ समान ही है—अरोचयत् अथवा अद्योतयत् समान ही अर्थ विज्ञापक हैं। यहां हमारा यहां संक्षेप श्लोक है—

यद् दीप्तिमज्ज्ञानदृशास्ति—इत्यादि

जो कुछ दीप्ति युक्त प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में है उस सबको "महाद्युति" संज्ञक भगवान् विष्णु ही प्रकाशयुक्त कर रहा है उसकी दीप्ति से लोक-लोकान्तर प्रकाशित हो रहे हैं।

मंत्रप्रमाण:—यस्ते दिवि सूर्ये महिमा सम्बभूव—इत्यादि यजुः

यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि०—इत्यादि यजुः
युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं०—इत्यादि यजुः
नव भूमिः समुद्रा—इत्यादि अथर्वः

अनिर्देश्यवपुः—१७७

निर्देशो हि नाम-इदं तद् इत्यादिरूपेण विज्ञापनं, इदं तत् तदिदमित्यादिरूपेण वा ज्ञाप्यस्य प्रकाशनम्। न निर्देष्टुमर्हमनिर्देश्यम्, वपुः, अर्तिहृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् (उणा० २-११७) इति सूत्रेण "उसिः" प्रत्ययः। वपति बीजादिकमनेनेति वपुः। वाप इति बीजविकिरणे साधनीभूतं कृषकानाम्, वपुः शरीरम्, वपति बीजं स्त्रीक्षेत्रे मनुष्यः शरीरसाधनेन, साधनं करणम्, तच्च लिंगं, शुक्रप्रसेकनलिका शिश्नपदवाच्यं वा। तत्र मन्त्रलिंगं च—

पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः॥
(अथर्व० १४-२-३८)

जनक एव वापः। बीजप्रसेक्ता, वपुर्वा। वपुर्वक्तुमर्हं सत् प्राकृतैरसंस्कृतवाग्विषयैरुच्चारणसौकर्यात् 'वपुः' अस्य स्थाने बापू, तथा च 'वापः' अस्य स्थाने बाप इत्युच्यते। अनिर्देश्यो वपुर्बीजवापकोऽस्य चराचरस्येति कृत्वा "अनिर्देश्यवपुः" विष्णुरुक्तो भवति।

अपरथा च व्याख्यानम्—न हि निर्देष्टुं शक्यं वपुरस्येति कृत्वानिर्देश्यवपुर्विष्णुरुक्तो भवति। सर्वत्र व्यापकत्वात्तस्य। इदं विराट् शरीरं ब्रह्मणो वपुः। तथा चाथर्वणि—

अनिर्देश्यवपुः—१७७

अंगुलिका संकेत करके—'यह" "वह" का संकेत करना—"निर्देश" कहाता है, जो निर्देश करने योग्य न हो उसे "अनिर्देश्य' कहते हैं। वपुः शब्द में बीज बीजन तथा काटना अर्थ में वर्त्तमान "वप" धातु से "अर्तिहृवपियजि०' —इत्यादि उणादि सूत्र से "उसिः" प्रत्यय होकर "वपु" शब्द साधु होता है। जिसके द्वारा बीज बीजे जाते हैं वह वपुः कहाता है, लोक में कृषकजन इस साधनभूत को "वाप" कहते हैं। वपुः शरीर का पर्य्यायवाची है। मनुष्य शरीरसाधन से क्षेत्रभूत स्त्री में बीज बीजता है। साधन-करण को कहते हैं। वह करण लिंग है जो कि शुक्रप्रसेकनलिकायुक्त शिश्न कहाता है।

मंत्रप्रमाणः—पूषञ्छिवतमामेरयस्व०—इत्यादि—अथर्व।

जनक ही वाप है। बीज का प्रसेक करनेवाला "वपुः" कहाता है।

प्राकृत=संस्कृत वाणी में प्रमाद युक्त मनुष्य वपु—न कहकर जनक के अर्थ में बापू, तथा 'वाप' के स्थान पर "बाप" कहने लग गये हैं।

अनिर्देश्य भगवान् इस विश्व का बीजवापक है इसलिये-भगवान् विष्णु "अनिर्देश्यवपुः" कहाता है। यतः भगवान् सर्वव्यापक है। उस ब्रह्म का यह "विराट्" शरीर है। अथर्ववेद मे कहा भी है— या आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह।

या आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे ।
अथास्येतरमात्मानं देवा प्रायच्छन्नग्नये ॥
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥
प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् विगच्छति ।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन निषेवते ॥
अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तराहितम् ।
तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥
(अथर्व० ११-८-३०-३४)

को नाम मनुष्यो भगवतो विराजं शरीरं वपुर्वा सर्वात्मना वक्तुमर्हति ? न कोऽपीति कृत्वा "अनिर्देश्यवपुः" स विष्णुरुक्ता भवति सर्वत्र चराचरे विद्यमानत्वात् तस्य ।

सर्वकमेतत् सूक्तं मनुष्यशरीरवर्णनात्मकमलंकारपुरःसरमस्ति । जिज्ञासुभिर्ज्ञानाप्तये नूनं तदवलोक्यम् ।

अन्यत्र च—

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ।
(अथर्व० ११-७-१५)

शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ।

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं० इत्यादि ।

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते—इत्यादि ।

अद एकेन गच्छति० इत्यादि ।

ऐसा कौनसा मनुष्य है जो भगवान् के विराट् शरीर का सम्पूर्णरूप में दर्शन कर सके ? उत्तर में कहना पड़ता है कि कोई भी नहीं। वह सारे चराचर में व्यापक होने से 'अनिर्देश्यवपु:" विष्णु कहाता है । अथर्ववेद का यह सारा सूक्त मनुष्य की शरीर रचना का अलंकारात्मक सुन्दर वर्णन है । शरीर विद्या जिज्ञासुओं को यह सूक्त अवश्य ही पढना चाहिये ।

और भी "उच्छिष्टे नाम रूपं०—इत्यादि । अथर्व

एतत् सर्वकं सूक्तमुच्छिष्टं व्याख्याति ।

भवति चात्रास्माकम्—

वपुर्विराट् तस्य महेश्वरस्य तत् कोऽत्र शक्नोति गिरा प्रवक्तुम् ।
विराजते सर्वक एव विश्वे रामोऽस्त्यनिर्देश्यवपुः स विष्णुः ॥२२८॥

रामो विष्णोर्नामसु ३९४ तमं पठिताऽत्र संग्रहे ।

एतद् व्याख्याप्रसंगे "जन्ममृत्युजरातिगः" श्लोके नामसंख्या ६६६ इत्यपि नाम व्याख्यातं भवति ।

अतिगच्छतीत्यतिगः, जन्म-उत्पत्तिः प्रादुर्भावो वा, मृत्युर्मरणं, स्वकारणे परिणमनं वा, जरा वयसो हानिः । जीर्णता वा, जन्म-मृत्यु-जरा अतिगच्छतीति-जन्ममृत्युजरातिगः । अत्युपपदे डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते, इति वार्तिकेन गमेर्डः प्रत्ययः । अन्तात्यन्ताध्व० पा० ३-२-४८ इत्यादिसूत्रे वार्त्तिकम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुं जनुर्नापि जरा न मृत्युः, स्पृशन्ति वैराजवपुर्यतः सः ।
स सर्वगः विश्वमदः ससर्ज, युवा स विष्णुर्न कुतश्चनोनः ॥२२९॥

यह सारा सूक्त "उच्छिष्ट" का व्याख्यान करता है ।

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—विराजते सर्वक एव विश्वे० इत्यादि ।

उस महेश्वर का शरीर "विराट्" अर्थात् सम्पूर्ण विश्व है, उस विराट् शरीर को कौन अपनी वाणी से "इदमित्थं" रूप में वर्णन कर सकता है। वह राम सञ्ज्ञक भगवान् विष्णु सारे शरीर में 'अनिर्देश्य' वपु रूप से वर्त्तमान हो रहा है। 'राम' नाम विष्णु के नामों में इसी विष्णुसहस्रनाम में पठित है।

इस अनिर्देश्यवपुः नाम की व्याख्या में "जन्म मृत्यु-जरातिगः" ३९४ श्लोक का ६६६ वां नाम भी व्याख्यात हो जाता है। अतिगः कहते हैं लांघ जानेवाले को, जन्म कहते हैं—उत्पत्ति-अथवा प्रादुर्भाव को, मृत्यु-कहते हैं 'मरण' को अथवा अपने कारण में लीन होजाना। 'जरा' कहते हैं—आयु के व्यतीत होजाने को बताने वाली झुर्रियां अथवा अन्य लक्षणों से युक्त शरीर अवस्था-जन्म-मृत्यु-जरा को जो लांघ जाता है अर्थात् प्राप्त ही नहीं करता वह "जन्ममृत्युजरातिगः" कहाता है। अतिगः शब्द में-अति उपसर्ग के पूर्व में रहते 'गम्' धातु से—डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते वार्तिक से 'ड' प्रत्यय होता है—वह वार्तिक अन्तात्यन्ताध्व० इत्यादि सूत्र पर पठित है। यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—

विष्णुं जनुर्नापि जरा न मृत्युः० इत्यादि।

यतः भगवान् चराचरात्मक विराट् शरीरवाला है इसलिये उसका जन्म मृत्यु तथा उसको वार्धक्य (बुढापा) नहीं आता। उस सर्वव्यापक भगवान् ने इस विश्व को बनाया है. वह सदा युवा है सम्भूति तथा विनाश (बनाना तथा बिगाड़ना) रूप लीला अनवरत किये जा

चराजवपु:=चराचरात्मकवपुरित्यर्थः ।

श्रीमान—१७८

श्रीः शोभा लक्ष्मीर्विभूतिर्यस्य, यस्मिन् वास्ति स श्रीमान्। भगवान् शोभया विभूत्या वा सकलं विश्वं व्याप्नोति तस्मात् स विष्णुः। मन्त्रलिंगं च—श्रियमधिकृत्य—

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः ।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥
(अथर्व० ११-७-३)

लक्ष्मीमधिकृत्य—

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च ।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥
(अथर्व ११-७-१७)

उच्छिष्टः सकलस्य विश्वस्य कर्त्ता धर्त्ता हर्त्तेति। श्रीमान् व्याख्यातमन्यत्रापि ३७ तमे श्लोके नाम सं० २२०।

भवति चात्रास्माकम्—

शोभा हि सर्वत्र महेश्वरस्य, श्रीमानतो विष्णुरुदात्तशोभः ।
उच्छिष्टनाम्ना च स शम्भुरुक्तो लक्ष्मीश्च श्रीश्च तदंकमंक्तः ॥२३०॥

तस्योच्छिष्टस्यांकं-अक्तो व्यक्तः प्रकाशयत इत्यर्थः ।

"बिभर्त्ति भर्त्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता" ।
(अथर्व० ११-७-१५)

रहा है उस विष्णु में न्यूनता नहीं आती है इसलिये भी वह युवा ही रहता है ।

श्रीमान्—१७८

श्री शब्द शोभा और लक्ष्मी का वाची है 'श्री' है जिसकी अथवा जिस में, वह श्रीमान् कहाता है। भगवान् अपनी शोभा अर्थात् विभूति से सकल विश्व को व्याप्त कर रहा है, इसलिये वह विष्णु श्रीमान् कहाता है।

श्री को अधिकृत करके मन्त्र प्रमाणः—

सन्नुच्छिष्टे असंश्चाभौ० इत्यादि अथर्व। उच्छिष्ट-सकल विश्व का कर्त्ता धर्त्ता-हर्त्ता भगवान् है। श्रीमान् नाम ३७ वें श्लोक में २२० वीं संख्या पर भी व्याख्यात किया गया है, वहां देख लेना चाहिये।

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—

शोभा हि सर्वत्र महेश्वरस्य—इत्यादि

भगवान् की ही सर्वत्र शोभा व्याप्त हो रही है अतः वह शोभेश विष्णु का नाम है, लक्ष्मी और श्री दोनों ही उसको व्यक्त करते हैं।

मन्त्र—बिभर्ति भर्त्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता। अथर्व

अमेयात्मा—१७९

मातुमर्हो मेयः । आकारान्तस्यांगस्य यत् परे सतीत्वं भवति तत् सूत्रं "ईद्यति" (पा० ६-४-६४) न मातुमर्होऽमेयः । आत्म-स्वरूपः, तद्यथा—तदात्मतामुपगतः, तत्स्वरूपतामुपगत इत्यर्थः । अमेयस्वरूप एव 'अमेयात्मा' इति पदेनोच्यते ।

उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् । (अथर्व० ११-७-१)

अन्तःस्थो मातुमनर्हो भवति । यथा समुद्रस्थो समुद्रं मातुं न क्षमो भवति, आकाशस्थ आकाशममुथैवेदं विश्वं तं मातुं इयत्तयाऽवच्छेत्तुं नार्हतीति कृत्वाऽमेय-स्वरूपः सन्नमेयात्मोक्तो भवति ।

अत्र विषये--अथर्ववेदीयं--उच्छिष्ट-सूक्तं पठनीयम् । तच्चैकादशस्य काण्डस्य सप्तमं सूक्तम् ।

तद्यथा प्रथमो मन्त्रः—

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥

भवति चात्रास्माकम्—

इयत्परिच्छिन्नवपुर्न कश्चित्, सर्वोदरस्थं प्रभवेत् प्रमातुम् ।
उक्तो ह्यमेयात्मपदेन विष्णुर्व्याप्नोत्यमेयः स समस्तमेतत् ॥२३१॥

सर्वमुदरे स्थितं तस्य स सर्वोदरस्थस्तम् । सर्वत्र तस्यामेयत्वं व्याप्तम् ।

अमेयात्मा—१७९

जो मापा न जा सके वह 'अमेयः' कहाता है । मा धातु से यत् 'ईद्यति' सूत्र से आकारान्त अंग को ईत्व होकर मेयः नञ्-पूर्वक "अमेयः" साधु होता है । यहां आत्मा शब्द स्वरूप का पर्य्यायवाची है । अमेयात्मा का अर्थ हुआ 'अमेयस्वरूपः" यूं भी कह सकते हैं कि अमेयस्वरूप ही अमेयात्मा पद से कहा जाता है ।

मन्त्र प्रमाणः— उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् । अथर्व०

जो अन्दर ठहरा हुआ होता है वह उस अधिष्ठान को अन्दर बाहर से नहीं माप सकता है जैसे—समुद्र में ठहरा हुआ समुद्र को माप नहीं सकता, अर्थात "इतना है" इस प्रकार से उसका अवच्छेद-(पृथक्ता) नहीं कर सकता । इसलिये—अमेयस्वरूप होता हुआ वह भगवान् अमेयात्मा कहाता है । यहां अथर्ववेद के ११ वें काण्ड का ७ वां उच्छिष्ट सूक्त सारा पढने योग्य है । जैसे कि इसका प्रथम मंत्र है—उच्छिष्टे नाम रूपं०— इत्यादि

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है— इयत परिच्छिन्नवपुर्न कश्चित्० इत्यादि ।

स्वयं एतावत् स्वरूप अर्थात इतनापने से बंटा हुआ कोई भी उस भगवान् को जिस में सब चराचर ठहरा हुआ है उसे नाप नहीं सकता है, इसलिये उस अमेय स्वरूप विष्णु को अमेयात्मा नाम से कहा जाता है, उसी ने इस विश्व को अनन्तरूपों में विभक्त करके इस विश्व

इयता परिच्छिन्नं वपुर्यस्य सः—इयत्परिच्छिन्नवपुः।

महाद्रिधृक्—१८०

द्रा कुत्सायां गतौ आदादिकः। द्रातीति द्रिः, अच इः, (उणा० ४-१३९)। बाहुलकात् कित्त्वादाल्लोपः। न द्रिः-अद्रिः पर्वतो वा। कृच्छ्रेण गन्तुमर्हाः सन्तोऽपि महोपकारकर्तॄणां पदार्थानां वनस्पतीनामौषधीनां च प्रदातारः सन्तस्ते--अद्रय उच्यन्ते। पर्ववत्त्वात् पर्वता इति। महांश्चासावद्रिर्महाद्रिः। धृष प्रसहने चौरादिकः, धर्षयति धृष्णोतीति धृक् क्विबन्तोऽयं षान्तः। महतो अद्रीन् धर्षयति धृष्णोति वा महाद्रिधृक् स विष्णुः।

मन्त्रलिंगं च—

यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। (ऋग्० २-१२-२)

बृहद्ग्रावा बार्हस्पत्यः। (यजु० ११-१५)

भवति चात्रास्माकम्—

महाद्रिधृक् विष्णुरधर्षणोऽसौ धृष्णोति सर्वं भुवि चाद्रिमात्रम्।

गुहा न तेषां भुवि काचिद् दृष्टा, महाद्रिधृक् यत्र न सत्तयास्ति ॥२३२॥

धृषतेः क्विप्-द्विर्वचन च निपात्यते-ऋत्विग्दधृक्-(पा० ३-२-५९) धृगेव दधृगिति। तेषां=अद्रीणामिति शेषः।

में अमेयस्वरूपत्व व्यवस्थित किया हुआ है उससे वह सर्वत्र व्यक्त हो रहा है।

महाद्रिधृक्—१८०

विकृत गति (चाल) अर्थ में वर्तमान अदादिगण की 'द्रा' धातु है उससे 'उणादि' के 'अच इः' सूत्र से कित् 'इः' " प्रत्यय होकर आकार का लोप होकर "द्रिः" नञ्युक्त "अद्रिः" कहाता है। अद्रिः पर्वत का नाम है। मनुष्य के उपकार की वस्तुओं औषधियों के दाता पर्वत सीधे चढ़े नहीं जा सकते अतः वे पर्वत (पहाड़) अद्रिः कहाते हैं। यतः पहाड़ों में पर्व होते हैं अतः वे पर्ववन्तः होते हुये पर्वत कहाते हैं। बड़े२ पहाड़–महाद्रि कहाते हैं उनको सहने धारण करनेवाला "महाद्रिधृक्" कहाता है, धृक् शब्द चुरादिगण की प्रसहन अर्थ में वर्त्तमान धृष धातु से क्विप् प्रत्ययान्त रूप है जो कि षान्त है।

मंत्र प्रमाण—पर्वतान् प्रकुपितान् इत्यादि।

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है :—

महाद्रिधृक् विष्णुरधर्षणोऽसौ० इत्यादि—

वह किसी से भी तिरस्कृत न किये जाने वाला भगवान् सब पहाड़ों को धारण किये हुए हैं, पहाड़ों की कोई भी ऐसी गुहा (गुफा) नहीं है जिस में वह "महाद्रिधृक्" स्वयं विराजमाम न हो।

प्रसङ्ग से—ऋत्विग् दधृक्०—सूत्र से क्विप् तथा द्विवचन निपातन से "दधृक्" शब्द बनता है, जोकि "धृक्" के ही समान अर्थ रखता है।

महेष्वासः—१८१

महतः सौ-महान्, सान्तमहतः संयोगस्य (पा० ६-४-१०) इत्युपधादीर्घत्वम्। इषुः=ईष उञ्छे भौवादिक ईष्यत इति इषुः, ईषेः किच्च (उणा० १-१३)। इत्यनेन उ प्रत्ययः किच्च। आदेरिकारादेशो ह्रस्वत्वं वा। ईषति गच्छति हिनस्ति वा शत्रूनिति-इषुर्बाणः, शरो वा तत् पर्य्यायो वीरो वा। कित्वाद् गुणाभावः। इष आभीक्ष्ण्ये क्रैयादिकः। तस्माद्वा हननार्थप्रवृत्तात्-तथा च श्रूयते पुर इष्णाति पुरुहूतः, आसुरीणां हननादिरर्थो गम्यते।

आस—असु क्षेपणे दैवादिकस्तस्मात् 'हलश्च' (पा० ३-३-१२१) इत्यनेन करणे घञ् प्रत्ययः। अस्यते प्रक्षिप्यतेऽस्मात् इत्यासः-धनुः। महान्+इष्वासोऽस्यास्तीति महेष्वासः। मन्त्रलिंगं च—

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः।
तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परिभुजः॥ (यजुः १६-११)
परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मिन्निधेहि तम्॥ (यजु० १६-१२)

महेष्वासः—१८१

महत् शब्द का 'सु' प्रत्यय में—"सान्तमहतः संयोगस्य" (६-४-१०) इस पाणिनीय सूत्र से उपधा को दीर्घ होकर 'महान्' शब्द साधु होता है। उञ्छ अर्थ में वर्त्तमान भ्वादिगण की 'इष' धातु से 'ईषेः किच्च' इस उणादि सूत्र से कित् उ प्रत्यय तथा धातु ईकार को इकार आदेश अथवा "ह्रस्वत्व" होकर 'इषुः' शब्द साधु होता है। जो शत्रुओं को नष्ट करता है वह इषु शब्द "बाण" तथा 'शर' का पर्य्यायवाची है, वीर को भी "इषुः" कहते हैं, इषु शब्द में 'उ' प्रत्यय के कित् होने से गुण नहीं होता है।

अभीक्ष्ण—(बार बार करना) अर्थ में वर्त्तमान क्र्यादिगण की 'इष' धातु जब हनन (मारना) अर्थ में वर्त्तमान हो उस से भी "इषुः" शब्द साधु होता है। हनन अर्थ में वर्त्तमान "इष" धातु का प्रयोग भी सुना जाता है—"पुर इष्णाति पुरुहूतः" आसुरियों को मारना अर्थ यहां "इष्णाति" क्रिया का जाना जाता है।

आस—क्षेपण (फेंकना) अर्थ में वर्त्तमान दिवादिगण की "असु" धातु से—'हलश्च' सूत्र में 'करण कारक में 'घञ्' होकर 'आसः' जिसमें फैंका जाय वह "आसः" धनुः" कहाता है।

महान् इष्वास है जिसका वह "महेष्वासः" बड़े धनुष वाला कहाता है।
मंत्र प्रमाणः—या ते हेतिः ०—इत्यादि-यजुः
परि ते धन्वनो—इत्यादि—यजुः

अवतत्य धनुष्ट्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे ।
निशीर्य शल्यानाम्मुखा शिवो न सुमना भव ॥ (यजु० १६-१३)

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषंगिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च । (यजु० १६-३६)

इति दिङ्मात्रम् ।

वीरबाहुर्वा महेष्वासः । महेष्वासो वा वीरबाहुः । प्रसङ्गतः "वीरबाहुः" ६२ तमे श्लोके ४६३ तमं नाम चापि व्याख्यातं भवति । मन्त्रलिंगं च—

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥ (यजु० १६-५३)
असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् ।
तेषाꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ (यजु० १६-५४)

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्महेष्वासपदेन वाच्यः, स विश्वमात्रं परिपाति हन्ति ।
यच्छक्तिमत्तद्धनुरस्य शम्भोः, युनक्ति तं कर्षणबृंहणाभ्य म् ॥२३३॥

महीभर्त्ता—१८२

मह पूजायाम् भौवादिकः । महतीति महः. अच् प्रत्ययः । अज्विधिः सर्वधातुभ्यः इति वचनात् । मह-शब्दस्य गौरादिषु पाठात्, स्त्रियां मही "षिद्गौरादिभ्यश्च (पा०

अवतत्य धनुष्ट्वं—इत्यादि—यजुः

नमो धृष्णवे च—इत्यादि—यजुः

यह थोड़ा व्याख्यान किया गया है

६२ वें श्लोक का ४६३ वां नाम "वीरबाहुः" भी यहां इस महेष्वासः पद की व्याख्या प्रसंङ्ग से व्याख्यात किया गया है

जैसे—महेष्वासः समान है वीरबाहु के, वीरबाहुः समान है महेष्वासः के, उस में मन्त्र प्रमाण :—सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः—इत्यादि

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा०—इत्यादि—यजुः

यहां हमारा यह श्लोक है:—"महेष्वासः" विष्णु कहाता है वह महेष्वास सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करता तथा वह ही सम्पूर्ण विश्व का नाश करता है जो भगवान् का बहुत शक्ति वाली धनुष है वह शम्भु (शिव–विष्णु) उस धनु से प्रजा का रक्षण तथा संहार करता है ।

महीभर्ता—१८२

पूजा अर्थ में वर्त्तमान भ्वादिगण की 'मह' धातु से सामान्य रूप में सब धातुओं से होता है इस आधार पर अच् प्रत्यय होकर महः शब्द बना । "मह" शब्द के गौरादिगण में पठित

४-१-४१)। इति ङीष्। बिभर्तीति भर्त्ता "ण्वुल्तृचौ (पा० ३-१-६) इति तृच् प्रत्ययः। मह्या भर्त्ता- महीभर्ता। मही-पृथिवी। महीभर्त्ता-सूर्योऽपि। मन्त्रलिंगं च—

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
मही देव्युषसो विभाति सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे॥
(अथर्व० १०-८-३०)

महीभर्त्ता सः—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।
सलिलान्महीमुद्बभार॥ (यजु० १३-४)
तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥
(ऋग्० १०-१२९-३)

विष्णुर्यथापूर्वं पृथिवीमकल्पयत्—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ (ऋग्० १०-१९०-३)

भवति चात्रास्माकम्—

महीं बिभर्त्त्येव सनात् स विष्णुः, सूर्यो स्वभूत्या च बिभर्त्ति तां वा।
धाता यथापूर्वमकल्पयच्च, महीं स दाधार बभार चाद्भ्यः॥२३४॥
इति दिङ्मात्रमुक्तम्।

होने के कारण "षिद्गौरादिभ्यश्च" सूत्र से स्त्रीलिंग में ङीष् होकर मही शब्द साधु होता है।

जो पालन पोषण करता है वह भर्ता कहाता है। जुहोत्यादि गण की 'भृञ्' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' सूत्र से तृच् प्रत्यय होकर "भर्त्ता" शब्द साधु होता है। मही पृथिवी का पर्याय वाची है। पृथिवी का पालन पोषण करने वाला महीभर्त्ता कहाता है, सूर्य भी महीभर्त्ता कहाता है। इस में प्रमाण—

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
मही देव्युषसो विभाति सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे॥ अथर्व०

महीभर्त्ता वह है—प्रमाण—स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां—इत्यादि। सलिल से पृथिवी का उद्धार।

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे - इत्यादि ऋग्

विष्णु ने पहले कल्प के समान ही इस कल्प को बनाया है—

प्रमाण—सूर्याचन्द्रमसौ धाता ० इत्यादि

यहां हमारा यह श्लोक है—महीं बिभर्त्त्येव सनात् स विष्णुः इत्यादि

वह विष्णु सदा से ही इस पृथिवी का पालन पोषण करता आरहा है, महीभर्त्ता सूर्य को भी कहते है क्योंकि वह सूर्य अपनी विभूतियों से इस पृथिवी का पालन पोषण करता है। भगवान् ने इस कल्प को पूर्व कल्प के समान ही बनाया है। उस महीभर्त्ता विष्णु ने इस पृथिवी को जल से ऊपर निकाला है और उसको धारण किए हुए है। यहां संक्षेप मात्र व्याख्यान किया गया है

श्रीनिवासः—१८३

श्रीः शोभा-लक्ष्मीः, विभूतिः, धनं वसु वा । श्रियो निवासः श्रीनिवासः । निवास आश्रयो गृहमधिष्ठानं वा । श्रीनिवसत्यस्मिन्निति श्रीनिवासो विष्णुः ।

वृषोऽग्निरस्मभ्यं वसून्याभरेदिति प्रार्थ्यते—

मन्त्रलिंगं च—

> सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
> इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर ॥
> (ऋग्० १०-१९१-१)

आभर-आहरेत्यर्थः । हृग्रहोर्भश्छन्दसि । अग्निर्हि विष्णुनामसु पठितः ।

जातवेदाऽप्यग्निर्विष्णुर्जातानि जातानि वेदेति कृत्वा । मन्त्रलिंगं च—

> तां न आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् । (ऋग्वेदीये श्रीसूक्ते १५)
> अग्निर्नो वनते रयिम् । (यजु०)

वन षण सम्भक्तौ—भौवादिको, वनते-संविभजतीत्यर्थः । इत्यादि दिङ्मात्रमुक्तम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

श्रीनिवासः—१८३

श्री शब्द शोभा—लक्ष्मी—विभूति- धन- अथवा वसु का पर्य्यायवाची है । श्री का निवास घर—अधिष्ठान श्रीनिवास कहाता है ।

अथवा श्री जिसमें रहती है वह श्रीनिवास विष्णु कहाता है ।

"वृष" संज्ञक अग्निदेव हमारे लिये विविध वसुओं (धनों) को देवे ॥ ऐसी प्रार्थना जीव करता है इस से पता चलता है धनपति अथवा श्री का अधिष्ठान स्वयं भगवान् ही है, इस लिए वह "श्रीनिवास" नाम से कहा जाता है ।

मंत्र प्रमाण:—सं समिद्युवसे ०— इत्यादि

आभर का अर्थ है आहर=लाओ

जातवेदस् शब्द जो अग्नि का पर्य्यायवाची है वह भी विष्णु का वाचक है—क्योंकि वह जातवेदस् सब उत्पन्न हुओं को जानता है । इसलिये प्रार्थना की गई है कि—हे जातवेदस् अग्नि (भगवान्) हमें ऐसी लक्ष्मी दो जो लौटने वाली न हो । जिस में किसी का अंश नहीं है वह 'अनपगामिनी' लक्ष्मी कहाती है । अग्नि ही धन बांटता है—मंत्र—अग्निर्नो वनते रयिम्—यजु०

"वनते" क्रिया में "वन" धातु बांटना अर्थ में है ।

यह व्याख्यान संक्षेप मात्र किया गया है ।

यहाँ हमारा यह संक्षेप श्लोक है—वह श्रीनिवास भगवान् विष्णु 'श्री' को देता है ।

स श्रीनिवासः श्रियमादधाति जगच्च तं विष्णुमनक्ति भूयः ।
तं श्रीनिवासं मनुजाः स्तुवन्ति "स नो वसून्याभर" शब्दयन्तः ॥२३५॥

अनपगामिनी लक्ष्मीर्हि सा भवति, यस्यां कस्यचिदन्यस्यांशो न स्यात् ।

सतांगतिः—१८४

सत् श्रेष्ठः । सत्पुरुष इति यथा । सत् सत्ये सज्जन इति यथा । गमनं गतिः, सत्यानां गमनं, श्रेष्ठानां गमनं तद् ब्रह्मैव । नाम्नां संग्रहे पाठात् षष्ठ्या अलुक् मन्तव्यो विनाप्याक्रोशम् । कुतः ? न हि ब्रह्मणि आक्रोशस्य सद्भावः । मन्त्रलिंगं च—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥
(यजु० ३-१०)

भवति चात्रास्माकम्—

स सच्चिदानन्दगुणो ह विष्णुः सतां गतिश्चापि स एव विष्णुः ।
सतां गतिर्ब्रह्मणि सत्स्वरूपे भर्गः स विष्णुः स शुचिः स बन्धुः ॥२३६॥

भर्गः=शुद्धः । सारांशस्त्वयं यद् भगवतः प्रत्येकं कर्म तं भगवन्तमेव गमयति= प्रापयति ।

यह सारा ज़गत् उस भगवान् को तथा सूर्य को व्यक्त करता है । उस ही श्रीनिवास की मनुष्य स्तुति करते हैं, नमस्कार करते हैं प्रार्थना करते हैं—"स नो वसून्या भर" अर्थात् वह श्रीनिवास हमारे लिये धन लायें, जिन पदार्थों—साधनों की मनुष्य को जीवन यात्रा के लिये आवश्यकता पड़ती है, वह धन है । जिससे वे बदली जायें वह—सुवर्ण—लक्ष्मी—आदि सब व्यवहार्य वस्तुओं के बदलने का माध्यम होने से "हिरण्य" नाम से पुकारे जाते हैं ।

सतांगतिः—१८४

सत् शब्द सत्य—तथा सज्जन (श्रेष्ठ) का पर्य्यायवाची है । जैसे सत्पुरुष । गम् धातु से स्त्रीलिंग भाव में क्तिन् प्रत्यय होकर 'गतिः' शब्द साधु होता है । ब्रह्म ही सज्जन एवं सत्य वस्तुओं की गति है ।

इस विष्णु सहस्र नाम संग्रह में "सतांगतिः" विष्णु का नाम है जिस में षष्ठी विभक्ति का अलुक् हुआ है । यह अलुक् आक्रोश निन्दा—गर्हा के प्रकाशन के बिना ही है । क्योंकि भगवान् में आक्रोश—निन्दा का अवकाश ही नहीं है ।

स नो बन्धु जनिता० इत्यादि मंत्र से स्पष्टार्थ है—

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक में एवं व्यक्त करता है:—

वह सत्—चित्—आनन्द गुण वाला विष्णु ही सत् पुरुषों एवं सत् पदार्थों की गति है, सत् स्वरूप ब्रह्म में वह आश्रित होती है अतः शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव भगवान् विष्णु को ही 'सतां गतिः' नाम से कहते हैं ।

अनिरुद्धः—१८५

अनिरुद्धोऽव्याहतः। सर्वत्र व्याप्तोऽनावृतः। ओतः प्रोतः प्रकाशात्मेति वा। नास्ति निरोध आवरणं यस्य सोऽनिरुद्धः।

मन्त्रलिंगं च—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्नद७ सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥
(यजु० ३२-८)

अथर्वणि च—

यो विद्याद् विततं सूत्रं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्याद् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥३७॥
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥
(अथर्व० १०-८-३८)

भवति चात्रास्माकम्—

न केनचित् कर्हिचिदेव विष्णुः शक्योऽत्र रोद्धुं प्रबलेन यस्मात्।
तस्मात् सदा सोऽस्त्यनिरुद्ध उक्तो विष्णुर्वरेण्यः स रुणद्धि लोकान्॥२३७॥

यदुक्तं स रुणद्धि लोकानिति, तत्र मन्त्रलिंगं च—

तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा। (यजु० ३१-१९)

अनिरुद्धः—१८५

अनिरुद्ध कहते हैं जो रोका न जा सके। वह सर्वत्र व्यापक है सर्वत्र ओत प्रोत है, तथा प्रकाशस्वरूप है।

मन्त्र प्रमाण—यो विद्यात् विततं सूत्रं० इत्यादि अथर्व

वेदाहं सूत्रं विततं० इत्यादि अथर्व

वेनस्तत् पश्यन्निहितं० इत्यादि यजुः

यहां हमारा संक्षेप श्लोक है

न केनचित् कर्हिचिदेव विष्णुः० इत्यादि

कभी भी किसी भी प्रबल से प्रबल से भी वह विष्णु अर्थात् विष्णु की व्यवस्था रोकी नहीं गई है, परन्तु वह अपनी व्यवस्था से सारे विश्व को सदा से ही यथायथ व्यवस्था से रोके हुए होने से अनिरुद्ध वह विष्णु कहाता है। वह सब लोक लोकान्तरों को रोके हुए हैं—

मन्त्र—तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा—यजुः

जिसका निरोध रुकावट नहीं है वह "अनिरुद्ध" कहाता है।

सुरानन्दः—१८६

सुराः, अव्याहतदातृशक्तिमन्तः । सूपसर्गः । रा दाने आदादिकस्तस्मात् "आतश्चोपसर्गे" (पा० ३-१-१३६) इत्यनेन कः प्रत्ययः । "आतो लोप इटि च" (६-४-६४) इत्यनेनाकारलोपः । तेन "सुरः" बहुवचने सुराः । तान् सुरान् आनन्दयतीति सुरानन्दः । आनन्दयति सर्वत्र समृद्ध्या योजयतीत्यर्थः । तद्यथा लोकेऽपि च पश्यामः—

एकं बीजं कृषको वपति, भूमिश्च तं सहस्रशः प्रत्यावृत्य समर्धयति, सा समर्धनव्यवस्था सर्वत्रैव सुरानन्दस्य सुरानन्दत्वं विज्ञापयति । तस्मात् सुरानन्दरूपेण विश्वं व्याप्नुवन् स विष्णुरेव ।

दानविषये प्रमाण-संग्रहः-"सुराध्यक्ष" इति १३४ क्रमे नाम्नि द्रष्टव्यः ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुः सुरानन्द उ नन्दनः स सुरान् सदा नन्दयते हृदिस्थः ।
[1]तद् व्याप्तधर्मं च विकासयन्ती धरा ददात्येव सहस्रशस्तम् ॥२३८॥

गोविन्दः—१८७

गां विन्दतीति गोविन्दः । अनुसर्गाल्लिम्पविन्द (पा० ३-१-१३८) इति सूत्रे

सुरानन्दः—१८६

सु—उपसर्गपूर्वक "रा" दाने धातु से 'आतश्चोपसर्गे' सूत्र से कप्रत्यय होकर तथा 'आतो लोप इटि च' सूत्र से आकार लोप होकर "सुरः" शब्द साधु होता है, उस 'सुर' शब्द का बहु वचन 'सुरा' होता है । जिन की दान शक्ति कभी समाप्त नहीं होती वे 'सुरा' कहाते हैं ।

असुर उत्तम दाताओं को जो आनन्द देता है अर्थात् इन्हें प्रसन्न बनाए रखता है, अथवा उनको समृद्धि से युक्त कर देता है । हम जगत् में भी देखते हैं—एक बीज कृषक बीजता है, और भूमि उस बीज को सहस्रों गुना करके लौटाती है, इस प्रकार "एक" से 'अनेक' होना रूप समर्थन की व्यवस्था सर्वत्र ही वर्त्तमान होती हुई सुरानन्द भगवान् के सुरानन्दपने को ज्ञापित करती है, इस प्रकार सुरानन्द स्वरूप से भगवान् सारे विश्व को व्याप्त करता हुआ प्रकाशित हो रहा है । दान विषय में प्रमाणों का उल्लेख 'सुराध्यक्ष १३८ वें नाम पर देखना चाहिये ।

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—विष्णु सुरानन्द ० इत्यादि । विष्णु सुरानन्द तथा वह ही नन्दन है वह विष्णु ही हृदयस्थ होता हुआ उत्तम दाताओं को आनन्द देता है भगवान् की उस महिमा को प्रकाशित करती हुई पृथिवी सहस्रों हाथों से, या सहस्रों गुणा देती है ।

गोविन्दः—१८७

"गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्" वार्तिक से (३-१-१३२ सूत्र पर) गवादि उपपदों के पूर्व

---

1. तस्य विष्णोर्व्याप्तिधर्मम् ।

"गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्" इति वार्तिकेन शः प्रत्ययः। गोविन्दः। अरविन्दः इत्यादिः। गौर्वाणी, धरा, धेनुर्वा। मन्त्रलिंगं च—

गावो विश्वस्य मातरः। (अथर्व०)

गावो वेदवाण्यो यं विन्दन्ति लभन्ते यत्र वावतिष्ठन्ते स गोविन्दो भगवान् विष्णुः। मन्त्रलिंगं च—

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥ (अथर्व० १०-८-३३)

धरामधिकृत्य—

नष्टां वै धरणीं पूर्वमविन्दद्यद् गुहागताम्।
गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः॥
(महाभारत शान्तिपर्व ३४२-७०)

इति मोक्षधर्मे निर्वचनाद् गोविन्दः।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुः स गोविन्दपदेन वाच्यो यं विन्दयन्तीह वचांसि सर्वाः।
स चोद्बभार पृथिवीं समुद्रात् स्रवन्ति गावो ह पयांसि तस्मै ॥२३९॥

तस्मै विश्वस्मै यतस्ता धेनवो विश्वस्य मातरः सन्ति।

मन्त्रलिंगं च—

"अदुग्धा इव धेनव ईशानमस्य जगतः"। (साम०)

में रहते विदलृ धातु से संज्ञा में 'शः' प्रत्यय होकर—गोविन्दः। अरविन्दः इत्यादि शब्द सिद्ध होते हैं।

गो—शब्द—वाणी—धरा (पृथिवी) तथा धेनु का वाचक है। अथर्व में "गावो विश्वस्य मातरः" मन्त्र में गो शब्द धेनु का वाचक है। वेद वाणियां जिसको प्राप्त करती है अथवा जिसमें वेदवाणियां ठहरती हैं वह गोविन्द संज्ञक भगवान् विष्णु है। इस में मन्त्र प्रमाण—

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ० इत्यादि अथर्व के मन्त्र से संगति स्पष्ट है।

महाभारत के शांति पर्व के "नष्टां वै धरणीम्" इत्यादि श्लोक से स्पष्ट है कि गो शब्द पृथिवी का भी वाचक है। इस श्लोक में जलमग्न पृथिवी को उभारने के लिये देवताओं ने भगवान् का स्तवन करते समय गोविन्द पद का उच्चारण किया है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक में एवं व्यक्त करता है:—

भगवान् विष्णु को गोविन्द भी कहते हैं। सब वेद की वाणियां भगवान् के मुख से निकली हैं अर्थात् इन सभी का अधिष्ठान भगवान् ही है। उसी भगवान् ने जल से पृथिवी का उद्धार किया। गौएं उसी के लिये दूध देती हैं। अर्थात् यज्ञ के लिये दूध एवं घृत आवश्यक है। यज्ञ से भगवान् प्रसन्न होते हैं। घृत ही आयु है। अतः गौएं विश्व को जीवन देती हैं।

गोविदांपतिः—१८८

गां वाणीं वेत्तीति गोवित् तेषां गोविदां पतिः-स्वामी, सर्वा विद्या भगवदायत्ता इति भावः। याभिर्यथाभूताभिर्मनुष्यो वदति गोविदांपतिस्ताभिस्तथाभूताभिर्मनुष्यस्य वाच्यं वेत्ति जानातीत्यर्थः।

न केवलं मनुष्यवाचमेवासौ भगवान् वेद परन्तु सर्वेषां पशु-पक्षि-सरीसृपाणां चापि वाणीं वेद, कुतः सर्वाः प्रति-प्राणिनिहिता वाचस्तेनैव व्यवस्थापिताः सन्ति। यस्मात् स गोविद् रूपेण विश्वं व्याप्नोति तस्मात् स गोविदांपतिर्विष्णुरुक्तो भवति।

मन्त्रलिंगं च—

वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु। (यजु० ६-१)

गोविदांपतिः, अत्र नाम्न्याक्रोशमन्तरापि षष्ठ्या अलुक्, न हि विष्णावाक्रोशस्य सम्भवः।

एवं हि धरणीविदां पतिरप्यसावेव विष्णुः। गौः=धेनुः तद्विदां पतिरप्यसावेव। "यजमानस्य पशून् पाहि" (यजु० १-१) इति च तं गोविदांपतिमेव

गोविदांपति—

गो शब्द का अर्थ वाणी है। गो (वाणी) के समझने वाले को गोवित् कहते हैं। अथवा गो (वाणी) की यथार्थता एवं इसके प्रयोग में कौशल प्राप्त को गोवित् कहते हैं। वाणी के प्रयोग में कुशल पुरुषों का स्वामी गोविदांपति है। तत्वार्थ यह है कि भगवान् में ही सब विद्यायें आश्रित हैं।

मनुष्य जैसी परिस्थिति में जिस प्रकार की भाषा को बोलता है, गोविदांपति संज्ञक भगवान् उन सब भाषाओं को समझ जाता है अर्थात् मनुष्य के वाच्यार्थ को समझ जाता है।

भगवान् केवल मनुष्यों की ही वाणी को नहीं समझता अपितु सब प्रकार के पशु, पक्षी एवं सरीसृपों की वाणी को पहचानता है। कारण इस में यही है कि उसी ने सब प्राणियों की वाणी की व्यवस्था की है। भगवान् अपने गोवित् धर्म से समस्त विश्व में व्याप्त होने के फलस्वरूप ही गोविदांपति कहाते हैं।

यजुर्वेद के "वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु" मन्त्र से स्पष्ट है कि भगवान् ही वाणी का स्वामी है।

"गोविदांपति" नाम में षष्ठी विभक्ति को अलुक् आक्रोश के बिना है। भगवान् में या उसकी रचना या व्यवस्था में किसी रूप की न्यूनता नहीं है। अतः भगवान् में आक्रोश की सम्भूति ही नहीं।

एवं धरणी (पृथ्वी) के तत्त्व को समझने वालों का भी स्वामी वही है प्रत्येक भूखण्ड उसी परमेश्वर की व्यवस्था से अपने अपने स्थान पर स्थित है।

गो शब्द धेनु का भी पर्यायवाची है। अतः सर्वविध गौओं के स्वामियों का स्वामी भी वही परमेश्वर है।

"यजमानस्य पशून् पाहि" मन्त्र से स्पष्ट है कि भगवान् पर ही यजमान के पशुओं के रक्षण का भार है।

जीवः प्रार्थयत इति दिक्।

भवति चात्रास्माकम्—

न कापि वाक् प्राणिनि लब्धभेदा न 'गोविदां पेत्ति' पतिस्तु यां स्यात्।
स सर्वविद्यः स हि सर्वलभ्यः सर्वे यथावाक् तमु यान्ति विष्णुम् ॥२४०॥

मरीचिर्दमनो हंसः सुपर्णो भुजगोत्तमः।
हिरण्यनाभः सुतपाः पद्मनाभः प्रजापतिः ॥३४॥

मरीचिः १८९, दमनः १९०, हंसः १९१, सुपर्णः १९२, भुजगोत्तमः १९३।
हिरण्यनाभः १९४, सुतपाः १९५, पद्मनाभः १९६, प्रजापतिः १९७ ॥

मरीचिः— १८९

किञ्चित् प्रसंगप्राप्तमुच्यते-मरीचिः = रश्मिः, दीप्तिर्वा, महर्षिर्वा।

मृङ् प्राणत्यागे तौदादिकः। तस्मात् मृकणिभ्यामीचिः (उण् ४-७२) सूत्रेण 'ईचिः' प्रत्ययः। म्रियत इति मरीचिः। न हि भगवति जन्म-मरण-जराः सन्तीति कृत्वा ण्यन्तेनार्थोऽवगन्तव्यः। यमो मृत्युदूतेन प्राणिनो मारयति। उक्तं च—

गोविदांपति संज्ञक भगवान् ही सर्वविध पशु रक्षण का उपदेश देने में समर्थ है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक में एवं व्यक्त करता है:—

अनेकप्रकार के जीवों की विविध भाषा ऐसी कोई भी नहीं है जिसको गोविदांपति संज्ञक भगवान् नहीं जानता अर्थात् सब प्रकार के जीवों की सब रूप की भाषा को गोविदांपति संज्ञक भगवान् समझता है कारण इस में यही है कि वह सबविद्याओं का स्वामी है। एवं सब भाषायें समझता है। उसको सर्वसाधारण सहज में प्राप्त कर सकता है। व्यक्त एवं अव्यक्त वाणी वाले चतुर्विध प्राणी— उसी भगवान् का अपनी २ वाणी से यशोगान करते है एवं उस को अपनी वाणी से व्यक्त करते हैं तथा उसकी व्यवस्था का सुखपूर्वक पालन करते हैं।

मरीचिः—१८९

मरीचि शब्द-प्राणत्याग अर्थ में वर्तमान तुदादिगण की (मृङ्) धातु से 'मृकणि— भ्यामीचिः' इस उणादि सूत्र से 'ईचिः' प्रत्यय होकर साधु होता है। मारने वाले को मरीचि कहते हैं। भगवान् में जन्म-मरण-जरा नहीं होता अतः णिच् प्रत्ययान्त का अर्थ यहां अभिमत है। अर्थात् जो मारता है वह मरीचि कहाता है। यम अपने दूत "मृत्यु" से प्राणियों को मारता है।

"मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता"। (अथर्व० १८-२-२७)

मृत्युः प्रजानामधिपतिः । (अथर्व० ५-२४-१३)।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । (गीता २-२७)

इत्येतेनापरिहार्येण नियमेन मरीचिनामा भगवान् सर्वं विश्वं व्यश्नुवानः सन् मरीचिर्विष्णुरुक्तो भवति। मरीचिः=मृत्युः। मन्त्रलिंग च—

आदित्य चक्षुरादत्स्व मरीचयोऽनु धावत ।
पत्संगीनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥
सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥
(अथर्व० ५-२१-१०।११)

मरीचिरात्मानमनक्ति विष्णुर्यमस्वरूपेण स मृत्युदूतः ।
न तस्य मत्युर्न जरा न जन्म स वै मरीचिः सकलं विहन्ति ॥२४१॥

दमनः—१९०

दम उपशमे दैवादिकः, दमयतीति दमनः। नन्दिग्रहि (पा० ३-१-१३४) इति "सहितपिदमेः संज्ञायाम्" इति वार्त्तिकेन सज्ञायां ल्युः प्रत्ययः। तेन दमयतेर्णिजन्तात् 'मितां ह्रस्वः' (६-१-९२) दमयतीति दमनो भगवान् विष्णुः। दमयति उपशमयति यथास्थानं प्रापयति धर्मेणे विश्वं सचराचरं व्याप्नोति-इति कृत्वा दमनो विष्णुरेव। मन्त्रलिंगं च—

अथर्व वेद के "मृत्युयमंस्याऽऽसीद् दूतः" मन्त्र से पूर्वोक्त वाक्य की संगति है। अथर्व के 'मृत्युः प्रजानामधिपतिः" मन्त्र से स्पष्ट है कि मृत्यु प्रजा का स्वामी है। श्रीमद् भगवद् गीता के "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु" इत्यादि श्लोक के अनुसार स्पष्ट है कि मरण एवं जन्म दोनों ही अपरिहार्य है। एवं मरीचि संज्ञक भगवान् विष्णु समस्त विश्व में व्याप्त होता हुआ मरीचि संज्ञा को धारण करता है।

अथर्व के "आदित्य चक्षुः" आदि मन्त्र से पूर्वोक्त कथन स्पष्ट है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक में एवं व्यक्त करता है:—

मरीचि संज्ञक भगवान् यम स्वरूप में मृत्यु का दूत होकर अपने आप को व्यक्त करता है। उस भगवान् के जन्म जरा एवं मरण नहीं है। अर्थात् उसका जन्म मरण एवं उसमें जरा (बुढापा) नहीं होता। वह मरीचि संज्ञक भगवान् सब को समय पर नष्ट करता है।

मरीचिः शब्द रश्मि (किरण) दीप्तिः (प्रकाश) एवं महर्षि का भी वाचक है।

दमनः—१९०

उपशम अर्थ में वर्तमान दिवादिगण की 'दम' धातु से नन्दिग्रहि सूत्र पर 'सहितपिदमेः संज्ञायाम्' इस वार्तिक से संज्ञा वाच्य होने पर "ल्युः" प्रत्यय होता है एवं णिजन्त दम धातु से "मितां ह्रस्वः" सूत्र से ह्रस्व होने पर दमन शब्द साधु होता है। भगवान् अपने दमन धर्म से सारे विश्व में व्यापक होकर चराचर को उसकी अपनी परिधि में व्यवस्थित किये हुये हैं। अतः विष्णु को दमनः कहते हैं।

मृत्यवेऽमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा ॥
(अथर्व० ८-८-१०)

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।
परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥
(अथर्व० ८-८-११)

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥
(अथर्व० ८-८-१६)

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥
(अथर्व० ८-८-१)

अत्र इन्द्र एव शक्रादिनामभिर्विशिष्टो मन्थिता, कर्तृत्वेनोपन्यस्तः । इति दिङ्मात्रमुक्तम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

विश्वं समस्तं दमनेन दान्तं सर्वत्र सर्वस्य च मृत्युरुप्तः ।
दण्डं स दम्यं च सहैव जज्ञे विष्णुर्दमोऽसौ दमनः स दण्डः ॥२४२॥

अत्र व्याख्याप्रसंगे-पंचोत्तरशततमे १०५ श्लोके दण्डः ८५९, दमयिता ८६०, दमः ८६१, संख्याका अपि व्याख्याता भवन्ति ।

अथर्व के—मृत्यवेऽमून् प्रयच्छामि—०
नयतामून् मृत्युदूता—०
इम उप्ता मृत्युपाशा—०
इन्द्रो मन्यतु मन्थिता—० मन्त्र इस में प्रमाण है।

"इन्द्रो मन्यतु" इत्यादि मन्त्र में इन्द्र ही मन्थिता—शक्र—शूर—पुरन्दर—इत्यादि नामों से मन्थन करने वाला कहा है।

यह दिग्दर्शनमात्र व्याख्यान किया है।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक में एवं व्यक्त करता है:—

यह सारा विश्व दमन संज्ञक भगवान् ने यथास्थान पर स्थिर किया हुआ है और प्रत्येक की मृत्यु भी उसी में रक्खी हुई है। उस भगवान् ने दण्ड और दण्ड्य को साथ ही साथ उत्पन्न किया हुआ है। उसी भगवान् विष्णु को दमः दमनः एवं दण्ड कहते हैं।

यहां इस दमनः नाम की व्याख्या में १०५ वें श्लोक का ८५९ वां नाम दण्डः तथा ८६० वां नाम दमयिता और ८६१ वां नाम दमः भी व्याख्यात हुये समझने चाहियें।

दम धातु से उणादि के "ञमन्ताड्डः" सूत्र से ड प्रत्यय होकर "दण्डः" शब्द साधु होता है।

दण्डः दमेः अमन्ताड्डः (उणा० १-११४) इति डः प्रत्ययः। दमयन्त्युपशमयन्त्यनेनेति दण्डः। दमयतेर्णिजन्तात् तृचि दमयिता। दमयतीति दमः, सामान्येनाच् प्रत्ययः। शमयतीति शमनः। बाहुलकात् कर्त्तरि ल्युट्।

हंसः—१९१

हंस-शब्दः, अहं सः इति द्वाभ्यां पृथक् पृथक् पदाभ्यां संगृह्य व्युत्पाद्यते, अकारलोपं कृत्वा। शब्दस्य साधुत्वाय पृषोदरादिगणमाश्रयन्ति। पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (पा० ६-३-११०) पृषोदरादीनि शब्दरूपाणि येषु लोपागमवर्णविकाराः शास्त्रेण न विहिता, दृश्यन्ते च तानि यथोपदिष्टानि शिष्टैरुच्चारितानि। के पुनः शिष्टाः? वैय्याकरणा इति। अत्र स्मर्तुमर्हं पद्यं तत्रैव सूत्रे—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्॥

निरुक्तं=निर्वचनमिति। अहं स इति वक्तव्ये हंस इत्युच्यते।

मन्त्रलिंगं च—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा स्यामहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ (ऋग्० ८-४४-२३)
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओम् खं ब्रह्म॥
(यजु० ४०-१७)

णिजन्त दम धातु से "तृच्" प्रत्यय होकर "दमयिता" शब्द साधु होता है, धातु मात्र से प्रत्यय होने से 'दमः" शब्द साधु होता है शम उपशमे धातु से बहुल निर्देश से कर्त्ता कारक में "ल्युः" प्रत्यय होकर "शमनः" शब्द है। यह नाम भी भगवान् का वाचक हो जाता है।

हंसः—१९१

हंसः शब्द "अहं सः" इन दो पदों को एकत्रित करके अहं के अकार का लोप 'पृषोदरादिगण के आकृतिगण होने से उस में मान कर साधु माना जाता है। महाभाष्य में यथोपदिष्टानि पद का अर्थ किया गया है, शिष्टों द्वारा उच्चारित शब्द, वैय्याकरण शिष्ट माने गये हैं। उक्त सूत्र पर यह कारिका है—वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च इत्यादि। निरुक्त शब्द का अर्थ "निर्वचन" है।

वास्तव में अहं सः "ऐसा न कह "हंसः" ऐसा कहा जाता है।

मन्त्र प्रमाण—यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा स्यामहम्।

स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ ऋग्

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म। यजुः

अथवा हन्तेर्गत्यर्थाद् वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकम्पिभ्यः सः (उणा० ३-६२) इत्यनेन सः प्रत्ययः। "नश्च" (८-३-२४) इत्यनेनानुस्वारः। हन्तीति हंसः। सूर्यः पक्षिभेदो वा। हसे हसने, अस्मात् पचाद्यच् पृषोदरादित्वाद् वर्णागमेन नुमि-अनुस्वारः।

हम्मतेर्वा हंसः। हम्मतेर्हंमः, कः पुनराह हम्मतेर्हंस इति। किं तर्हि, हन्त्यध्वान-मिति। इति महाभाष्यम् (अध्याय ६-१-१३ सूत्र) हंसः सूर्यः। मन्त्रलिंगं च—

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥
(अथर्व १०-८-१७)

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा॥
(अथर्व० १०-८-१८)

ब्रह्म ततोऽपि ज्येष्ठम्। मन्त्रलिंगं च—

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन॥
(अथर्व० १०-८-१६)

अवतरणस्माकम्—

अथवा—गति अर्थ में वर्त्तमान 'हन' धातु से 'वृतृवदि' ० इस उणादि सूत्र से 'स' प्रत्यय करके "नश्च" से अनुस्वार करके 'हंसः" शब्द साधु होता है।

अथवा हम्मति से 'स' प्रत्यय करके 'हंस" शब्द साधु होता है। जो मार्ग को काटता, मारता, लांघता है वह "हंसः" कहाता है।

अथवा—हसना अर्थ में वर्तमान 'हस' धातु से—'नुम्' आगम पृषोदरादि की कारिका के नियम से करके तथा नकार को अनुस्वार करके "हंसः" शब्द साधु होता है। हंस सूर्य का वाचक होता हुआ विष्णु का वाचक होता है।

मन्त्र प्रमाण—सूर्य के पक्ष में

ये अर्वाङ् मध्य उत वा ० इत्यादि अथर्व

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ ० इत्यादि अथर्व

ब्रह्म उस हंस से भी परे है अतः हंसों का हंस होने से वह 'ब्रह्म' हंस कहाता है क्योंकि वह सब गतिमानों की गति में व्याप्त होता हुआ उनको पीछे छोड़ जाता है तथा उनसे भी पहले सर्वत्र विराजमान होने से प्राप्त हुआ ही रहता है।

मन्त्र प्रमाण—यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।

तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन॥ अथर्व

यहां हमारे ये दो संक्षेप श्लोक हैं—

जीवो हि तादात्म्यमितो महेच्छुः, सोऽसावहं हंस उ वास्म्यहं सः ।
विष्णुर्हि हंस, स उ हंसनेत्रो व्याप्नोति विश्वं भुवनानि पश्यन् ॥२४३॥
तमेव वेदं पुरुषं पुराणं विद्वान्समग्निं त्रिवृतं च हंसम् ।
नानागुणैर्व्याप्तमनेकमेकं, ज्येष्ठं वदन्त्येव बुधास्तु विष्णुम् ॥२४४॥

अत्र प्रसंगतः–[1]पुरातन, इत्यपि व्याख्यातं भवति, पुराण इति नाम्ना । तं ज्येष्ठं (ब्रह्म) पुराणं-वेदं विद्वान्समभितो वदन्तीत्यत्रोपन्यस्य मन्त्रलिंगात् ।

षट्षष्टितमे श्लोके ४९८ तमं नाम ।

हंसः पक्षीति यदुक्तं तत्र मन्त्रलिंगं च—

यां द्विपदः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णा शकुना वयांसि ।
(अथर्व० १२-१-५१)

हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि । (अथर्व० ११-२-२४)

जीवो हि तादात्म्यमितो० इत्यादि

तादात्म्य मुक्ति की इच्छा वाला जीव कहता है—मैं "तू हूँ" और "तू मैं है" वह हंस दृष्टि वाला भगवान् सारे संसार को व्याप्त करके सूर्य की दृष्टि के समान विश्व को देख रहा है ।

तमेव वेदं पुरुषं पुराणं ० इत्यादि

उसी को – वेद—पुरुष—पुराण — विद्वान् — अग्नि—त्रिवृत–और हंस कहते हैं जो अपने अनेक गुणों से एक होता हुआ भी अनेक नामों से विद्वानों द्वारा स्तुति को अथवा व्यवहार को प्राप्त कराया जाता है, उसी विष्णु को विद्वान् 'ज्येष्ठ' शब्द से कहते हैं । इस व्याख्या प्रसंग से–"पुराण" यह नाम भी व्याख्यात हो जाता है "पुराण नाम से, पुरातन शब्द में 'पुरा' अव्यय है उससे सायं चिरं० सूत्र से ट्यु–तथा ट्युल् प्रत्यय होते हैं और उन प्रत्ययों के साथ ही 'तुट्" का आगम होकर –"पुरातन" शब्द साधु होता है । जहां 'तुट्' नहीं होता वहां "पुराण" शब्द बनता है, अर्थ में पुराण — तथा "पुरातन" शब्द समान ही हैं । "तुट् च" ऐसा आगम करना ही बतलाता है कि कहीं किन्हीं आचार्यों के मत में 'तुट्' नहीं भी होता है—वहां पुराण ऐसा ही शब्द रह जाता है ।

हंस पक्षी का भी पर्याय वाची होता है उस पक्ष में मन्त्र प्रमाण यां द्विपदः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि । अथर्व

---

1. पुरा-अव्ययात्-सायं चिरंप्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्यु ट्युलो तुट् च (पा० ४-३-२३) इत्यनेन ट्यु-ट्युलौ प्रत्ययौ, तुट् चागमः । पुरा भवः पुरातनः । यत्र 'तुट्' आगमो नेष्यते तत्र पुराणः । पुराण-पुरातनौ समानार्थकौ । "तुटः" आगमविधानमेव ज्ञापयति क्वचिन्नापि भवति, तेन "पुराण" इत्येव ।

सुपर्णः—१६२

शोभनः पर्णः शोभनः पतनः सुपर्णः। "पर्ण हरितभावे" चौरादिकस्तस्मादच्। वृक्ष-लता-गुल्मादीनां हरितभावमापन्नं पत्रं पर्णमुच्यते। उड्डयनसाधनीभूतौ पक्षावपि पर्णशब्देनोच्येते, पतनात् पतत्रिः पक्षो वा।

सुपर्णो जीवः, परमात्मा च।

मन्त्रलिंगं च—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति॥

तयोरन्यो निर्लिप्तो विष्णुरिति सुपर्णो ग्राह्यः। सुपर्णः सूर्योऽपि।

मन्त्रलिंगं च—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्० १-१६४-४६)

भवतश्चात्रास्माकम्—

सृष्ट्वा जगत् सर्वविधं स तष्टा, विविक्तमात्रः स सुपर्ण एकः।
स एव दिव्यं गमयत्यजस्रं, सुपर्णमग्निं दिवि सूर्यसंघम्॥२४५॥
स एव विष्णुर्निजशक्तिभेदै-र्व्याप्नोति विश्वं विविधस्वरूपैः।
तमेव सूर्यं तमु वा सुपर्णं तमेव विद्वान्समलं ब्रुवन्ति॥२४६॥

सुपर्णः—१६२

पर्ण शब्द—हरित भाव (हरापन) में वर्त्तमान चुरादिगण की 'पर्ण' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर "पर्णः" शब्द साधु होता है। वृक्ष—लता—गुल्मादि के हरे पत्तों को पर्ण कहते हैं. पक्षी के पक्षों को भी पर्ण कहते हैं क्योंकि वे भी पर्णवत् होते हैं उन के साहाय्य से पतन अर्थात् उड्डयन रूप गति को करते हैं।

अच्छे सुन्दर मनोहर पर्ण पक्ष है जिस के वह "सुपर्ण" कहाता है। सुपर्ण शब्द जीव तथा परमात्मा का वाचक है।

इस में मन्त्र प्रमाण:—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ० इत्यादि

मन्त्र में 'अनश्नन्नन्यः' पद से सर्वव्यापक विष्णु ही अभिमत है। सूर्य भी सुपर्ण कहाता है—मन्त्र प्रमाण—इन्द्रं मित्रं०—स सुपर्णो गरुत्मान्। ऋग्

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—

सृष्ट्वा जगत् सर्वविधं स तष्टा० इत्यादि

वह निर्लेप तष्टा ब्रह्मा सारे विश्व को रचकर—सारे चराचर को निरन्तर गतिमत कर रहा है। स एव विष्णुर्निज ० इत्यादि

"विद्वान्समभितो वदन्ति ।" (अथर्व० १०-८-१७)

यदुक्तं सूर्यसंघम्, सूर्यादिनवग्रहसंघमिति बोध्यम् । गतिमत्त्वात् तेषामपि सद्भावात् । यथा हि हंसः सुपर्णः सूर्यः संपश्यन् विश्वानि भुवनानि याति, तथैवैते ग्रहा अपि विश्वानि भुवनानि पश्यन्तो यान्ति । भुवनानि-द्वादशराशिभिः सम्पृक्ता द्वादश भावाः । व्याख्यातं भूत-भव्य-भवत्पति-नामव्याख्याने ।

भुजगोत्तमः—१९३

भुज कौटिल्ये धातुः, भुजेन कौटिल्येन गच्छतीति भुजगः । कौटिल्यं हि नाम विषमगमनम् । विषमगतिर्हि वायौ, वायुर्हि गतेरधिष्ठानम् । तेषु भुजगेषु उद्गततमः । उत्तमशब्दे-उत्-उपसर्गस्तमप् च प्रत्ययः । तौ कंचन कृदन्तं धातुरूपमपेक्षत इति कृत्वा, उद्गततमः, उद्धृततमः, उद्याततम इत्याद्यूहनीयं भवति । तत्र च कृदन्तस्य स्वभावत स्वार्थो निहितो भवति ।

अथवा पक्षावेव भुजौ येषां ते पक्षिणो भुजगाः, तेषां मध्ये उत्प्लुततमो भुजगोत्तमः । एतेन विज्ञायते वायुर्जगति यद्यद् गतिमत् ततोऽप्यतिशयेन गतिमानिति भुजगोत्तमो विष्णुरुक्तो भवति । अत्र विश्वे सूक्ष्मात् पक्षवतः प्राणिन आरभ्य

वह एक ही विष्णु अपनी विविध शक्तियों से विविध रूपों को धारण करता हुआ इस विश्व में व्याप्त हो रहा है उस एक को ही विद्वान् इत्यादि नामों से व्यवहृत करते हैं।

"विद्वान्समभितो ब्रुवन्ति" इस में प्रमाण है । सूर्य संघ से अभिमत हैं 'सूर्यादि नव ग्रह' वे भी गतिशील हैं जैसे हंस सुपर्ण—सूर्य—विद्वान् आदि नामों से प्रसिद्ध सूर्य सारे विश्व को देखता हुआ चलता है वैसे ही शेषग्रह भी।

भुवनानि से १२ राशियों से सम्बद्ध द्वादश भाव हैं इस आशय को विराट् रूप में भूत—भव्य—भवत्पति नाम की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं।

भुजगोत्तमः—

कौटिल्यार्थक भुज धातु है। विषम गमन को कौटिल्य कहते हैं। विषमगति वायु की होती है। वायु ही गति का अधिष्ठान है।

टेढा मेढा चलने वाले को भुजग कहते हैं। भुजगों में भी अत्यंत गतिशील को भुजगोत्तम कहते हैं।

उत्तम शब्द में उत् उपसर्ग एवं तमप् प्रत्यय है। ये दोनों उपसर्ग एवं प्रत्यय किसी न किसी धातु की अपेक्षा करते हैं। अतः उद्गततमः, उद्धृततमः "इत्यादि की ऊहा करनी चाहिये। यहां कृदन्त का अर्थ स्वभाव से प्रच्छन्न होता है।

जिन की पक्ष ही भुजा हैं वे भी भुजग हैं अर्थात् पक्षी को भी भुजग कहते हैं क्योंकि वह भुजाओं (पक्षों) से ही उड़ता है। उन में जो अधिकतम उड़ने वाला है वह भुजगोत्तम है। वायु जगत् में अधिकतम गति वाले को भुजगोत्तम कहते हैं।

इस संसार में सूक्ष्म से सूक्ष्म पक्ष (पंख) वाले प्राणी से लेकर उत्कृष्ट उड्डयन सामर्थ्य

उष्ट्राकारशुतुर्मुर्गाख्यपक्षिपर्यन्तानामुड्डयनवतां मध्ये यो यो यस्माद् यस्मात् शीघ्रगतितमस्तत्र तत्र अल्पगतिमतोऽपेक्षया विष्णोर्व्यापनशक्तिरधिकेति कृत्वा विष्णुत्वं तस्मिन् विद्योतते। एतेन भुजगोत्तम-नाम्ना विज्ञायते यद् यत् स्थानं भुजगेन त्वरया लभ्यते तत् स्थानं तेन भुजगोत्तमेन विष्णुना पूर्वमेवाप्तं भवति।

मन्त्रलिंगं च—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ (यजुः ४०-५)

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजु० ३२-६)

यदत्र यान्त्रिकमुड्डयनं वैमानिकं नाम तत्रापि च वयांस्येव प्रमाणम् भवन्ति। अत्र विषये वेदे युक्तिः—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः। (ऋग्० १-२५-७)

समुद्रशब्दोऽत्राकाशवाचकः। आकाशीयं नौर्विमानमेव। तत्रापि च विविधगतिमतां विकल्पना भगवता कृतास्ति। तत्र-भुजगोत्तमो विष्णुरुड्डयनवतोऽपि प्राग् लब्धस्थानत्वाद् भुजगोत्तम उक्तो भवति।

विमानं त्रिवर्गं साधयति। विमानं हि तत्— १. यत् स्थानात् स्थानान्तरं नयति। २ द्वीपाद्द्वीपान्तरं नयति। ३. लोकाल्लोकान्तरं च नयति।

वाले प्राणी तक भुजगोत्तम संज्ञक भगवान् की शक्ति का अस्तित्व है। उड्डयन सामर्थ्य के न्यूनाधिक्य क्रमसे भगवान् का अंश भी वहां न्यूनाधिक होता है।

सारार्थ—इससे यह समझना चाहिये कि भुजगोत्तम पक्षी अपनी उड़न से जहां पहुँचता है वहां भुजगोत्तम संज्ञक भगवान् उससे पूर्व ही विराजमान है।

यजुर्वेदीय "तदेजति तन्नैजति इत्यादि येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा—इत्यादि मन्त्रों से भी उपर्युक्त कथन संगत होता है। इस अन्तिम मन्त्र में विमान नामक यंत्र का संकेत भी यही बतलाता है कि उड्डयनधर्मा यन्त्र विमान पक्षियों की ही यंत्रात्मक प्रतिकृति है।

ऋग्वेद के वेदा यो वीनां पदमित्यादि मंत्र में समुद्र शब्द से आकाश का भान है। आकाश की नौका विमान ही है।

पक्षियों में अनेकरूप की गति का सामर्थ्य भगवान् ने ही दिया है। विमानों में अनेकविध गति की व्यवस्था यान्त्रिकों ने की है।

सब प्रकार के उड़ने वालों में प्रथम स्थान भगवान् विष्णु का है। अतः उसको भुजगोत्तम कहते हैं।

यंत्रमय विमान तीन कार्य सिद्ध करता है।

(१) एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाता है।
(२) एक द्वीप से दूसरे द्वीप को ले जाता है।
(३) एक लोक से दूसरे लोक को ले जाता है।

भुजगोत्तमा विष्णुः सर्वत्र प्राप्तत्वाद्, व्यापनशीलत्वं तस्य विष्णोर्विज्ञापनाय 'भुजगोत्तम' इत्युक्तो भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

गतेरधिष्ठानमिहास्ति वायुः पतत्रिणो यान्ति यथेष्टवेगाः ।
वैमानिका चापि पतत्रिमूला जयन्ति नैते भुजगोत्तमं तम् ॥२४७॥

भुजगमधिकृत्य—

सर्पा भुजंगा भुजगास्त एव तत्रापि नानाकृतिवर्णभेदाः ।
कौटिल्ययोगाद्भुजगास्त उक्ता अत्येति विष्णुर्भुजगोत्तमस्तान् ॥२४८॥

हिरण्यनाभः—१६४

हिरण्यशब्दो व्युत्पादितचरो हिरण्यगर्भ इति नाम-व्याख्याने। हिरण्यं नाभौ यस्य स हिरण्यनाभः। अच् प्रत्यन्वव (५-४-७४) सूत्रे अच् इति योगविभागात् समासान्ताच्प्रत्ययेन हिरण्यनाभः सिद्धो भवति। नाभि शब्दो हि–'णह बन्धने' दैवादिकः, तस्मात् 'नहो भश्च' (उणा० ४-१२६) सूत्रेण इञ्प्रत्ययो भकारश्चान्तादेशः। नह्यतीति नाभिः, हिरण्यं तेजसं नह्यति बध्नातीति हिरण्यनाभिः।

भगवान् सर्वत्र है और उसके व्यापनशील को बतलाने के लिये उसको भुजगोत्तम कहते हैं।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक से एवं व्यक्त करता है :—

गति का अधिष्ठान वायु है। आकाश में पक्षी अपनी इच्छानुसार वेग से उड़ते हैं। विमान का प्रादुर्भाव पक्षी के पंख एवं उड़ने को देख कर ही है। विमान भी भुजगोत्तम विष्णु को नहीं जीतते हैं। विमान जितनी लम्बी व ऊंची उड़ान लेता है भगवान् उससे अधिक लेने का सामर्थ्य धारण करता है।

सर्प को भुजंग एवं भुजग कहते हैं। इसकी भी आकृति, वर्ण, बल, आयु भेद से अनेकता है अर्थात् सर्प भी आकृति, बल, आदि के कारण अनेक प्रकार का होता है। कौटिल्य (टेढी मेढी) गति से चलने के कारण सर्प को भुजग कहते हैं। भगवान् को भुजगोत्तम कहते हैं। भगवान् भुजगोत्तम इन को भी अपनी गति से पीछे कर देता है अर्थात् जिस प्रकार की इनकी अत्युत्कृष्ट गति होती है उससे भी अत्युत्कृष्टतम गति भुजगोत्तम भगवान् की है।

हिरण्यनाभः—

हिरण्यगर्भ नाम के व्याख्यान में हिरण्य शब्द का व्याख्यान हो चुका है। जिस की नाभि में हिरण्य है उस को हिरण्यनाभः कहते हैं। अच् प्रत्यन्वव सूत्र में "अच्" इस योग विभाग से समासान्त अच् प्रत्यय होने पर हिरण्यनाभः शब्द सिद्ध होता है।

दिवादिगण की बन्धनार्थक णह् धातु से "नहो भश्च" सूत्र से इञ् प्रत्यय एवं भकार का अन्तादेश होने पर नाभिः शब्द सिद्ध होता है। जो बांधता है उसे नाभिः कहते हैं। सूर्यादि तेजोमयों के बांधने वाले को हिरण्यनाभः कहते हैं। चक्र के मध्य को नाभिः कहते हैं।

नाभिश्चक्रमध्यं लोके प्रसिद्धम् । प्राण्यवयवश्च नाभिः । पक्वामाशययोर्मध्ये सिरा-प्रभवं नाभिर्नाम मर्म ।

यावत्यस्तु सिराः काये सम्भवन्ति शरीरिणाम् ।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥
(सुश्रुत श० ६-२६)

नाभिस्था प्राणिनां प्राणा प्राणान्नाभिर्व्यपाश्रिता ।
सिराभि-रावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥
(सुश्रुत शारीर० ७।४.५)

यथा सर्वसिराणां निबन्धनस्थानं नाभिस्तथा सूर्यादिलोकानां ग्रहोपग्रहयुक्तानां भगवान् विष्णुरेव बन्धनकर्तृत्वान्नाभिः । यथा नाभावरा ओता न विशीर्यन्ते, परन्तु चक्रयन्ति चक्रं तथैव 'हिरण्यनाभिः" इति नामवता विष्णुना यथास्थानं कीलिता नद्धा वा सन्तो ग्रहा स्वकेन व्यवस्थितमार्गेण भ्रमन्ति भ्रमयन्ति च चतुर्विधप्राणि-जगत्——तद्यथा उद्भिदः—औषधि-वृक्ष-लता-गुल्मादयो यथा नियतकालं पत्र-पुष्प-फलादिभिर्युक्ता भवन्ति, स्वेदजाः-लिक्षा-यूका-वृश्चिक-पतङ्गादयो नियत-स्वेदोष्म-गन्धकाल एव उत्पद्यन्ते न तु यथेष्टम् । तथैवाण्डजाः- पृथक् पृथग् ऋतावुत्पद्यन्ते । तथा च जरायुणा सह प्रसवतां प्राणिनां निबन्धनं नाभिमर्म । तथैव भगवान् विष्णुः सर्वं नाक्षत्रं जगद् ग्रहोपग्रहसहितं विष्णुना निबद्ध नेतस्ततः स्वैरं विकलात्मकमपि भवति ।

प्राणी के शरीर का एक अवयव भी नाभि नाम से प्रसिद्ध है। पक्वाशय एवं आमाशय के मध्य सिराओं से बने हुये मर्म स्थान को नाभि कहते हैं। इसी वाक्य की संगति सुश्रुत के शारीर स्थान के यावत्यस्तु सिराः काये इत्यादि श्लोक से होती है। सुश्रुतकार तो नाभिस्था प्राणिनां प्राणाः इत्यादि श्लोक लिख कर यह कहते हैं कि प्राणियों के प्राण नाभि में ठहरे हुये हैं अर्थात् इसी के आश्रय हैं।

जिस प्रकार सारी सिराओं का नाभि ही बंधन स्थान है उसी प्रकार ग्रह-उपग्रह युक्त सूर्यादि लोकों का नाभिः (बंधन स्थान) भगवान् विष्णु ही है। जिस प्रकार चक्र की नाभि में ओतप्रोत हुये आरे शिथिल नहीं होते अपितु चक्र को चलाते ही है, ठीक उसी प्रकार हिरण्यनाभिः संज्ञक भगवान् द्वारा कीलित या बद्ध सूर्यादि ग्रह अपने २ निर्धारित मार्ग पर घूमते है एवं चारों प्रकारों के प्राणियों को घुमाते हैं। स्पष्टतः औषध, वृक्ष, लता गुल्मादि उद्भित्सृष्टि नियत समय पर ही पत्र पुष्प एवं फल देती है। लीख, जूं, पतंगादि निश्चित स्वेदोष्मगन्ध के समय ही उत्पन्न होते हैं अपनी इच्छा से उत्पन्न नहीं होते हैं।

इसी प्रकार अण्डजसृष्टि भी पृथक् पृथक् ऋतु में पृथक् पृथक् अण्डों से उत्पन्न होती है। जेर के साथ उत्पन्न होने वाले जीवों का बंधन मर्मस्थान नाभि है।

ठीक उसी प्रकार ग्रह एवं उपग्रह सहित यह सम्पूर्ण नक्षत्रमय संसार भगवान् विष्णु से बंधा हुआ अपनी इच्छा से किञ्चिन्मात्र भी इधर उधर नहीं होता है।

भवति चात्रास्माकम्—

हिरण्यनाभो भगवान् स विष्णुश्चराचरं नह्यति विश्वमात्रम् ।
यथा स लोकान् ध्रियते तथात्मा हिरण्यनाभो ध्रियतेऽथ गात्रम् ।।२४८।।

गात्रम्=शरीरम् ।

उक्तं च——अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तस्मिन् हिरण्मयः कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः । तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः । अथर्वः

हिरण्यं नह्यति बध्नाति वा हिरण्यनाहः सन् हिरण्यनाभ उक्तो भवति ।

सुतपाः—१९५

सु—शोभनार्थेऽव्ययम् । तपो हि नाम मनस इन्द्रियाणाञ्चैकीभावः । क्लेश-सहिष्णुता वा तपः ।

धातूनां द्रावो महता तापेन क्रियते, ते धातवो जलवद् द्रवन्तोऽपि खं-वियत्-शून्यपर्य्यायं न दहन्ति, परन्तु खे-आकाशे धातूनां द्रवता क्रियते । तथैवायं भगवान् अभीद्धेन तपसा सूर्यादिग्रहोपग्रहयुक्तं विश्वं रचितवानिति कृत्वा स विष्णुः 'सुतपाः' इति शब्देनोक्तो भवति । मन्त्रलिंगं च—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ।।

तपसो ब्रह्मण इति ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक से एवंविध व्यक्त करता है :—

हिरण्यनाभ संज्ञक भगवान् इस चराचर जगत् को बांधे हुये है । जिस प्रकार परमेश्वर समस्त लोकों को धारण करता है उसी प्रकार हिरण्यनाभ रूपी आत्मा नाभि के माध्यम से शरीर को बांधे हुये है अर्थात् नियंत्रण के किये हुये हैं ।

अथर्ववेदीय अष्टाचक्रा नवद्वारा—इत्यादि मन्त्र से उपर्युक्त कथन चरितार्थ होता है ।

तेजःपुञ्ज सूर्यादिग्रहों के नियंत्रण करने वाले को हिरण्यनाहः कहते हैं । हिरण्यनाहः-भगवान् को भकारादेश से हिरण्यनाभः कहते हैं ।

सुतपाः—१९५

सु उपसर्ग शोभन (अच्छा) अर्थ में है । मन और इन्द्रियों का कार्य सिद्धि हेतु एक होना अथवा क्लेश का सहना तप कहलाता है । बहुत ही तीव्र ताप के द्वारा लोह आदि धातुओं को गला कर जलवत् द्रव किया जाता है । परन्तु वे लोह आदि धातु आकाश को जलाने में समर्थ नहीं होते । परन्तु धातुओं का द्रवीकरण खाली स्थान में किया जाता है । इसी प्रकार भगवान् ने अभीद्ध तप से सूर्यादि ग्रहोपग्रह युक्त विश्व को रचा है, इसलिये भगवान् विष्णु 'सुतपाः' नाम से व्यवहृत किया गया है ।

मन्त्र प्रमाणः—ऋतं च सत्यं•—इत्यादि ऋग्

अत्र सृष्टौ तपोमूलमस्त्यत एवं सर्वाणि कर्माणि तपोऽपेक्षन्ते, तस्मात् तपोरूपो भगवान् सर्वत्र तपोनियमेन व्यनक्त्यात्मानम्। तद्यथा गर्भो नवमासान् मातुर्गर्भे तपो विषहमाणः सर्वाङ्गसम्पूर्णो जायते तत् तस्यैव विष्णोः स्वकं रूपं विज्ञापनं वा।

भवति चात्रास्माकम्—

यथा स विष्णुः सुतपाः स्वयं सन् सूर्यादिकानां सहतेऽथ तापम्।
तथा स्वयं तापसुतप्तगात्रा गर्भस्य तापं सहते तथाम्बा ॥२५०॥

जन्तूनां प्रसवे कालभेदो तपसो नैयून्यमतिशयत्वं वा ज्ञापयति शश-श्वा-अज-मूषक-पुरुष-गो-महिषी-वडवा-उष्ट्रोणां गर्भपरिपाककालो भिन्नो भिन्न इति। एतेन ज्ञापयति भगवान् विष्णुर्यद् यथावस्तु तपसोऽप्यावश्यकता भिन्ना भिन्नैव।

किंचिद् भेदेन पुनरस्माकम्—

स एव विष्णुः सुतपाः स्वयं सन् गर्भे दधात्येव दिवाकरादीन्।
मातापि तद्वत् "सुतपा" यशोधृक् गर्भान् दधात्येव यथार्हकालम्। ॥२५१॥

पद्मनाभः—१९६

पद गतौ, दिवादिः। अर्त्ति-स्तु-सु-हु-सृ-घृ-क्षि-क्षु-भा-या-वा-पदि-यक्षि-नीभ्यो मन् (उणादि १-१४०)। पद्यते प्राप्नोति पद्मं कमलं निधिः शंखो वा।

इस विश्व में सब कर्मों का मूल तप की अपेक्षा करता है। इस प्रकार 'तपः' रूप भगवान् सर्वत्र 'तपः' नियम से अपने आप को व्यक्त करता है। जैसे—गर्भ नौ मास तक माता के गर्भ में रह कर ताप को सह कर दसवें मास में सर्वांग सम्पूर्ण उत्पन्न हो जाता है यह उस विष्णु की व्यवस्था ही बताती है कि सब कार्य तपोमूलक हैं, यह व्यवस्था ही तपः रूप में भगवान् की सर्वत्र व्यापकता को बतला रही है।

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है:—यथा स विष्णुः सुतपाः स्वयं सन् इत्यादि

जैसे वह विष्णु स्वयं महातपस्वी होता हुआ सूर्यादि महातेजस्वियों के तेजः को सहता है उसी प्रकार ताप से तप्त शरीर माता ९ मास तक गर्भ के संताप को सहती है। प्राणियों का जन्म काल का भेद तपः के न्यूनातिशयता का ज्ञापक है। जैसे—शश—कुत्ता—बकरी—मूसा—मनुष्य—गौ—भैंस—घोड़ी—ऊंट इत्यादि का गर्भ पाक काल भिन्न २ है, इससे भगवान् जतलाते हैं कि—जो जैसी वस्तु है उसके लिये वैसा ही तपः अपेक्षित होता है।

यहां हमारा कुछ भेद से पुनः संक्षेप श्लोक है—

स एवं विष्णुः० सुतपाः संज्ञक विष्णु महातपस्वी के रूप में सूर्यादि को अपने गर्भ में धारण किये हुए है। उसी प्रकार से माता भी अपने अपने नियत प्रसव काल तक तपस्वी की भांति अपने अपने गर्भों को धारण करती हैं।

पद्मनाभः—१९६

जिस से जाना जाये उसे "पद्म" कहते हैं पद्म अर्थात् ज्ञान है नाभि में जिस के वह "पद्मनाभ" कहाता है। "अन् प्रत्ययपूर्वात् सामलोम्नः" सूत्र के योगविभाग करने से बहुव्रीहि

पद्यते ज्ञायतेऽनेन इति पद्मं, ज्ञानं पद्मं नाभौ यस्य स पद्मनाभः। अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः (५-४-७५) अनेन अच् इति योगविभागात् सामान्येन समासान्तो बहुव्रीहावच् प्रत्ययः। तेन पद्मनाभ-शब्दार्थो भवति ज्ञाननाभः, यदेतद् विश्वे ज्ञानगोचरतामुपैति तत् सर्वं ज्ञानस्वरूपेण विष्णुना नद्धं बद्धं कीलितमास्ते, तद्यथा—कदलीवृक्ष एकधैव फलं ददाति दधाति वा, स यदि द्विः फलति तदा कदलित्वं तस्य विहतं भवति, एतस्य विश्वस्य ज्ञानं क्व निहितमस्तीति ज्ञानाय वैदिकं ज्योतिर्विज्ञानं पठनीयम्।

प्रतिवृक्षजाति पद्मनाभेन ज्ञानबन्धनेन सर्वत्र व्यापकेन विष्णुना पृथक् पृथग् गन्धः पत्रं फलं स्वादमयं कृतमस्ति, एवमेव प्रतिप्राणिजाति ज्ञानपूर्वकं भेदः कृतोऽस्ति। सारांशतो यो हि प्रभुकृतस्य विश्वस्य यत् किंचित् तत्त्वतो ज्ञानाय यतते स पद्मनाभस्य तावज्ज्ञानाय यतत इत्यवधार्यम्।

भवति चात्रास्माकम्—

> स पद्मनाभो भगवान् विरामो ज्ञानेन संनह्यति वेद[1] सृष्टिम्।
> यो यस्य यावल्लभते ह वेदं स पद्मनाभं लभते ह तावत् ॥२५२॥

विरामो विष्णुः, सहस्रनामसु पठितत्वात्। 1. वेदाश्चत्वारः=चतुर्भेदभिन्नां सृष्टिमित्यर्थः।

समास में समासान्त 'अच्' प्रत्यय होकर "पद्मनाभ" ऐसा साधु होता है।

पद्मनाभः शब्द के अर्थ को "ज्ञाननाभः" ज्ञानबन्धनः" शब्द से भी समझ सकते हैं अतः वह भगवान् पद्मनाभः ज्ञाननाभः ज्ञानबन्धनः कहाता है।

यह सारे का सारा विश्व उस "ज्ञानबन्धन" विष्णु ने अपने ज्ञान से बान्ध रखा है। जैसे कदली वृक्ष एक बार ही फल देता है यदि वह कदली वृक्ष दो बार फल देने लगे तो कदली वृक्ष ही नहीं रहता। इस विश्व का ज्ञानस्रोत कहां है? यह जानने के लिये वैदिक ज्योतिर्विज्ञान पढ़ना चाहिये, जैसा कि हम यथा स्थान व्याख्या में दर्शाते भी हैं।

पद्मनाभ अर्थात् "ज्ञानबन्धन" नामक सर्वत्र व्यापक भगवान् ने प्रति वृक्ष जाति में पृथक् पृथक् उन का गंध—पत्र—फूल—फल—स्वाद बनाया हुआ है। इसी प्रकार प्रति प्राणि जाति में ज्ञान पूर्वक उसके गुण—धर्म—शरीर—वयः आदि का निबन्धन किया हुआ है प्राणी के सप्त धातु उपधातु अपनी मर्यादा में बंधे हुए पृथक् पृथक् रस गंध एवं गुणों को अनादि काल से बंधे हुए वहन करते आरहे हैं।

सारांश यह है कि जो कोई प्रभुकृत इस विश्व को तत्त्वतः (सूत्रतः) जानने के लिये जितना यत्न करता है वह वास्तव में उतना ही "पद्मनाभः" संज्ञक भगवान् के स्वरूप व उसकी व्यवस्था को जानने में यत्न करता है। ऐसा समझना चाहिये।

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—

स पद्मनाभो भगवान् विरामो० इत्यादि

नाभिः स्तभ्नाति मर्त्यम्—

नाभिर्यथा नह्यति मर्ममात्रं, ज्ञानं तथा नह्यति भूतमात्रम् ।
पद्मप्रभं विश्वमिदं समस्तं वध्नाति विष्णुः प्रतिकल्पनेऽत्र ॥२५३॥

प्रजापतिः—१९७

प्रजानां पतिः प्रजापतिः स एव भगवान् विष्णुः । मन्त्रलिंगं च—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । (यजु० १०-२०)

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु । (यजुः ३२।८)

इतरोऽपि प्रजापतिः कुम्भकारो नामैतस्मादेव । यतः स कुम्भकारोऽपि प्रजापतिरिव प्रजानां विविधावश्यकतानां पतिरिव पूरको भवति विविधमृत्पात्र-निर्माण-कर्मणा ।

भवति चात्रास्माकम्—

वह पद्मनाभ व विराम संज्ञक भगवान् चतुर्विध सृष्टि को ज्ञान पूर्वक बान्धे हुए है, जो इस विश्व के जिस जिस पदार्थ को मूलतः जानने का यत्न करता है वह उतना ही भगवान् के पद्मनाभ स्वरूप को जानने का यत्न कर रहा है ऐसा समझना चाहिये ।

नाभि मर्म मनुष्य को बान्धती है—इस पर हमारा यह संक्षेप श्लोक है—

नाभिर्यथा नह्यति मर्ममात्रम् ० इत्यादि

जैसे नाभि शरीर के मर्मों को बान्धती है, वैसे ही ज्ञान प्राणी मात्र को बान्धे हुए है । यह सारा विश्व पद्मप्रभ अर्थात् ज्ञान से प्रकाशित होरहा है, वह भगवान् इस विश्व को कल्प—कल्पान्तरों से बांधे हुए है ।

गति अर्थ में वर्त्तमान 'पद' धातु से अर्ति–स्तु–सु–इत्यादि उणादि—सूत्र से 'मन्' प्रत्यय होकर पद्म शब्द साधु होता है । पद्म का पर्यायवाची —पद्म—कमल—निधिः—शंख—आदि का भी वाचक होता है ।

प्रजापतिः—१९७

प्रजाओं (उत्पन्न किये हुओं) का पतिः (स्वामी) "प्रजापतिः" कहाता है । वह भगवान् विष्णु है ।

मन्त्र प्रमाणः—

प्रजापते न त्वदेता० इत्यादि—यजुः

स ओतश्च प्रोतश्च विभुः प्रजासु ॥ यजुः

लोक में कुम्भकार को भी प्रजापति इसी हेतु से कहते हैं यतः वह भी प्रजाओं की आवश्यकताओं को मिट्टी के विविध पात्रों को बना कर पूरा करता है, आवश्यकताओं को पूरा करना ही उन प्रजाओं का पालन करना है ।

यहां आचार्य का यह संक्षेप श्लोक है—

प्रजापतिः सर्वप्रजा जनित्वा भोज्येन धामेन च पाति सर्वाः ।
स एव चायुर्निदधाति तासु स ओत एवास्ति समग्रविश्वे ॥२५४॥

अमृत्युः—१९८

मृङ् प्राणत्यागे तौदादिकः । अस्माद् धातोर्युजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ (उणादि ३-२१) सूत्रेण त्युक् प्रत्ययः । मरणं मृत्युः । प्राणैर्वियोगो मृत्युः । म्रियन्ते जना अनेनेति वा मृत्युः । निषेधार्थकेन 'नञा' समासे सति "अमृत्युः" इति शब्दो निष्पद्यते । यथा यद् भगवता मृत्युना विष्णुना निर्मितं ततो विपरीतीभावो मृत्युर्विनाशो वा । तद्यथा——शरीरात्मसंयोगमापकः काल आयुरुच्यते । जीवनं वा । जंङ्घे पृथक्-पृथक् कार्यं कुरुत इति, तयोर्द्वयोरेकीभावो मृत्युः । अंगुल्यः पृथक्-पृथक् सन्त्यः कार्यक्षमा भवन्ति, तेषां एकीभावो मृत्युः । शिरःकपालास्थीनामचलसन्धिना बद्धानां पृथकीभावो मृत्युः । एतत् सर्वं संयोग-वियोगात्मकं नाश-सूचकं भगवतो न विद्यत इत्यमृत्युः ।

यथा भगवानमृत्युस्तथैव भगवता यन्निर्मितं तस्योच्छेदो सर्वथा न भवति । तद्यथा

प्रजापतिः सर्वप्रजा जनित्वा ० इत्यादि

प्रजापतिः भगवान् विष्णु सब प्रजाओं को उत्पन्न करके उनको भोजन—छादन—तथा निवास का प्रदान करने से पालन पोषण करता है, वह विष्णु ही प्रत्येक उत्पद्यमान में आयु का प्रतिष्ठान करता है, वह विष्णु ही समग्र विश्व में ओत प्रोत हो रहा है ।

अमृत्युः—१९८

मृत्युः—प्राण छोडने अर्थ में वर्त्तमान तुदादिगण की मृङ् धातु से—युजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ इस उणादि सूत्र से त्युक् प्रत्यय होकर "मृत्युः" शब्द साधु होता है । जो मरता है उसे मृत्यु कहते हैं । प्राणों से पृथक् होना मृत्यु कहाता है । अथवा जिस के द्वारा प्राणी प्राणों से वियुक्त किये जाते हैं वह मृत्यु कहाता है । मृत्युः शब्द निषधार्थ "नञ्" के साथ समास को प्राप्त होकर 'अमृत्युः' शब्द साधु होता है । भगवान् विष्णु ने जिस को जिस प्रकार का बनाया है उसका उलट होना उसका मरण अथवा विनाश कहाता है । जैसे शरीर आत्मा का संयोग मापक काल आयु कहाता है, इसको "जीवन" भी कहते हैं । शरीर में जङ्घायें दो हैं वे जब तक पृथक् पृथक् हैं तब तक कार्य करने में समर्थ हैं, अर्थात उन में उसी पृथक् २ अवस्था में रहते ही जीवन—कार्य करने का सामर्थ्य है, उनको यदि बांधकर एक कर दिया जाये तो वे कार्य करने में असमर्थ हो जायेगीं, उन पृथक् २ जघांओं का विपरीतीभाव हुआ उनको एक करना, बस, यह एकीभाव ही उनकी मृत्यु है । इसी प्रकार शरीर की अंगुलियाँ पृथक् २ रहती हुई कार्य करने में समर्थ हैं पृथक् २ रहते हुये ही इनका जीवन है, यदि इन अंगुलियों को बांधकर एक कर दें तो वह इन अंगुलियों की मृत्यु अर्थात् कार्य करने में अशक्ति होना ही "विनाश" कहायेगा । सिर की कपाल— अस्थियां अचल सन्धि से बन्धी हुई हैं उन को पृथक् २ करना 'मृत्यु' है । भगवान् में यह जोड़ तोड़ न होने से वह 'अमृत्युः' कहाता है । जैसे भगवान् अमृत्यु है उसी प्रकार भगवान् ने इस विश्व

तुर्यविध-सृष्टेः सत्ता विनाशोदयावाकल्पं स्थास्यत इति सिद्धान्ततो मृत्युः सर्वत्र व्यापकं दृश्यते। सारांशतो यथा भगवानमृत्युस्तथैव तत् कर्माप्यमृत्युरविनाशवानिति, वीचितरंगन्यायवदमर इति। तत्कर्माप्यमृत्यु-अविनाशवदिति। मन्त्रलिंगं च—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
अथर्वः १०-८-४४॥

भवति चात्रास्माकम्—

अमृत्युरस्त्यत्र स विष्णुरुक्तः प्रवाहतोऽमृत्युरिदं समस्तम्।
यथाकृतं यद् विभुना तथा तत् क्रियाक्षम मृत्युरतोऽयथात्वम्॥

मृत्युः शब्दः पुंल्लिंगः स्त्रीलिंगश्च।

सर्वदृक्—१९९

सर्वं चराचरं पश्यतीति सर्वदृक्।

दृशिर् प्रेक्षणे भ्वादिः। तस्मात् कर्मण्युपपदे "दृशेश्चेति वक्तव्यम्" वार्त्तिकेन क्विन् प्रत्ययः। "क्विन् प्रत्ययस्य कुः" (पा० ८-२-६२) तेन "सर्वदृक्" शब्दः साधुर्भवति। मन्त्रलिंगं च—

में जो कुछ बनाया है उसका विनाश अर्थात् अत्यन्ताभाव नहीं होता। संक्षेप में इसे इस प्रकार समझना चाहिये कि जैसे भगवान्–अमृत्यु है वैसे उसके कार्य भी वीचितरङ्ग न्याय की भांति सदा ही 'उत्पत्ति तथा विनाश" रूप धर्म को प्राप्त होते रहने से अमर हैं।

मन्त्र प्रमाण– अकामो धीरो अमृतः इत्यादि अथर्व

यहां हमारा यह संक्षेप श्लोक है—

अमृत्युरस्त्यत्र स विष्णुरुक्तः ० इत्यादि

भगवान् विष्णु यहाँ 'अमृत्युः' कहा गया है उसी प्रकार यह समस्त विश्व भी प्रवाह से "अमृत्युः" ही है। भगवान् ने जिसे जैसा बनाया है उसका उसी स्वरूप में रहना अमृत्युः अर्थात् जीवन है, क्रियाशीलता है, इस के विपरीत मृत्यु है।

मृत्यु शब्द—पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिंग में है।

सर्वदृक्– १९९

सम्पूर्ण चराचर के द्रष्टा को सर्वदृक् कहते हैं। देखना अर्थ में वर्त्तमान "दृश्" धातु से द्वितीयान्त "सर्व" कर्म के उपपद रहते हुये 'दृशेश्चेति वक्तव्यम्' वार्तिक से क्विन् प्रत्यय होता है, तथा च "क्विन् प्रत्ययस्य कुः" सूत्र से दृश् के 'शकार' को कवर्गादि होकर "सर्वदृक्" शब्द साधु होता है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखः । (ऋग्० १०-८१-३ । यजु० १७-१९ । अथर्व० १३-२-२६)

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥
(अथर्व० १०-८-१८)

सूर्याचन्द्रसौ विष्णोश्चक्षुषी ।. भगवतो विराट्स्वरूपव्याख्याने मन्त्रा उदाहृतचराः सन्ति ।

भवति चात्रास्माकम्—

स सर्वदृक् विष्णुरमीलिताक्षश्चन्द्रार्कनेत्रः सकलं विचष्टे[1] ।
यस्तं विभुं सर्वदृशं हृदिस्थं जानाति, नातिक्रमते स वर्त्म ॥२५६॥

1. चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेऽपि । विचष्टे–विशेषेण पश्यतीत्यर्थः ।

सिंहः—२००

हिसि हिंसायाम्, रौधादिकः । हिनस्तीति सिंह, पृषोदरादित्वादाद्यन्तविपर्ययः । सिहि हिंसायाम् स्वतन्त्रं धातुं मन्यन्ते क्षीरस्वामिप्रभृतयो वैयाकरणाः ।

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखः" ऋग्—यजु, अथर्व

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ० इत्यादि अथर्व के मन्त्र प्रमाण हैं ।

सूर्य और चन्द्रमा उस विष्णु की आंखें हैं भगवान् का विराट् स्वरूप दर्शाते हुए उन मन्त्रों का निर्देश कर दिया है ।

भाष्यकार इसी भाव को अपने श्लोक में एवं व्यक्त करता है । वह सर्वदृक् एवं चन्द्रमा के नेत्र संज्ञक भगवान् आंखें खोले हुए सम्पूर्ण विश्व को देखता है । जो व्यक्ति उस सर्वद्रष्टा परमेश्वर को अपने हृदय में विराजमान समझता है वह उसके मार्ग का उल्लङ्घन नहीं करता ।

भाष्यकार के श्लोक में विचष्टे का अर्थ देखना है । चक्षिङ् धातु बोलने एवं देखने दोनों अर्थों में है । यह धातु देखना सहित बोलने में व्यवहृत होने के कारण "चक्षु" शब्द नेत्र संकेत से भी अपने अभिमत को व्यक्त करता है ।

सिंहः—२००

सिंहः—शब्द में– हिंसा अर्थ में वर्त्तमान रुधादिगण की "हिसि" धातु से 'पृषोदरादि' यम से आदि अन्त का विपर्यय होने पर हिनस्तीति हिंसः ऐसा न होकर 'सिंह' ऐसा शब्द साधु होता है । क्षीर स्वामी जैसे उद्भट वैयाकरण जन "सिहि" ऐसा ही स्वतन्त्र धातु हिंसा अर्थ में मानते हैं उनके मत से पृषोदरादि गण के सहारे की आवश्यकता ही नहीं पड़ती ।

प्रति वस्तु अपने से विपरीत में वैर (अप्रीति) प्रकट करती है, और अनुकूल में प्रीति (राग) प्रकट करती है । जैसे– यदि बाहर इस विश्व में वायु का प्रकोप

प्रति वस्तु विपरीते वैरं, अनुकूले प्रीतिं प्रकटयति। तद्यथा—बाह्यजगति वायोः प्रकोपः शरीरवायुं प्रकोपयति। बाह्यजगति जलप्रकोपः शरीरे जलधातुं प्रकोपयति। अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा। आकाशमारुताभ्यामग्निर्बलमुपैति। जलपृथिवीभ्यामग्निर्नाशमुपैति। एवमेव पृथिवी सावकाशं पूरयति, उत्खातश्च पृथिवीं निरस्याकाशमारुताभ्यां पूरितो भवति, इति दिङ्मात्रमुक्तम्। सर्वमेवैतत् षड्रसमयं, तद्यथा—उक्तं च शाङ्गधरसंहितायाम्—

धराम्बु-क्ष्मानल-जलज्वलनाकाशमारुतैः।
वाय्वग्नि-क्ष्मानिलै-र्भूतद्वयै रससम्भवः क्रमात्॥

उक्तं च चरके—

तत्र दोषमेकैकं त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा—कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं जयन्ति, कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति, मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति,
च०—वि०—स्थान०—१-६

एवं प्रतिवस्तु हिनस्ति-धर्मं प्राप्नोति, तस्मात् स भगवान् स्वयं सर्वस्य व्यवस्थाता सन् व्याप्नोति-धर्मेण "सिंह" उक्तो भवति।

भवतश्चात्रास्माकम्—

हो तो वह वायु शरीर के अन्तश्चारी वात दोष को प्रकुपित करता है। इस जगत् में यदि जल की प्रकोप (बाढ़) हो तो वह शरीर के अन्दर विचरने वाले जलमूलक (कफ) को कुपित कर देता है। सावकाश स्थान में वायु के संयोग साहाय्य से 'अग्नि' बल को प्राप्त करता है उसके विपरीत जल और पृथिवी से अग्नि नाश को प्राप्त होता है। इसी प्रकार पृथिवी खाली स्थान को भरती है अर्थात् वहां से आकाश को निकालती है और भूमि को उत्खनन (खोदना) मिट्टी को निकाल कर आकाश और वायु को भरता है, यह संक्षेप से व्याख्यान का मार्ग दर्शाया है। यह सारा जगत् षड्रसमय है।

शारङ्गधर संहिता में कहा भी है—

धराम्बुक्ष्मानल० इत्यादि।

चरक में भी कहा है—तत्र दोषमेकैकं त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयश्चोपशमयन्ति तद्यथा इत्यादि।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में मारना, दूसरे का नाश करना धर्म है इस लिए वह भगवान् विष्णु प्रत्येक वस्तु में "हिंसा" धर्म का व्यवस्थापक होने से "सिंह" नाम से सर्वत्र व्यापक होता हुआ विष्णु कहाता है।

यहां हमारे ये दो संक्षेप श्लोक हैं—

हिनस्ति यस्मात् प्रतिवस्तु वस्तु व्याप्नोति विश्वं स हि सिंहशक्त्या ।
न तद्विना कोऽपि क्षमोऽस्ति लोके विरुद्धभूतानि नियोजयेद् यः ॥२५७॥

तस्मात् स सिंहः प्रतिवस्तुनिष्ठो विरुद्धभावैर्जगदातनोति ।
तं व्यापकं सर्वकलाभिरामं विष्णुं वदन्त्येव च सिंहनाम्ना ॥२५८॥

चकारोऽत्र पादपूरणार्थः ।

इति महाभारतानुशासनपर्वान्तर्गतस्य (अ० १४९)
विष्णुसहस्रनामस्तोत्रस्य वेदप्रमाणोपबृंहित–
सत्यभाष्यस्य द्वितीयं शतकं
पूर्णतामगमत् ।

हिनस्ति यस्मान्० इत्यादि ।

प्रत्येक वस्तु अपने से भिन्न में वैर—अप्रीति रखती है इस लिए सिंह (हिंस्र) शक्ति से सारे विश्व को व्याप्त कर रहा है । उस सर्वव्यापक महान् शक्तिशाली भगवान् के बिना ऐसा कौन है जो परस्पर विरुद्ध भूतों को इस विश्व के हित में लगाकर—उत्पत्ति और विनाश में समर्थ करे । इस लिये वह "सिंह" स्वरूप से प्रत्येक वस्तु के अन्दर विराजमान हो रहा है परस्पर विरुद्ध भूतों के समवाय से विश्व को रचे हुये है, उस सर्वव्यापक सर्वप्रिय भगवान् विष्णु की "सिंह" नाम से तत्त्ववेता जन स्तुति करते हैं ।

महाभारत अनुशासन पर्व (अ० १४९) अन्तर्गत विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र के वेदप्रमाण से बृंहित सत्यभाष्य का द्वितीय शतक पूर्ण हुआ ।

संधाता—२०१

समेकीभावेऽव्ययम् । दधातीति धाता । दधातेः कर्त्तरि तृच् प्रत्ययः । भगवान् संधाता विष्णुः सर्वं विश्वमेकीभावेन दधाति । लोकेऽपि पश्यामः—

पादांगुलीन आरभ्य शिखान्तं यावत् सर्वं शरीरं जीवो मनसा प्रेरितो स्थानान्तरं जिगमिषुः सन् संधातृभगवतो गुणं बिभ्रत् समग्रं शरीरमेकात्मरूपेण दधद् याति । वृक्षोऽपि सपञ्चांगमेकीभावेन वर्धत इति ।

उद्यन् सविता सर्वपरिच्छदं समानरूपेण दधातीत्येवमादिकं स्वयमूहनीयम् । सर्वत्र च भगवतः संधातृरूपो गुणो दृश्यते तेन संधात्रा व्यवस्थापिते विश्वे ।

भवति चात्रास्माकम्—

संधातृधर्मा भगवान् वरेण्यो भेदं विना विश्वमिदं बिभर्त्ति ।
तथा यथा स्थानमभीप्सुरात्मा, सर्वांगरूढं नयते ह कायम् ॥२५८॥

मन्त्रलिंगं च—

स दधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।
(यजु०)

स विष्णुः पृथिवीं द्यां चैकीभावेन दधातीति विष्णुरुक्तो भवति ।

सन्धाता—२०१

सब विश्व को एकरूप से धारण करनेवाला । सम् एकीभावार्थक अव्यय है । धारण करने वाले का नाम धाता है । डुधाञ् धारण तथा पोषणार्थक धातु से कर्ता अर्थ में तृच् प्रत्यय करने से धाता शब्द बनता है । सब विश्व को जो समान=एकरूप से धारण करता है उसका नाम सन्धाता है, भगवान् विष्णु का नाम है । लोक में भी देखा जाता है, यह जीवात्मा जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना चाहता है तब पादांगुलियों से शिखा पर्यन्त सकल शरीर को साथ में लेकर जाता है, क्यों कि यह भी भगवान् के सन्धातृत्वरूप गुण को धारण करता है । समष्टिरूप वृक्ष अपने व्यष्टिरूप पञ्चाङ्गों को एकरूप से धारण करता है । इसी प्रकार उदय होता हुआ सूर्य अपने सकल परिच्छद=उपयोगी उपकरण, अथवा सम्बन्धी पदार्थों को एकरूप से धारण करता है । इसी प्रकार और कल्पनायें कर लेनी चाहियें । भगवान् विष्णु से की हुई व्यवस्था में बन्धे हुये इस विश्व में भगवान् का सन्धातृत्वरूप गुण सर्वत्र दीखता है ।

इस भावार्थ को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम सन्धाता है क्यों कि वह अपने सन्धातृत्वरूप गुण से इस सकल विश्व को धारण करता है, जैसे कि एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता हुआ जीवात्मा इस शरीर को सब अङ्गों सहित ले जाता है । इसमें स दाधार पृथिवीमित्यादि वेद वचन प्रमाण है । वह द्युलोक तथा पृथिवी लोक का एकीभाव से धारण करता है, इस लिये उसका नाम सन्धाता है ।

सन्धिमान्—२०२

सम्-एकीभावेऽव्ययम् । सम्-उपसर्गपूर्वाद् दधातेः किः प्रत्ययो भवति भावे, अकर्तरि च कारके । सूत्रं-उपसर्गे घोः किः (पा० ३-३-९२) । सम्-एकीभावेन धीयते इति सन्धिः । सन्धिर्हि नाम द्वयोः पृथक् पृथक् स्थितयोरेकार्थसाधनप्रवृत्तयोः पदार्थयोरेकार्थे यत् संयोजनं स सन्धिः । सन्धिरस्यास्तीति सन्धिमान् । सन्धिः संधारणं समानरूपेण धारणं सर्वकस्य लोकस्य करणमस्य भगवतोऽस्तीति सन्धिमान् भगवान् विष्णुः । शरीरमिदमनेकैः सन्धिभिः प्रक्लृप्तं दृश्यते । यथात्र शरीरे भोजनानन्तरं रसधातुना समग्रं शरीरं परिवृद्धिं प्राप्नोति न नैयून्येन नापि चाधिक्येन, तथा च–पादांगुलित आरभ्य शिवरन्ध्रमिति यावद् यावन्तः सन्धयः शरीरे सन्ति तेऽपि सर्वे सन्धयोऽविकृताः सकलं शरीरं समानरूपेण कार्य्याय समर्थयन्ति । यथैवेतत् सन्धिमच्छरीरं भगवता कृतमास्ते, प्रति प्राणि च सन्धयः पृथक् पृथक् सन्ति तथैवेतत् समग्रं विश्वं सन्धिमता भगवता संधीयते समानधारणात् सन्धिरिति कृत्वा–हस्तांगुलि पुटकादारभ्य शिरसः कपालास्थीनि यावत् समुदितं शरीरं समग्रायुषो भोगेन कल्पते, अमुथैव नक्षत्रोपनक्षत्रैर्ग्रहैर्जगत् समानरूपेण धृतमस्तीति कृत्वा स भगवान् सन्धिधर्मणा विश्वं व्याप्नुवन् प्रत्यक्षमिव विराजते । वृक्षः पञ्चाङ्गसमुदितो वर्धते, कुतः समानकाले सर्वकस्य धारणं पोषणं कर्म अस्यास्तीति सन्धिमान् विष्णुरुक्तो भवति ।

सन्धिमान्—२०२

सन्धानरूप गुण जिस में है । सम् एकीभावार्थक अव्यय है । सम्पूर्वक धा धातु से भाव में "उपसर्गे घोः किः" इस ३।३।९२। पा० सूत्र से कि प्रत्यय करने से सन्धि शब्द सिद्ध होता है। पृथक् पृथक् स्थित अनेक वस्तुओं का एकार्थ को सिद्ध करने के लिए मिलकर एक रूप होना सन्धि है, वह सन्धिः=सन्धान, सकल विश्व का समान रूप से धारण रूप धर्म जिसमें है, उस का नाम सन्धिमान् है । यह भगवान् विष्णु का नाम है । यह शरीर अनेक सन्धियों से बना हुआ है । जैसे भोजन करने से रसधातु के द्वारा यह समग्र शरीर विषमता के अतिरिक्त समान रूप से बढता है, जैसे कि पैरों की अंगुलियों से लेकर शिवरन्ध्र=ब्रह्मरन्ध्र तक जितनी सन्धियां इस शरीर में हैं, वे सब स्वस्थ रहने पर इस शरीर को समानरूप से कार्य करने में समर्थ करती हैं, और सन्धियां प्रत्येक प्राणी में पृथक् पृथक् हैं जैसे भगवान् ने यह शरीर सन्धियों वाला बनाया है, इसी प्रकार से वह अपने सन्धिरूप धर्म से इस समग्र विश्व को व्याप्त करके प्रत्यक्ष के समान विराजमान है । समान रूप से धारण करना सन्धि है, इस प्रकार से जैसे हस्ताङ्गुलि पुटक से लेकर शिरःकपाल की अस्थिपर्यन्त यह समुदित शरीर सकल आयु के भोगने में समर्थ होता है, उसी प्रकार ग्रह नक्षत्र आदि से धारण किया हुआ तथा भगवान् सन्धिमान् के सन्धिरूप धर्म से व्याप्त यह विश्व कल्पपर्यन्त चलने में समर्थ होता है । वृक्ष अपने पञ्चाङ्ग सहित समुदित रूप से बढता है, क्यों कि समान रूप से धारण पोषण करने वाला सन्धिमान् नाम विष्णु वहां विद्यमान है । सन्धि का एक नाम पर्व भी है, पर्वों वाले होने से ही भूधरों (पहाड़ों)

पर्वताः पर्ववन्तः । शरीरसन्धिः शरीरपर्वनाम्नाप्युक्तो भवति । वायोरग्नेयः सन्धिः सा विद्युत् । यो हि सन्धीनां स्वरूपं वेत्ति स हि यन्त्राणां सकुशलं निर्माता भवितुं शक्नोति । सारांशत इदं ज्ञातव्यं यत् सन्धिमता भगवता कृते जगति सन्धि-शैथिल्य न भवति । बिना मनुष्यप्रमादं शरीरसन्धयोऽपि समानरूपेण शरीरधारणं कथं न जहति

एवं—खगोलं भूगोलं च तेनैव सन्धिमता धृतमास्ते । भवति चात्रास्माकम् ।

स सन्धिमान् विष्णुरनन्तकर्मा, जगद्विधत्ते बहुसन्धियुक्तम् ।
तं सन्धिमन्तं भुवनं स धाता, व्याप्नोति संधानगुणेन नित्यम् ॥२६०॥

संधानगुणेन-समानधारणगुणेन ।

स्थिरः—२०३

तिष्ठतीति स्थिरः । तिष्ठतेः किरच् प्रत्ययान्तोऽयमुणादिना-अजिर-शिशिर-शिथिल-स्थिर-स्फिर-स्थविर-खदिराः सूत्रेण (१-५३) निपात्यते, आकारलोपः । गमननिवृत्त्या तिष्ठतीति-स्थिरः । मन्त्रलिंगं च—

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः । (अथर्व)
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ (यजु० ४०-५)

का नाम भी पर्वत है । शरीर सन्धि को शरीरपर्व नाम से भी कहा जाता है । वायु और अग्नि की सन्धि का नाम विद्युत् है । जो सन्धियों के स्वरूप को जानता है, वह ही यन्त्रों के निर्माण में कुशल हो सकता है । इसका सारांश यह समझना चाहिये भगवान् सन्धिमान् के द्वारा बने इस जगत् में सन्धियां शिथिल नहीं होती । मनुष्य यदि प्रमाद न करे तो शरीर की सन्धियां भी शरीर को समानरूप से मृत्यु पर्यन्त धारण किये रहती हैं । इस प्रकार यह सकल खगोल तथा भूगोल भगवान् सन्धिमान् के द्वारा धारण किया हुआ है । इस सारांश को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

उस अनन्तकर्मा भगवान् सन्धिमान् नामक विष्णु ने इस जगत् को बहुत प्रकार की विविध सन्धियों से युक्त बनाया है, तथा इन सन्धियों से युक्त जगत् को भगवान् अपने सन्धान रूप गुण से नित्य व्याप्त कर रहा है ।

स्थिरः—२०३

जो कूटस्थ रूप से सदा स्थित है । जो स्थित रहता है उसका नाम स्थिर है । स्था धातु से उणादि किरच् प्रत्यय होने से स्थिर शब्द बनता है । सर्वव्यापक होने से जो गति रहित होकर स्थित है, उसका नाम स्थिर है ।

इस नामार्थ को "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः" अथर्व, तथा "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके" इत्यादि ४०।५। यजुर्वेद मन्त्र प्रमाणित करता है ।

भवति चात्रास्माकम्—

स्थिरः स विष्णुर्गतिमद्द विधाय जगत्, स्थिरत्वं न निजं जहाति ।
यथात्र यन्त्राणि विधाय कर्ता मतेः स्थिरत्वं न जहाति मोहात् ॥२६१॥

अथवा—

यन्त्रं भ्रमन्तं स गतिं विधाय, स्वामी स्वयं तिष्ठति चाप्रकम्पः ।
यथा तथा विश्वमिदं विधाय स्थिरो नियच्छन् भुवनानि शास्ति ॥२६२॥

स्थिरो विष्णुः । यथा शरीरं गतिमत् सत् यावदायुः सर्वांगसमुदितं स्थिरं सत् कार्यकरं भवति, आत्मना च शासितो भवति । तथैव लोकाध्यक्षो लोकान् शास्ति-अधीक्षते वा ।

अजः—२०४

अज गतिक्षेपणयोः, भौवादिकः । अजति—गच्छति सर्वत्र व्याप्तो भवति, क्षिपति सर्वत्र क्षिप्तो वा भवतीत्यजो विष्णुः सूर्यो वा । मन्त्रलिंगं च—

शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु । (अथर्व १९-११-३)

अजतेः सामान्येन सर्वधातुभ्योऽच् प्रत्ययः, 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० ४-१-४)

भाष्यकार का पद्य द्वारा भाव प्रकाशन इस प्रकार है—

भगवान् विष्णु का नाम स्थिर है, क्यों कि वह इस सकल विश्व को गतियुक्त करके भी स्वयं गतिहीन बनकर स्थित है अर्थात् अपने स्थिरत्व को नहीं छोड़ता जैसे कोई यन्त्रनिर्माता अपने यन्त्रों का निर्माण कर के भी मोह से मति की स्थिरता को नहीं त्यागता अर्थात् उसकी बुद्धि स्थिर बनी रहती है ।

अथवा—यन्त्र को गतियुक्त करके, अर्थात् चलाकर भी यन्त्र का स्वामी स्वयं गतिहीन बैठा रहता है, उसी प्रकार इस जगत् यन्त्र का निर्माण तथा इसे गतियुक्त करके भी जगत् का स्वामी स्वयं गतिहीन जगत् का शासन करता हुआ स्थित है ।

स्थिर=विष्णु । जैसे गतियुक्त यह शरीर अवयव सहित अपनी आयु तक स्थिर होकर कार्य करता है, तथा आत्मा से शासित रहता है, उसी प्रकार यह जगत् कल्पपर्यन्त स्थिर रूप से चलता हुआ भगवान् के शासन में रहता है ।

अजः—२०४

जो सर्वत्र गया हुआ है, सर्वगत । अज नाम विष्णु या सूर्य का है, जो सब में व्याप्त या सर्वत्र जाता है, अथवा गया हुआ है, सूर्य पक्ष में जो सकल विश्व को प्रेरणा देता है, यद्वा सर्वेश्वर द्वारा स्वयं प्रेरित है उसका नाम अज है । गति अर्थ तथा क्षेपण अर्थवाले अजधातु से, सर्वधातु साधारण अच् प्रत्यय तथा "अजाद्यतष्टाप्" इस पा० ४।१।४ से अज को वी आदेश के अभाव के निपातन से अज शब्द की सिद्धि होती है । इसमें "शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु" इत्यादि मन्त्र प्रमाण है । भगवान् विष्णु सूर्य को प्रेरणा देता हुआ, सूर्य के द्वारा जगत

अत्र निपातनाद् 'वाभावस्याऽभावः। 'अज' इति।

अजो नाम विष्णुः सूर्यक्षपणपूर्वकं जगत् क्षिपति प्रेरयति चेष्टयत्यतः स विष्णुरुक्तो भवति।

अमुथैवान्यत्रापि मन्त्रलिंगं दृश्यते—

तदेजति तन्नैजति (यजुः ४०–५)

अतश्च सोमात्मकं विष्णुं पुनः पुनर्हृदि रमणाय प्रार्थयति। मन्त्रलिंगं च—

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्यं इव स्व ओक्ये ॥ (ऋग्०१-९१-१३)

रमतेः क्रीडार्थस्य यङ्-लुकि लोटि मध्यमपुरुषैकवचने रूपं रारन्धि इति।

भवति चात्रास्माकम्—

अजः स सर्वत्र गतोऽस्ति विष्णुर्न तं विना स्थानमिहास्ति किंचित्।
तं सोम-सम्मुग्धगुणो ह भक्तो रारन्धि सोमेति च जोहवीति ॥२६३॥

भगवन्नियमनिबद्धसृष्टिनियममनुपालयतो भक्तस्य हृदये स सत्यां बुद्धिं वयति। अजतेर्णिचि वयति।

भवति चात्रास्माकम्—

यः सत्यरूपस्य गुहागतस्य, जगद्विधातुर्न विहन्ति मार्गम्।
स एव भक्तो, न तु गान—रक्तस्तं सत्यबुद्ध्याजति, पाति, शम्भुः ॥२६४॥

को प्रेरित=चेष्टित करता है, इसलिये वह अज नाम से कहा जाता है। इसी नामार्थ को स्पष्ट प्रमाणित "तदेजति तन्नैजति" इत्यादि वेदवाक्य करता है। भक्त पुरुष सोमात्मक भगवान् विष्णु को अपने अन्तःकरण में रमण करने के लिये इस प्रकार प्रार्थना करते हैं, जैसा कि "सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा। मर्यं इव स्व ओक्ये। ऋ० १।९१।१३। मन्त्र से प्रतिपादित है। रारन्धि पद क्रीडार्थक यङ्लुगन्त रम धातु का लोट् मध्यम पुरुष का एक वचन है। इस नाम के संक्षिप्त आशय को भाष्यकार इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का अज नाम है, क्यों कि वह सर्वत्र गत तथा सब को प्रेरित करता है, सर्वत्र विद्यमान उससे रहित विश्व में कोई स्थान ही नहीं है। उस भगवान् सोम के गुणों से मुग्ध हुआ भक्त, उसे बार २ पुकारता है कि हे सोम! आओ और हमारे हृदय में रमण करो।

भगवान् के नियमों से निबद्ध सृष्टि के नियमों का पालन करते हुये; भक्त के हृदय में सत्य बुद्धि की प्रेरणा देता है भगवान्। जो विज्ञ भक्त पुरुष सब की हृदय रूप गुहा में निविष्ट सत्य-स्वरूप भगवान् जगत् स्रष्टा के नियमों का पालन करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता है, केवल कीर्तन करनेवाले की अपेक्षा वह ही सत्य भक्त है, तथा ऐसे भक्त की भगवान् सत्यबुद्धि प्रेरणा द्वारा रक्षा करता है।

दुर्मर्षण:—२०५

दुरुपसर्गपूर्वान्मृष्यतेस्तितिक्षार्थाद् "भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज्वक्तव्य:" इति ३-३-१३०-वा० सू० स्थितवार्तिकेन युच् प्रत्ययो योरनश्चेति दुर्मर्षण: । तितिक्षा चात्र सहनम् । दु:खेन मर्षितुं सोढुं शक्यो दुर्मर्षण इति । भगवतो दुर्मर्षणेति नाम तस्य सर्वत्र व्याप्तिं सूचयति, तथा हि सर्वत्र सूर्यादिषु व्याप्तो भगवान्-तेजसा दु:सहो भवत्यतो दुर्मर्षण: स भवति । लोके च परस्परा-सहनरूपं दुर्मर्षणत्वं तं सर्वव्यापकं भगवन्तं व्यञ्जयति, तथा हि प्रत्यक्षमेतत्, सूर्यश्चन्द्रकान्तिं क्षिणोति, क्षिणोति च चन्द्रो नक्षत्राणाम् । अग्निर्जलन्न मृष्यति=सहते, जलञ्चाग्निम् इति निदर्शनम् । यद्वा धातूनामनेकार्थत्वान् मृषिरिह ज्ञानार्थक:, एवञ्च दु:खेन मर्षितुं=ज्ञातुं शक्यो दुर्मर्षण: । अर्थात् सर्वथा मनुष्यबुद्धयगोचरै-रक्षिगोचरै: कर्मभि: प्रत्यक्षवज्ज्ञायमानोऽप्यज्ञेय इति,—अर्थात् तस्यैतज्जगद् रूपं कर्म प्रत्यक्षमशेषैर्दृश्यते न चैतस्य वास्तविकं स्वरूपं केनापि ज्ञायते दूरमपास्तां निर्माणम् । तथा चात्र मन्त्रलिङ्गं "सूत्रं सूत्रस्य यो वेद स वेद ब्राह्मणं महत्" यद्वेह सहनशब्दपर्यायेण तितिक्षा-शब्देन निरोधरूपोऽर्थो लक्ष्यते, तथा च दु:खेन मर्षितुं=निरोद्धुं शक्यो दुर्मर्षण: । दृश्यते च जगति सर्वत्र व्याप्तस्य तस्य निरोधरूपो

दुर्मर्षण—

जिसका सहन करना कठिन है । दुर् उपसर्ग पूर्वक तितिक्षार्थक मृष धातु से शक्यार्थ में "शासियुधिदृशिधृषिमृजीत्यादि वार्तिक से युच् प्रत्यय और यु को अन आदेश करने से दुर्मर्षण शब्द सिद्ध हुआ । यहां तितिक्षा शब्द का सहन करना अर्थ है, जिसका दु:ख से सहन किया जावे अथवा जिसका सहन करना कठिन है, उसका नाम दुर्मर्षण है । यह दुर्मर्षण नाम भगवान् की सार्वत्रिक व्याप्ति को सूचित करता है, जैसा कि सूर्यादि तेजस्वी ग्रहों में व्याप्त भगवान् का तेज असह्य होता है, इसलिये भगवान् का नाम दुर्मर्षण है । लोक में भी सर्वत्र परस्पर में एक को एक का सहन न होना रूप दुर्मर्षण धर्म सर्वव्यापक भगवान् को व्यक्त करता है, जैसा कि देखने में आता है, सूर्य चन्द्रमा की कान्ति को सहन न करता हुआ नष्ट कर देता है, तथा चन्द्रमा नक्षत्रों की कान्ति को नष्ट कर देता है । अग्नि को जल का सहन नहीं होता तथा जल को अग्नि का । यह एक उदाहरण मात्र है । अथवा धातुओं के अनेक अर्थ होने से मृष धातु का यहां ज्ञान अर्थ है, इस प्रकार से जिसका ज्ञान होना बहुत कठिन है, उसका नाम दुर्मर्षण है । अर्थात् भगवान् का जगदादि रूप कर्म जहां मनुष्य की बुद्धि भी अवरुद्ध=कुण्ठित हो जाती है, और आंखों से प्रत्यक्ष देखने में आता है उससे जाना हुआ भी वह परमेश्वर अज्ञेय (जानने में नहीं आरहा) है । अर्थात् सब ही इस जगत् रूप भगवत्कर्म को प्रत्यक्ष देखते हैं, फिर भी इसका तात्त्विक ज्ञान किसी को नहीं होता, बनाना तो इसका दूर रहा । इसी अर्थ को—"सूत्रं सूत्रस्य यो वेद" इत्यादि अथर्व प्रमाणित करता है । अथवा यहां सहन शब्द का पर्यायवाची जो तितिक्षा शब्द है, उस मे निरोधरूप अर्थ लक्षित होता है । इस प्रकार जो निरोध रोकने मे न आसके उसका नाम दुर्मर्षण है । देखा भी जाता है, उसका निरोधरूप धर्म सर्वत्र जगत् में व्याप्त है, जैसा

धर्मः, तथा हि, नहि यथर्तु बोभूयमानः पुष्पाणां विकाशो मुद्रा वा केनापि निरोद्धुं शक्या। प्राणिनो जन्ममृत्यू ग्रहाणाञ्च वक्रमार्गगमनादि कर्म न केनापि निरोद्धुं शक्यं, यतो हि स्वेन दुर्मर्षणाख्यधर्मेण भगवान् सर्वत्र व्याप्तः।

भवति चात्रास्माकम् —

दुर्मर्षणो विष्णुरयं विविक्तो, जगद्विधत्ते सुगमावबोधम्।
तन्नाल्पविद्या अतपाः क्षमन्ते, दुर्मर्षणं तेन कृतं समस्तम् ॥२६५॥

शास्ता— २०६

शास्ति विश्वमिति शास्ता। शासु अनुशिष्टौ धातोरादादिकात् कर्तरि तृच्प्रत्यये शास्तेति। यो विश्वं शास्ति तस्य शास्तेति नाम। अर्थात् स्वनित्यज्ञान-रूपेण वेदेन विश्वं शिक्षित्वा प्रचालयति, शासनमिदमेव तस्य। अत एव स शास्तेति निगद्यते। मन्त्रलिंगं च—

आदित्यः शिक्षति व्रतेन। (ऋग् ३-५९-२)।
विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
(ऋग् १-५१-८)

भवति चात्रास्माकम्—

कि, ऋतु के अनुसार पुनः पुनः होनेवाला पुष्पों का विकाश या सङ्कोच किसी से भी रोका नहीं जा सकता। प्राणियों के जन्म, मरण, तथा ग्रहों की वक्र मार्ग आदि गति किसी से रोकी नहीं जा सकती, क्यों कि भगवान् अपने दुर्मर्षण रूप धर्म से सर्वत्र व्याप्त है।

इसी अर्थ को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् रूप अपने कर्म से विविक्त=ज्ञायमान (जाने हुये के समान) भी वह भगवान् दुर्ज्ञेय है, अतएव दुर्मर्षण है, तथा उसके बनाये हुये इस विश्व के सुगम=सुलभ तथा सुज्ञेय होने पर भी, इसे अल्पविद्य अर्थात् अज्ञानी और अतपा अर्थात् तपोहीन पुरुष नहीं जान सकते, इसलिये अपने दुर्मर्षणस्वरूप धर्मानुसार भगवान् ने इस विश्व को भी दुर्मर्षण ही बनाया है।

शास्ता—२०६

शासन करनेवाला। शासु यह अदादिगण पठित धातु है, इसका शासन करना अर्थ है, इस से कर्त्ता अर्थ में तृच् प्रत्यय करने से शास्ता शब्द सिद्ध होता है। जो विश्व का शासन करता है उसका नाम शास्ता है, अर्थात् वह अपने नित्यज्ञान रूप वेद के द्वारा शिक्षित करके सकल विश्व को चला रहा है, यह ही उसका शासन है, इसीलिये उसका शास्ता नाम है। इस भावार्थ में "आदित्यः शिक्षति व्रतेन" इत्यादि ऋक् ३।५९।२। मन्त्र प्रमाण है। तथा "विजानीह्यार्यान्" इत्यादि ऋक् १।५१।८। मन्त्र भी इसमें प्रमाण है।

इसका भावार्थ भाष्यकार अपने पद्य से इस प्रकार व्यक्त करता है—

शास्ता स विष्णुरसकृत् प्रकल्प्य, जगन्नितान्तं नियतं प्रशास्ति ।
ग्रहाः स्वमार्गं न परित्यजन्ति, मृत्युश्च शिष्टः क्रमतेऽनुभक्ष्यम् ॥२६६॥
प्रकारान्तरेण पुनरस्माकम्—

शास्ता—गुर्विष्णुरपापविद्धः, शिष्यं जगद् वेदपथेन शास्ति ।
य एव लोकं बहुधा विचष्टे, स वेदतत्त्वं बहुधात्र वेत्ति ॥ २६७ ॥

विश्रुतात्मा—२०७

वि–उपसर्गो विविधार्थः । श्रु श्रवणे तानादिकः । क्त-प्रत्यये श्रुत इति । आत्मा-शब्दोऽत्र स्वरूपपर्यायः । विविधश्रुतस्वरूप इत्यर्थः । वेदस्य प्रवाहतोऽनादित्वाद् वर्णपद्धतिश्चाप्यादित एवायाति । तथा--

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ (यजुः–४०–१०) ॥

बहुविधविकल्पनैर्विक्लृप्तमिदं जगत् गुण–कर्म–धर्म–स्वभावतो विविधं सत् तमेव प्रजापतिं गर्भेऽन्तश्चरन्तं स्वयं चाजायमानं बहुधा च जनयन्तं व्यनक्ति, प्रकाशयति, स सर्वत्र योनिः सन् विश्रुतात्मोक्तो भवति । सर्वं जगत् तमेव

भगवान् विष्णु का नाम शास्ता है, क्योंकि वह बार बार इस जगत् का निर्माण करके इस का नियम से सञ्चालन करता है, उसी नियम में बन्धे हुये ग्रह अपनी नियतगति या मार्ग को नहीं छोड़ते तथा मृत्युदेव समय पर सबका ग्रसन करता है ।

इसी अर्थ का प्रकारान्तर से व्यक्तीकरण इस प्रकार है—

भगवान् विष्णु ही शास्ता या गुरु है, वह पाप की गन्ध से भी रहित है, तथा वैदिक मार्ग से जगत् का शासन करता है, जो लोक को अच्छी प्रकार जानता है वह ही वस्तुतः वेद के तत्त्व को जानता है ।

विश्रुतात्मा—२०७

विविध प्रकार से श्रुतस्वरूप । वि उपसर्ग, विविधार्थक है । श्रवणार्थक स्वादिगणपठित श्रु धातु से क्त प्रत्यय होने से श्रुत शब्द सिद्ध होता है । आत्मा शब्द स्वरूप शब्द का पर्यायवाची है । इस प्रकार विश्रुतात्मा शब्द का विविध=बहुत प्रकार से सुना गया है स्वरूप जिस का ऐसा अर्थ हुआ । वेद प्रवाह से अनादि है, जो कि ज्ञान रूप है । इसे प्रकट करने के लिये वर्णपङ्क्ति की सत्ता भी अनादि है । यह ही भाव "अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणामित्यादि यजुर्वेद ४०।१०। मन्त्र से प्रकट होता है । विविध भावों से बना हुआ यह जगत् विविध गुण, धर्म तथा कर्मोंवाला होने से उस भगवान् प्रजापति को जो कि गर्भ में आकर भी स्वयं अजायमान तथा सकल विश्व को उत्पन्न करता है, प्रकट करता है । वह ही सब का कारण है, इसलिये इस सकल विश्व के सद्रूप होने से उसका नाम विश्रुतात्मा है । यह सकल जगत् उस ही विश्रुतात्मा का विविध प्रकार से श्रवण करवाता है, क्योंकि सब ही भुवन, उस

विश्रुतस्वरूपं वैविध्येन विश्रावयति, कुतः ? 'तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' इति यतः ॥ यजुः ३१-१६ ॥ मन्त्रलिंगं च—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (यजुः-३२-१) ॥

एतैर्नामभिर्यद् वेदे गीयते तत् सर्वं तस्यैव व्यष्टस्य विष्णोर्विश्रुतात्मस्वरूप-वर्णनमेव ॥

भवति चात्रास्माकम्—
स विश्रुतात्मा बहुधाभिधानैर्गीतोऽस्ति वेदे स उ विष्णुरुक्तः ।
स एव शुक्रः स उ चन्द्रमाश्च स एव वायुः स उ चाग्निरुक्तः ॥२६८॥

विश्रुतात्मा बहुविधस्तवनीयकीर्तिस्वरूपः । तद्यथा—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ (यजु-३१-१२)

चन्द्रमसो विज्ञानेन प्राणिमात्रस्य चन्द्रमसा । अनेनैव विधिना परेषां ग्रहाणामपि योजना ज्ञातव्या । अत एव सर्वं पृथक् पृथग् रूपेण तमात्मस्थं विश्रुतात्मानं गायन्ति । उक्तं च वेदे गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः, ऋग् १-१०-१॥

गानमर्चनं च पृथक् पृथक् कर्म ॥ सामवेदो गान्धर्ववेदश्च तस्यैव विश्रुतात्मकस्य स्तवनमात्रमेवेति दिक् ।

भगवान् में ही स्थित हैं। तथा उसके विविधीभवन में "तदेवाग्निस्तदादित्य तद् वायुरित्यादि यजुः ३२—१। प्रमाण है। अग्नि आदि शब्दों से वेद में जो स्तुत होता है, वह सब सर्वत्र व्याप्त भगवान् विश्रुतात्मा का ही स्वरूप है। इसी भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

वेद में विष्णु, शुक्र, चन्द्रमा, वायु तथा अग्नि आदि नामों से जहां तहाँ भगवान् विश्रुतात्मा की ही स्तुति की गई है, तथा नामानुसार विविधस्वरूप होने से वह विश्रुतात्मा है।

उस विश्रुतात्मा की कीर्ति का बहुत प्रकार से स्तवन होता है। जैसा कि "चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत" इत्यादि यजुर्वेद ३१।१२। मन्त्र से प्रतिपादित है। भिन्न भिन्न नक्षत्रों के चरणों से युक्त चन्द्रमा के स्वरूपानुगत होने से प्राणियों के मनकी भिन्नता देखने में आती है, तथा ग्रहों के भिन्न भिन्न भावों से प्राणियों के भावों में भी बहुत परिवर्तन आता है। इस लिये सब भिन्न भिन्न रूप से सर्वान्तर्यामिभगवान् विश्रुतात्मा का भजन कीर्तन करते हैं, जैसा कि—

"गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः" ऋक् १।१०।१। में प्रतिपादित है। गान तथा अर्चन दोनों भिन्न भिन्न कर्म हैं। साम तथा गान्धर्व वेद में भगवान् विश्रुतात्मा की स्तुति ही है।

सुरारिहाः— २०८

ऋ गतिप्रापणयोर्भौवादिकः। ऋ, सृ गतौ जौहोत्यादिको वा, द्वाभ्यां 'अच इः' (उणा० ४-१३६) इः प्रत्ययः। ऋच्छति-इयर्त्ति वा अरिः।

सुष्ठु रातिर्दानं यस्य स सुरस्तान् सुरान्, ऋच्छति इयर्ति वा विघ्नरूपेण स सुरारिः। तस्य हन्ता सुरारिहा भगवान् विष्णुः सुरारीणां हन्तृत्वेन सर्वत्र ख्यातः।

मन्त्रलिंगं च—

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य ॥
(ऋग्० १-३६-१५)

बृहद्भानो यविष्ठ्य ! पूज्य अग्ने विष्णो !।

ममायं परीक्षितः प्रयोगः, चिरमभ्यस्यमानोऽयं मन्त्रः स्वप्रभावात् मन्त्रोक्त—भावेभ्यो नूनं रक्षति। विहन्तॄन् नूनं परास्यति।

भवति चात्रास्माकम्—

सुरारिहा सर्वजगत्प्रसिद्धो विष्णुर्हि नूनं परितो रुणद्धि।
सुरान् विहन्ति मनुजोऽत्र यस्तान् स-दीपकं, ध्यायति 'पाहि नोग्नेः ॥ २६९ ॥
'पाहि नो अग्ने' इत्यादि मन्त्रमिति भावः।

सुरारिहा—२०८

अरि शब्द ऋ इस भौवादिक धातु जो कि चलने या प्राप्त करवाने अर्थ में है, अथवा ऋ इस जुहोत्यादिगण पठित धातु से "अच इः" इस उणादि सूत्र से इ प्रत्यय और गुण रपर होने से सिद्ध होता है, जो जाता है या प्राप्त करता है उसे अरि कहते हैं, सुर नाम अच्छी प्रकार से देखनेवाले का है उसको जो विघ्नरूप बनकर प्राप्त होवे, या बाधा पहुँचाने के लिये जाये, उसका नाम है सुरारि, उन सुरारियों का जो हनन करे उस सर्वव्यापक भगवान् विष्णु का नाम सुरारिहा है। इस अर्थ की पुष्टि "पाहि नो अग्ने रक्षसः" इत्यादि ऋङ्मन्त्र से होती है। यह भाष्यकार का परीक्षित किया हुआ प्रयोग है, चिर अभ्यास से यह अवश्य सब बाधाओं या बाधा पहुँचानेवालों का निराकरण कर देता है। भाष्यकार का संक्षिप्त भावार्थ इस प्रकार है—

जो मनुष्य सुर अर्थात् सात्विक स्वभाव से दान देनेवाले सज्जन पुरुषों को विघ्नरूप बन कर उन्हें बाधा (पीड़ा) देता है, उसे सकल जगत् में प्रसिद्ध भगवान् विष्णु अवश्य ही नष्ट कर देता है, इसलिये भगवान् का नाम सुरारिहा है। तथा दीपकरूप अग्नि का ध्यान करता हुआ जो मनुष्य "पाहि नो अग्ने" इत्यादि मन्त्र से अपनी रक्षा प्रार्थना करता है, उसकी भगवान् अवश्य रक्षा करता है।

गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः ।
निमिषोऽनिमिषः स्रग्वी वाचस्पतिरुदारधीः ॥३६॥

२०९ गुरुः २१० गुरुतमः २११ धाम २१२ सत्यः २१३ सत्यपराक्रमः ।
२१४ निमिषः २१५ अनिमिषः २१६ स्रग्वी २१७ वाचस्पतिरुदारधीः ॥

गुरुः—२०९

गृ निगरणे तौदादिको गृ शब्दे क्र्यादिकश्च । गिरति गृणाति वा गुरुः । लोकेऽपि च यो विद्यामुपदिशति स उपदेष्टा-प्रवक्ता वा गुरुरुक्तो भवति, आचार्यो वा ।

कृग्रोरुच्च (१-२४ उणादि) सूत्रेण कृगृभ्यां धातुभ्यां कुप्रत्ययः, उकारश्चान्तादेशः, तेन "गुरुः" शब्दः संस्कृतो भवति । भगवान् विष्णुर्वेदज्ञानोपदेशेन विश्वस्य विधानं विज्ञापयति, विश्वं च प्रतिपदं गुरुधर्ममनुपालयन् प्रतिपदमात्मनो विज्ञापनीयं विज्ञापयति, तद्यथा-मनुष्यशरीरे मरणात् पूर्वमेव मृत्युसूचकानामरिष्टानामुदय आरभते । प्रसवनात् पूर्वञ्च मातुः प्रसवसम्बन्धिन्यो वेदनाः प्रादुर्भवन्ति । कार्यसिद्धेः प्रागेव तत्कार्यभावाभावविज्ञापकानां शकुनानां प्रतिपदं प्रादुर्भावो गुरुनामवतोर्विष्णोर्व्यापिकत्वं सूचयति । अत एव च शकुनशास्त्राणि लक्षणशास्त्राणि च वेदवत् सत्यानि । यथा चाथर्वणि—

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥१॥

गुरु—२०९

गुरु शब्द तुदादिगणपठित या क्र्यादिगणपठित गृ धातु से "कृग्रोरुच्च" इस उणादि सूत्र से उ प्रत्यय तथा ऋकार को रेफपरक उत् आदेश करने से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ जो स्वयं वेदार्थ का निगरण अर्थात् ग्रहण करके दूसरों (जिज्ञासुओं) को शब्द द्वारा आचार या वेदों का उपदेश करता है, ऐसा होता है । वेद=ईश्वरीय ज्ञान ही विश्व का विधान है, उसका उपदेश वह विश्व को देता है, अर्थात् भगवान् वेद द्वारा अपने विधान ज्ञान विश्व को देता है, इसलिये उसका नाम गुरु है । गुरुरूप भगवान् के गुरुत्वरूप धर्म का अनुकरण करता हुआ यह सकल जगत् भी पद-पद पर अपना ज्ञान शब्द या आचार द्वारा दूसरों को देता है, जैसे कि मनुष्य या प्राणिशरीरों में मरने से पहले ही उनके मरण सूचक चिह्नों (लक्षणों) का प्रादुर्भाव हो जाता है, गर्भिणी के प्रसव से पहले ही प्रसवसम्बन्धिनी वेदनायें (पीड़ायें) प्रारम्भ हो जाती हैं, तथा कार्य की सिद्धि या असिद्धि के सूचक शकुनों का पद-पद पर प्रादुर्भाव होता है, यह सब गुरु नामक भगवान् विष्णु की सार्वत्रिक व्याप्ति को सूचित करते हैं । इसीलिये शकुन शास्त्र या लक्षण शास्त्र (सामुद्रिक शास्त्र) वेद के समान ही प्रामाणिक है, इसी प्रसङ्ग के ये अथर्व वेद के "यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे" इत्यादि बहुत से मन्त्र हैं । परीक्षणशील विद्वानों ने शुभ तथा अशुभ सूचकरूप से शकुनों के दो भेदों का कथन किया है । उनमें यात्रा के समय ब्राह्मण-अश्व-

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे ।
योगं प्रपद्ये क्षेमं च, क्षेमं प्रपद्ये योगं च, नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥२॥
स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनम् मे अस्तु ।
सुहवमग्ने स्वस्त्यमर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन् ॥३॥

अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम् ।
सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान् परा तान् सवितः सुव ॥४॥

अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम् ।
शिवा ते पाप नासिकां पुण्यगश्चाभि मेहताम् ॥५॥

इमा या ब्रह्मणस्पते विषूचीर्वात ईरते ।
सध्रीचीन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि ॥६॥
स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥७॥
(अथर्व० १९-८)

शुभाशुभसूचकत्वेन द्वेधाः शकुनाः परीक्षकैः परीक्षिताः सन्ति । तद्यथा
शुभसूचकाञ्छकुनानाह—

विप्राश्वेभफलान्नदुग्धदधिगोसिद्धार्थपद्माम्बरं
वेश्या वाद्यमयूरचाषनकुला बद्धैकपश्वामिषम् ।
सद्वाक्यं कुसुमेक्षुपूर्णकलशच्छत्राणि मृत्कन्यका
रत्नोष्णीषसितोक्षमद्यससुतस्त्रीदीप्तवैश्वानराः ॥
आदर्शाञ्जनधौतवस्त्ररजका मीनाज्यसिंहासनं
शावं रोदनवर्जितं ध्वजमधुच्छागास्त्रगोरोचनम् ।
भारद्वाजनृयानवेदनिनदा मांगल्यगीतांकुशा
दृष्टाः सत्फलदाः प्रयाणसमये रिक्तो घटः स्वानुगः ॥

अशुभसूचकाञ्छकुनानाह—

वंध्याचर्मतुषास्थिसर्पलवणांगारेन्धनक्लीबविट्
तैलोन्मत्तवसौषधारिजटिलप्रव्राट्तृणव्याधिताः ।

हस्ती-फल-अन्न-दूध-दही-गो-श्वेतसर्षप-कमल-स्वच्छवस्त्र या स्वच्छवस्त्रवाला-वेश्या-बाजा-मयूर-नीलकण्ठ तथा नेवला-रज्जु से बन्धा हुआ एक पशुमांस सद्वाक्य अर्थात् आपकी यात्रा सफल हो इत्यादि वाक्य-पुष्प-गन्ना-जलसे पूर्ण घड़ा-छत्र-गीली मिट्टी-कन्या रत्न-पगड़ी-श्वेतवृष-(गवेन्द्र = आंगियां) पुत्र सहित स्त्री-प्रज्वलित अग्नि-दर्पण-मृगचर्म-धुले हुये वस्त्रवाला धोबी-मछली-घृत-सिंहासन-देवपीठ-रुदन से रहित शव-ध्वजा-शहद-बकरा-अस्त्र-गोरोचना-भारद्वाज तोता पक्षी-नृयान=पालकी-वेदध्वनि-मङ्गल गीत-अंकुश तथा पीछे से आता हुआ रीता घड़ा ये सब यात्रा के समय शुभ हैं। इसी प्रकार, वन्ध्या स्त्री-चर्म-धान्यादि का तुष=छिलका-अस्थि (हड्डियां) सर्प-लवण-अंगार (धूयें से रहित अग्नि का पिण्ड)-काष्ठ-नपुंसक-विष्ठा-तैल-उन्मत्त

नग्नाभ्यक्तविमुक्तकेशपतितव्यंगक्षुधार्ता असृक्
स्त्रीपुष्पं सरठः स्वगेहदहनं मार्जारयुद्ध क्षुतम् ॥
काषायी गुडतक्रपंकविधवाकुब्जाः कुटुम्बे कलि-
र्वस्त्रादेः स्खलनं लुलायसमरं कृष्णानि धान्यानि च ।
कार्पासं वमनं च गर्दभरवो वक्षोऽतिरुट् गर्भिणी
मुंडार्द्राम्बरदुर्वचोऽधबधिरोदक्या न दृष्टाः शुभाः ॥

अथान्यच्छकुनमाह—

गोधाजाहकसूकराहिशशकानां कीर्तनं शोभनं
नौशब्दो न विलोकनं च कपिऋक्षाणामतो व्यत्ययः ।
नद्युत्तारभयप्रवेशसमरे नष्टार्थसंवीक्षणे
व्यत्यस्ताः शकुना नृपेक्षणविधौ यात्रोदिताः शोभनाः ॥

कोकिलादीनां वामांगभागेन शकुनमाह—

वामांगे कोकिला पल्ली पौतकी सूकरी रला ।
पिंगला छुच्छुका: श्रेष्ठाः शिवाः पुरुषसंज्ञिताः ॥

दक्षिणांगभागावस्थितं शकुनमाह—

मद्यभूताद्याविष्ट पागल—वसा शरीर का मांसविशेष-औषध-शत्रु-जटिल-जटाधारी-संन्यासी-तृण-व्याधित=रोगी जो कि चिकित्सक के वश का न हो असाध्य-नग्न (नङ्गा) बालक को छोड़कर तैल से लिप्त-केशरहित (खल्वाट) बिखरे हुये केशोंवाला-पतित (दुराचार से जो जात्यादि से बहिष्कृत है)—विकलाङ्ग-भूखा-रुधिर-स्त्रीपुष्प—स्त्रियों का ऋतु धर्मज शोणित विशेष-कृकलास (करेलिया) अपने घर का जलना-मार्जार (बिल्लियों) की लड़ाई-छींक-कषाय रङ्ग के वस्त्र पहिने हुये-गुड़-छाछ-पङ्क-विधवा-कूबड़ा-कुटुम्ब का कलह-अपने हाथ से वस्त्र छत्रादि का गिरना-भैंसों का युद्ध-कालेवर्ण के धान्य उड़द आदि-कपास-वमन=उल्टी-दक्षिण भाग में गधे का शब्द-अधिक क्रोध-गर्भवती स्त्री-मुण्डशिरवाला-गीले वस्त्रवाला-अपने या दूसरे के मुख से उच्चारित अशुभ वचन-अन्धा-बहरा तथा रजस्वला स्त्री इन सबका यात्रा के समय दर्शन अशुभ है।

इसी प्रकार गोह-जाहक (जन्तु विशेष) सूअर—सर्प - शशक इनका यात्रा के अपने या दूसरे के मुख से उच्चारण शुभ है, तथा इनका बोलना या दर्शन अशुभ है। वानर और उल्लुओं का नाम लेना यात्रा समय में निषिद्ध है। जो ऊपर यात्रा के समय शुभ अशुभ शकुन बताये हैं वे सब नदी पार करने में किसी प्रकार के भय उपस्थित होने पर, गृह प्रवेश में, युद्ध में, नष्ट हुये धन की खोज में तथा राजा के दर्शन में विपरीत हो जाते हैं, शुभ जो हैं वे अशुभ तथा जो अशुभ हैं वे शुभ बन जाते हैं तथा यात्रा के समय कोयल—पल्ली=छिपकली—पोतकी—सूअरी रला (पक्षिविशेष) ये वाम भाग में स्थित हों तब शुभ हैं, पिङ्गला—छुच्छुका (छुछुन्दर) तथा ये पुरुष=नर वाम भाग में शुभ माने हैं।

छिक्करः पिक्कको भासः श्रीकंठो वानरो रुरुः ।
स्त्रीसंज्ञकाः काकऋक्षश्वानः स्युर्दक्षिणाः शुभाः ॥

उक्तव्यतिरिक्तानां मृगपक्षिणां सामान्यतः प्रादक्षिण्येन शकुनमाह----

प्रदक्षिणगताः श्रेष्ठा यात्रायां मृगपक्षिणः ।
ओजा मृगा व्रजंतोऽतिधन्या वामे खरस्वनाः ॥

अनुपदिकं तृतीयमपशकुनं नोल्लंघयेत् तद्यथा—

आद्येऽपशकुने स्थित्वा प्राणानेकादश व्रजेत् ।
द्वितीये षोडश प्राणांस्तृतीये न क्वचिद्व्रजेत् ॥

शकुनवाणिविदो लोके शुभाशुभं विचिन्वन्ति । वृक्षाणां कुसुमक्षय ऋतोर्दोषोदयं प्रकटयति,-सारांशस्त्वेष यत् गुरुणा विष्णुना कृतं जगत् सर्वाः विद्याः प्रत्यक्षवदुपदिशति तस्माद् गुरुर्विष्णुरित्युक्तो भवति । वक्ति चरके पुनर्वसुरात्रेयः-सर्वो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

गुरुर्हि विष्णुः स जगत् समस्तं यथायथं न्यासितपादपद्मम् ।
वेदोपदेशेन गृणाति नित्यं जगत् स्वयं वक्ति गुरोः कृतिं च ॥ २७० ॥

यदुक्तं वेदोपदेशेनेति—

हिक्कर—पिक्कक—भास—श्रीकण्ठ—वानर—रुरु—काक—ऋक्ष—कुक्कुर आदि पुरुष संज्ञक तथा स्त्रीसंज्ञक भी यात्रा के समय दक्षिण भाग में स्थित शुभ हैं ।

इसके अतिरिक्त प्रदक्षिण क्रम से चलते हुये मृग पक्षी विषम संख्यावाले शुभ होते हैं, तथा खरस्वन काक गर्दभ आदि बायें से दक्षिण को जाते हुये यात्रा के समय शुभ होते हैं । प्रथम अपशकुन होने पर एकादश ११ प्राण रुक कर यात्रा करे, द्वितीय अपशकुन होने पर सोलह प्राण रुककर यात्रा करे, तृतीय अपशकुन होने पर यात्रा को स्थगित करदे यात्रा न करे, प्राण का परिमाण लघु अक्षरों का २० बार उच्चारण तथा दीर्घ अक्षरों का दश बार उच्चारण के समान होता है ।

लोक में शकुनशास्त्र के जानकार शकुनों द्वारा शुभ तथा अशुभ का विचार करते हैं । सारांश यह हुआ कि भगवान् विष्णु से बना हुआ यह सम्पूर्ण जगत् सब प्रकार के ज्ञान का प्रत्यक्ष के समान उपदेश करता है । इसीलिये विष्णु का नाम गुरु है । आत्रेय पुनर्वसु ने अपनी चरक संहिता में कहा है—यह सकल जगत् बुद्धिमानों का आचार्य=शिक्षक है, तथा मूर्खों का शत्रु है ।

भाष्यकार अपने भाव को पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

वह गुरुनामा विष्णु सकल संसार को समुचित ज्ञान का आदेश देता है, तथा तदुपदिष्ट लोक भी ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान को प्रत्यक्ष के समान स्वयं कहकर भगवान् के कर्मों को प्रकट करता है ।

'सहस्रशीर्षा पुरुष.' इत्यादि मूलविज्ञापकम्। सर्वो वा वेदो लोकविद्याज्ञापकः। वेदवाण्यो वदन्त्यो यं गमयन्ति तद् ब्रह्म।

मन्त्रलिंगं च—

वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति ॥ (अथर्वः १०-८-३३)

गुरुतमः—२१०

गुरुः शब्दो व्याख्यातः। गुरुरिति २०९ नामव्याख्याने। अतिशायने तमबिष्ठनौ (पा०-५-३-५५) सूत्रेणातिशयत्वे द्योतितव्ये तमप्-इष्ठंश्च प्रत्ययौ विधीयेते। गुरुषु श्रेष्ठो गुरुतम इति। गुरुः प्रवक्ता वाचो निगरणकर्ता वा। सृष्ट्यादौ ज्ञानप्रवक्तॄणां हृदयेषु स एव सर्वं व्यश्नुवानो भगवान् विष्णुर्ज्ञानं प्रकाशयांचकार तस्मात् स ब्रह्मादीनामपि गुरूणां गुरुरित्युक्त्या गुरुतम उक्तो भवति। उक्तं च—

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहु ब्राह्मणं महत् ॥ (अथर्व-१०-८-३३)

पुरुषवाचि दोषस्य सद्भावो भवितुमर्हति, कुतः? समयप्रभावप्रभावित्वान्मनुष्योपदेशस्य, तस्मात् सा वाक् दैवी वाग्वत् त्रिकालैकरसा न भवितुमर्हतीति कृत्वा दैवी वागेवोपादातव्या भवति। उक्तं च—

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ (अथर्व-७-१०५-१)

अत एतदुक्तं भवति 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (पातंजल-योगशास्त्रे)। तस्मात् स ज्ञानमात्रेण सर्वस्मिन् विश्वे व्यश्नुवानः सन् "गुरुतम"

जैसा कि वेदने कहा है "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इत्यादि सब वेद वाणी का केवल ब्रह्म ही तत्त्वभूत अर्थ है। इस अर्थ को "वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति" इत्यादि वेद वाक्य प्रमाणित करता है।

गुरुतम—२१०

गुरु शब्द का व्याख्यान २०९ के गुरु नाम में किया गया है। गुरु शब्द से आतिशायनिक तमप् प्रत्यय होने से गुरुतम शब्द सिद्ध होता है। जिसका वाणी पर पूर्ण अधिकार तथा जो वेद का प्रवक्ता है, उसका नाम गुरु, तथा जो सब गुरुओं में श्रेष्ठ गुरु है उसका नाम गुरुतम, यह भगवान् विष्णु का नाम है, क्यों कि उसने सृष्टि के आदि में सब वेदज्ञों के हृदय में ज्ञान का प्रकाश किया, इसलिये सृष्टिकर्ता वेदज्ञ ब्राह्मणादिकों का भी गुरु होने से वह गुरुतम है। जैसा कि "अपूर्वेणेषिता वाचः" इत्यादि वचन से सिद्ध है। मनुष्य समय से प्रभावित होता है, इसलिये उसकी वाणी में दोष सम्भव है, इसलिये ये मनुष्यवाक् वेदवाणी के समान व्यभिचार रहित तथा सत्य नहीं हो सकती, इसलिये वेदवाक् अर्थात् वेदोपदेश ही ग्राह्य है, इस आशय को "अपक्रामन् पौरुषेयाद्" इत्यादि वेदवचन सिद्ध करता है। पातञ्जल योगशास्त्र में भी "स सर्वेषामपि गुरुः" इत्यादि सूत्र से भगवान् को गुरु शब्द से कथन किया है। इस लिये वह अपने ज्ञान रूप गुण से सब में व्याप्त गुरुतम कहा गया है।

उक्तो भवति। दृश्यते च लोके शकुनविद, कथनं सत्यं स्थिरं भवति, तच्च कथनं तावदुपस्थितवस्तुविषयं यावद् भवति। तस्माच्छकुनानि प्रतिपदं पठनीयानि भवन्ति। गुरुतमस्य ब्रह्मणो ज्ञानविदो ज्ञानं न मृषायते। इतरोऽपि गुरुरेतस्मादेव, अन्त-र्निगरति निगलति वा परं,—यथोक्तं भवति—सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः, हस्ति-पादस्य गुरुतमत्वात्। एवं नावस्था भारे, आयामे, उच्चत्वेऽपि च योजनीया भवति।

सर्वग्रहापेक्षया गुरुत्वाद् बृहस्पतिर्ग्रहो गुरुरुक्तो भवति। स विष्णुस्तमप्यन्तर्ली-नयति तस्माद् गुरुतम उक्तो भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

न काऽपि तस्मादधिकोऽस्ति वक्ता ज्ञानस्य, तज्ज्ञानमिहास्ति सृप्तम्।
गुरुः स विष्णुस्तमपातिशेते गुरुं ग्रहं चापि च विश्वमात्रम्॥ २७१॥

तस्य गुरुतमस्य ज्ञानं तज्ज्ञानम्। इह=विश्वे। सृप्तं=व्याप्तम्।

धाम—२११

डुधाञ् धारणपोषणयोः, जौहोत्यादिकः। 'नामन्सीमन्व्योमन्निन्त्याद्युणादि (४-१५१) सूत्रेण बाहुलकात् मनिनन्तोऽयं साध्यते। दधातीति धाम, ब्रह्म।

लोक में भी देखने में आता है, शकुन को जाननेवाला जो कुछ कहता है वह सत्य तथा स्थिर (टिकाउ) होता है, तथा वह कथन उपस्थित वस्तु के लिये होता है। इसलिये शकुन शास्त्र भी अवश्य पढ़ना चाहिये। गुरुतम ब्रह्म का ज्ञान कभी भी असत्य नहीं होता। दूसरा लौकिक गुरु भी सब प्रकार के वैदिक ज्ञान को अपने अन्दर रखने से गुरु होता है। सब प्रकार के पैर हाथी के पैर में समा जाते हैं क्यों कि वह सब से बड़ा होता है।

इसी प्रकार सब अन्य गुरु, उस भगवद्रूप एक गुरु में समाये हुये हैं, इसलिये उसका नाम गुरुतम है। यह ही प्रक्रिया भार—विस्तार—ऊंचाई आदि में समझनी चाहिये। सब ग्रहों में बड़ा होने से बृहस्पति को गुरु कहते हैं, किन्तु उस बृहस्पति का भी गुरुत्व भगवान् में अंतर्लीन हो जाता है, इसलिये वह गुरुतम है।

इस आशय को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

किसी का भी ज्ञान, भगवान् विष्णु के ज्ञान से बड़ा या तुल्य नहीं है, परन्तु उस भगवान् का ही ज्ञान सब में फैला हुआ है, वह अपने गुरुत्व से बृहस्पति सहित सकल विश्व का अतिक्रमण करता है, इसलिये वह गुरुतम है।

धाम—२११

जुहोत्यादि गणपठित धारणपोषणार्थक डुधाञ् धातु से "नामन्सीमन्व्योमन्नित्यादि" ४-१५१ उणादि सूत्र से मनिन् प्रत्ययान्त सिद्ध होता है।

मन्त्रलिंगं च—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।
(ऋग् १०-१२१-१)।

सूर्यो वा। मन्त्रलिंगं च—

सूर्यं आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

ऋग् (१०-११५-१)। अथर्व (४-२-७)। यजु० (७-४२। १३-४६)। दधाति यत्रेति धाम, स्थानम्।

मन्त्रलिंगं च—

तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ (यजुः ३१-१९)।
तृतीये धामन्नध्यैरयन्त— (यजुः ३२-१०)

तस्मिन धामात्मके ब्रह्मणीत्यवगन्तव्यम। सामान्यतः स्थानपर्याये यद्धाम-शब्दप्रयोगस्तदप्यसौ वेदेति कृत्वा धाम ब्रह्मोक्तं भवति।

मन्त्रलिंगं च—

धामानि वेद भुवनानि विश्वा (यजुः ३२-१०)।

भवति चात्रास्माकम्—

धामात्मकं ब्रह्म दधाति सर्वं धामात्मके ब्रह्मणि विश्वमेतत्।
ज्योतिर्हि सूर्यः स उ धाम उक्तः, विष्णुर्हि धामाश्नुत एव सर्वम् ॥ २७२ ॥
अश्नुते व्याप्नोतीत्यर्थः।

जो धारण करता है उसका नाम धाम है। सब को धारण करने वाले ब्रह्म का नाम है। इस अर्थ की पुष्टि "स दाधार पृथिवीमित्यादि" ऋग्वेद मन्त्र से होती है। सूर्य का नाम भी धाम है, इसकी पुष्टि 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इस ऋग् १०-११५-१ अथर्व ४-२-७ तथा यजुर्वेद ७-४२-१३-४६ मन्त्र से होती है।

जहां सब कुछ धृत=स्थित है, इस अधिकरणार्थक धाम शब्द में "तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" यह तथा "तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" यह यजुर्वेद ३१-१९ तथा ३२-१० मन्त्र प्रमाण है। सामान्य से स्थान अर्थ में जो धाम शब्द का प्रयोग है, वहां स्थान रूप धामों का जाननेवाला होने से भी वह धाम कहा जाता है, इस अर्थ की पुष्टि "धामानि वेद भुवनानि विश्वा" इस यजुर्वेद ३२-१० वचन से होती है।

इसी भाव को भाष्यकार संक्षेप से इस प्रकार प्रकट करता है—

सब को धारण करने के कारण, तथा सकल विश्व के ब्रह्म में स्थित होने के कारण, ब्रह्म का नाम धाम है। ज्योतिः स्वरूप सूर्य का नाम भी धाम है, सूर्य वा विष्णु अपने धाम रूप गुण से सर्वत्र विश्व में व्याप्त है।

सत्यः—२१२

सदव्ययम्। सदित्येतत् सद्भावे च प्रयुज्यते, प्रशस्ते कर्मणि च एव सच्छब्दः प्रयुज्यते। दम दाने, यज्ञे तपसि दाने च या स्थितिः स्थिरता सापि सच्छब्देनोक्ता भवति। यज्ञार्थीयं कर्म, तपसः साधनीभूतं च यत् कर्म दानार्थीयं तत्रापि सच्छब्दः प्रयुक्तो दृश्यते। यथा च गीतायाम् (अ० १७)—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

अतो विपरीतमसत्। उक्तं च तत्रैव—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥ २८॥

सत्सु साधुः सत्यः, तत्र साधुः (पा०-४-४९८) इत्यनेन यत्। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु भौवादिकः। तस्मात् "सत्सुद्विष०" (पा०-३-२-६१), इत्यादिना विनाप्युपसर्गं क्विप् प्रत्ययः। तेन सत्। सत्सु साधुः सत्यः। सर्वत्र विश्वे भगवान् स्थितिरूपेण सकलं चराचरं व्याप्य तिष्ठतीति कृत्वा सत्यः स विष्णुरुक्तो भवति। स हि अभीद्धतपःस्वरूपः। तथा च वेदे—

सत्यः—२१२

सत् शब्द का प्रयोग सत्ता साधुभाव तथा प्रशस्त कर्म रूप अर्थ में होता है। यज्ञ में तप में दान में स्थित होना भी सत् शब्द का वाच्यार्थ है, अर्थात् यज्ञ तप तथा दान का साधनभूत कर्म भी सत् शब्द से कहा जाता है, इसी अर्थ को गीता में "सद्भावे साधुभावे च" इत्यादि पद्यों से कहा है। इस प्रकार से जो अव्यभिचारी सत्तावाली हो, तथा यज्ञ तप दानरूप कर्म में जो स्थित हो, उसका नाम सत्य है। सत् शब्द से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय होने पर सत्य शब्द सिद्ध होता है। इस के विपरीत बिना श्रद्धा के किया हुआ यज्ञ हवन तप दानादि कर्म असत् शब्द से कहा जाता है, यह भी गीताकार का मत है।

षद्लृ धातु भ्वादिगणपठित है, विशरण—गति—अवसाद ये इसके अर्थ हैं। उपसर्गरहित इससे क्विप् प्रत्यय और उसका सर्वापहार होकर सुबन्त सत् शब्द सिद्ध होता है। भगवान् विष्णु अपने स्थितिरूप गुण से, इस सकल विश्व का व्यापन करके स्थित है, इसलिये भगवान् का नाम सत्य है, तथा वह अत्युग्र तपःस्वरूप है, जैसा कि—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। (ऋग् १०-१९०-१)

प्रवाहतः सत्तावत्सु स एव साधुस्तस्मात् "सत्यः" स उक्तो भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

जगत् समस्तं गतिमत्स्वरूपं यज्ञात्मकं विश्वमिदं च तस्य।
स तत्र यज्ञेऽविचलस्वरूपः सत्यो ह् यतो विष्णुरिहास्ति गीतः॥ २७३॥

मन्त्रलिंगं च—

श्रद्धया सत्यमाप्यते। (यजु-१९-३०)
सत्येनोत्तभिता भूमिः। (अथर्व-१४-१-१)

अचलं सत्यम्, इतो विपरीतमसत्यमनृतपर्यायकमुच्यते चलम्। राजा वरुणो जनानां सत्यानृतेऽवपश्यन् मध्ये याति, मन्त्रलिंगं च—

राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृतेऽवपश्यन् जनानाम्। (अथर्व-१-३३-२)

वरुणो विष्णुः, अत्र संग्रहे 'वरुण' इति नाम-५५३ श्लोके ७२ च संगृहीतम्।

सत्यपराक्रमः—२१३

सत्यः स्थिरः पराक्रमो यस्य स सत्यपराक्रमः। भगवान् स्वकेनाविचलेन पराक्रमेण व्यवस्थया वा निखिलं जगद् व्यश्नुवानो विराजते तस्मात् स सत्यपराक्रम उक्तो भवति। यद् यद् यथा यथा व्यवस्थितं तत् तद् तथैव सनादद्ययावत् तं सत्यपराक्रमं व्यनक्ति, तस्मात् स "सत्यपराक्रम" उक्तो भवति।

"ऋतञ्च सत्य"मित्यादि ऋग्वेद मन्त्र कहता है। प्रावाहिक सत्ता वालों में भी वह ही परसत्तारूप अखण्डरूप से स्थित है इसलिये उसका नाम सत्य है। भाष्यकार इसी भाव को संक्षेप से इस प्रकार प्रकट करते हैं—

यह स्थावरजङ्गमरूप समस्त विश्व भगवान् का यज्ञरूप है। इस यज्ञ रूप विश्व में भगवान् अविचल=कूटस्थ रूप से स्थित है, इसलिये उसका नाम सत्य है।

इसमें "श्रद्धया सत्यमाप्यते" "सत्येनोत्तभिता भूमि" इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। अचल नाम सत्य का है। इसके विपरीत चल है, जो असत्य है, इस में "राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृतेऽवपश्यन् जनानाम्" इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

सत्यपराक्रमः—२१३

सत्य=स्थिर=अव्यभिचारी है पराक्रम जिसका उसका नाम है सत्यपराक्रम। भगवान् विष्णु अपने अविचल=स्थिर पराक्रम से सुव्यवस्थित है, इस सकल विश्व में व्याप्त होकर विराजमान है, इसीलिए वह सत्यपराक्रम है। जो जो वस्तु जिस प्रकार से व्यवस्थापित है, वह उसी प्रकार सुव्यवस्थित चलती हुई भगवान् सत्यपराक्रम को प्रकट कर रही है इसलिये वह सत्यपराक्रम है।

भवति चात्रास्माकम्—

स सर्वजित् सत्यपराक्रमः स स्थिरं पराक्रान्तमिदं हि तस्य ।
नश्यत्सु सर्वेषु न नाशमेति कृतं हि यत् सत्यपराक्रमेण ॥२७४॥

तद्यथा वटबीजेऽपरे वा बीजेऽविकृतेऽपरस्योत्पादनार्हा या व्यवस्था विहिता सा सत्यरूपेण पराक्रान्ता यात्येवेति पराक्रमः सः । एवमन्यत्राप्यूहनीयं भवति ।

निमिषः—२१४

नि विनिग्रहार्थे । मिष स्पर्धायाम् तौदादिकः । तस्मात् 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० ३-१-१३५) इत्यनेन कः प्रत्ययः । निमिषतीति निमिषः । नियम्य मिषतीत्यर्थः । स्पर्द्धा, गुणोत्कर्षाय प्रयत्नः । भगवान् स्वकृते चराचरे विश्वे प्रतिपदार्थं गुण-धर्म-स्वभावान् नियम्य गुणोत्कर्षाधानाय पुनस्तेषां बहुविधतां कुरुते । एतेन निमिषत्व-धर्मेण स सर्वं व्यश्नुवानः सन् निमिष इत्युक्तो भवति । यथा च मन्त्रे 'नि' विनिग्रहार्थे दृश्यते—"न्योषतादुदग्ने तिष्ठ" (ऋग्० ४-४-४) न्योषतात् नियम्य दहेत्यर्थः । उष दाहे धातुः । भवति चात्रास्माकम्—

भाष्यकार का पद्यद्वारा स्पष्टीकरण इसप्रकार है—

यह सकल विश्व भगवान् सर्वज्ञ के सत्य पराक्रम से पराक्रान्त=व्याप्त है, वह इन सकल नश्वर वस्तुओं के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता ।

जैसे एक वट वृक्ष या किसी दूसरे बीज में अन्य बीजों की जो उत्पादन क्षमता है, वह व्यवस्थित रूप से सत्य रूप से पराक्रान्त=व्याप्त है, अर्थात् वह कभी नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार और कल्पनायें भी कर लेनी चाहियें ।

निमिषः—२१४

नि उपसर्ग है नियमन करने (रोकने) अर्थ में । तुदादिगणपठित स्पर्द्धार्थक मिष धातु है। स्पर्द्धा नाम अपनी अपेक्षा दूसरे को नीचा करने की इच्छा का है । मिष धातु से कर्ता अर्थ में कृत् क प्रत्यय करने से निमिष शब्द सिद्ध होता है । नियमपूर्वक जो पर की अपेक्षा अपने में गुणोत्कर्ष के लिये प्रयत्न करता है उसका नाम निमिष है । भगवान् विष्णु इस चराचर रूप विश्व में प्रत्येक पदार्थ के गुण धर्म स्वभावों का नियमन करके गुणोत्कर्ष के लिये उन्हें नाना प्रकार के बनाता है । इस निमिषत्वरूप धर्म से सर्व विश्व में व्याप्त भगवान् विष्णु निमिष नाम से स्तुत होता है । "न्योषतादुदग्ने तिष्ठ" इत्यादि मन्त्र प्रतीक में नि विनिग्रहार्थ में है, नियम्य—नियन्त्रित करके जला यह इसका अर्थ है उष दाहे यह भ्वादिगणपठित धातु है ।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

नियम्य विश्वं सकलं विधाता गुणोच्चिकीर्षुर्जगदातनोति ।
एकं ह्यनेकं त्रिदवन्निमेषं निमेषमात्रः स बिभर्त्ति विष्णुः ॥२७५॥

उच्चिकीर्षुः=गुणोत्कर्षमाधापयिषुरित्यर्थः । निमेषम्=नियतस्पर्द्धम् । निमेषमात्रः=नियन्त्रितस्पर्द्धामात्रः । मन्त्रलिंगं च—

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यंचं न मध्ये परिजग्रभत् ॥ (यजु० ३२-२)

किंचित् प्रसंगप्राप्तमुच्यते । चक्षुर्निमीलनमात्रः कालोऽपि निमेष उच्यते । तद्यथा—

"अष्टादश निमेषास्तु काष्ठा" काष्ठामानस्याष्टशो निमेष इति ।

अनिमिषः—२१५

नास्ति निमिषा स्पर्द्धा अस्येति "अनिमिषः" स विष्णुः । एतेन विज्ञाप्यते सर्वव्यापको विष्णुरेक एव नानारूपतां गतो न तस्य कश्चिदस्ति प्रतिस्पर्द्धी द्वितीयः । मन्त्रलिंगं च—

मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे । (ऋग्-३-५९-१)

गुणों का उत्कर्ष=अभिवृद्धि करने की इच्छा वाला विधाता इस विश्व को नियन्त्रित करके नानारूप बनाता है । तथा एक को ही निमेष=पल मात्र काल में स्पर्द्धाशाली अनेक रूप बनाकर भगवान् निमिषनामा विष्णु इसका पालन पोषण करता है । जिसमें नियम से स्पर्द्धा रहती है, उसका नाम निमेष है । निमेषमात्रः=नियम से स्पर्द्धास्वभाव वाला । इस भाव में "सर्वे निमेषा जज्ञिरे" इत्यादि यजुर्वेद मन्त्र प्रमाण है । नेत्र की पलक गिरने के समान काल को भी निमेष कहते हैं । १८ निमेषों की एक काष्ठा होती है, इस प्रकार काष्ठा का १८वां भाग निमेष कहा जाता है ।

अनिमिषः—२१५

जिसके किसी प्रकार की स्पर्द्धा नहीं है उसका नाम अनिमिष है । इससे ऐसा भाव प्रतीत होता है कि, एक ही भगवान् बहुविध जगद्भाव को प्राप्त हो रहा है, उसकी प्रतिस्पर्द्धा का विषय कोई दूसरा है ही नहीं, जिस से वह स्पर्द्धा करे ।

भगवान् के अनिमिष नाम में "मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे" इत्यादि ऋग्वेद वचन प्रमाण है ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः । (यजुः—३२-३)

महद् यशश्च विष्णोर्नाम्नी स्तः, परिगण्येते चात्रैव सहस्रनाम-संग्रहे । प्रतिमा=प्रतिमानं प्रतिस्पर्द्धात्मिकम् । भवति चात्रास्माकम्—

विश्वं विधत्ते स जगद्यथार्थं न कोऽपि तं स्पर्द्धयितुं क्षमोऽस्ति ।
स एव विश्वे निमिषः पुराणस्तमेव विष्णुं कवयन्ति वेदाः ॥ २७६ ॥

यथार्थम्=यथापूर्वं क्लृप्तं तथैव प्रतिकल्पं कुरुते ।

स्रग्वी—२१६

सृज विसर्गे, तौदादिकः । तस्मात् कर्मणि क्विन् अमागमश्च निपातनात् । ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च(पा० ३-२-५९)सृज्यत इति स्रक् जडचेतनात्मकं जगत् तदस्यास्तीति स्रग्वी मतुबर्थे "अस्मायामेधास्रजो विनिः" (पा० ५-२-१२१) इत्यनेन विनिः प्रत्ययः क्रियते । तदेतत् तारकितं नभो विविधविन्यासन्यस्तं यं व्यनक्ति शोभयति, विशिनष्टि वा तं कवयः स्रग्विणं विष्णुमाहुः । "सूत्रं सूत्रस्य यो वेद स वेद ब्राह्मणं महत्" (अथर्व) । तथा च-'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु'(यजु० ३२-८) । यथा सूत्रे प्रोतानि पुष्पाणि मालेति संज्ञां लभन्ते, एकतां च भजन्ते, स्वानि नामानि परित्यज्य स्रजिति नाम बिभ्रति, तथैव विविधमिदं दृश्यमानं जगत् तस्मिन्

"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः" इस ३२।३ यजुर्वेद वचन से भी इसी भाव की पुष्टि होती है । प्रतिमा नाम प्रतिमान रूप प्रतिस्पर्द्धा का है । इसी भाव को भाष्यकार इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु इस विश्व को पहले विगतकल्पों के समान ही बनाता आ रहा है, कोई भी इतना समर्थ नहीं है, जो उससे स्पर्द्धा करे । वह ही पुरातन पुरुष निमिषनामा है, तथा उसकी वेद विष्णु नाम से स्तुति करते हैं ।

स्रग्वी—२१६

सृज यह विसर्जनार्थक तुदादिगणपठित धातु है, विसर्ग नाम किसी छिपी हुई वस्तु को प्रकट करना या बनाना है । इससे कर्म में क्विन् प्रत्यय तथा अम्-आगम निपातन से होता है । जो बनाया या प्रकट किया जाता है, उसका नाम स्रक् है, जड-चेतन रूप जगत् का नाम है, वह जिसका या जिसमें है उसका नाम स्रग्वी है । मतुप् अर्थ में विनि प्रत्यय होकर स्रग्वी बना है । यह विविध रचना विशेषों से विचित्र नक्षत्र विशिष्ट आकाश जिसको अपनी शोभा विशेष से प्रकट या विशिष्ट कर रहा है, उसे विद्वान् पुरुष स्रग्वी कहते हैं, जो भगवान् विष्णु का नाम है । क्योंकि यह मालारूप जगत् उस ही सूत्ररूप ब्रह्म में प्रोत (पिरोया) हुआ है, तथा वह सूत्ररूप ब्रह्म इस मालारूप जगत् में ओतप्रोत है । इसी अर्थ को "सूत्रं सूत्रस्य यो वेद" तथा "स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु" ये अथर्व और यजुर्वेद वचन प्रमाणित करते हैं । जैसे सूत्र में पिरोये हुये रङ्गबिरङ्गे पुष्प एकत्व को प्राप्त होकर अपने अपने नामों को छोड़कर केवल माला नाम से कहे जाते हैं, इसी प्रकार विविधस्वरूप यह जगत् उस निमित्तरूप सूत्ररूप में अपने विविधत्व को

विश्वात्मके सूत्रे ग्रथितं सदेकनीडतां प्राप्नोति, तदेतत् सर्वं तद् ब्रह्म शोभयति तस्मात् 'स्रग्वी" विष्णुरुक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥
(यजु० ३२-८)

एकनीडम्-एकात्मकम्। यथा विविधकर्मप्रसक्ता नरा कश्चिन्न्यायाधीशः कश्चित् प्रधानमन्त्री कश्चिद् रक्षापुरुषः कश्चित् प्रहरिक इति बहिः सविशेषा अपि रात्रौ गृहं प्राप्यैकतामाप्नुवन्ति विशेषतां विहाय तथवेदं विश्वं तस्मिन्नेकतां प्राप्नोति पुष्पाणि मालामिव। भवति चात्रास्माकम्—

अनन्तपारं विविधस्वरूपं सूत्रे शिवे संग्रथितं समस्तम् ।
तं स्रग्विणं विष्णुमुदात्तभासं शोभायमानं कुरुते प्रकामम् ॥८७७॥

शिवेति विष्णोर्नामसु संगृहीतमत्रैव।

इतरोऽपि स्रग्व्येतस्मादेव, मालाधारणेन सामान्यजनेभ्योऽतिरिच्यते। सम्मानितुं परिधापिता मालाः परिधातारं पुष्पहासेन प्रसादेनौजसा च योजयन्ति, पुष्पहासो हि भगवतो नाम, भगवतो गुणानाधापयितुमेव मालकाभिरुद्धर्घ्यं विशेषयन्ति।

छोड़कर एकरूपता को प्राप्त हो जाता है, तथा यह सब कुछ उस ब्रह्म का ही अलङ्करण=शोभा है। जैसे दिन में विविध कर्म करनेवाले मनुष्य रात्रि में अपने घर में आकर एकरूप=एक समान हो जाते हैं, जैसे कि कोई न्यायाधीश है, कोई प्रधान मन्त्री है, कोई रक्षापुरुष=सिपाई है, तथा कोई द्वारपाल है, ये सब बाहर अपनी अपनी विशेषतायें रखते हुये भी, रात्रि में घर आने पर सब विशेषताओं को छोड़कर कोटुम्बिक रूप से सब एक हो जाते हैं। इसी प्रकार पुष्पमाला के समान वा यह विश्व परब्रह्म में एकता को प्राप्त हो जाता है।

इस भाव को भाष्यकार संक्षेप से इस प्रकार प्रकट करता है—

उस परब्रह्म रूप सूत्र में ग्रथित यह अनन्त नानारूप समस्तविश्व उदात्त=उत्कृष्ट दीप्ति भगवान् विष्णु को ही शोभित कर रहा है, जिसका स्रग्वी भी एक नाम है। शिव नाम का विष्णु के सहस्रनामों में संग्रह है। लोक में भी माला को धारण करनेवाला पुरुष स्रग्वी नाम से कहा जाता है, तथा वह माला उसे और सामान्य पुरुषों से पृथक् कर देती है। सम्मान=आदर के लिये पहनाई हुई मालायें उस पुरुष को विकास-प्रसाद तथा तेज से युक्त करती हैं। पुष्पहास नाम भी भगवान् का है, भगवद् गुणों का आधान=स्थापना करने के लिये ही, आदरणीय पुरुष को मालाओं से शोभित करते हैं।

वाचस्पतिरुदारधीः—२१७

चतुर्विधसृष्ट्यां व्यक्ताव्यक्तरूपाया वाचः पतिर्वाचस्पतिः । सर्वेषां हृदयस्थानि सुखान्वितानि दुःखान्वितानि वा व्यक्ताव्यक्तवचांस्यधिगत्य तेषां पालनं रक्षणं कुरुत इति कृत्वा वाचस्पतिरुक्तो भवति । सर्वेषां हृदिस्थः सन् रक्षणधर्मेण सर्वं व्यश्नुवानः संश्च वाचस्पतिर्विष्णुरुक्तो भवति । मन्त्रलिंगं च—

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वोऽद्य दधातु मे (अथर्व-१-१-१) ॥

भवति चात्रास्माकम्—

स भूतमात्रस्य हृदन्तरस्थो निशम्य वाचः परिपाति सर्वान् ।
बलान्वितान् हीनबलान् विधत्ते हीनानलक्ष्येण च पाति नाम्ना ॥ २७८ ॥

वाचो विद्यायाः पतिर्वाचस्पतिरित्यपि भवति । मन्त्रलिंगं च—

वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु (यजुः-९-१) ।

भवति चात्रास्माकम्—

स वाचस्पतिर्वाचि विराजमानो वाचा जगच्छास्ति च निर्विकल्पः ।
वाचं स सर्वेषु निधाय विश्वं व्याप्नोति तस्मात् स हि विष्णुरुक्तः ॥ २७९ ॥

वाचा=वेदवाचा । मन्त्रलिंगं च—

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ (अथर्व-१०-८-३३)

वाचस्पतिरुदारधीः—२१७

चार प्रकार की सृष्टि की व्यक्त=स्पष्ट वा अव्यक्त=अस्पष्टरूप वाणी का जो पति=रक्षा करनेवाला है, उसका नाम वाचस्पति है । सबके हृदय में स्थित सुख या दुःखयुक्त वचनों को जानकर उनका पालन करने से उसका नाम वाचस्पति है । सबके हृदय में स्थित होकर सब के रक्षणरूप धर्म से सबका व्यापन करता हुआ विष्णु वाचस्पति नाम से कहा जाता है । यह इस "वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वोऽद्य दधातु मे" मन्त्र से प्रमाणित होता है । यहां भाष्यकार का अपना भावप्रकाशन इस प्रकार है—

वह भगवान् वाचस्पति प्रत्येक प्राणिमात्र के हृदय में स्थित सबके हृदयगत सुख दुःखमय वचनों को जानकर सब की रक्षा करता है, तथा वह बलवानों को निर्बल और निर्बलों को सबल बनाकर अपने अन्वर्थक अलक्ष्य नाम से उनकी रक्षा करता है । अथवा वाक् नाम विद्या का है उसकी जो रक्षा करे उसका नाम वाचस्पति है, इसमें "वाचस्पतिर्वाचन: स्वदतु" इत्यादि ९।१। यजुर्वेद वचन प्रमाण है ।

भाष्यकार का फिर से अपने पद्यद्वारा भाव प्रकाशन इस प्रकार है—भगवान् वाचस्पति सब भूतों में वाणी का सञ्चार करके उस हृद्गत वाणी में विराजमान होकर वाणी द्वारा इस समग्र जगत् की रक्षा निर्विकल्प=निस्सन्देह रूप से करता है तथा इस समग्र विश्व का व्यापन करता है इसलिये उसका नाम विष्णु है । यहां वाक् शब्द से वैदिक वाणी ग्राह्य है । यहां "अपूर्वेणेषिता वाच" इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं । हमने जो ऊपर अलक्ष्य नाम से रक्षा करता है ऐसा कहा है इसको कुछ इतिहास प्रसिद्ध कथायें जो भगवान् की पालनात्मक शक्ति को प्रकट करती हैं, प्रमाणित करती हैं ।

यदुक्तमलक्ष्येण नाम्ना, तत्र सन्ति बह्व्य इतिहासप्रसिद्धाः कथाः, या वैष्णवीं परिपालन-धर्मान्वितां शक्तिं व्यंजन्ति। प्रत्यहं च तादृक्षा घटना दृश्यन्ते श्रूयन्ते च याभिः स एव पातेति निश्चीयते।

ऐषमस्तने काले घटितमुच्यते—कूपं खनत्सु कूपकुड्यनिपतनाद् बहूनां मरणमभूत् परन्तु तत्रैकः कयाचिच्छक्त्याकृष्य परिरक्षितस्तं जीवयितुं गोरूपेण मृत्तिकाधो दुग्धं पाययति स्म, मृत्तिकापनयने लब्धावकाशेन तेन सर्वमात्मवृत्तं त्रयाणां चतुर्णां वा दिनानामाभाषितं, प्रमाणरूपेण च सद्यस्को गोमयश्च दर्शितः।

उदारः—उद्, आङ्चोपसर्गौ, ऋ गतिप्रापणयोः, भौवादिकः। ऋ गतौ जौहोत्यादिकः। तस्मात् "अप्" प्रत्ययः "ऋदोरप्" (पा०-३-३-५७)। ऋच्छति, इयर्तीति–अरः, उत्कृष्टमासमन्तादर्यते प्राप्यत अस्मिन्नित्युदारः। ध्यै चिन्तायाम्, भौवादिकः। तस्मात् क्विप् सम्प्रसारणं च कृत्वा "हलः" (पा०-६-४-२), इति दीर्घः। ध्यायते चिन्त्यतेऽनयेति धीर्बुद्धिर्वाधिनं वा। उत्कृष्टतमा सर्वार्थविषया बुद्धिर्यस्य स—उदारधीः, मन्त्रलिंगं च—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः, (यजुः-४०-८)
न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्॥ (अथर्व)
पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथर्व)

तथा प्रतिदिन इस प्रकार की घटनायें देखने या सुनने में आती हैं, जिन से निश्चय होता है, एक भगवान् ही सबकी रक्षा करनेवाला है। एक घटना इसी सम्वत्सर में घटी है, जो इस प्रकार है—

कूवा (कूप) खोदते हुये बहुत से मनुष्य कूप की भित्ति गिरने से मर गये, किन्तु उनमें एक किसी अदृष्टशक्ति विशेष से जीवित रह गया, उसके जीवन का कारण वहां ही मिट्टी के नीचे किसी गौ का प्रादुर्भाव होकर अपने स्तनों द्वारा उसको दूध का पान करवाना है। मिट्टी के नीचे से तीन या चार दिन के बाद जब वह मिट्टी हटाकर निकाला गया, तब उसने यह गो-सम्बन्धी वृत्तान्त बतलाया और वहां पड़ा हुआ ताजा गोमय उसने इस घटना को प्रमाणित करने के लिये दिखलाया।

उदार शब्द उत तथा आङ् पूर्वक गतिप्रापणार्थक ऋ इस भ्वादिगण पठित धातु से अथवा गत्यर्थक जुहोत्यादि धातु से "ऋदोरप्" सूत्र से कर्म में अप् प्रत्यय करने से बनता है। जो उत्कृष्ट रूप से तथा सर्वप्रकार से प्राप्त किया जाता है, उसका नाम उदार है, यद्वा उदार शब्द कुशल अर्थ में रूढ है। धी शब्द ध्यै चिन्तायाम् इस भ्वादिगणपठित धातु से करण अर्थ में क्विप् सम्प्रसारण तथा दीर्घ करने से धी शब्द की सिद्धि होती है। उत्कृष्ट तथा सब विषयों को ग्रहण करनेवाली है बुद्धि जिसकी उसका नाम उदारधी है। इस अर्थ में "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः न त्वदन्यः कवितरो न मेधया" तथा "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

भवति चात्रास्माकम्—

उदारवीर्विष्णुरुदारबोधो विश्वं प्रियं ज्ञानमयं विधत्ते ।
पश्यन्ति तं काव्यविदं पुराणं न तत् परोऽन्यः कविरस्ति लोके ॥ २८० ॥

इति पृथक् पृथक् नाम्नी व्याख्याते, वाचस्पतिरुदारधीरित्येकं सविशेषणं नाम मत्वापि व्याख्यायते गणनायाः सहस्रत्वेऽस्य परिपालनाय । वाचस्पतिश्चासावुदारधीश्चेति, तत्र बाहुलकात् प्रथमाया अलुङ् मन्तव्यः, गुणसंज्ञापनस्य प्राधान्यात् । पार्थक्येन कृता व्याख्या न विहन्यते समस्तं नाम मत्वापि ।

अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान् न्यायो नेता समीरणः ।
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ ३७ ॥

अग्रणीः २१८, ग्रामणीः २१९, श्रीमान् २२०, न्यायः २२१, नेता २२२, समीरणः २२३, सहस्रमूर्धा २२४, विश्वात्मा २२५, सहस्राक्षः २२६, सहस्रपात् २२७ ॥

अग्रणीः—२१८,

अग्रे नयतीत्यग्रणीः । णीञ् प्रापणे भौवादिकः । इह प्रापणं गमनांगं भवति । अग्रे नयति, प्रापयति, गमयतीत्यग्रणीः । सत्सूद्विष० पा -३-२-६१, इत्यादिना क्विप् प्रत्ययः । अग्रग्रामाभ्यां नयतेरुपसंख्यानम् इत्यनेन वार्तिकेन णत्वम् । सर्वं चराचरमग्रे नयति तस्मात् स विष्णुः सर्वत्राग्रणीरूपेणात्मसत्तां प्रकाशयन्नग्रणीरुक्तो भवति ।

भाष्यकार इस भाव को संक्षेप से इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम उदारधी है, क्योंकि वह सबसे उत्कृष्ट तथा सर्वार्थ विषयक ज्ञानवाला है, और इस सकल विश्व को ज्ञान प्रधान बनाता है । उस संसार रूप काव्य को तत्त्व से जाननेवाले पुरातन पुरुष को विद्वान् सर्वत्र देखते हैं, विश्व में इससे दूसरा कोई कवि= विद्वान् नहीं है ।

इस प्रकार से वाचस्पति तथा उदारधी नामों का पृथक् पृथक् व्याख्यान किया है ।

यदि सहस्र संख्या पूर्ण करने की दृष्टि से व्याख्या की जाये तो इसको सविशेषण एक नाम मानना चाहिये, तथा कर्मधारय समास करने से "वाचस्पतिश्चासावुदारधीः" बाहुलक से प्रथमा विभक्ति का लुक् नहीं होगा, क्योंकि यहां गुणों का बोध करवाना ही प्रधान है । समस्त एक नाम मानने पर भी की हुई व्याख्या निर्बाध है ।

अग्रणीः—१८

आगे ले जाता है इसलिये अग्रणी कहलाता है । णीञ् धातु का अर्थ प्रापण अर्थात् ले जाना है, यह गमन का ही अङ्ग है । जो आगे को ले जाता है उसका नाम अग्रणी है ।

अग्र पूर्वक णीञ् धातु से "सत्सूद्विष० इत्यादि पा० ३।२।६१। सूत्र से क्विप् हुआ तथा "अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः" इस वार्तिक से णत्व होकर ग्रामणी शब्द सिद्ध होता है सब चराचररूप जगत् को आगे ले जाता हुआ भगवान् विष्णु सब स्थानों में अग्रणीरूप से अपनी सत्ता को प्रकट करता है । उस भगवान् अग्रणीनामक विष्णु की शक्ति या विधान से ही सूर्य

तस्यैवाग्रणीर्नामधरस्य विष्णोः शक्त्या विधानेन वा सूर्यादयो ग्रहा यथाराश्यग्रे गमनाय प्रापिता भवन्ति। एवं मनुष्याः, इतरप्राणिनश्च नित्यमभीष्टाप्तयेऽग्रेऽग्रे प्राप्यन्ते, चेष्टां नीयन्ते इति वाग्रणीः। ग्रहाणामष्टधा गतिस्तज्ज्ञैरुक्ता, तद्यथा—

वक्रानुवक्रा कुटिला मंदा मंदतरा समा।
तथा शीघ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गतिः ॥ (सूर्यसिद्धान्ते)।

अष्टधागतेः कारणम्—होरानुभवदर्पणे—

अर्कयुक्तश्चोदयः स्याद् द्वितीये शीघ्रगो भवेत्।
रवेस्तृतीये समता गतिर्मन्दा चतुर्थके ॥
पंचमेऽप्यथवा षष्ठे किंचिद् वक्रा च वक्रगा।
सप्तमाष्टमयोरर्कादतिवक्रा गतिर्भवेत् ॥
नवमे दशमे भानोः खेटानां कुटिला गतिः।
एकादशे द्वादशे च शीघ्रा शीघ्रतरा क्रमात् ॥
रविसंयुक्तखेटस्य गतिरस्ताह्वया भवेत् ॥

ग्रहानुकूलगतेरिव लोकेऽपि विविधगतिमत्ता दृश्यते, परन्त्वग्रेगतित्वं न विहन्यते। मंत्रलिंगं च—

अग्रेणीरसि स्वावेश इत्यादिः (यजुः-६-२) ॥

अग्रेणीः=अग्रणीरिति।

संक्षेपत इदं ज्ञातव्यं यन् न कश्चित्, किंचिद् वा यातं क्षणं पुनः प्राप्तुं शक्नोति अग्रणीगुणवान् विष्णुरग्रणीरूपधर्मेण सकलं विश्वं व्याप्नुवन् सनात् कालादद्य क्षणं यावदग्र एव नयतीति सन् स विष्णुरग्रणीरुक्तो भवति।

आदि ग्रह राश्यनुसार आगे आगे ले जाये जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य तथा दूसरे प्राणी भी उनकी अभीष्ट सिद्धि के लिये आगे आगे ले जाये जाते हैं। अर्थात् सचेष्ट किये जाते हैं।

ज्योतिर्विदों के कथनानुसार ग्रहों की गति आठ प्रकार की है। सूर्य सिद्धान्त में इन गतियों के नाम इस प्रकार हैं—१ वक्रा २ अनुवक्रा ३ कुटिला ४ मन्दा ५ मन्दतरा ६ समा ७ शीघ्रा तथा ८ शीघ्रतरा। होरानुभव दर्पण में "अर्कयुक्तश्चोदयः स्याद् द्वितीये शीघ्रगो भवेदित्यादि आठ प्रकार की गति में कारण बतलाये हैं। ग्रहों की गति के समान लोक में भी विविध गतियां देखने में आती हैं, परन्तु आगे बढना रूप जो गति है वह कभी नष्ट नहीं होती इसमें "अग्रेणीरसि स्वावेश" इत्यादि ६।२। यजुर्वेद वचन प्रमाण है। यहां अग्रेणी शब्द अग्रणी का ही वैदिक रूप है। ऊपरोक्तानुसार संक्षेप से यह समझना चाहिये, कोई भी विगत समय को फिर से प्राप्त नहीं कर सकता। अग्रनयन रूप धर्म से युक्त भगवान् विष्णु अग्रणी नाम से कहा जाता है। क्योंकि वह अपने अग्रणीत्व रूप धर्म से समस्त विश्व में व्यापक रूप से स्थित, सदा से इस जगत् में प्रत्येक वस्तु को आगे ही ले जाता है।

अग्रणीः—

अग्निरप्यग्रणीरुच्यते, अग्रं यज्ञेषु नीयत इति यतः। तदर्थे मन्त्रलिंगं च—

अग्निमीडे पुरोहितमित्यादि (ऋग्-१-१-१) ॥

भवति चात्रास्माकम्—

यदत्र किंचिद्विभुनास्ति सृष्टं तदग्र एवानयतेऽग्रणीः सः।
ग्रहैः समां यातिमुपैति विश्वं यथागमं विष्णुरनक्ति चाग्रे ॥ २८१ ॥

यथागमं=यथामार्गम्। अनक्ति=नयति। यातिं=गतिम् ॥

ग्रामणीः—२१९

ग्रामं नयतीति ग्रामणीः। क्विप्-णत्वेऽग्रणीवत्। ग्रामः समूहः। यथा च लोके गृहाणां समूहो ग्राम उच्यते, तथैवेन्द्रियाणां समूह इन्द्रियग्राम उच्यते। वाद्येष्वपि स्वरसमूहमधिकृत्य मन्द्र-मध्य-तारभेदेन त्रयः स्वरग्रामा उच्यन्ते।

यथा च नारदीयशिक्षायाम्—

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
ताना एकोनपंचाशदित्येतत् स्वरमण्डलम् ॥

चराचरग्रामं, लोकलोकान्तरग्रामं, भूतग्रामं वा नयतीति कृत्वा ग्रामणीर्विष्णुरुच्यते ॥

अग्नि का नाम भी अग्रणी है क्योंकि वह यज्ञों में सबसे आगे ले जाया जाता है इसमें "अग्निमीडे" इत्यादि ऋग्वेद १।१।१ मन्त्र प्रमाण है।

यहां भाष्यकार का संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है—

जो कुछ यहां भगवान् विष्णु ने बनाया है, उसे वह सर्वदा आगे ही ले जाता है, तथा समस्त विश्व ग्रहों के समान ही गति को प्राप्त होता है, और उसे अग्रणीनामा भगवान् मार्गानुसार आगे ले जाता है।

ग्रामणीः—२१९

ग्राम नाम समुदाय का है, उसके प्रधान नेता का नाम ग्रामणी है। अग्रणी शब्द के समान क्विप् णत्व आदि करने से ग्रामणी शब्द की सिद्धि होती है। जैसे लोक में गृहों के समूह को ग्राम कहते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों के समूह को इन्द्रियग्राम कहते हैं, तथा वाद्य विषय में भी मन्द्र-मध्य-तार भेद से तीन स्वर-ग्राम होते हैं। नारदीय शिक्षा में "सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छना स्त्वेकविंशतिरित्यादि रूप से स्वरमण्डल का वर्णन किया है। चराचर समूह लोकलोकान्तरसमूह तथा भूतसमूह=प्राणिसमुदाय का जो नेता है उसका नाम ग्रामणी है।

यथा भगवान् सर्वं समुदितं नयति तथैवायं जीवोऽपि स्थानान्तरं गच्छन् सर्वांगसमुदितं शरीरं नयति, एषैव व्यवस्था सर्वत्र व्याप्ता दृश्यते। "ग्रामणी"र्नामवतो विष्णोरेषा व्यवस्था सनात् कालादद्य यावदक्षुण्णायाति कल्पान्तं चामुथैव यास्यति।

भवति चात्रास्माकम्—

स ग्रामणीर्विश्वमिदं समस्तं समूहरूपेण नयन् बिभर्ति।
विश्वं वपुस्तस्य यतोऽस्ति विष्णोः सर्वांगमात्रं नयते स एकः ॥ २८२ ॥

यदुक्तं विश्वं वपुस्तस्येति तत्र मन्त्रलिंगं च—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमथोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसो भवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥
(अथर्व० १०-७)

श्रीमान्—२२०

श्रिञ् सेवायां भौवादिकः। क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसंप्रसारणं च (उण्-२-५७),। श्रयति श्रयते वा श्रीः, ईश्वररचना शोभा वा श्रीयतेऽसौ यथेष्टार्थाभिलिप्सुभिरिति श्रीः, सा श्रीरस्यास्तीति श्रीमान् विष्णुः। प्रतिप्राणि या श्रीः=

यह भगवान् विष्णु का नाम है। जिस प्रकार भगवान् इस सकल जगन्मण्डल का नेता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता हुआ इस सर्वाङ्ग समुदित शरीर को अपने साथ ले जाता है, इसलिये जीवात्मा का भी ग्रामणी नाम है। इसी प्रकार का नियम प्रायः सर्वत्र देखने में आता है, भगवान् ग्रामणी के सर्वव्यापक होने से। और जिस प्रकार से सृष्टि के प्रारम्भकाल से यह व्यवस्था चली आ रही है, उसी प्रकार कल्प के अन्त तक चलती रहेगी। भाष्यकार का संक्षिप्त भावार्थ इस प्रकार है—जडचेतन के समूह रूप इस विश्व का नेता तथा रक्षक भगवान् विष्णु ग्रामणी शब्द से कहा जाता है, क्योंकि यह सकल जगत् भगवान् का शरीररूप है, इसलिये सर्वाङ्ग समुदित इसका ले जानेवाला वह ही है। ऊपर संक्षिप्त भावार्थ में भाष्यकार ने इस सकल विश्व को भगवान् का शरीर बतलाया है, इसमें अथर्व वेद के "यस्य भूमिः प्रमा, यस्य सूर्यश्चक्षुः' तथा "यस्य वातः प्राणापानौ" अथर्व १०-७-३२-३३-३४ ये मन्त्र प्रमाण हैं।

श्रीमान्—२२०

सेवार्थक भ्वादिगणपठित श्रि धातु से "क्विब्वचिप्रच्छिश्रि" इत्यादि उणादि सूत्र से क्विप् प्रत्यय तथा दीर्घ होने से श्री शब्द सिद्ध होता है। सेवक या सेवा योग्य अर्थात् जिसकी सेवा की जाये उसका नाम श्री है, शोभा=ईश्वरीय रचना विशेष या सम्पत्ति का नाम है। अपने मनोवाञ्छित को सिद्ध करने के लिये जिसकी सेवा की जाती है उसका नाम श्री है, तथा वह जिसकी है उसको श्रीमान् कहते हैं। प्रत्येक प्राणी में जो शोभा=कान्ति है उसके मूलनिधि

शोभा कान्तिर्वा सा तमेव कान्तिमन्तं विष्णुं व्यनक्ति । अनेनैव विधिना प्रतिवृक्षं, प्रतिपुष्पं, प्रतिपर्वतं, प्रतिनदं. प्रतिस्रवं, प्रतिजलाशयं, प्रतिनक्षत्रं, प्रतिसूर्यादिग्रहं, प्रतिमनः, प्रतिज्ञानं, प्रतिस्वरं या श्रीः शोभा दृश्यते सा श्रीस्तद्व्यवस्थातारं परमेश्वरमेव व्यनक्ति, अतः स भगवान् शोभारूपेण सर्वत्र विराजमानः सन् श्रीमानुक्तो भवति ।

मन्त्रलिंगं च—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ,　　(यजुः–३१–३२)

पत्नी=प्रत्यायकौ । यथा च लोके पत्नी पतिं व्यनक्ति, पतिश्च पत्नीं व्यनक्ति, दम्पती परस्परं श्रीमान् श्रीमती वोच्येते, अमुथैवैषा शोभा कर्तारं व्यनक्ति, शोभया व्यक्तीकृतः सन् स विष्णुः शोभावान् श्रीमान् वोक्तो भवति ।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ इति मन्त्रे समानरूपेण निर्दिष्टे श्रीः लक्ष्मीश्च पदे पत्नीविशेषणविशिष्टे समानार्थके मत्वा लक्ष्मीर्विष्णोः पत्नीति प्रतिमुखं प्रसिद्धं सत् लक्ष्मीवान् विष्णुरित्युक्तं भवति । तत्रापि च "लक्षेमुट् च" (उण्–३–१६०) लक्षेर्धातोरीः प्रत्ययो भवति मुडागमश्च, लक्ष दर्शनांकनयोश्चौरादिकः, लक्ष्यं लक्षयति दर्शयत्यंकयति सा लक्ष्मीः =श्रीः, अथवा लक्ष्यते दृश्यते नीयते वा तत्त्वविद्भिः सा लक्ष्मीः, भगवतो विभूतिर्वा । श्रीर्लक्ष्मीश्च, लक्ष्मीः श्रीश्च तमेव शोभावन्तं विभूतिमन्तं विष्णुं व्यंक्त इति कृत्वा लक्ष्मीवान्, लक्ष्मीपतिर्वा विष्णु-

---

भगवान् विष्णु हैं, क्योंकि उसकी शोभा=कान्ति सर्वत्र संसार में फैली हुई है, जैसे कि प्रत्येक वृक्ष पुष्प पर्वत तालाब नदी झरने तारे सूर्य आदि ग्रह मन ज्ञान तथा स्वर में जो शोभा दिखाई देती है वह श्री व्यवस्थापक भगवान् विष्णु को पद पद पर प्रकट करती है, इसलिये वह भगवान् विष्णु शोभारूप से सर्वत्र विराजमान हुआ श्रीमान् कहलाता है । यजुर्वेद के "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" इत्यादि मन्त्र में श्री तथा लक्ष्मी का भगवत् पत्नी रूप से वर्णन किया है जिस प्रकार लोक में पत्नी शब्द से पति की प्रतीति होती है तथा पति शब्द से पत्नी की प्रतीति होती है अर्थात् जैसे ये दोनों शब्द परस्पर के व्यञ्जक हैं उसी प्रकार यह श्री भी अपने मूलकारण या धारक को प्रकट करती है, तथा श्री के द्वारा प्रकट किया हुआ वह विष्णु श्रीमान् शब्द से कहा जाता है । लोक में भी पति और पत्नी को श्रीमान् और श्रीमती कहते हैं ।

उपरोक्त "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या" वित्यादि मन्त्र में पठित श्री और लक्ष्मी शब्द को विष्णु पत्नीरूप अर्थ में समानार्थक मानकर श्री या लक्ष्मी विष्णु की पत्नी हैं यह प्रत्येक की मौखिक प्रसिद्धि है, इसलिये भगवान् विष्णु को लक्ष्मीवान् या लक्ष्मीपति भी कहा जाता है । लक्ष्मी शब्द लक्ष् धातु से उणादि ई प्रत्यय तथा मुट का आगम प्रत्यय को करने से सिद्ध होता है । अथवा लक्ष् धातु जो दिखाने या चिन्हविशिष्ट करने अर्थ में चुरादिगण पठित है, उससे लक्ष्मी शब्द बना है जिसका दिखाती या अङ्कित=चिह्नित करती है ऐसा अर्थ होता है, अर्थात् जिसके पास लक्ष्मी होती है वह कुछ विशेष २ लक्षणों से विशिष्ट सा दीखने लगता है, अथवा जो विद्वानों के दर्शन या कामना का विषय हो उसे लक्ष्मी कहते हैं भगवद्विभूति का नाम है ।

रुक्तो भवति, अनेनैव विधिना श्रीपतिः, श्रीशः श्रीमान् वा विष्णुरुक्तो भवति। श्री—लक्ष्मी-शब्दौ धनपर्यायावपि दृश्येते। तद्यथा श्रीसूक्ते—

तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम्॥२॥
अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम्।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम्॥३॥

तत्रैव श्रीसूक्ते पत्नीमधिकृत्य लक्ष्मी-प्रयोगः—

विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रियाम्।
लक्ष्मीं प्रियसखीं भूमिं नमाम्यच्युतवल्लभाम्॥१५॥

प्रियसखीं=श्रियमिति। प्रियः समानः ख्यानो यस्याः, तां प्रियसखीम्, सपत्नीत्वात्। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' यजुष्युक्तत्वात्। श्रीसूक्तं लक्ष्मीसूक्तं वा समानार्थं उक्तं भवति।

इति दिङ्मात्रमुक्तम्। विशेषजिज्ञासुभिः ऋग्वेदीयं श्रीसूक्तं पौनःपुन्येन पठनीयम्।

अत्र श्रीमानिति नामव्याख्याप्रसंगेन—लक्ष्मीवान्, श्रीशः, श्रीपतिः, श्रीनिवास एतेऽपि व्याख्याता भवन्ति। श्रियो निवासो यस्मिन्नस्मिन् वा स श्रीनिवासो भगवान् विष्णुः। मन्त्रलिंगं च—

तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा
यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः। (ऋग् - ७-१०१-४)

श्री ही लक्ष्मी है, तथा लक्ष्मी ही श्री है ये दोनों शोभावान् वा विभूतिमान् भगवान् विष्णु को प्रकट करती हैं, इसलिये भगवान् विष्णु को लक्ष्मीवान्, लक्ष्मीपति, श्रीमान्, श्रीपति, श्रीश आदि नामों से बोलते हैं। श्री और लक्ष्मी धन के पर्याय वाचक शब्द भी हैं। जैसे श्री सूक्त में "तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्" इत्यादि तथा विष्णुपत्नी अर्थ में "विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रियामित्यादिरूप से वर्णित है। सूक्त में आये हुये प्रियसखी शब्द से श्री का ग्रहण है क्योंकि वह लक्ष्मी की सपत्नीरूप प्रियसखी है। यह ही अर्थ "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च" इत्यादि यजुर्वचन का है।

श्रीसूक्त और लक्ष्मीसूक्त दोनों समानार्थक हैं। हमारा अभिप्राय केवल मार्ग दिखाने से है, जिन्हें इस विषय में विशेष जानने की इच्छा हो वे ऋग्वेदीय श्रीसूक्त को बार बार पढ़ें। श्रीमान् शब्द की व्याख्या से ही श्रीश श्रीपति श्रीनिवास लक्ष्मीवान् इत्यादि व्याख्यात समझ लेने चाहियें। श्री का जिसमें निवास=वास है, उसका नाम श्रीनिवास है, भगवान् विष्णु का नाम है। इसमें "तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" "यस्मिन् भुवनानि विश्वानि तस्थुः" इत्यादि ऋङ् मन्त्र प्रमाण हैं। इसी भाव को भाष्यकार संक्षेप से इस प्रकार प्रकट करता है—

भवतश्चात्रास्माकम्—

श्रीमान् स उक्तो भगवान् वरेण्यः श्रिया जगद्व्याप्तमिदं समस्तम् ।
सा श्रीरजस्रं विभुमद्वितीयं वृणोति लक्ष्मीश्च तथैव तद्वान् ॥ २८३ ॥
स श्रीपतिः श्रीश उ श्रीनिवासः शोभापतिर्भूतिपतिस्तथैव ।
स जातवेदा विधिवद्वृतः सन् युनक्ति लक्ष्म्या पुरुषं स्तुवन्तम् ॥ २८४ ॥

न्यायः—२२१

णीञ् प्रापणे भौवादिको नीयतेऽनेनेति न्यायः । अध्यायन्यायोद्याव० (पा०-३-३-१२२), इत्यादिना घञ् प्रत्ययो निपात्यते, "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" (पा-३-३-११८) इति प्राप्तस्य घस्यापवादः ।

नीयते प्राप्यते यथाकृतव्यवस्थं सकलं जगदिति स न्यायो भगवान् विष्णुरित्युक्तो भवति । भगवतो न्यायस्य योऽयं क्रमः स लोकेऽपि दृश्यते, तद्यथा—यन्त्रारूढो यन्त्राधिपतिर्यन्त्रचालकेन नियन्त्रितमपि यन्त्रं स्वकेन निर्देशनेन यथाभिमतं स्थानं प्रापयति तद् यन्त्रं, यन्त्रारूढः स यन्त्रपतिर्न स्वयं यानचालनादिकं कर्म विदधाति, परन्तु गन्तुमर्हेण संकल्पेन संक्लृप्तः सन् स यानं प्रापयति, यत्रासौ नेता यातुमिच्छति । तेन वा संकल्पक्लृप्तेन संकल्प्त्रा तत् सचालकं यन्त्रं नीयते यथाभिमतं स्थानं प्राप्यते इति कृत्वा स यन्त्राधिपतिर्न्याय उक्तो भवति ।

वरेण्य=सर्वश्रेष्ठ या सबके प्रार्थनीय भगवान् विष्णु का नाम श्रीमान् है, उस श्रीमान् की श्री=शोभा या विभूति से यह समस्त विश्व व्याप्त है, तथा वह श्री सर्वत्र व्यापकरूप से स्थित भगवान् विष्णु का ही वरण या प्रकाशन करती है, और तद्वान्=लक्ष्मीवान् लक्ष्मी का वरण या प्रकाशन करता है ।

वह श्रीपति, श्रीनिवास, श्रीश, शोभापति, भूतिपति, तथा जातवेदा, आदि नामों से अभिधेय भगवान् विष्णु विधानानुसार वरण किया हुआ वरण या स्तवन करनेवाले पुरुष को लक्ष्मी से युक्त कर देता है ।

न्यायः—२२१

णीञ् प्रापणे भ्वादि धातु से अध्यायन्यायोद्याव० पा० ३-३-१२२ सूत्र से घञ् प्रत्यय हुआ है 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' पा० ३-३-११८ इस सूत्र से प्राप्त घ प्रत्यय का अपवाद हो गया है । जिस से यह समस्त चर अचर जगत् यथाविधि व्यवस्थित किया जा रहा है, वह न्याय धर्मी भगवान् विष्णु है । भगवान् न्याय का जो यह क्रम संसार में अवलोकित हो रहा है । जैसे यान पर चढ़ा हुआ यान का स्वामी यन्त्र संचालक के द्वारा अपने संकेत से उस जड़ यन्त्र को अपने अभीष्ट स्थान को पहुँचवाता है । यन्त्र पर चढ़ा हुआ वह यन्त्रपति स्वयं यन्त्र का संचालन कर्म नहीं करता । परन्तु गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के संकल्प से युक्त वह स्वामी यान को वहां तक पहुंचवा देता है, जहां वह यन्त्र का स्वामी जाना चाहता है । वह संकल्पकर्ता चालक सहित यंत्र को अपने लक्ष्य स्थान तक ले जाता है । इस हेतु से भी उसे न्याय कहा जाता है ।

अनेनैव प्रकारेण विश्वयन्त्रमिदं सूर्यादिभिर्नक्षत्रात्मकराशिमार्गेण यथाभिमतं न्यायेन विष्णुना सनात् कालादद्य यावन्नीयते कल्पान्तं च नेष्यति। एषा हि तस्य न्यायस्य व्यवस्थानुपदं दृश्यते। तद्यथा—समनस्केन्द्रियग्रामसमूढं शरीरं शरीराभिमान्यात्मा स्वयमदृश्योऽपि संकल्पक्लृप्तं स्थानं यावच्छरीरं गमयति, प्रापयतीत्यर्थः। तत्र या याः स्थूलांगशरीरनिष्ठाः पृथक् पृथक् क्रिया दृश्यन्ते, यथा—पादौ गतिं धत्तश्चक्षुषी पश्यतः, नासे जिघ्रतः, कर्णौ शृणुतः, वाक् व्यक्तं शब्दं वक्ति, त्वक् स्पर्शं गृह्णाति, हस्तौ दानादानं कुरुतः, श्वासप्रश्वासा जीवयन्ति, मनः शुभाशुभं मनुते, पायुस्त्याज्यं त्यजति, शिश्नं मूत्रशुक्रयोः प्रसेकं कुरुते, शरीरांगप्रत्यंगानि परस्परं प्रत्यंगमुपकुर्वन्ति, तास्ताः सर्वाः क्रिया यथाव्यवस्थं जीवेन कार्यन्ते परन्तु नासौ जीवो मृल्लोष्ठवद्दृश्यते, अतः स जीवोऽपि न्याय इव शरीरस्यास्य न्यायः, स्वाभीष्टार्थस्य सिद्धये शरीरस्य नायकः प्रापको वेत्युक्तं भवति। यथास्य शरीराभिमानिनो न्यायस्येन्द्रियाणि साधकानि भवन्ति, तथैवास्यानन्तशक्तिमतो न्यायस्य विष्णोः कृत्तिकादीनि नक्षत्राणि सूर्यादयो नव प्रधानग्रहाश्च जगद्यन्त्रं भगवन्तमभीष्टं प्रापयितुं पृथक् पृथग् गत्या गुणेन वा विनियुक्ता सन्तो नयन्ति, ते च सनक्षत्रग्रहास्तेन विष्णुना नीयन्ते प्राप्यन्तेऽतो न्यायो नाम विष्णुः स्वकं

इसी प्रकार यह विश्व भी एक यन्त्र है। इसे भगवान् विष्णु यन्त्र संचालक की तरह सूर्यादि ग्रहों के द्वारा नक्षत्र-राशियों के मार्ग से अभीष्ट स्थान तक युग-युगान्तरों से आज तक पहुँचा रहा है। और आगे भी कल्प-कल्पान्तर तक इसे पहुँचाता रहेगा। उस भगवान् की यह व्यवस्था हमें पद-पद पर दिखाई देती है। जैसे मन और इन्द्रियों से युक्त शरीर को शरीरी और अदृश्य यह आत्मा स्वयं अपने संकल्पित स्थान तक पहुँचाता है उस समय जो भिन्न भिन्न स्थूल शरीर में क्रियाएं दिखाई देती हैं। जैसे—पैर चलते हैं। नेत्र देखते हैं। नासिका सूंघती है। कान सुनते हैं। वाणी बोलती है। त्वचा स्पर्श करती है। हाथ लेन-देन करते हैं। स्वस्थ श्वास जीवित रखते हैं। मन शुभ और अशुभ मानता है। पायु (गुदा) मल छोड़ता है। शिश्न मूत्र और शुक्र का परित्याग करता है। शरीर प्रत्येक अंग और प्रत्यंग एक दूसरे अंग और प्रत्यंग की सहायता करता है। वे सब क्रियाएं व्यवस्था के अनुसार जीवात्मा धारण करता है। परन्तु वह जीवात्मा मिट्टी के लोष्ठ की तरह दिखाई नहीं देता। इसलिए जीव भी न्याय के समान है। इस शरीर का न्याय अर्थात् अपने अभिलषित अर्थ की सिद्धि के लिए शरीर को अभीष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला, यह भी अर्थ हो सकता है। जैसे शरीर के अभिमानी देव न्याय एवं जीवात्मा की इन्द्रियां उसके कार्य में साधक होती हैं। उसी प्रकार उस अनन्त शक्तिमान् न्याय एवं विष्णु के कृत्तिका आदि नक्षत्र सूर्य आदि प्रधान नवग्रहों को भगवान् ने इस जगत् रूप यन्त्र को यथेष्ट स्थान तक पहुंचाने के लिए नियुक्त किया है। और वे भगवान् की प्रेरणा पाकर भिन्न २ गति अथवा गुण से उस जगत् रूप यन्त्र को पहुँचाते हैं। और वे नक्षत्र और ग्रह भगवान् के द्वारा यथेष्ट स्थान पर पहुंचाये जाते हैं। इसलिए न्याय शब्द विष्णु का ही वाचक है। जो अपने गुणों

न्यायं गुणं जगति व्याप्नुवन् न्याय इति नाम्नोक्तो भवति। लोकसम्मितोऽयं पुरुष इति चर्षिभिः सिद्धान्तितम्। तथा–पुरुषशरीरे सूर्यः चक्षुषो, चन्द्रमा मनः, अश्विनौ श्वासोच्छ्वासौ प्राणापानौ वा, इत्यादिरुन्नेयं ग्रन्थान्तरात्। अथर्ववेदस्यैकादशकाण्डस्य सप्तमं सूक्तं पुनः पुनः पर्यालोचनीयं शारीरसौक्ष्म्यं जिज्ञासुभिरिति। योऽयं तर्कपर्यायो न्याय इति लोकप्रसिद्धः सोऽप्यत एव, न्याये तर्केण यथार्थता नीयते प्राप्यतेऽतः स न्याय एक एव सन्नपि निजावान्तर्भेदैः प्रत्यक्षानुमानोपमानादिभिर्विभिद्यते, तस्य बोधकं शास्त्रमपि न्यायशास्त्रमिति प्रसिद्धम्।

मन्त्रलिंगं च—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ (ऋग् १०-१९०-३)

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
(यजु: ४०-८)

भवति चात्रास्माकम्—

न्यायेन विश्वं परितोऽस्ति नीतं स्वयं न न्यायः क्रमते कुतश्चित्।
स सर्वव्याप्तो न कुतश्चनोनः सनातनो न्याय इहास्ति विष्णुः॥२८५॥

को संसार में फैलाता है। यह पुरुष लोगों से सम्मानित है ऐसा ऋषियो ने भी कहा है। जैसे पुरुष के शरीर में सूर्य नेत्र हैं। चन्द्रमा मन है। अश्विनीकुमार श्वास और उच्छ्वास है। अथवा प्राण और अपान है। इत्यादि अन्य ग्रन्थों से जान लेना।

अथर्व वेद के एकादश काण्ड का सप्तम सूक्त बार २ पढ़ना चाहिए। जो जिज्ञासु शरीर की सूक्ष्मता जानना चाहते हैं।

जो यह तर्क पर्यायवाची न्याय न्यायदर्शन नाम से संसार में ख्यात है वह भी यही विष्णु है। न्याय में तर्क की कसौटी पर वास्तविकता का ज्ञान किया जाता है। अथवा तर्क के द्वारा यथार्थता मालूम की जाती है। वह न्याय एक होता हुआ भी प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान आदि अपने अवान्तर्भेदों के द्वारा विभक्त किया जाता है। उसका बोधकशास्त्र न्यायशास्त्र प्रसिद्ध है।

मंत्रलिंग—सूर्याचन्द्रमसौ धाता०
याथातथ्यतोऽर्थान इत्यादि

यहां हमारा भी पद्य इसी भाव को व्यक्त करता है—

वह न्याय गुणवान विष्णु सारे संसार को चलाता है पर स्वयं वह न्याय रूप विष्णु किसी के द्वारा नहीं चलता। वह सर्वत्र व्याप्त है और किसी से न्यून नहीं है। वह न्याय धर्मी विष्णु इस संसार में सनातन है।

नेता—२२२

णीञ् प्रापणे भौवादिकः, तस्मात् सामान्येन ण्वुल्तृचौ (पा०-१।३।३) सूत्रेण तृच् प्रत्ययः। नयतीति नेता। पथप्रदर्शकः, अभीष्टस्य प्रापयिता वा। सर्वस्मिन् जगति स विष्णुः सर्वं नयति यथाव्यवस्थं गमयति प्रापयतीति कृत्वा स नेता इति नाम्नोक्तो भवति। यो हि मनुष्यो नेतारं देवं नेतृगुणेन सर्वत्र वर्तमानं स्मरति, जगति च तद्व्यवस्थां पश्यति स नूनं नेतृगुणेन युक्तः सन्नन्यान् अतिशेते तिरस्कारोति वा।

मन्त्रलिंगं च—

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा॥
(यजुः-४-८)

सारांशः—सर्वं जगत् विविधविकल्पनानुस्यूतं नयति यथायथं व्यवस्थां प्रापयतीति कृत्वा नेता स विष्णुर्देवः। 'देवस्य नेतुः' मन्त्रनिर्देशात्।

इन्द्र एषां नेता (अथर्व १९-१३-९)

नेतृत्वाय प्रार्थनाश्चापि श्रूयन्ते—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥
(यजुः-५-३६) अन्यत्रापि

नेता—२२२

'णीञ् प्रापणे' भ्वादिगण पठित णीञ् धातु से "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्र से तृच् प्रत्यय हुआ है। नयति इति नेता—जो विश्व का पथ प्रदर्शन करानेवाला है। अथवा अभीष्ट को प्राप्त करानेवाला है। क्योंकि वह विष्णु सम्पूर्ण विश्व में व्यवस्था स्थापित करता है। प्रत्येक प्राणी को और वनस्पति को अपनी व्यवस्था के अनुसार चलाता है। इसलिए विष्णु को नेता नाम से स्मरण किया जाता है। जो मनुष्य सर्वत्र विद्यमान और नेतृत्व गुण से युक्त उस नेता देव को भजता है और संसार में उसकी अटूट व्यवस्था को देखता है वह प्राणी निस्संदेह नेता के गुणों से युक्त होता है और अन्य प्राणियों को अपने गुणों से तिरस्कृत कर देता है। अर्थात् उस पुरुष का अन्य प्राणियों की अपेक्षा विशेष सम्मान होता है।

विश्वो देवस्य नेतुः इत्यादि मन्त्रलिंग है।

सारांश यह कि यह सकल जगत् नाना विकल्पों से अनुस्यूत (सीया हुआ) है। इसे अपनी इच्छानुसार व्यवस्थित करनेवाला अथवा अपनी मर्यादा के अनुकूल चलाने वाला वह नेता विष्णु देवता है। ऊपरोक्त मन्त्र में भी नेता शब्द का निर्देश किया है। 'इन्द्र एषां नेता' अथर्व १९-१३-९ उस नेता विष्णु के लिए प्रार्थना भी सुनी जाती है—अग्ने नय सुपथा० यजुः ५-३६ और भी देखा जाता है कि—

अग्निरिति विष्णोः सहस्रनामसंग्रहे नाम संगृहीतमस्ति । अग्ने ! देव ! विद्वान्— इति पदनिचयो व्यापकं विष्णुमेव द्योतयति ।

भवति चात्रास्माकम् —

यदत्र किंचिद्भुवि दृश्यमानं नेत्रास्ति सर्वं पथि नीयमानम् ।
स एव नेता सकलस्य लोके यतः स विष्णुर्वयुनानि वेद ।।२८६।।

समीरणः—२२३

समिति सम्यगर्थे—एकीभावेऽर्थे वाऽव्ययम् । ईर गतौ कम्पने चेति दैवादिको धातुस्तत स्तच्छीलाद्यर्थे "चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच्' इति (पा० ३।२।१४८) सूत्रेण युच् प्रत्ययः, योरनः । णत्वं समीरण इति सिध्यति यद्वा ण्यन्तादीटि धातोः "ण्यासश्रन्थो युच्" (पा० ३-३-१०७) इति सूत्रेण स्त्रीविशिष्टे भावे युचि, योरनि, णत्वे, टापि चेरण इति सिध्यति । समीचीना—ईरणा यस्य स समीरण इति । एवञ्च सम्यक् चेष्टते हिताय सर्वस्य जगतः, सम्यगीरयति=कम्पयति इति समीरण उक्तो भवति भगवान् विष्णुः । समीचीना जगद्धितचेष्टा च भगवतः कथं केन वा पथा गच्छतो जीवस्य ससुखं सकलमायुर्व्यतीयादिति स्वसत्यज्ञानरूपवेदोपदेशस्य प्राणिभ्यः प्रदानं, तथा तज्जीवनाय यथाकालोपयुक्तसाधनानाञ्चोत्पादनम् । प्रतिप्राणि तच्छरीरसंघटना

अग्नि शब्द विष्णु के सहस्र नामों में एक नाम है। क्योंकि अग्ने ! देव ! विद्वान् यह सब पद समूह उसी व्यापक विष्णु का प्रतिपादन करते हैं । यहां हमारा भी पद्य है—

इस भूमण्डल में जो दृश्यमान है, उसका पथ प्रदर्शक विष्णु भगवान् है । वह ही संसार में सबका नेता है । वह सबके कर्मों को भली-भान्ति जानता है ।

समीरणः—२२३

अच्छे प्रकार प्रेरणा, चेष्टा, या संघात करनेवाला । सम् यह समीचीन (ठीक) अर्थक अथवा संघातार्थक अव्यय है । सम्पूर्वक कम्पन वा गत्यर्थक आदादिक ईर धातु से तच्छीलत्वादि विशिष्ट कर्ता अर्थ में "चलनशब्दार्थादकर्मकाद् युच्" इस (३-२-१४८-पा०, सूत्र से 'युच्' प्रत्यय और यु को अनादेश करने से समीरण शब्द सिद्ध होता है । अथवा स्त्रीविशिष्ट भाव में "ण्यासश्रन्थो युच्" इस (पा० ३-३-१०७) सूत्र से युच् प्रत्यय और यु को अन तथा अन के नकार को णत्व, स्त्रीत्व द्योत्य होने से टाप् प्रत्यय करने पर ईरणा शब्द बनता है, समीचीन= युक्त संघातात्मक वा है ईरणा=प्रेरणा जिसकी उसका नाम है समीरण ।

इस प्रकार से जो जगत् के कल्याण के लिये अच्छे प्रकार चेष्टा, कम्पन=गति, या संघातात्मक=संगठनात्मक कार्य करता है, उसका नाम समीरण है । भगवान् गतियुक्त सशरीर जीव की सकल आयु सुख के साथ बीते इस कामना से इन जीवों के लिए वेद=अपने नित्य ज्ञानरूप वेद का उपदेश देता है, इनके जीवनोपभोगार्ह वस्तुओं को उत्पन्न करता है, तथा प्रत्येक प्राणी की शरीर रचना (संगठन) भगवान् ने इस प्रकार से की है, जिस से प्राणी

तादृशी विहिता भगवता, यथासौ प्राणी स्वजीवने जीवनार्हभोगोपभोगे काश्चिन्न्यूनता-न्नानुभवेत्, तथा च भगवता समीरणेन सर्गारम्भे यद्वस्तु यद्रूपेण प्रवर्तितं तद्वस्तु तद्रूपेणैवेदानीं पर्यन्तं प्रवर्त्यते कल्पान्तं तदेकरूपेणैव च प्रवर्तयिष्यते, यथा सर्वेषां प्राणिनां द्विरदोत्पत्तिः। रदाः=दन्ताः प्रतिमनुष्यं समानसंख्याका द्वात्रिंशद् रदा भवन्ति। अनेकशफवतां पशूनां दन्तपङ्क्तिः समानरूपेणैकविधैव भगवता समीर्यते= प्राप्यत इति। यथाकालमाम्रवृक्षेषु सर्वत्र सर्वदा समाना एव मञ्जरीरुत्पादयति। लतागुल्मक्षुपेषु सर्गादिममेव रूपमविकृतमायाति, कल्पान्तश्च तदेव स्थास्यति। भयरागहर्षद्वेषादीनामुद्भवस्थानं हृदयं, तस्मिन्नेव सकलप्राणिनां भयहर्षरागद्वेषादीनां समुद्भवः समानरूपेण दृश्यते। येयमविचला भागवती व्यवस्था सनादायाति तस्या व्यवस्थापको भगवान् विष्णुरेव तद्व्यवस्थायाः स्पष्टप्रकाशाय समीरण इति नाम्नो-च्यते। अमुथैव सूर्यादयो ग्रहा अपि यथाव्यवस्थमेकीभावेनेरिताः सन्तो जगद्धारयन्ति, न ह्येकोऽपि ग्रहः स्वां गतिं जहाति। एवं समुद्रोऽपि यथानियतमुत्तुङ्गा वीचीराप्नोति। इति दिङ्मात्रमुक्तं सुधीभिर्विविधमुन्नेयं जगति बोभूयमानं कर्मावलोक्य।

भवति चात्रास्माकम्—

समीरणो विष्णुरनन्तकर्मा समीरयन्नेति जगत् समस्तम्।
सनात् स्वकां पालयति व्यवस्थां समीरणो विष्णुरिहास्त्यतः सः ॥२८७॥

अपने जीवन में भोग भोगने में, किसी प्रकार की कमी का अनुभव न करे। भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में जो वस्तु जिस प्रकार की बनाई, वह वस्तु आज तक उसी प्रकार की बन रही है तथा प्रलय पर्यन्त इसी प्रकार की बनती रहेगी जैसे—सब प्राणियों के दान्तों की उत्पत्ति दो बार होती है। प्रत्येक मनुष्य के समान संख्या से ३२ दान्त होते हैं। अनेक शफ (खुरों) वाले पशुओं के दान्त भी एक प्रकार के समानसंख्यक होते हैं। सर्गारम्भ से अब तक भगवान् उचित समय पर सब आम्रवृक्षों में समान=एक ही प्रकार की मञ्जरी उत्पन्न करता है। लता, क्षुप=बिना शाखाओं के पौदे, तथा झाड़ी आदि गुल्मों का जैसा आकार सर्ग के आरम्भ में हुआ, वैसा ही अब है तथा कल्प पर्यन्त ऐसा ही रहेगा।

भय, राग, हर्ष, द्वेष आदिकों का उत्पत्ति स्थान हृदय में है सर्गारम्भ से, इसलिए अब भी इनकी उत्पत्ति हृदय में ही होती है। इस अविचल,=समान रूप से चलती हुई, भगवत् कृत व्यवस्था के व्यवस्थापक भगवान् विष्णु स्वयं ही है, इस अर्थ को प्रकट करने वाला भगवान् का समीरण यह नाम है। इसी प्रकार सूर्य आदि ग्रह भी व्यवस्थानुसार एकरूप से प्रेरित किये हुए, इस जगत् को धारण करते हैं, कोई भी ग्रह अपनी गति को नहीं छोड़ सकता। इसी प्रकार समुद्र में भी समय पर बड़ी बड़ी तरङ्गें उठती हैं। इस प्रकार यहां केवल मार्गमात्र दिखाया है विद्वान् पुरुषों ने लोक में बार २ होते हुये कर्मों को देखकर स्वयं कल्पनायें कर लेनी चाहियें।

भाष्यकार इस नामार्थ को अपने पद्य से यों व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम समीरण है, क्योंकि वह इस समस्त विश्व को अपनी प्रेरणा, हितचेष्टा, तथा एकीभाव से चलारहा है, तथा वह सदा से अपनी व्यवस्था=नियम का पालन करता है, इसलिए उस भगवान् का नाम समीरण है।

सहस्रमूर्धा—२२४

सहस्र-शब्दो बहुपर्याय: । मूर्धा=शिर:, भगवत: *'शीर्ष्णो द्यौ: समवर्तत'* (अथर्व-१९-६-८) इति । द्यवि सूर्यादीनां प्रकाशवतां स्थानम्, अत एव च प्रतिप्राणि मूर्धन्येव ज्ञानेन्द्रियाणां निचय: कृत आस्ते । तेन भगवता स्वात्मनोऽनन्तज्ञानवत्त्वं ज्ञापयितुं नभश्चराणां, जलचराणां, भूचराणां च प्राणिनामसंख्यातभेदवतां पृथक् पृथगाकृतिमतां शिरसां विकल्पनं कृतम्, तेषां यथावश्यकमाकारवतामिन्द्रियगोलकानां च निर्माणं कृतमास्ते, एतेन ज्ञायते यत् ते प्राणिन: प्रतिपदं भिन्नं भिन्नं ज्ञानं स्वात्मन्यधिष्ठापयन्ति विविधविकल्पवत्त्वं शिरसां रूपं विविधानन्तज्ञानवन्तं भगवन्तं प्रतिपदं विज्ञापयन्ति । सैषा व्यवस्था सनात् कालादद्य यावद् विकारमन्तरा याति कल्पान्तं चाविकृता यास्यति । तस्मात् स सनातनो विष्णु: सहस्रमूर्धा, सहस्रशीर्षा वोच्यते । लोकेऽपि च पश्याम:—अनेकविधज्ञानविज्ञानवान् कुशलधी: पुरुष: स्वकं ज्ञानं विज्ञापयितुं प्रकाशयितुं वा विविधयन्त्राणां कर्मणां वा प्रकाशं करोति न ह्येकस्मिन्नेव कर्मणि यन्त्रे वा सर्वा विद्या: प्रकाशयितुं शक्यन्ते । अत एतदुपपन्नं भवति यत् यदत्र जगति ज्ञानवतां ज्ञानं दृश्यते तत् तस्यैव सहस्रमूर्ध्नो भगवतो विष्णोरिति । मनुष्यो ह्यल्पज्ञान:, नासौ सहस्रमूर्धा, तस्मात् सहस्रमूर्धत्वमस्य कृत्रिमा कल्पना तत्त्वविद्भि: समादृता । तद्यथा चरके—"वैद्यसमूह: संशयच्छेत्तॄणां श्रेष्ठतम" इत्थं

सहस्रमूर्धा :—२२४

सहस्र शब्द बहु शब्द का पर्याय वाचक है । मूर्धा का अर्थ है शिर । शीर्ष्णो द्यौ: समवर्तत अथर्व—१९—६—८ आकाश में प्रकाश करने वाले सूर्यादि ग्रहों का स्थान है । प्रत्येक प्राणी के मस्तक में ही ज्ञानेन्द्रियों का सृजन किया है । इस से भगवान् ने अपने आप को अनन्त ज्ञान प्रकट करने के लिए नभचर, जलचर और भूचर अगणित संख्यक प्राणियों के भिन्न २ आकृति वाले मस्तकों की रचना की है । और उनकी आकृति वाले इन्द्रियगोलकों का आवश्यकता के अनुसार निर्माण किया है इस से यह प्रमाणित होता है कि सब प्राणी पद पद पर भिन्न २ ज्ञान अपने अन्दर रखते हैं भिन्न २ शिरों की रचना तथा उन का रूप इस बात का परिचायक है कि भगवान् अनन्त ज्ञानवान् है । वह यह व्यवस्था है जो विकारों से भरी हुई सनातन काल से आज तक आ रही है और इसी प्रकार कल्पान्त तक चलती जायेगी । इसीलिए विष्णु सहस्रमूर्धा सहस्रशीर्षा कहलाता है । और लोक में भी देखते हैं—जैसे ज्ञान और विज्ञान में निष्णात कुशाग्रबुद्धि पुरुष अपने ज्ञान को प्रकट करने के लिए विविध कर्मों अथवा अनेक यन्त्रों (मशीनों) का आविष्कार करता है । एक कर्म में अथवा एक यन्त्र के आविष्कार में अपनी सम्पूर्ण विद्या का कौशल नहीं दिखा सकता । अत: यह कहना अनुचित न होगा कि इस संसार में ज्ञानवान् लोगों का जो ज्ञान दीखता है वह उस सहस्रमूर्धा विष्णु का परिचायक है । मनुष्य अल्पज्ञानी है । (वह भगवान् के तुल्य नहीं हो सकता) न ही वह सहस्रमूर्धा हो सकता है । तत्त्ववेत्ताओं ने मनुष्यों में जो सहस्रमूर्धा की कल्पना की है वह कृत्रिम है । यथार्थ नहीं है । जैसे चरक ने कहा कि, वैद्य समूह रोगों के निदान करने में उत्तम होता है । इस प्रकार समान ज्ञान रखने

समानज्ञानवतां समूहो बहुशिरोवत्त्वं, सहस्रशीर्षण्वत्त्वं, सहस्रमूर्धवत्त्वं वा प्राप्नुवन् संशयानामुच्छेदाय प्रभवति। उक्तं च भवति लोके--'पञ्च परमेश्वरः' इति। बहुशिरस्काः पञ्च सहस्रमूर्ध्नः प्रतिरूपां परमेश्वरतां स्वस्मिन्नादधति। एवं विविध-विकल्पनाः सूरिभिः स्वयमुन्नेयाः। प्रसंगप्राप्तं किंचिद्विशेषमुच्यते--यथा प्रतिप्राणि-जाति पंचज्ञानेन्द्रियाधिष्ठानस्य शिरसो गोलकस्य निर्माणं भिन्नं भिन्नं तथैव तेषा-मान्त्राणां च निर्माणं निवेशनं जठरे भिन्नं भिन्नं, यथोदर आन्त्राणां निवेशनं भिन्नं भिन्नं तथैव शिरसि कर्णिकाः सीताश्च भिन्ना भिन्नाः, आन्त्राणि जग्धमाहारं पचन्ति, कर्णिकास्तथैव ज्ञानं पचन्ति स्मरन्ति, विकृतोदरो विकृतज्ञानो भवतीति प्रत्यक्षं दृश्यते। समानांशपरिवृद्धशरीरे पुरुषे यावच्छिरसो गोलकं सूत्रेण मितं भवति तावत् प्रमाणं कण्ठकूपादारभ्य शिश्नान्तस्य तावदेव प्रमाणञ्च मध्यकायस्य, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (ऋग्) इति मायावत्त्वं तस्य विष्णोः सुधीभिरुन्नेयम्। विविधं चैवं सूत्रेण मितं सद् भगवन्तं लाघवेन बहुविधज्ञानवन्तं प्रकाशयति।

मन्त्रलिंगं च--

सहस्रशीर्षा पुरुषः (यजुः–३१-१)

सहस्रशीर्षा पुरुषः (ऋग्–१०-९-१) साम्नि च।

वाले पुरुषों के समूह को बहुशिरधारी सहस्रशीर्षा और सहस्रमूर्धा कहते हैं। क्योंकि वह रोगों के संशय को दूर करने में समर्थ है। और भी लोक में कहा है कि पंच परमेश्वर होता है। पञ्चों का बहुशिरत्व इस बात का साक्षी है कि सहस्रमूर्धा का प्रत्येक रूप अपने अन्दर प्रभुता धारण करता है। इस प्रकार विद्वान् लोग स्वयं विविध कल्पनाएं अन्य भी करलें। प्रसंगवश कुछ विशेष इस सम्बन्ध में कहते हैं—जैसे प्राणिमात्र में पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठान शिर के गोलक का निर्माण भिन्न भिन्न हुआ है उसी प्रकार उन की आन्तड़ियों का निर्माण तथा स्थान पेट में भिन्न भिन्न प्रकार से हुआ है। जैसे आन्तड़ियों का स्थान उदर में भिन्न भिन्न है। उसी प्रकार शिर में कर्णिकाएं और सीताएं भिन्न हैं। आन्तड़ियों का काम भुक्त अन्न को पचाना है उसी प्रकार कर्णिकाएं भी ज्ञान को पक्व और स्मरण रखती हैं।

जिस के उदर में विकार होता है उसका ज्ञान भी विकृत या अधूरा होता है। यह बात प्रत्यक्ष दिखाई देती है। सुडोल शरीर वाले पुरुष में शिर के गोलक का जितना सूत्र परिमाण होता है। उतना ही सूत्र परिमाण लम्बाई में कण्ठ से लेकर शिश्न तक होता हैं। अर्थात् मस्तक की लम्बाई कण्ठ से लेकर शिश्न अथवा भगतक की लम्बाई के समान होती है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ऋग्

इस प्रकार विद्वान् उस विष्णु के मायावत्व को समझें। सूत्र द्वारा प्रत्येक अंग का परिमाण संक्षेप से भगवान् के विविध ज्ञान का उद्बोधन करता है।

मंत्रलिङ्ग—सहस्रशीर्षा पुरुषः यजुः ३१-१

सहस्रशीर्षा पुरुषः ऋग्–१०–९–१

भवति चात्रास्माकम्—

सहस्रमूर्धा भगवान् स विष्णुः सहस्रमूर्धानमकल्पयत् सः ।
लोकं समग्रं लोकस्तथा तं सहस्रमूर्धानमनक्ति विष्णुम् ॥२८८॥

विश्वात्मा—२२५

अतति सततं गच्छति, सततं वा प्राप्तो भवतीत्यात्मा । विश्वस्य सकलस्य चराचरस्यात्मातयिता सन् स विष्णुर्विश्वात्मेति नाम्नोक्तो भवति ।

मन्त्रलिंगं च—

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु (यजुः-३२-८)
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (यजुः-१३-४६)

सूर्य इति चात्रैव संग्रहे १०७ सप्तोत्तरंकशततमे श्लोके न म संगृहीतमस्ति ।

प्रकारान्तरेण व्याख्यानम्—विश्वमात्मनि यस्य स विश्वात्मा भगवान् विष्णुः सर्वत्र व्यापकः । मन्त्रलिंगं च—

या आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ अथर्व-११-८-३०
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ अथर्व-११-८-३२

यहां हमारा भी पद्य है—

"वह भगवान् विष्णु हज़ार शिरों वाला है उस ने समष्टि रूप से संसार को सहस्रमूर्धा बनाया है । यह संसार उस विष्णु को सहस्र मस्तकों वाला व्यक्त करता है ।

विश्वात्मा—२२५

जो निरन्तर चलता है अथवा प्राप्त होता है वह आत्मा है । यह आत्मा भगवान् विष्णु का नाम है, क्योंकि वह आत्मा समस्त चर और अचर जगत् को चलाने वाला है ।

मन्त्रलिङ्ग—स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु यजु-३२-८
सूर्य आत्मा जगतःतस्थुषश्च यजु-१३-४६

सूर्य का नाम इसी संग्रह में १०७ वें श्लोक में दिया गया है ।

अन्य प्रकार से भी व्याख्या हो सकती है—

जिस के अन्दर यह संसार समाया हुआ है वह विश्वात्मा भगवान् विष्णु है जो सब जगह व्यापक है ।

मंत्रलिंग—या आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह । शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः । अथर्व-११-८-३०

इसलिए विद्वान् विराट् पुरुष को ब्रह्म मानते हैं । सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ अथर्व -११-८-३२

सर्वं क्रमेवैतदथर्ववेदस्यैकादशकाण्डस्याष्टमं सूक्तं नितरां रमणीयं शरीर-विज्ञान-विज्ञानाय। लोकेऽपि च पश्यामः—यो हि यस्मिन् कर्मणि प्रधानो भवति स हि तस्यात्मोच्यते। तद्यथा-अग्निर्यन्त्रात्मा, आपो वा यन्त्रात्मा चालको वा यन्त्रात्मा स्वामी वैतस्यात्मेत्यादिः। इतरोऽयमात्मा जीवाभिधोऽपि विश्वं सम्पूर्णं शरीरं प्रविश्य तमातयति हृदयं गत्या योजयति 'पंचमे मासि चित्-प्रवेश' इति शारीरविदां समयः, पुरुषशरीरमधिकृत्य। एवं विविधविचारणया विचारणेन स भगवानेव सर्वत्र व्यापको दृश्यते। भगवत्कर्मणश्छायानुरूपं कर्म सर्वत्र मनुष्यकर्मस्वपि दृश्यते, यथोदाहृतमत्रैव तस्मात् स सर्वत्र व्यापको भगवान् विष्णुर्विश्वात्मोक्तो भवति।

मन्त्रलिंगं च—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः। यजुः-१७-१९

भवति चात्रास्माकम्—

यदत्र किंचिद् भुवि दृश्यमानं तद् ब्रह्मणा व्याप्तमिहास्ति सर्वम्।
विश्वं शरीरं गमयत्यजस्रं विश्वात्मनामास्त्यत एव विष्णुः ॥२८९॥

अथर्ववेद के एकादश मंडल के आठवें सूक्त का निरन्तर पाठ करना चाहिये। जिस से शरीर सम्बन्धी विज्ञान की उपलब्धि होती है। और लोक में भी देखते हैं कि जो पुरुष जिस कर्म में प्रधान अथवा चतुर होता है वह उस कर्म का आत्मा कहा जाता है। जैसे अग्नि यन्त्रों की आत्मा है, अथवा जल उस यन्त्र की आत्मा है। संचालक उस की आत्मा है या उस यन्त्र की आत्मा उस का स्वामी होता है।

आत्मा को जीवात्मा भी कहते हैं। क्योंकि यह जीवात्मा शरीर में प्रविष्ट होकर उसे चलाता है। हृदय को गतिशील करता है। जीवात्मा पांचवे मास में चित्त में प्रवेश करता है। यह शरीरवेत्ताओं का सिद्धान्त है।

इस प्रकार विविध विचार करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि वह विभु विष्णु सर्वत्र विद्यमान है।

भगवान् के कर्मों की प्रतिछाया हम मनुष्य के कर्मों में भी देखते हैं इस का उदाहरण हम ने यहीं पर देदिया है। अतः यह प्रमाणित है कि विश्वात्मा सर्वव्यापक विष्णु का नाम है।

मन्त्रलिंग—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः। यजु --१७--१९।

यहां हमारा भी श्लोक है—

इस भूमण्डल में जो कुछ दीखता है। उस में उस विराट् विभु का अस्तित्व विद्यमान है। जो निरन्तर सम्पूर्ण शरीर को (सम्पूर्ण जगत् को) चलाता है। वह विश्वात्मा भगवान् विष्णु ही तो है।

सहस्राक्षः—२२६

सहस्र-शब्दो बहुपर्यायः। अश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षः। अशेर्देवने (उणा०-३-६५) इत्यनेन सूत्रेण अश भोजने क्रयादिकः, अशू व्याप्तौ सौवादिक आभ्यां धातुभ्यां सः प्रत्ययः। अश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षः। अश्नाति भुंक्ते गृह्णात्यनेनार्थानिति वाक्षः, इन्द्रियाणि, रथचक्राणि वा।

स एक एव विष्णुर्विविधकर्माणि कल्पयन् पुरुरूपः सन् 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' ऋग् इति स सहस्राक्ष उक्तो भवति। अथवा पृथक् पृथग् जातिभेदेन विभक्तानां शरीराणां पृथक् पृथग् रूपेण रूपेन्द्रियस्याक्ष्णो गोलकानां विन्यसनात् स महाप्राज्ञो विष्णुः सर्वव्यापकः सन् स्वमहिम्ना सहस्राक्ष उक्तो भवति। सहस्रधा वा पश्यतीति कृत्वा सहस्राक्षः। तद्यथा-सूर्यादयो ग्रहा द्वादशभावविभक्तस्य जगतः कर्माणि पृथक्-पृथग् भावनिविष्टदृष्ट्या पृथक् पृथग् भावान् पश्यन्ति, तेषां ग्रहाणां सूर्यो राजा, मन्त्रलिंगं च—

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधिक्षवि विषु रूपं यदस्ति।
ददाति दाशुषे वसूनि चोदद् राध उप स्तुतश्चिदर्वाक्॥

(अथर्व-१९-५-१)

तस्मात् स सहस्राक्ष उक्तो भवति। इहैव संग्रहे सूर्य इति च नाम विष्णोर्नामसु पठितमस्ति।

सहस्राक्षः—२२६

सहस्र शब्द बहु शब्द का पर्यायवाचक है। अश्नुते 'व्याप्नोति' जो सर्वत्र व्यापक है। अश् भोजने क्रयादि, अशूङ् व्याप्तौ स्वादि, इन दोनों भिन्नार्थक धातुओं से 'अशेर्देवने' (उणा० ३-६५) सूत्र से स प्रत्यय किया गया है। जो खाता है, अथवा विषयों को ग्रहण करता है। या जो इन्द्रियों को या रथ के चक्रों को ग्रहण करता है वह अक्ष कहलाता है।

उस एक विष्णु ने संसार में विविध कर्मों की रचना की है। बहुरूपिया बनकर उस ने प्रति जीव के भिन्न २ रूप रच डाले हैं। अतः 'सहस्राक्ष' भगवान् विष्णु का नाम है। मंत्रलिंग—इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ऋग्। जातिभेद से जीवों के शरीर की रचना भिन्न भिन्न है। उनके रूप भिन्न हैं। रूप विषय ग्रहण करने वाले चक्षु के गोलक भिन्न २ हैं। यह सब भगवान ने ही रचा है। इसलिए भगवान को सहस्राक्ष कहते हैं क्योंकि वह हजार प्रकार से हजार नेत्रों से देखता है। जैसे सूर्य चन्द्र आदि नव ग्रह तनु धन आदि द्वादश भावों में विभक्त संसार के कर्मों को देखते हैं। और द्वादश भावों में बैठ कर भिन्न भिन्न भावों को देखते हैं। "पश्यन्ति सप्तमं सर्वे शनिजीवकुजाः पुनः त्रिदशत्रिकोणचतुरष्टमान्"। उन सब ग्रहों का राजा सूर्य है मंत्र लिग—इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनाम् अ० १९।५।१ इस में भी वह सहस्राक्ष कहा गया है। इसलिये सूर्य का नाम विष्णु के नामों में संगृहीत है।

मन्त्रलिंगं च—

सहस्राक्ष ! शतेषुधे ! यजुः–१६-१३
नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे । यजुः–१६-८

पाशकानां विज्ञापकोऽक्षशब्दः स एव चेन्द्रियाणां विज्ञापको वेदे प्रयुक्तः, यथा—

अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित् कृषस्व ऋग्–१०-३४-१३

अक्षैः पाशैर्मा दीव्यः, द्यूतनिषेधः, अक्षैरिन्द्रियैर्भोगान् मा भुंग्ध्वम् कृषिं क्षेत्रकर्म तपो वा तत् कुरुत कुरुध्वं वा । तपसा क्षेत्रे बीजारोपणेन च धनं प्राप्नुत द्यूतेन नेति । एवं विविधकल्पनया स सहस्राक्ष एक एव विष्णुर्जगद् व्याप्नोति । अतः स व्यापकधर्मा विष्णुः सहस्राक्ष उक्तो भवतीति दिङ्मात्रमुक्तं लोकतो विविधा ऊहा ऊहनीया मनीषिभिः ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुः सहस्राक्षपदेन वाच्यो विकल्पयन् गोचरगोलकानि ।
स एव विज्ञानवितानतिष्ठः सनातनः पश्यति भूतमात्रम् ॥२९०॥

मंत्रलिंग—'सहस्राक्ष शतेषुधे' यजुः—१६–१३।

'नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे' यजु—६

पाशार्थ बोधक अक्ष शब्द वेद में इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। मंत्रलिंग—अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित् कृषस्व। ऋग् १०-१४-१३।

पाशों से मत खेलो, इस से द्यूत का निषेध किया गया है। इन्द्रियों से भोगों को मत भोगो। कर्म अथवा तप करो। तप द्वारा अथवा क्षेत्र में बीजारोपण करके धन प्राप्त करो, जुए से नहीं। इस प्रकार विविध रचनाओं की कल्पना के फलस्वरूप वह सहस्राक्ष विष्णु है जो संसार के कण कण में व्याप्त है।

इसलिए वह व्यापकधर्मी विष्णु सहस्राक्ष कहलाता है। यह तो केवल दिग्दर्शनमात्र है। बुद्धिमान् संसार में अन्य उदाहरणों की स्वयं कल्पना करें। यहां हमारा भी पद्य है:—

वह विष्णु सहस्राक्ष है। वह दृश्यमान् चर और अचर जगत् में भिन्न जाति, भिन्न रूप एवं आकृति की रचना करता है। वह अपनी हजार इन्द्रियों से जगत् में विज्ञान का फैलाव करता है। वह धारक एवं सनातन है और वह हर प्राणी को देखता है।

सहस्रपात्—२२७

सहस्र-शब्दः संख्यावाचकः सन्नपि बहुत्वविद्योतनो बहुपर्यायो वात्र मन्तव्यः। लोकेऽपि च सहस्र-शब्दो बहुत्वपर्यायः प्राकृतजनैरप्युच्यते। तद्यथा— किं सहस्रधोक्तमपि न शृणोषि अत्र वाक्ये बहुधोक्तमिति विज्ञापनीयोऽर्थः॥ पाद-शब्दः पद गतौ, दैवादिकः। पद्यतेऽसौ पादः, पदरुजविशस्पृशो घञ् पा० ३।३।१६ इति घञ् प्रत्ययः॥ सहस्राणि पादा अस्येति सहस्रपात्। संख्यासुपूर्वस्य पा० ५ ४ १४० इत्यनेन सूत्रेण संख्यापूर्वस्य पादान्तस्यान्त्यलोपः समासान्तः॥ गमनसाधनौ पादौ पादा वा प्रतिप्राणि दृश्यन्ते, शतपद्यादिषु पादानां बहुत्वं दृश्यते, तत्र यदि शतपद्याः पदं भिद्यते, छिद्यते वा तर्ह्यपि शतपद्या गतौ विकारो नायाति, भ्रमरादौ षट्पात्त्वमित्यादिः। तदेतद् बहुविधविकल्पानुस्यूतं जगत् केन क्लृप्तमिति जिज्ञासायामुक्तं भवति— सर्वत्र व्यापकेननान्तगतिसाधक-पादनिर्माणतत्त्वविदा विविधपादानुस्यूतमिदं जगत् सहस्रपाद् तद्व्यवस्थातापि सहस्रपाद् नाम्नोक्तो भवति। कृतं कर्म दृष्ट्वा कर्तुर्ज्ञानातिशयत्वं, तत्कर्मविज्ञाननिष्ठत्वं च प्रकाशितं भवति। भगवता विष्णुना विविधभेदैर्विभक्ताः सर्पाः

सहस्रपात्—२२७

यहां सहस्रशब्द गणनावाचक होता हुआ बहुत्व का द्योतक अथवा बहु शब्द का पर्यायवाचक समझना, और लोक में भी प्राकृत जन सहस्र शब्द का प्रयोग बहुत्व अर्थ में करते हैं।

जैसे नाना प्रकार से कहने पर भी नहीं सुनता। इस वाक्य में सहस्र शब्द का प्रयोग बहुधा के अर्थ में हुआ है। पाद शब्द 'पद्यतेऽसौ पादः' इस व्युत्पत्ति से पद गतौ दैवादिक धातु से "पदरुजविशस्पृशो घञ्" पा० ३-३-१६ इस सूत्र से घञ् प्रत्यय करके पाद शब्द बनता है। जिससे चला जाता है वह पाद कहलाता है।

सहस्रपात्=सहस्राणि पादा अस्य इति सहस्रपात् यह विग्रह करने पर 'संख्यासुपूर्वस्य' (पा० ५-४-१४०) इस सूत्र से समास किया है।

प्रत्येक प्राणी में पाद गति का साधन है ऐसा देखा जाता है। कानखजूरा आदि जीवों के बहुत पैर होते हैं। अगर कानखजूरा का एक पैर तोड़ दिया जाये अथवा काट दिया जाये तो भी उसके चलने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। भंवरे के लिये षट्पाद शब्द का प्रयोग होता है।

नाना प्रकार के विकल्पों में अनुस्यूत (व्याप्त) जगत् की किसने रचना की है? जब यह जिज्ञासा होती है तो यही कहा जाता है कि सर्वत्र व्यापक अनन्तगतिसाधक पाद के निर्माण के तत्त्व को जाननेवाले भगवान् ने तरह तरह के पैरों से आबद्ध जगत् की रचना की है। सहस्रपादवाले भगवान् ने सहस्रपाद जगत् की रचना की है। इसलिए संसार के व्यवस्थापक भगवान् के लिये सहस्रपात् का प्रयोग किया जाता है। किये हुये कर्म को देख कर उस कर्म के कर्ता का विशेष ज्ञान और उस कर्म के निष्पादन में उसका कौशल दिखाई देता है।

प्रत्यक्षतोऽदृश्यपादवन्तः सन्तोऽपि तीव्रतमगत्या धावने समर्थाः क्लृप्ताः। तदेतद् गतिविज्ञानं महाज्ञानिनं गतिविज्ञानकुशलं जगतो भिन्नं, जगद्व्यवस्थातारं विज्ञापयतीति कृत्वा स भगवान् सर्वं जगत् यथाऽर्हंगतिसाधनयुक्तये प्रत्यक्षपादयुक्तमप्रत्यक्षपादयुक्तं वा। जतुकस्य पक्षिणः शाखान्तरप्राप्त्यर्थं तस्य पक्षपोषकेष्वेवास्थिमयं कौटिल्यं कृतं, पादौ च न तस्मै दत्तौ। विविधविज्ञानवत्त्वं तस्य विज्ञापयितुं मनुष्यो वा स्वोपकाराय तथाविधयन्त्राणां निर्माणं कुर्यादिति विज्ञापयितुं वा विविधपादविन्यासन्यस्तमिदं जगत् प्रक्लृप्तम्। स्वयं तत्रानन्तज्ञानो विराजमानः सन् सहस्रपादुक्तो भवति।

मन्त्रलिंगं च—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् यजुः ३१।१, ऋग् १०।९०।१, अथर्व १९।६।१, साम्नि च।

भवति चात्रास्माकम्—

सहस्रधा पादवितानविज्ञः सहस्रपात् पादशतैर्विभक्तम्।
अथाप्यपादो विविधस्वरूपं जगत् प्रक्लृप्यास्ति स तत्र विष्णुः ॥२९१॥

प्रक्लृप्य=क्लृपू सामर्थ्ये धातुः, गमनक्रियायां समर्थवत् कृत्वेत्यर्थः।

भगवान् विष्णु ने नाना सर्प जातियां बनाई हैं। प्रत्यक्ष में तो सर्पों के पैर नहीं हैं। फिर भी उनमें भगवान् ने तीव्रगति से दौड़ने की शक्ति दी है। यह गति विज्ञान बतलाता है कि महाज्ञानी गति ज्ञान कुशल और संसार को व्यवस्था करने वाला कोई शक्तिमान् संसार से भिन्न है। जो सारे संसार को यथोचित गति साधन से युक्त करता है। चाहे पैर प्रत्यक्ष दीखते हों अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पैर दिखाई देते हों।

चिमगादड़ पक्षी अपना एक पङ्ख समेट कर दूसरा पङ्ख फैलाता है। उसके पङ्खों में भगवान् ने (छाता की तरह) अस्थिमय टेढ़ेपन की रचना की जिससे चिमगादड़ उड़ने में सफल होता है। उसके पैर नहीं हैं। इससे उस विष्णु के नाना प्रकार के विज्ञान का ज्ञान हो रहा है। अथवा मनुष्य चिमगादड़ के पङ्ख की भांति अपने लाभ के लिये उसके तुल्य यन्त्र का निर्माण करे यह बताने के लिए भगवान् ने चिमगादड़ को पैर नहीं दिए। या जगत् को नाना प्रकार के पैरों से युक्त करके उसकी रचना की है। उसमें स्वयं अनन्त ज्ञानवान् भगवान् विराजमान है। जिसे सहस्रपात् कहते हैं।

मन्त्रलिंग—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। यजु—३१-१, ऋग्—१०-९०-१ अथर्व—१९-६-१ और साम।

यहाँ हमारा भी पद्य है—

सहस्र प्रकार से पाद प्रसारण की कला जाननेवाला सहस्रपादों से युक्त भी है और बिना पैरों के भी है उसने सैंकड़ों पैरों से नाना स्वरूपवाले जगत् का विभाग करके उसकी रचना की है, और स्वयं उसमें विराजमान भी है।

आवर्तनो निवृत्तात्मा संवृतः सम्प्रमर्दनः ।
अहःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधरः ॥ ३८ ॥

आवर्त्तनः २२८, निवृत्तात्मा २२९, संवृतः २३०, सम्प्रमर्दनः २३१ ।
अहःसवर्तकः २३२, वह्निः २३३, अनिलः २३४, धरणीधरः २३५ ॥

आवर्त्तनः २२८

आङुपसर्गः, वृतु वर्तने भौवादिकः, वृतु वरणे दैवादिकः, आभ्यां "अनुदात्तेतश्च हलादेः" (पा० ३-२-१४९) इत्यनेन तच्छील-सद्धर्म-तत्साधुकारिष्वर्थेषु युच् प्रत्ययः । विविधलोकान् लोके वा दृश्यमानं स्वभावेन "आवर्त्तनगुणं" विधत्ते तस्मात् स आवर्तनगुणेन सर्वत्र व्यश्नुवानः सन् "आवर्तन" उक्तो भवति । मन्त्रलिंगं च—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ (ऋग् १०-१९०-३)

जीवः प्रार्थयते—

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥
(अथर्व–६–५३–२)

लोकेऽपि च पश्यामः—बीजाच्चैव फलं पुनः । वट-बीजाद् वटः, निम्बबीजान्निम्बः, काकात् काकः, पशोः पशुः, मनुष्यान्मनुष्यः, स्वेदात् स्वेदजाः, इति निदर्शनमात्रमुक्तम् । एवं भगवानावर्तनधर्मेण व्याप्नुवन्नाकल्पात् कल्पान्तं सृष्टिं निजशक्त्या नयति तस्मात् "आवर्त्तनः" स विष्णुरुक्तो भवति ।

आवर्तनः—२२८

व्युत्पत्तिः—'वृतु वर्तने' भौवादिक या वृतु वरणे दैवादिक धातु से 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' पा० ३-२-१४९, सूत्र से शील, धर्म तथा साधु अर्थों में युच् प्रत्यय करके और इसके पूर्व में आ उपसर्ग जोड़ कर यह शब्द बना है ।

विविध लोकों में या लोक में अगोचर स्वकीय स्वभाव से सर्वव्यापकत्व गुण को धारण करता है । अतः वह अपने आवर्त्तन गुण के कारण सर्वत्र विद्यमान है । इसलिए आवर्त्तन शब्द विष्णु का ही उद्बोधक है, और मन्त्रलिंग में कहा है— "सूर्याचन्द्रमसौ धाता" ऋग् १०-१९०-३ इत्यादि ।

जीव प्रार्थना करता है:— "पुनः प्राणः पुमरात्मा न ऐतु" (अथर्व ६-५३-२) इत्यादि । और लोक में भी देखते हैं— जैसे बीज से फल पैदा होता है । बड़ के बीज से बड़ वृक्ष, निम्ब (नीम) बीज से निम्ब वृक्ष, काक (कौवा) से काक, पशु से पशु, मनुष्य से मनुष्य, स्वेद (पसीना) से स्वेदज (यूकादि जीव) होते हैं। यह केवल निदर्शन मात्र (दृष्टान्तरूप में) बताया है । इस प्रकार भगवान् आवर्त्तन धर्म से सर्वत्र व्याप्त होकर एक कल्प से दूसरे कल्प तक अपनी शक्ति के द्वारा संसार को आगे ले जाता है । स्पष्ट है कि आवर्त्तन शब्द विष्णु का पर्यायवाची है ।

तथा च—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते।
अर्धेन विश्वं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ (अथर्व १०-८-१३)

अदृश्यरूपेण सर्वं व्यश्नुवान इति।

भवति चात्रास्माकम्—

आवर्त्तनो विष्णुरदृश्यमानः शक्त्या स्वया वर्त्तयते समस्तम्।
जाता विकारान् समुपैति विद्वान् नान्तायतेऽनन्तधिकस्य * कर्म ॥ २९२ ॥

निवृत्तात्मा—२२९

निवृत्तः पृथग्भूत आत्मा स्वरूपपर्यायोऽत्र, निवृत्तात्मा=निवृत्तस्वरूपः, निवृत्तमात्रो वा। प्रजापतिः सर्वां विसृष्टिं जज्ञे। मन्त्रलिंगं च—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥ (ऋग् १०-१२९-७)

स सर्वव्यापी भगवान् सर्वं सृष्ट्वापि तस्मिन्नलिप्त एव तिष्ठति।

मन्त्रलिंगं च—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ (ऋग् १-१६४-७)

और भी कहा है—"प्रजापतिश्चरति गर्भे" अथर्व—१०-८-१३

अदृश्यरूप से सब वस्तुओं में विद्यमान है। स्वयं भाष्यकार भी इस विषय में कहते हैं—

वह विष्णु आवर्त्तन स्वरूप है, अगोचर है, अपनी शक्ति से समस्त संसार को धारण करता है। जो पदार्थ संसार में पैदा होता है और जो वस्तु इन्द्रिय गोचर है, उसी में काम क्रोध आदि विकार पैदा होते हैं। पर अनन्त धीमान् विष्णु के कर्म अनन्त हैं।

निवृत्तात्मा—२२९

व्युत्पत्तिः—निवृत्तः— नि उपसर्ग अव्यय है। वृतु वर्तने भुवादि अथवा वृतु वरणे दिवादि गण की धातु से क्त प्रत्यय करके निवृत्त शब्द बना है। इसका अर्थ है पृथग्भूत जो सांसारिक पदार्थों से दूर हो या निर्लिप्त हो। आत्मा भगवान् का ही स्वरूप है। जो आत्मा (विष्णु) निर्लेप हो, रूपादि गुणों से भिन्न हो। और अलोप हो। ब्रह्मा ने समस्त सृष्टि की रचना की है।

मन्त्रलिंग में कहा है:—
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव ऋग् १०-१२९-७

---

*—कप् समासान्तः।

"अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति चतुर्थं चरणं निवृत्तात्मशब्दबोध्यमेवार्थं व्यनक्ति।

भवति चात्रास्माकम्—

जज्ञे स विश्वं स बिभर्ति विश्वं सखा स जीवस्य समानशाखः ।
नाश्नन् जगज्जातरसानशेषान् निवृत्तमात्रोऽश्नुत एव सर्वम् ॥ २८३ ॥

लोकेऽपि च पश्यामः—कर्त्ता कार्यं कृत्वा ततोऽलिप्त एवात्मानं कुर्वन् निवृत्तस्वरूपो निवृत्तात्मा वा भवति। यथा कुम्भकारो कुम्भान् कुर्वन् तेभ्य आत्मानं पृथगेवास्थापयति तथैवायं निवृत्तात्म-संज्ञो विष्णुर्निवृत्तात्मोक्तो भवति।

नि उपसर्गः। वृतु वर्त्तने भौवादिकः, वृतु वरणे दैवादिकः, क्तश्च प्रत्ययः। निवृत्त आत्मा स्वरूपो यस्य।

संवृतः—२३०

समुपसर्गः, वृञ् वरणे सौवादिकः, वृञ् आवरणे चौरादिकः आधृषीयत्वाद्वा णिच्। समेकीभावे। समानरूपेण सकलं विश्वं स्वके व्यापकधर्मे वव्रेऽन्तर्दधौ वा तस्मात् स भगवान् विष्णुः संवृत उक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा (यजुः ३२-२८)
तथा च—*धामानि वेद भुवनानि विश्वा* (यजुः ३२-१०)

वह सर्वव्यापक भगवान् सब को रच कर भी उसमें (कमलपत्रवत्) अलिप्त ठहरा हुआ है। और मन्त्रलिंग में कहा है:—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इत्यादि।

इस मन्त्र का चतुर्थ चरण निवृत्तात्मा शब्द का ही अर्थ प्रकट करता है।

भाष्यकार भी अपने पद्य में उपर्युक्त भाव को संक्षेप से व्यक्त करता है—

उस विष्णु ने इस संसार की रचना की, वही इसका पालन पोषण करता है। वह जीवमात्र का मित्र है। सब को समदृष्टि से देखता है। वह संसार में पैदा हुये सम्पूर्ण रसों को न खाता हुआ सबका अपने अन्दर समावेश कर लेता है।

संसार में भी देखते हैं कि कर्त्ता कार्य करके उसमें अपने आप को अलिप्त करके स्वयं निवृत्त स्वरूप अथवा निवृत्तात्मा हो जाता है। जैसे कुम्हार घड़े बनाता है, परन्तु उनसे अपने आप को पृथक् रखता है। इसी प्रकार निवृत्तात्मा संज्ञक विष्णु भी निवृत्तात्मा कहलाता है।

संवृतः—२३०

सम् एकीभावार्थक है वृञ् वरणे स्वादि या वृञ् आवरणे चुरादिगण की धातु से 'आधृषीयत्वाद्वा णिच्' इस वार्तिक से णिच् प्रत्यय करके संवृत शब्द बना है। सम् उपसर्ग का अर्थ है एकीभाव। जो सामान्यतः अखिल विश्व को अपने व्यापक धर्म में धारण करता है। इसलिए विष्णु को संवृत नाम से भी स्मरण किया जाता है।

मंत्रलिंग—'तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'। यजु० ३२-२२ और भी—'धामानि वेद भुवनानि विश्वा।' यजु-३२-१० स्वयं भाष्यकार भी अपने पद्य में ऊपर कहे भाव को व्यक्त करते हैं—

भवति चात्रास्माकम्-

स संवृतो विष्णुरनन्तलोकान् समानभावेन ववार जातान् ।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं विश्वं भवत्येकगृहं च तस्मिन् ॥ २ ४ ॥

श्लोकोत्तरार्धे मन्त्रलिंगं च -

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥
(यजुः- ३२-८)

कालेनावच्छिन्नत्वात् 'वत' न भूतमात्रं ध्यनक्ति परन्तु संवृणोतीति संवृत इत्यपि ।

सम्प्रमर्दनः–२३१

सम् एकीभावे। प्र प्रकर्षार्थे+उपसर्गौ । मृद क्षोदे, रौधादिकः । एकीभावेन प्रकर्षेण प्रकृष्टेन बलेन तपसा वा मृद्नाति क्षुणत्ति संपिनष्टि वा संप्रमर्दनो भगवान् सर्वव्यापको विष्णुः ।

मृद्नातेः ल्युट् च पा० ३-३-११५. इत्यनेन ल्युट् प्रत्ययः, सोऽत्र कृत्यल्युटो बहुलम् पा० ३-३-११३ सूत्रेण कर्त्तरि कारके ज्ञातव्यः । बहुलं नाम निर्दिष्टार्थादन्यत्रापि भावयितुम् ।

विश्वं सिसृक्षुर्भगवान् परमेण तपसा विसृष्टिं जनयामास ।

वह संवृत नामक (विराट्) विष्णु अनन्त लोकों को तथा उनमें उत्पन्न जड़ चेतन सृष्टि को समान रूप से अपने अन्दर धारण करता है उस विराट् रूप विष्णु में यह सब संसार व्याप्त है यह वस्तुतः विश्व का घर है ।

श्लोकोत्तरार्ध में मंत्र लिंग का भी प्रमाण प्राप्त है । वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहासद् यजु० ३२-८

काल से अपरिमेय होने के कारण संवृत शब्द में वृञ् धातु से क्त प्रत्यय भूतकाल को न बताकर सामान्यकाल को व्यक्त करता है—धारण करता है, धारण किया, धारण करेगा।

सम्प्रमर्दनः २३१

मृद् धातु रौधादिक, सम् प्र उपसर्ग हैं, जिनका एकीभाव और प्रकृष्ट अर्थ है । जो एकीभाव से अथवा प्रकृष्ट बल या तप से चर और अचर जगत् को गूंथता है या उसे पीसता है वह सम्प्रमर्दन नाम का सर्वव्यापक विष्णु है । यहां 'ल्युट् च' (पा० ३-३-११५) इस सूत्र से ल्युट् प्रत्यय और 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र से कर्तरि कारक में ल्युट् प्रत्यय का विधान किया गया है । बहुल शब्द का निर्देश करने का तात्पर्य यह है कि ल्युट् प्रत्यय अपने निर्दिष्ट अर्थ से दूसरे अर्थों में हो जाता है । विश्व की रचना की इच्छा से भगवान् ने सृष्टि की रचना की है ।

मन्त्रलिंगं च—

तपसस्तन्महिना जायतैकम् ऋग् १०।१२९।६ अपरं च—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमनृत्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥

ऋग् १०।१२९।७

सर्वकमेतत् सूक्तं पठनार्हम्। अपरं च—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो अध्यजायत।

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ ऋग् १०।१९०।१

भगवतः सम्प्रमर्दनरूपो गुणः प्रतिपदं लोके व्याप्तो दृश्यते। तद्यथा—प्रजाः प्रजिजनिषुः प्रथमं प्रकृतिरूपायाः क्षेत्ररूपाया वा स्त्रियो योनिं मैथुनकर्मणा मृद्नाति क्षुणत्ति संक्लिष्टि वा तदनन्तरं शुक्ररजसो कललीभावं प्राप्नुतः, ततोऽनु यथाक्रमं नवमासं यावद् गर्भः संप्रमर्दितः सन् सर्वांगसमुदितः प्रादुर्भावमुपैति, अश्वोष्ट्रमहिष्यादिषु गर्भपाककालो भिन्नो भिन्नः, एता हि योनयः कस्यचिद् गोलोकस्य निदर्शनमात्रज्ञापना वा। अपरं च—घटं चिकीर्षुः कुम्भकारः प्रथमं तावन्मृदं सर्वभावेन संप्रमृद्नाति तदनन्तरं स घटानि कर्तुं प्रवर्तते। अमुथैव कृषीवलो बीजं विवप्सुः प्रथमं क्षेत्रं यथालाभसाधनसंवलितः सन् बहुकृत्वः सम्प्रमृद्नाति ततोऽनु वपति बीजम्। 'लोकसम्मितोऽयं पुरुषः' इति च कृत्वा याः क्रिया जगति प्रादुर्भाव्यस्य प्रादुर्भावाय दृश्यन्ते तासां मूलं सृष्टेरुत्पत्तिक्रम एव।

मंत्रलिंग—'तपसस्तन्महिना जायतैकम् ऋग् १०-१२९-६ अपरं चः—को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमनृत्सो अंग वेद यदि वा न वेद ऋग् १०- १२९-७। यह सारा सूक्त पढ़ने के योग्य है। और भी—ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसो अध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः। ऋग् १०-१९० १

भगवान् का सम्प्रमर्दन नामक गुण लोक में प्रत्येक पद में व्याप्त दिखाई देता है जैसे सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से मानव प्रथम प्रकृतिरूपा या क्षेत्ररूपा स्त्री की योनि को संमर्दित करता है अथवा उसे विलोड़ता है तदनन्तर वीर्य और रज दोनों कलल का रूप धारण कर लेते हैं उस के पश्चात् गर्भ नवमास तक सब अंगों के साथ बढ़ता है फिर वह शिशुरूप में जन्म ले लेता है।

घोड़े ऊंट और भैंस आदि जानवरों का गर्भ का समय भिन्न भिन्न होता है ये योनियाँ किसी गोलोक का निदर्शनमात्र समझना।

और भी जैसे कुम्हार घड़ा बनाने की इच्छा से पहिले मृत्तिका को मथता है फिर घट बनाता है इसी प्रकार कृषक बीज बोने की इच्छा से प्रथम अपने क्षेत्र को लाभोचित सामग्री के साथ बार बार बाहता है उस की मिट्टी को नर्म बनाता है, तदनन्तर उसमें बीजारोपण करता है। इस पुरुष का लोग सम्मान करते हैं। इसलिए जो क्रियाएं संसार प्रादुर्भाव्य के प्रादुर्भाव के लिए दिखाई देती हैं उन सब का मूल कारण सृष्टि की उत्पत्ति का उपक्रममात्र है।

भवति चात्रास्माकम्—

स विश्वकृद् विश्वमिदं चिकीर्षुर्मृद्नाति सम्यक् सबलं ह्यजां ताम्।
तया यथा कुम्भकृतो प्रवृत्तौ मृदं प्रमृद्नाति समस्तशक्त्या ॥२९५॥

भगवतः सम्प्रमर्दनगुणः सनाद्य यावदायाति कल्पान्तं च यास्यतीति सम्प्रमर्दन-गुणो भगवान् विष्णुरुक्तो भवति।

अजां प्रकृतिम्। अजा शब्दप्रयोगो यथा-'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' उपनिषत्। विश्वकृद् विष्णोर्नामसंग्रहे पठितत्वात्। मृद्नातेर्णयन्ताद् "नन्दिग्रहो"त्यादिना सूत्रेण ल्युप्रत्यये कृते, सम्प्रमर्दयतीति सम्प्रमर्दन अपि सिद्धो भवति। तत्र भवान् सम्प्रमर्दनो विष्णू रुद्र-यम-काल-मृत्यु-दण्डादिभिर्गुणैर्विभूतिभिर्वा सकलजंगत् सम्प्रमर्दयति व्यवस्थितौ वा स्थापयतीति कृत्वा सम्प्रमर्दन उक्तो भवति। रुद्र-यम-काल-मृत्युप्रभृतीनि नामानि यथास्थानं द्रष्टव्यानि।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुः स्वयं सर्वकलासु निष्ठो जगत् क्षुणत्त्येव समस्तशक्त्या।
स रुद्र उक्तो भयकृत् स उक्तो यमोऽयमः सः, स उ काल उक्तः ॥ २९६ ॥

यहां हमारा भी पद्य है—

जैसे कुम्भकार कुम्भ बनाने के लिये अपनी पूर्ण शक्ति से प्रथम मृतिका को मथता है फिर घट का निर्माण करता है। उसी प्रकार वह विश्वस्रष्टा विष्णु सृष्टि की रचना की लालसा से प्रथम पूर्ण बल के साथ प्रकृति का मथन करता है भगवान् का सम्प्रमर्दन गुण आदि काल से आज तक चला आ रहा है और कल्प पर्यन्त चलता रहेगा। इसलिए सम्प्रमर्दन गुणशील भगवान् विष्णु हैं। अजा प्रकृति को कहते हैं। जैसे अजा शब्द का प्रयोग प्रकृति के लिये उपनिषद् में आया है:—

'अजामेकां लोहित' उपनिषद्। विश्वकृद् नाम विष्णु का संग्रह में दिया है। णिच् प्रत्ययान्त मृद धातु से 'ण्यासश्रन्थो युच्' पा० ३-३-१०७ इस सूत्र से युच् प्रत्यय करने पर सम्प्रमर्दन शब्द सिद्ध हो सकता है। सम्प्रमर्दयति इति सम्प्रमर्दनः, जो विष्णु, रुद्र, यम, मृत्यु और दण्ड आदि गुणों के द्वारा अथवा अपनी विभूति की शक्ति से समस्त विश्व को एक मर्यादा में स्थापित करता है। इस करके भी सम्प्रमर्दन शब्द भगवान् विष्णु के नाम का सूचक है। रुद्र, यम, काल, मृत्यु प्रभृति उसके नाम हैं यथास्थान पर देख लेवें।

यहां हमारा भी पद्य है जो उपर्युक्त भाव को व्यक्त करता है—

स्वयं भगवान् विष्णु सकल कलाओं में स्थित है। वह जगत् को अपनी शक्ति से समान व्यवस्था में स्थापित करता है। वह रुद्ररूप है, वह विश्व को प्रकम्पित करनेवाला यम है। वही अयम है, और वही काल कहलाता है। अर्थात् रुद्र यम अयम मृत्यु और काल उसी भगवान के नाम हैं।

तं कालनेमिं प्रणमन्ति सर्वे तं चाप्रमत्तं द्युचरा द्रवन्ति ।
मृत्युर्भयादत्ति जगच्च तस्य, वह्निर्भयाद्‌ यात्यवनेरथोर्ध्वम् ॥ २९७ ॥

अहःसंवर्त्तकः— २३२

ओहाक् त्यागे, जौहोत्यादिकः । तस्मान्नञुपपदात् नञि जहातेः उणादिः–१-१५८ सूत्रेण कनिन् प्रत्ययो विधीयते । तस्मिन् प्रत्यये आतो लोप इटि च पा० ६-४-६४ इत्यनेनाकारलोपे कृते अहन्निति सिद्ध्यति । अहन् २-८-६८ इत्यधिकारप्रवृत्तेन रोऽसुपि पा० ८-२-६९, सूत्रेण रेफोऽन्तादेशः प्राप्नोति तेन, अहः सिध्यति । संवर्त्तकः—समेकीभावे, सम्यग्भावे चोपसर्गः, वृतु वर्त्तने भौवादिकः, वृतु वरणे दैवादिकः, आभ्यां कर्त्तरि ण्वुल् प्रत्ययः, ऐकध्यं सम्यक्तया वर्त्तत इति संवर्तकः, अह्नः संवर्त्तक इति अहःसंवर्त्तकः, न जहाति प्रकाशमित्यहः प्रकाशस्वरूपः सूर्यो दिवसो वा । तस्य सूर्यस्य संवर्त्तकः सन् स महोत्साहो महाबलो विष्णुः 'अहःसंवर्त्तक' उक्तो भवति

और भी—सब प्राणी उस कालनेमि नामक भगवान् को प्रणाम करते हैं । उसी कालनेमि की प्रेरणा से प्रेरित होकर सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह अप्रमत्तता से सतत चलते हैं । उसीके भयसे मृत्यु संसार में उत्पन्न तथा दृश्यमान् पदार्थ का संहार करता है। उसी के भय से अग्नि ज्वालामुखी के रूप में पृथ्वी से अजस्र प्रकट होता है कहने का अभिप्राय यह है कि कालनेमि भगवान् के भय से ग्रह प्रति दिन प्रतिक्षण चलते रहते हैं । मृत्यु समय आने पर प्रत्येक पदार्थ का नाश कर देता है । अग्नि ज्वाला का रूप धारण करके पृथ्वी से प्रकट होता रहता है ।

अहःसम्वर्तकः—२३२

अह शब्द जुहोत्यादिगण पठित "ओहाक् त्यागे" धातु से नञ् उपपद होने पर "नञि जहातेः" इस उणादि १-१५८ सूत्र से कनिन् प्रत्यय और आकार का लोप करने से अहन् शब्द सिद्ध होता है, तथा "रोऽसुपि" सूत्र ८-२-६९ से नकार को रेफादेश और विसर्ग होने से अहः शब्द सिद्ध हो जाता है ।

सम्वर्तक शब्द एकीभावार्थक सम् उपसर्ग पूर्वक भ्वादिगण पठित वर्तनार्थक वृतु धातु से यद्वा वरणार्थक दिवादिगण पठित वृतु धातु से कर्ता में ण्वुल् प्रत्यय तथा "वु" को अनादेश करने से सिद्ध होता है । अह्नःसंवर्तक इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास से अहःसंवर्तक ऐसा रूप बन जाता है, जिस का अर्थ होता है, प्रकाश को जो नहीं छोड़ता, ऐसा जो दिवस, सूर्य वा उस का सम्वर्तक=बनानेवाला महाबल, महोत्साह, तथा सर्वेश्वर, विष्णु का नाम है । इसका विशद

विशदार्थमधिकृत्य पुनरेवं व्याख्यानमर्हति—न जहातीत्यहः, तस्य संवर्त्तकः। के च पुनस्ते ये न जहत्यात्मगुणधर्मान्? पंचमहाभूतानि सूर्यादयो ग्रहास्तारकितं नभश्च। सृष्ट्यारम्भकाले यो गुण आकाश आसीत् सोऽद्यापि तथैवास्ति कल्पान्तं च यास्यति। अनेनैव प्रकारेण-वायुः, अग्निः, जलम्, पृथिवी च स्व स्वं गुणं धर्मं वा न त्यजति तस्मात् तेऽपि अहान्युच्यन्ते। एवमेव सूर्यादयो ग्रहास्तारकाश्च यथाविध गुणधर्मनिर्देशनिर्दिष्टाः सर्गाद्यकाले भगवता अहःसंवर्त्तकेन संप्रवर्त्तिता व्यवहाराय नियोजितास्ते कल्पकल्पान्तं तथैवाजहत्स्वार्थवृत्तिमन्तः सन्तः लोकलोकान्तरानुपकरिष्यन्ति। कुत एवं भवति। यतो हि सृष्टेरस्याः कर्त्ता भगवान् स्वयमात्मगुणानां त्यागं न करोतीति कृत्वा। अत एवं वक्तुमर्ह्यते यत्—अग्निः प्रकाशदहने न त्यजति, कुतः? अहःसंवर्त्तकेन व्यवस्थितः सन्। एवं शेषेष्वपि योजनीयं भवति। एवमेव ग्रहोपग्रहेषु तारकेषु च, लोकलोकान्तरेषु चापि विविधमूहनीयं भवति। तेनैवाहःसंवर्त्तकेन व्यवस्थितः समुद्रोऽपि स्वां मर्यादां न जहाति। पंचभूतानां कार्याण्यपि स्वं स्वं धर्मं न जहति, तद्यथा - निम्बो न जहाति स्वं कटुत्वमाकल्पकल्पं यावत्। यदि जहाति स्वं धर्मं तदा निम्बसंज्ञा तस्य न भवितुमर्हति। एवं भगवान् प्रतिपद लोकेऽहःसंवर्त्तकत्वेन लोकं व्यश्नुवानो दृश्यते।

व्याख्यान इस प्रकार है—अहन् शब्द का सामान्यार्थ जो नहीं छोड़े, ऐसा होता है, तथा उन नहीं छोड़नेवालों का जो सम्वर्तक बनानेवाला है उसका नाम अहःसम्वर्तक ऐसा होता है, अर्थात् अपने गुण धर्म आदि को नहीं छोड़ने वालों का बनानेवाला यह समन्वित अर्थ हुआ। प्रश्न— कौन वे तत्त्व हैं, जो अपने गुण धर्म आदि को नहीं छोड़ते? इसका उत्तर यह है, पञ्च महाभूत सूर्यादिग्रह तथा नक्षत्र मण्डल। यह युक्त भी है, क्यों कि आकाश में जो गुण सृष्टि के आरम्भ काल में था वह ही अब तक है, तथा कल्प के अन्त तक वह ही रहेगा। इसी प्रकार वायु, अग्नि जल तथा पृथिवी भी अपने गुण धर्मों को कभी न छोड़ने के कारण अहन् शब्द के वाच्यार्थ होते हैं। इसी प्रकार सूर्य आदि ग्रह और नक्षत्रों को सृष्टि के आरम्भ में भगवान् अहःसम्वर्तक ने जिस गुण धर्म से विशिष्ट बनाया था, वे सब उस ही गुण धर्म से युक्त अपने द्वारा लोक लोकान्तरों का उपकार कर रहे हैं तथा करते रहेंगे। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह ही है कि सृष्टि का कर्ता जो इन सब का उत्पादक है, वह स्वयं अपने गुण धर्मों का त्याग नहीं करता, मूल का गुण धर्म कार्य में आता है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इसलिये यह कहा जा सकता है, भगवान् अहःसम्वर्तक से व्यवस्थित अग्नि अपने प्रकाश तथा दाह रूप धर्म को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार की योजना सब में कर लेनी चाहिये। इसी प्रकार की कल्पनाएं ग्रह-उपग्रह-नक्षत्र तथा लोक-लोकान्तरों के विषय में भी कर लेनी चाहियें। भगवान् अहःसम्वर्तक की व्यवस्था में बन्धा हुआ समुद्र भी अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता। पञ्च भूतों के कार्य भी अपने अपने मूल से आये हुये गुण धर्मों को नहीं छोड़ते। जैसे कि एक निम्ब वृक्ष को ही लीजिए वह कल्प कल्पान्तरों तक भी अपने कटुत्व धर्म को नहीं छोड़ता, कटुत्वरूप धर्म से ही इसका निम्ब नाम है। इस प्रकार पद-पद पर लोक में भगवान् अहःसम्वर्तक की व्याप्ति देखने में आती है।

एवं गोर्गोत्वं न जहाति। कोकिलः पंचमं स्वरं न जहातीति सर्वत्रैवंविधमूहनीयं भवति।

अह्नो दिवसार्थे मन्त्रलिंगं च—

अहोरात्रे पार्श्वे, यजुः—३१-३२

अत्यक्तधर्मवतां व्याख्याने मन्त्रलिंगं च—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। यजुः-

एवमन्वयनीयो मन्त्रार्थः— स पृथिवीं = पृथिवीनिर्माणनिमित्तसाधनीभूतं स्वगुणं दाधार, अमुथैव स द्यां स्वगुणविशिष्टद्युलोकं दाधार, एवं वेदे सर्वत्रैवोहनीयं भवति।

भवति चात्रास्माकम् —वेदार्थविषये—

लोकज्ञो न च वेदज्ञो वेदज्ञो न च लोकवित्।
एकपक्षखगस्येत्र वाक्यं तस्यावसीदति॥ २९८॥
जगद् वेदस्य व्याख्यानं वेदो विश्वप्रकाशकः।
तस्माद्वेदं विजानीयाल्लोकाच्छास्त्राच्च यत्नतः॥ २९९

कथनान्तरेण पुनः स एवार्थो गीयते—

स्वतः प्रमाणानि भवन्ति वेदाः स्वतः प्रमाणं च जगत् समस्तम्।
न वेदगाथामनुयाति विश्वं विश्वे भवं वेदवचः प्रमाणम्॥ ३००

प्रकृतार्थे चास्माकम्—

स प्रत्यहं विश्वमिदं विधाता, संवर्तयन्नात्मगुणैः सदास्थैः।
विष्णुः स्वयं स्वं न जहाति धर्मं जगच्च नो धर्मगुणौ जहाति॥ ३०१॥

इसी प्रकार गोपशु अपने गोत्व धर्म को नहीं छोड़ता तथा कोकिल पक्षी अपने पञ्चम स्वर को नहीं छोड़ता इत्यादि। अहन् शब्द के दिवसरूप वाच्यार्थ में "अहोरात्रे पार्श्वे" इत्यादि ३१-३२ यजुर्वेद मन्त्र प्रमाण है। प्रत्येक वस्तु अपने मूलागत स्वाभाविक धर्म को नहीं छोड़ती इस अर्थ की पुष्टि स दाधार पृथिवीमित्यादि यजुर्वेद मन्त्र से होती है। मन्त्र की सङ्गति इस प्रकार करनी चाहिए, उसने पृथिवी अर्थात् पृथिवी की रचना में साधनभूत गुण को धारण किया, इसी प्रकार स्वगुण विशिष्ट द्युलोक को धारण किया, अर्थात् द्युलोक के बनाने में मुख्य साधन भूत गुण को धारण किया। इसी प्रकार वेद मन्त्रों की अन्यत्र भी सङ्गति कर लेनी चाहिए। वेद और लोक परस्पर नित्यसम्बद्ध अथवा एक ही हैं, इस अभिप्राय की पुष्टि हमारे इस लोकज्ञो न च वेदज्ञः, जगद्वेदस्य व्याख्यानम्, स्वतः प्रमाणानि भवन्ति वेदा इत्यादि पद्य गण से समझनी चाहिये। भाष्यकार द्वारा इस भाव का संक्षेप से प्रकाशन इस प्रकार है—

भगवान् अहःसम्वर्तक सदा=नित्य अपने में स्थित गुणों द्वारा इस विश्व को बनाता हुआ अपने स्वरूप भूत गुण धर्मों को कभी नहीं छोड़ता, तथा भगवान् का कार्यभूत जगत् भी अपने गुण धर्मों का कभी त्याग नहीं करता।

अह इत्यस्य सिद्धौ नञोऽर्थस्योपेक्षा परित्यागो वा कर्तुं न शक्यते। तद्यथा यत्र यत्र सूर्यो गच्छति तत्र तत्रासौ स्वप्रकाशन्न जहाति इति दिवसपर्यायवाचिना अहश्शब्देन गम्यते ।।

एतस्य नाम्नो व्याख्याप्रसंगेन—

सत्यधर्मपरायणः, श्लोके–१०६, नाम—८७०, इत्यपि व्याख्यातं भवति । सत्यं=स्थिरम्, धर्मः=धारयतीति धर्मः, परमं=अयनं ज्ञानं यस्य स परायणः। सत्य इति नामव्याख्याने श्लोके—२५, नाम—१०६, विशदं द्रष्टव्यम् । स सत्यधर्मपरायणो भगवान्—अ गहुस्स्वार्थवृत्तिकं जगदपि रचितवानिति कृत्वा प्रतिपदं जगत् तं सत्यधर्मपरायणं विष्णुं सर्वं व्यश्नुवानं व्याचष्ट एव ।

परायणशब्दः व्याख्यातचरः श्लोके–२, किमेकं दैवतं लोक इत्यादिके ।

भवति चात्रास्माकम्—

> विष्णुः स्वयं सत्यपरायणः सन् सत्येन धर्मेण जगद् युनक्ति ।
> सर्गाद्यकाले गुणवद्यथैतत् तथैव चाद्यापि जगद्विभाति ॥ ३०२ ॥

वह्निः—२३३

वह प्रापणे, भौवादिकः । तस्मात् 'वहिश्रियुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्' (उणादि ४-५२) इत्यनेन निः प्रत्ययो विधीयते नित् सोऽतिदिश्यते । येन ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा० ६-१-१९७) इत्याद्युदात्तस्वरः स्यात् ।

अहन् शब्द में नञर्थ की प्रकाशमानता बनी ही रहती है, उसका त्याग नहीं किया जा सकता, जैसे कि दिवस के वाचक अहन् शब्द से, जहां जहां सूर्य जाता है वहां सर्वत्र वह अपने प्रकाश को नहीं छोड़ता, इस अर्थ की ही प्रतीति होती है ।

इस नाम के व्याख्यान से प्रसङ्गवश सत्यधर्मपरायण इस श्लोक १०६ । ८७० के नाम की भी व्याख्या हो जाती है। सत्य नाम स्थिर का है धर्म नाम धारण करनेवाला या धारण करने का है । पर=श्रेष्ठ है ज्ञान जिसका उसका नाम है परायण । सत्य शब्द का सविस्तर व्याख्यान २५ के श्लोक में सत्य नाम १०६ की व्याख्या में देखना चाहिये । उस भगवान् सत्यधर्मपरायण ने जगत् को भी अपने गुण धर्मों से युक्त बनाया है, इसलिये यह जगत् पद-पद पर उस सर्वव्यापक सत्यधर्मपरायण भगवान् का व्याख्यान कर रहा है । परायण शब्द का व्याख्यान श्लोक २ में हो चुका है । इस अर्थ को भाष्यकार संक्षेप से इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु स्वयं सत्यपरायण है तथा इस विश्व को भी वह सत्य धर्म से युक्त ही बनाता है । यह विश्व सर्गारम्भ काल से अब तक तथा आगे भी एक ही गुण धर्म से युक्त चल रहा है तथा चलता रहेगा ।

वह्नि—२३३

भवादिगण पठित प्रापणार्थक वह धातु से "वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्" ४।५२ सूत्र से नि प्रत्यय तथा उनको नित्त्व का अतिदेश करने से वह्नि शब्द सिद्ध होता है। नित्त्व का अतिदेश आद्युदात्त स्वर के लिये किया गया है । वह्नि शब्द अग्नि का पर्यायवाचक है,

यज्ञेषु देवतानिमित्तं दीयमानं हविर्वहति तस्माद् वह्निरग्निपर्यायः। जाठरोऽपि वह्निरेतस्मादेव जीवनं प्रापयतीत्येव, वह्नेः प्रणाशान्ना प्रणश्यति।

यत् कर्म जगति भवति तद् वह्निः कर्तारं प्रापयति, तद्यथा—कृषीवलः क्षेत्रे बव्रान्नं वपति वह्निस्तं बव्रान्नरूपेण कृषीवलं प्रापयतीति कृत्वा वह्निर्भगवत्तं नियमं व्यंजन् स्वयं भगवान् वह्नि-नाम्ना सर्वं विश्वं व्यश्नुवान आस्ते। सूर्योऽपि वह्निरुच्यते। यज्ञोऽपि वह्निरुच्यते,

देवानामसि वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्। (यजुः-१-८)

मन्त्रलिंगं च—

अग्निर्भुवत् रयिपती रयीणाम्। (ऋग्-१-६०-४)

रयीणाम्=सर्वविधश्वर्याणामिति।

अत एव च विष्णोर्नाम-श्रीशः, इत्यपि युक्तियुक्तं भवति। यस्माद् वह्निरर्थात् प्रापयति वर्तते तस्मात् सत्कर्माण्यनुष्ठितानि कर्तारि स भगवान् सत् फलरूपेण प्रापयति,

मन्त्रोक्तं च संगच्छते—

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (यजु० ४०-८)

उपरि निर्दिष्टोदाहरणवत् प्रतिपदं जगद् दृष्ट्वा निदर्शनानामूहा ऊहितव्या भवन्ति। भवति चात्रास्माकम्—

तथा वह देवताओं को हवि की प्राप्ति करवाता है इसलिये वह वह्नि शब्द का वाच्यार्थ है।

जाठर=उदरस्थित्त वैश्वानर अग्नि का भी वह्नि नाम इसीलिये है, क्योंकि वह जीवन की प्राप्ति करवाता है, वह्नि का शान्त होना ही मनुष्य या प्राणी का मरना है। इस जगत् में मानव जो कुछ भी कर्म करता है, उसका फल उसे वह्नि द्वारा ही प्राप्त होता है, जैसे कि कोई किसान अपने खेत में बाजरा बोता है, तब उसका बहुगुण=अत्यधिक बाजरा उसे वह्नि द्वारा ही प्राप्त होता है इस भगवत् नियम को प्रकट करता हुआ वह्नि, अपने रूप से सर्वत्र व्याप्त वह्नि नामक भगवान् विष्णु को प्रकट करता है। सूर्य तथा यज्ञ का नाम भी वह्नि है क्योंकि ये दोनों भी रस तथा हवि यद्वा कर्म फल आदि के वहन करने वाले हैं जैसा कि यजुर्वेद के "देवानामसि वह्नितममित्यादि १-८ मन्त्र से सिद्ध होता है। इस नामार्थ की पुष्टि" "अग्निर्भुवद रयिपती रयीणाम्" १-६०-४ ऋग्वेद मन्त्र से होती है। रयि नाम सब प्रकार के ऐश्वर्य का है इस से 'श्रीश' यह विष्णु का नाम भी संघटित हो जाता है। वह वह्नि-अर्थात् प्राप्ति करवाने वाला है, इसलिये मनुष्य के किये हुये कर्मों का फल, कर्ता मनुष्य को प्राप्त करवाता है।

इसी अर्थ की 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' इत्यादि यजुर्वेद मन्त्र ४०-८ से पुष्टि होती है। ऊपर दिखाये हुये उदाहरणों के समान ही लोक को देखकर अन्यान्य उदाहरणों की भी कल्पनायें कर लेनी चाहियें। उपरोक्त भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा संक्षेप से यों प्रकट करता है—

वह्निः स विष्णुर्जगदाप्य सर्वं फलेन कर्तारमलंकरोति।
उप्तं यथा वापमुपैति बीजं जगच्च तं विष्णुमुपैति तद्वत् ॥ ३०३ ॥

अनिलः—२३४

इल स्वप्नक्षेपणयोः तौदादिकः, इल प्रेरणे, चौरादिकः, इलति स्वपिति क्षिपतीतील, एलयति प्रेरयतीति वा-इलः इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (पा०३-१-१३५) इत्यनेन कः प्रत्ययः। तेन गुणाभावः। न इलतीत्यनिलः। अस्वप्नः—अतन्द्रितो वा।

मन्त्रलिंगं च—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्। (यजुः-४०-१५)
अतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट्। (ऋग्-१-७२-७)
ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः। (अथर्व-५-३०-१०)
जागृविं विभुम्। (ऋग् ६-१५-८)

जागृविं=सदा जागरणशीलम्। भगवान् सर्वव्यापको विष्णुः स्वयं न स्वपिति, न च तन्द्रितो वा भवति, अत एव च सूर्यादयो ग्रहा अन्द्रिताः सन्तश्चराचरं गमयन्ति गतावास्थापयन्ति। अपां निधिः समुद्रोऽपि न स्वपिति न तन्द्रामेति। भगवतोऽतन्द्रितं स्वापतो रहितं स्वभावं विज्ञापयन्त उद्भिदो यथानियतकालं स्वकानि पर्णानि मुंचन्ति,

---

भगवान् विष्णु का नाम ही वह्नि है, क्योंकि वह सब संसार में व्याप्त होकर कर्मकर्ता को कर्मफल से सफल करता है, अर्थात् कर्मकर्ता को कर्मों के फलों की प्राप्ति करवाता है। जैसे क्षेत्र में वपन किया हुआ बीज फलरूप से वपन कर्ता को प्राप्त होता है, इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् उसी जगत् के कर्ता भगवान् विष्णु को प्राप्त होता है।

अनिल—२३४

स्वप्न तथा क्षेपणार्थक तुदादिगण पठित यद्वा प्रेरणार्थक चुरादिगण पठित इल धातु से कर्ता में कृत् क प्रत्यय करने से इलः शब्द सिद्ध होता है। क प्रत्यय में ककार के इत् होने से गुण नहीं होता। न-इलः=अनिल इस प्रकार नञ् समास करने से अनिल शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ न सोनेवाला अर्थात् सदा प्रबुद्ध तथा आलस्य रहित, होता है। इस व्याख्या में "वायुरनिलममृतमथेद"मित्यादि यजुर्वेद ४०।१५। तथा "ऋषी बोधप्रतीबोधवस्वप्नो यश्च जागृवि," अथर्व ५।३०।१०। मन्त्र प्रमाणक हैं।

सर्वव्यापक भगवान् विष्णु कभी भी स्वप्न या आलस्य को प्राप्त नहीं होते, इसीलिये सूर्य आदि ग्रह भी शयन से रहित नित्य प्रबुद्ध तथा आलस्य को छोड़कर इस संसार चक्र को निरन्तर चला रहे हैं। जलनिधि समुद्र भी न कभी सोता है तथा न कभी आलस्य करता है। तथा भगवान् के स्वप्न और तन्द्रारहित स्वभाव का बोधन करते हुये वृक्ष नियत समय तक

यथाकालं च फलोदयमाप्नुवन्ति । एवं भगवान् विष्णुरनिलत्वेन प्रतिपदं जगद् व्यश्नुवानो दृश्यते ।

अनिलो वायुरप्येतस्मादेव यन्न हि तस्य कश्चित् प्रेरयिता विद्यते । स वायुरपि स्वयं प्रसविता सन् प्रभुरुच्यते ।

अक्षरवर्णसामान्याद् वा निर्वचनमधिकृत्य—लीङ् श्लेषणे दवादिकः । तस्मात् "एरच्" (पा०३-२-५६) इत्यनेनाच् प्रत्ययः । न्युपसर्गपूर्वात् निलयः स्थानम्, नास्ति निलयो यस्य सोऽनिलः । वायोः किंचिद् विशिष्टं स्थानं नास्तीति कृत्वानिलो वायुरुक्तो भवति । भगवतोऽपि किंचिद्विशिष्टं स्थानं नास्तीति कृत्वा भगवान् अनिल उक्तो भवति ।

अनिति प्राणिति एलयति प्रेरयति गतिं वा स्थापयति तस्मादनिलो भगवानुक्तो भवति । भवति चात्रास्माकम्—

अतन्द्रितो विष्णुरतन्द्रितं जगत् गतिं व्यवस्थापयतेऽनिलोऽतः ।
स प्राणयन् विश्वमिदं समस्तं स एव वायुं च गत्या युनक्ति ।। ३०४ ।।

धरणीधरः—२३५

धरणी पृथिवो तां धारयतीति धरणीधरो विष्णुरुक्तो भवति । धृञ् धारणे सौवादिकः, तस्मात् करणाधिकरणयोश्च (पा० ३-३-११७) इत्यनेन ल्युट्, टित्त्वात् ङीप्, "टिड्ढा० (पा० ४-१-१५) इत्यादिना । धरणी=पृथिवी-पर्यायः । धरः-पचाद्यच्

पत्तों को छोड़ते हुये यथा समय फलित हो जाते हैं । इस प्रकार भगवान् का यह अनिलस्वरूप गुण लोक में सर्वत्र व्याप्त है । इसी प्रकार इस लौकिक महाभूत वायु का नाम भी अनिल है, क्योंकि वह न किसी को प्रेरणा देता है, तथा न किसी से प्रेरित है किन्तु स्वयं प्रभु=समर्थ है । अक्षर और वर्ण की समानता से भी निर्वचन किया जाता है, जैसे लीङ् श्लेषणे, यह दैवादिक धातु है, उस से 'एरच' सूत्र से अच् प्रत्यय होता है नि-उपसर्ग है निलय नाम स्थान का है । जिसका कोई स्थान नहीं उसका नाम अनिल है । वायु का भी कोई विशेष स्थान नहीं है, इसलिये वायु को भी अनिल कहते हैं, तथा भगवान् का भी कोई विशेष स्थान न होने से अनिल नाम है । यद्वा प्राणन=जीवन और प्रेरणा देने के कारण से भगवान् का नाम अनिल है । इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यद्वारा संक्षेप से इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु स्वयं अतन्द्रित=आलस्य रहित तथा प्रबुद्ध होने से जगत को भी अतन्द्रित तथा गतिशील बनाते हैं । इसीलिए भगवान् समस्त जगत् के प्राणन और गति के हेतु होने से अनिल संज्ञक हैं ।

धरणीधर—२३५

धारणार्थक स्वादिगण पठित धृञ् धातु से करण कारक में ल्युट् प्रत्यय टकार की इत्संज्ञा यु को अनादेश तथा टित्त्वात् ङीप होने से धरणी शब्द सिद्ध होता है । धरणी शब्द पृथिवी शब्द का पर्यायवाची है । धर शब्द पचाद्यजन्त है, तथा शेषत्व की विवक्षा में धरणी शब्द का धर

प्रत्ययं कृत्वा धर इति, धरण्या धरो धरणीधरः। यथा हि धरणी सर्वं तज्जं धारयति तथैव भवकः स्वं विकारं धारयति, तद्यथा—माता पुत्रं पुत्रीं वा सूते, आबीजाधानात् तं गर्भं धरति, तस्माद् गर्भस्य धरणी, सूत्वा च तं पुष्णाति दुग्धं पाययित्वा शिशुमिति, अतः सापि धरणी। अनेनैव प्रकारेण सर्वं कारणमात्रं स्वकस्य स्वकस्य कार्यजातस्य धारकत्वाद् धरणीत्युक्तं भवति। अत एव च वैयाकरणा "आधारोऽधिकरणम्" (पा० १-४-४५) इत्याचक्षते। पृथिवीपर्यायमधिकृत्य मन्त्रलिंगं च—

> *स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।* (यजुः-१३-४)
> *येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।*
>
> *योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥* (यजुः-३२-६)

धरणीधरधर्ममधिकृत्य मन्त्रलिंग च—

> *धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम्।*
> *इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात्॥*
> (ऋग् १०-१२८-७) (अथर्व ५-३-६) (तै० संहिता ४७-१४-३)

स एव परमेश्वरोऽस्य जगतः स्रष्टा सन् मातेव धरणी, स एवैतस्य धारकत्वेन सर्वं व्यश्नुवानो धरणीधर उक्तो भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

शब्द के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास होने से धरणीधर शब्द सिद्ध होता है। जैसे पृथिवी अपने से उत्पन्न कार्य तथा कार्यज विकारों को धारण करती है, तथा माता प्रसवन तक पत्याहित गर्भ को धारण करती है, इसलिये धारण करने से इन दोनों का नाम धरणी है। जिस प्रकार धारण क्रिया से धरणी शब्द का सार्थ सम्बन्ध है उसी प्रकार पोषण क्रिया से भी सम्बन्ध है। सब ही प्राणी माता के दूध या पृथिवी की औषधियों से पुष्ट होते हैं इसलिये भी उनका नाम धरणी है। वस्तुतस्तु प्रत्येक कारणमात्र ही अपने सब प्रकार के विकारों का धारक होने से धरणी शब्द से उक्त है। इसीलिये वैयाकरण भी आधार को धारक मानकर उसकी अधिकरण संज्ञा करते हैं। तथा धरणी शब्द के समानार्थक पृथिवी आदि को धारण करने से भगवान् का नाम धरणी है, इसी अर्थ को स दाधार पृथिवीमित्यादि १३-४ यजुर्वेद मन्त्र प्रमाणित करते हैं। धरणीधर शब्दार्थ में "धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमित्यादि" ऋक् १०-१२८-७ अथर्व ५-३-६ तै० सं० ४७-१४-३ मन्त्र प्रमाण है। वह परमेश्वर ही माता के समान सब का उत्पादक होने से धरणी और वह ही सब का धारक होने से सर्वव्यापक धरणीधर है।

इस अर्थ को भाष्यकार ने संक्षेप से इस प्रकार कहा है—

विष्णुर्हि लोके धरणीधरोऽस्ति स एव दाधार स पाति धातॄन् ।
पतिर्यथा पाति धरित्रीभूतां, पत्नीं तथा विश्वमिदं च पुत्रम् ॥ ३०५ ॥

पत्नी धरित्री, मन्त्रलिंगं च—

यस्यां मनुष्या बीजं वपन्ति । (अथर्व–१४-२-३८)

यस्यां पत्न्यामित्यर्थः । पत्नीमधिकृत्य मन्त्रोऽयम् । उक्तं चोपरिष्टात्—

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः । (अथर्व–१४-२-३२) इति

अतः पतिरपि धरणीधर उक्तो भवति । एवं सर्वत्र विश्वे विविधा ऊहा स्वयमूहनीया भवन्ति ॥ धरित्री जायमानमन्तर्गर्भे निर्मिमीते तस्मान् मातृशब्देनोक्ता भवति । पृथिवी मातेति यथा । सर्वाधाराणामाधारकत्वात् स भगवान् "सर्वाधार" इत्युक्तो भवति ॥ सर्वाधारार्थे मन्त्रलिंगं च—

"धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पति" रित्येव ।

धरणीधराः पर्वता अप्युच्यन्ते । तद्यथा—

भूलोके भूगोले वा पर्वता ऋतूनां व्यवस्थापने साधनीभूता । महानदीनां महाजलाशयानां च धारका भवन्ति । अत्यावश्यकीयवस्तूनां रत्नानां च धारकाः सन्तो मनुष्यान् जीवयितुं समर्थयन्ति, महौषधानां धारकत्वाच्च धरणीधरा उच्यन्ते ।

—❀:❀—

सुप्रसादः प्रसन्नात्मा विश्वधृग् विश्वभुग् विभुः ।
सत्कर्ता सत्कृतः साधुर्जह्नुर्नारायणो नरः ॥ ३६ ॥

सुप्रसादः २३६, प्रसन्नात्मा २३७, विश्वधृक् २३८, विश्वभुक् २३९, विभुः २४० ।
सत्कर्ता २४१, सत्कृतः २४२, साधुः २४३, जह्नुः २४४, नारायणः २४५, नरः २४६ ॥

सकल विश्व के धारकों तथा रक्षकों के भी धारक व रक्षक भगवान् विष्णु का नाम धरणीधर है । जैसे पति अपनी धरणीरूप पत्नी की रक्षा करता है, उसी प्रकार भगवान् विष्णु इस समस्त जगत् की पुत्र के समान रक्षा करता है । धरित्री और पत्नी की समानता को "यस्यां मनुष्या बीजं वपन्ति" इत्यादि अथर्व १४-२-३८ वचन प्रमाणित करता है । जिस पत्नी में, ऐसा पत्न्यर्थ यहाँ अपेक्षित है । ऊपर भी "देवा अग्रे न्यपयन्त पत्नीः इत्यादि अथर्व १४-२-३२ में धरण्यर्थक पत्नी शब्द कहा कहाँ गया है, इसीलिये पति का नाम भी धरणीधर है । इस प्रकार विश्व में विविध प्रकार की कल्पनायें स्वयं कर लेनी चाहियें । धरित्री अपने अन्दर ही किसी जातक का निर्माण करके उत्पन्न करती है इसलिये उसका नाम माता भी है, जैसे पृथिवी गोमाता इत्यादि लोकोक्तियां हैं । सब धारकों के धारक=आधार होने से भगवान् विष्णु का नाम सर्वाधार है । सर्वाधार अर्थ की पुष्टि "धातॄणां भुवनस्य यस्पतिरित्यादि" वेदवचन से होती है । धरणीधर पर्वतों का भी नाम है, क्यों कि इस भूगोल में पर्वत ऋतुओं के व्यवस्थापक तथा महानदी, महाजलाशय, बड़े बड़े रत्न और महौषधियों के धारक होते हैं ।

सुप्रसादः— २३६

प्र-उपसर्गपूर्वः षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु, भौवादिकः। उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते इति नियममधिकृत्य भावे घञ कृत्वा प्रसदनं प्रसादः, तत्रापि च निरतिशयत्वं प्रकाशयितुं सूपसर्गः सयोजितः। प्रसादः प्रसन्नता, सुप्रसादस्तु सुप्रसन्नता। प्रसादलक्षणं चास्मत्—

यदन्तस्तद्बहिश्चापि यत् कृत्वा वर्धते तनुः।
स्वीयवर्गे च यद्वन्द्यं प्रसादः सा प्रसन्नता॥ ३०६॥

प्रसादो हि नाम सत्वगुणाढ्ये मनसि भवति। भगवांश्चोक्तः—"तमसः परस्तात्" यजुः–३१।१८, सत्त्वगुणः प्रकाशसज्ञो भवति, रजस्तमसी च मानसौ दोषौ, तौ च भगवति न युज्येते। उक्तं चरके—'*मानसौ पुनरुद्दिष्टौ रजश्च तम एव च*' दोषौ इति शेषः। लोकेऽपि च पश्यामः–भगवान् स्वकीयं सुप्रसादात्मकं कर्म प्रतिपदं लोके व्यनक्ति, तद्यथा—जायमाना वृक्षतुंगाः प्राणिमात्रस्य मनः प्रसादयन्ति। विविधानि च पुष्पाणि स्वकेन सुप्रसादेन विकासेन भगवत एव प्रसादं व्यंजयन्ति, मनांसि रमयन्ति। जायमानश्च शिशुः सर्वांगसमुदितः प्रियो भवति, एवंविधाभिरुदाहरण—कल्पनाभिर्भगवान् सर्वत्र सुप्रसादेन गुणेन जगति व्याप्त एव दृश्यते। प्रसन्नतार्थे प्रसीदप्रयोगो यथा—

सुप्रसादः—२३६

विशरण=अवयव विभाग, गति, अवसाद अर्थों में विद्यमान भ्वादिगण पठित प्रोपसृष्ट षद् धातु से घञ् प्रत्यय भाव में करने से प्रसाद शब्द सिद्ध होता है, तथा प्रसादनरूप क्रिया की सर्वोत्कृष्टता को बतलाने के लिये इसके साथ सु-उपसर्ग को और जोड़ा है। सामान्य से प्रसन्न होने का प्रसाद नाम है तथा अत्यन्त प्रसन्न होने का नाम सुप्रसाद है। हमने प्रसाद का लक्षण इस प्रकार किया है—

जिसके होने से अन्तःकरण और शरीर का विकास होता है, तथा अपने वर्ग में वन्द्य= सम्माननीय होता है उसका नाम है प्रसाद वा प्रसन्नता, वह सात्त्विक अन्तःकरण में होती है। सत्त्वगुण प्रकाशरूप है, और प्रकाश ही प्रसाद है। इसलिये "तमसः परस्तात्" इस वेद वचनानुसार प्रकाशरूप भगवान् ही प्रसाद तथा सुप्रसाद है। रज और तम ये दोनों मन के दोष हैं इनका भगवान् में सद्भाव नहीं है, इसी बात को चरक में भी "मानसौ पुनरुद्दिष्टौ रजश्च तम एव च" इस वचन से कथन किया है। लोक में भी हम देखते हैं—विविध प्रकार के रङ्ग-बिरंगे पुष्प अपने विकासरूप प्रसाद से उस सुप्रसाद नाम भगवान् को प्रकट करते हुये जनों के मनों को प्रसन्न करते हैं, तथा ऊँचे २ वृक्षों को देखकर प्राणिमात्र का मन प्रसन्न होता है। इन सब वृक्षों की तुङ्गता तथा पुष्पों के विकास के द्वारा जिसमें परमाह्लादरूप शिशुप्रेम भी सम्मिलित है, भगवान् अपने सुप्रसाद रूप गुण को पद पद पर प्रकट करते हैं।

इस प्रकार की विविध कल्पनायें करने से प्रतीत होता है कि भगवान् का सुप्रसादाख्य गुण सकल विश्व में व्याप्त हो रहा है। इस सुप्रसाद शब्द के अर्थ में वेद में प्रसीद प्रयोग आता है,

शृतं त्वा हव्यमुपसीदन्तु देवा निः सृप्याग्नेः पुनरेनान् प्रसीद ।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥
अथर्व-११।१।२५

भवति चात्रास्माकम्—

यः सुप्रसादस्तमसः परस्ताच्छन्देन वेदेऽस्ति बहुत्र गीतः ।
दिग्-देश-कालैः स न याति बन्धं प्रसादयच्चापि जगन्निबध्नन् ॥३०७॥

दिग्देशकालैर्जगन्निबध्नन्नित्यर्थः ।

प्रसन्नात्मा —२३७

प्र पूर्वात् सीदतेः क्त-प्रत्ययं कृत्वा, रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः (पा० ८-२-४२) इत्यनेन निष्ठातकारस्य सीदतेश्च दकारस्य नकारादेशस्तेन प्रसन्न इति । "तस्य भावस्त्वतलौ", (पा० ५-१-११९), इत्यनेन तल् प्रत्ययः, प्रसन्नस्य भावः प्रसन्नता, 'तलन्तः स्त्रियाम्' लिंगानुशासने । आत्म-शब्दोऽत्र स्वरूपवचनः, प्रसन्न एव आत्मा स्वरूपं यस्य स प्रसन्नात्मा भगवान् । आनन्दः, आनन्दस्वरूपो वा । लोकेऽपि च पश्यामः-प्रत्येकं प्राणी मृत्योर्बिभ्यति, यस्यां योनौ स जीव आस्ते तस्यामेव स प्रसन्नात्मनो विष्णोर्जगद् व्यश्नुवानस्य गुणस्यानुभवं कुर्वन् प्रसन्न एवास्तीति,

---

जैसे "शृतं त्वा हव्य" इत्यादि अथर्व ११।१।२५ में । इसी भाव को भाष्यकार संक्षेप से इस प्रकार व्यक्त करता है—

वह तमोरूप अज्ञान से परे प्रकाश रूप भगवान् सुप्रसाद नामा, जिसका सब वेद गान करते हैं, दिग् देश तथा काल के द्वारा जगत् का नियमन करता हुआ स्वयं स्वतन्त्र सबको प्रसन्न करता है ।

प्रसन्नात्मा—२३७

प्रपूर्वक विशरणाद्यर्थक भ्वादिगण पठित षद् धातु से क्त प्रत्यय तथा क्त प्रत्यय के तकार को नकारादेश और धातु के दकार को नकार करने से प्रसन्न पद सिद्ध होता है, तथा प्रसन्न शब्द से भावार्थक तल् प्रत्यय होकर "तलन्तः स्त्रियाम्" इस लिङ्गानुशासन वचनानुसार स्त्रीलिङ्ग प्रसन्नता पद बन जाता है ।

आत्मा शब्द स्वरूप शब्द का पर्याय वाचक है, इसलिए प्रसन्न है स्वरूप जिसका, यह अर्थ प्रसन्नात्मा का हुआ अर्थात् आनन्द स्वरूप भगवान् विष्णु का नाम है । लोक में भी हम देखते हैं, प्रत्येक प्राणी प्रसन्नता में बाधक होने से मृत्यु से डरता है, तथा जो जीव जिस भी योनि में है, वह उस ही योनि में सर्वव्यापक भगवान् विष्णु के प्रसन्नता रूप गुण का अनुभव करता हुआ प्रसन्न ही रहना चाहता है । प्राणियों को छोड़ वृक्षों तक भी यथोचित समय में

उद्भिदश्च यथाकालमुद्भवमाप्नुवन्त ऋतूत्थं विकारमन्तरा यथालाभपोषणपुष्टाः प्रसन्नतामेव प्रकटयन्तस्तमेव प्रसन्नात्मपदवाच्यं विष्णुं व्यंजन्ति । एवं लोके विविधा ऊहा ऊहितव्या भवन्ति ।

प्रसन्नता हि सत्त्वगुणोदये भवति, महान् पुरुषो भगवान् पुरुषोत्तमो वा तमसः परस्ताद् भवति । मन्त्रलिंगं च—

> *वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।*
> *तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥* (यजुः–३१-१८)

सत्त्वाख्यो गुणः शुद्धः प्रकाशस्वरूपो निर्विकार एव, रजस्तमसी च नानाविधानां मनोरोगाणां शोक-मोह-मात्सर्य-ईर्ष्या-द्वेषादीनां काम-क्रोध-लोभ-मान-हर्षादीनां च कारणे स्तः । यथा तमोभूतो राहुः सूर्यं चन्द्रमसं च गृह्णाति ग्रसति वा, अमुथैव प्राकृतानां जनानां मनांसि रजसा तमसा वाव्रियन्ते, परन्तु भगवति नैवं भवति, तस्माद् विष्णुः प्रसन्नात्मोक्तो भवति ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

> सूर्योद्गते विश्वमिदं प्रसन्नं सूर्याभिमुख्ये च मनः प्रसन्नम् ।
> मध्यागतैश्चाथ विजातियोगैर्द्रष्टाथ दृश्यं लभते विकारम् ॥ ३०८ ॥

उत्पन्न होकर ऋतु जन्म विकार के बिना यथोचितजलोष्मा आदि से पुष्ट होते हुये प्रसन्नता प्राप्त करके प्रसन्नात्मपद के वाच्यार्थ भगवान् विष्णु को प्रकट करते हैं। इस प्रकार की कल्पनायें लोक कार्यों को देखकर अपनी बुद्धि से कर लेनी चाहियें। सत्त्वगुण के उदित होने पर ही प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। भगवान् तो तम से परे सत्त्वस्थित हैं ही, किन्तु कोई कोई महापुरुष भी तमः=अज्ञान को पार करके सत्त्व सिन्धु में स्थित होता है तथा प्रसन्नता को प्राप्त करता है। इस में "वेदाहमेतं पुरुषं—तमसः परस्तादित्यादि ३१–१८ यजुर्वेद मन्त्र प्रमाण है। सत्त्वगुण निर्विकार प्रकाश स्वरूप तथा शुद्ध है । रज और तम ये दोनों नाना प्रकार के मनोरोग शोक मोह मात्सर्य-इर्ष्या द्वेष तथा काम क्रोध तथा लोभ मोह हर्षादिकों के कारण होते हैं। जैसे तमोग्रह (राहु) सूर्य वा चन्द्रमा को ग्रस लेता है उस ही प्रकार रज वा तमो गुण भी साधारण मनुष्यों के मनों को ढांप (आवृत) लेता है । किन्तु यह सब संसार प्राणियों तक ही सीमित है, भगवान् इस कार्यजाल से बहुत दूर है, इसलिये वह सदा प्रसन्न प्रसन्नात्मपद से कहा जाता है। भाष्यकार का अपने पद्य द्वारा भावप्रकाशन इस प्रकार है—

सूर्य के उदित होने पर यह समस्त जगत् प्रसन्न– विकसित हो जाता है, सूर्य की ज्योति से सचेष्ट होकर प्राणियों का मन भी प्रसन्न हो जाता है, यदि कोई विजातीय=प्रतिकूल मध्यपाती वस्तु से सम्बन्ध न हो तो, क्योंकि मध्यपाती विजातीय सम्बन्ध से ही द्रष्टा या दृश्य में विकार उत्पन्न होता है।

सूर्यचन्द्रमसोर्मध्यपाती विजातीयो राहुः ।
न तत्र देवेऽस्ति विकारजातं न मध्यपाती च विहन्ति तं कम् ।
तस्मात् प्रसन्नात्मपदेन वाच्यो विष्णुस्तनोत्येव जगत् प्रसन्नम् ॥ ३०९ ॥

कः=विष्णुः ।

एतेन भगवतो विष्णोर्नाम्नो—विशोकः, नामसंख्या—६३१, श्लोके—८० । शोकनाशनः—नामसंख्या—६३२, श्लोके—८०, इत्यपि व्याख्याते भवतः ।

विश्वधृक्—२३८

घृष् प्रागल्भ्ये, सौवादिकः । घृष्णोतीति धृक्, क्विन् प्रत्ययः । ऋत्विग्दधृक् पा०—३-२-५९ इत्यादिं सूत्रे निपातनदर्शनात् । विश्वं घृष्णोति प्रागल्भ्ये स्थापयतीति विश्वधृक्, विश्वं ज्ञानानुपूर्वं सप्रगल्भं प्रपंचयतीति कृत्वा विश्वे सर्वा योनयस्तमेव विश्वधृषं जगद् व्यश्नुवानं विष्णुं प्रकाशयन्तः स्वेन स्वेन ज्ञानचातुर्येण विचरन्ति। मन्त्रलिंगं च—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ अथर्व० १०-८-१३

भवति चात्रास्माकम्—

उपात्तभेदैरुत कालभेदैः प्रसूनभेदैरथ पर्णभेदैः ।
रसस्य भेदैर्वयसश्च भेदैर्धृष्णोति विश्वं स कविः स विष्णुः ॥ ३१० ॥

जैसे चन्द्र और सूर्य का मध्यपाती राहु उनकी प्रसन्नता का बाधक है ।

भगवान् विष्णु में न किसी प्रकार का विकार है, तथा न किसी मध्यपाती विजातीय सम्बन्ध से ही उस में विकार उत्पन्न हो सकता है, इसलिये प्रसन्नात्मनामा भगवान् इस सकल विश्व को प्रसन्नात्मस्वरूप ही बनाता है कम्=विष्णुम् । क नाम विष्णु का है । इस सन्दर्भ से भगवान् के श्लोक ८० के ६३२ तथा ६३१ विशोक और शोकनाशन नामों का भी व्याख्यान हो जाता है ।

विश्वधृक्—२३८

'घृष् प्रागल्भ्ये' स्वादिगण की धातु है। 'ऋत्विक्' इत्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्ययान्त निपातन है । जो विश्व को प्रगल्भता (चैतन्य—चातुर्य) में स्थापित करता है वह विश्वधृक् कहाता है । (और वह) विश्व को ज्ञान सहित और चातुर्य आदि गुण युक्त बनाता है। इसलिये विश्व में सब योनियां उसी विश्वधृक् गुण से जगत् में व्यापक विष्णु को प्रकाशित करती हुई अपने अपने चातुर्य से विचरण करती हैं। इस में यह मंत्र भी प्रमाण है—प्रजापतिश्चरति' इत्यादि । यहां हमारा यह श्लोक है—उत्पत्ति भेद से और काल भेद से, तथा पुष्प भेद से एवं पर्ण (पत्ता) भेद से तथा रस भेद से और आयु भेद से विश्व को प्रगल्भित करता है। इसलिए वह भगवान् कवि है । और वह ही विष्णु है । प्रत्येक योनि का उत्पत्तिक्रम भिन्न

प्रतियोन्युत्पत्तिक्रमो भिन्नो भिन्नः, प्रत्युद्भिदभेदमुत्पत्तिक्रमो भिन्नो भिन्नः, ऋतुश्चापि भिन्नो भिन्न एवादोयते उत्पत्तौ, प्रसून-पर्ण-रस-वयसां भेदः पृथक् पृथक् च व्यवस्थित इति कृत्वा स विष्णुर्विश्वधृगुक्तो भवति।

उक्तं च—

सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।
(ऋग्-१०-८१-३ ॥ यजुः-१७-१९)

विश्वभुक्—२३९

विश्वं भुंक्ते पालयतीति विश्वभुक्, विश्वं भुजति अष्टविधया गत्या नियमयतीति विश्वभुक्, भुज कौटिल्ये धातुः। अष्टविधगतिविषये विशिष्टं २१८ संख्याके अग्रणीनाम्नि द्रष्टव्यम्॥ यथाकर्मवशात् प्राणिन ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च नयतीति कृत्वा विश्वभुग् विष्णुरुक्तो भवति। चतुर्भुजेति १४० संख्यात्मके नाम्नि विशदं व्याख्यातचरं द्रष्टव्यम्॥ भवति चात्रास्माकम्—

स विश्वभुग् विश्वमिदं सनाद्वै भुनक्ति भुंक्ते भुजतीति तज्ज्ञाः।
वदन्ति, नानागणितप्रयोगैर्ग्रहानुरूपैः श्रुतिमन्त्रपूर्व्यैः॥ ३११॥

भिन्न है इसी प्रकार प्रत्येक उद्‌भिद् का भी उत्पत्ति क्रम भिन्न भिन्न है। और ऋतुएं भी भिन्न भिन्न होती हैं। फूल-पत्ते-आयु भेद को विष्णु पृथक् २ धारण करता है। या उन में धारण कराता है। अतः 'विश्वधृक्' विष्णु कहाता है। वेद में कहा भी है—सं बाहुभ्यां धमति इत्यादि।

विश्वभुक्—२३९

विश्व का जो पालन करता है वह विश्वभुक् कहाता है। अथवा जो विश्व को अष्ट विध गतियों में नियमित करता है वह विश्वभुक् कहलाता है। इस अर्थ का मूल 'भुज कौटिल्ये' धातु है।

आठ प्रकार की गतियों के विषय में विशेष व्याख्यान 'अग्रणी' नाम संख्या २१८ की व्याख्या पर देखना चाहिये। अपने कर्मानुसार प्राणी ऊपर नीचे तथा तिर्यक् जाता है। इसलिये भगवान् विष्णु 'विश्वभुक्' कहाता है।

'चतुर्भुजः' इस १४० संख्या वाले नाम के व्याख्यान में इसका विशद व्याख्यान किया जा चुका है। यहां हमारा यह श्लोक है—वह 'विश्वभुक्' भगवान् विष्णु इस विश्व की सदा से ही प्रलय करता है। पालन करता है तथा अष्ट विधगतियों में चलाता है। ऐसा मंत्रोक्त ग्रहों की स्पष्टता सिद्धिहेतु नाना प्रकार की गणित करनेवाले तद्विद् पण्डित लोग कहते हैं।

विभुः—२४०

विविधं भवतीति विभुः, विपूर्वात् भवतेर्विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम् पा०–३–२–१८० इत्यनेन डु–प्रत्ययः। मन्त्रलिंगं च—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ यजुः–३२·८ ॥

विविधं भवतीत्यर्थे मन्त्रलिंगं च—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ यजुः–३२·१
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋग् १·१६४।४६
ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीये त्रिवृतं च हंसम् ॥
(अथर्व-१०-८-१७)

एतैर्निदर्शनभूतैर्मन्त्रैरसंशयं ज्ञायते यत् स एक एव सर्वकला व्यश्नुवानो विविधेषु कृतविकल्पेषु भवति, विविधानि लोकलोकान्तराण्यात्मना भावयतीति वा विभुर्विष्णुरुक्तो भवति। लोके प्रतिपदं स विभाव्यते तस्माद् विभुरुक्तो भवति।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

विभुः—२४०

विविध=बहुत प्रकार से होनेवाले का नाम विभु है। अर्थात् जो नानारूपों में सर्वव्यापक है, उसको कहते हैं विभु। विपूर्वक भू धातु से डु प्रत्यय करने से विभु शब्द सिद्ध होता है। इस भगवन्नाम में "वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहे"त्यादि ३२-८ यजुर्वेद मन्त्र प्रमाण है। विविध=बहुत प्रकार का होता है, इस अर्थ में "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः" इत्यादि ३२-१ यजुर्वेदमन्त्र प्रमाण है। तथा "ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांनित्यादि १०-८-१७ अथर्व वेद से भी भगवान् का विविधीभवन सिद्ध होता है। इन उदाहरणरूप मन्त्रों से प्रतीत होता है कि वह भगवान् विष्णु स्वरूप से एक होता हुआ भी नाना कलाओं में व्याप्त होकर विविध विकल्पों को धारण करता है, तथा इन नानाविकल्परूपों से ही विविध प्रकार के लोक लोकान्तरों का निर्माण होता है, इसीलिये भगवान् का यह विभु नाम अन्वर्थ होता है। इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

चराचरे ज्ञाननयेन[1] वेद्ये विभुर्भवत्येव विचित्ररूपैः।
स एव सूर्यः स उ चन्द्रमा वा सोऽग्निः स इन्द्रः स उ वा गरुत्मान् ॥ ३१२ ॥
व्याप्ते विभौ विश्वमिदं समस्तं लोके भवत्येकगृहेण तुल्यम्।
तथा यथा वाप[2]गुणेन युक्ता भवन्ति पुत्रा विविधाश्च पौत्राः ॥ ३१३ ॥
एवं स विष्णुर्विविधस्वरूपैर्विभावयत्येव निजं स्वरूपम्।
व्यवस्थया विश्वमिदं दधानो विदत्सु बुद्धिं हशये युनक्ति ॥ ३१४ ॥

सत्कर्त्ता—२४१

अस् भुवि, आदादिकः। भुवि भवत्यर्थे। अस्तीति सत्। अस्तेर्वर्त्तमाने लट्, तस्य लटः स्थाने शतृ, लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे, पा०-३-२-१२४, अस्तेरकारस्य श्नसोरल्लोपः पा० ६-४-१११ इत्यनेन लोपः। स्+अत्=सत् ॥ डुकृञ् करणे भौवादिकस्तस्मात् कर्तृकारके ण्वुल्तृचौ पा०-३-१-१३३, इत्यनेन तृच् प्रत्ययः। करोतीति कर्त्ता। सच्चासौ कर्त्ता च=सत्कर्त्ता। सदैव वर्त्तमानः कर्त्ताऽस्य विश्वस्येति कृत्वा सत्कर्त्ता भगवान् सर्वं व्यश्नुवानो विष्णुरुक्तो भवति।

ज्ञान चक्षु से ज्ञेय=जानने योग्य इस जड़जङ्गमरूप विश्व में विचित्र २ रूपों से भगवान् विभु का ही विविधीभवन है, अर्थात् भगवान् का विविध विकल्पों का धारण करना ही यह विचित्र रूप विश्व है। वह ही सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, इन्द्र तथा गरुड़ है।

सर्वत्र व्याप्त भगवान् विभु इस समस्त विश्व का एक गृहरूप है, जैसे बहुत से पुत्र तथा पौत्र अपने मूल पुरुष पिता या पितामह के आश्रित अथवा उसके गुणों से युक्त होते हैं, वह उन सब का एक ही गृह होता है। इस प्रकार से भगवान् विष्णु अपने एक रूप को विविधरूप बना कर विश्व को व्यवस्था पूर्वक धारण करता हुआ विद्वानों को ऐसी बुद्धि से युक्त करता है, जिस बुद्धि से वे अपने=भगवत्स्वरूप को जान सकें।

सत्कर्ता—२४१

सत् शब्द अदादिगण पठित भवनार्थक अस् धातु से कर्ता में शतृ प्रत्यय लट् के स्थान में तथा अस् धातु के अकार का लोप करने से बनता है।

कर्ता शब्द 'डुकृञ् करणे' इस धातु से कर्ता कारक में तृच् प्रत्यय तथा स्वादि कार्य करने से बनता है। सत् नाम विद्यमान का है, तथा कर्ता नाम करनेवाले का है। सत्कर्ता शब्द में 'सच्चासौ कर्ता' इस कर्मधारय समास के मानने से, सत् सदा विद्यमान अविनाशी जो कर्ता ऐसा सत्कर्ता शब्द का अर्थ होता है, तथा सतः कर्ता इस षष्ठी समास से सत्=सल्लक्षण अक्षिगोचर जो स्थूल जगत् इसका कर्ता=बनानेवाला ऐसा अर्थ होता है। यद्वा सत् नाम प्रधान=प्रकृति का है, उस सत् अपनी शक्तिरूप प्रकृति के द्वारा जगत् का जो कर्ता है उसका नाम सत्कर्ता है, भगवान् विष्णु का नाम है।

1—ज्ञाननयेन—ज्ञानचक्षुषा

2—वपतीति वापो जनकः

सतः सत्स्वरूपस्य प्राकृतस्य जगतः कर्ता सत्कर्त्ता विष्णुः प्रकृतिं सत्तया वर्तमानां साधनीकृत्य जगत् कुरुत इत्यर्थः। लोकेऽपि च पश्यामः—

प्रजां प्रजिजनिषुः प्रकृतिरूपां स्त्रियं वर्तमान उपस्थितामुपादायैव प्रसवितुमुपकल्पयति जीवम्। एषैव व्यवस्था सर्वत्र लोके प्रतिपदमुदाहरणत्वेनोह्यते।

मन्त्रलिंगं च—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥ अथर्व-१०-८-१३॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ऋग्-१०-१९०-३॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ ऋग्-१-२२-१९, अथर्व-७-२६-६।
यजुः-६-४।१३-३३॥

सत्कर्त्ता=सम्मानकर्त्ताऽप्येतस्मादेव, सन्तं श्रद्धया युनक्ति पूजयतीति वा।
भवति चात्रास्माकम्—

कर्त्ता विकारान् कुरुते प्रकृत्या विकार्यकर्त्रोश्च समानसत्ता।
सत्कर्तृशब्देन स विष्णुरुक्तो जगच्च स सत्कुरुते सदैव॥ ३१५॥

सत्कृतः—२४२

सत्कृतः पूजितः। धातूनामनेकार्था भवन्तीति कृत्वा सत्कारः पूजा सम्मानना वा। मन्त्रलिंगं च—

लोक में भी देखने में आता है, सन्तानोत्पत्ति की इच्छावाला पुरुष अपनी प्रकृतिरूप स्त्री को प्राप्त करके ही सन्तानोत्पादन में समर्थ होता है। इसी प्रकार की व्यवस्था पद पद पर उदाहरण रूप से उपलब्ध होती है।

इस भावार्थ में "प्रजापतिश्चरति गर्भे" इत्यादि अथर्व-१०।८।१३ "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादि ऋक् १०।१९०।३ तथा "विष्णोः कर्माणि पश्यत" इत्यादि ऋक् १।२२।१ मन्त्र प्रमाण हैं। सम्मान करने वाले का भी सत्कर्ता नाम इसीलिये है कि वह अपने पास उपस्थित को श्रद्धा से युक्त करता है। भाष्यकार का पद्य द्वारा अपना भावप्रकाशन इस प्रकार है—कर्ता प्रकृति के द्वारा विकारों को उत्पन्न करता है, तथा कर्ता और विकार्य रूप प्रकृति दोनों समानकालिक होते हैं। सत्कर्ता विष्णु का नाम इसलिये है कि वह इस सत्रूप विश्व को सदा से बनाता आ रहा है।

सत्कृतः—२४२

धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, इस वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार सत्पूर्वक कृ धातु का पूजा या सम्मान करना अर्थ होता है। सत्कृत शब्द का वाच्यार्थ जिसकी पूजा की गई, की जा रही है, की जायेगी वा उसका नाम सत्कृत है, अर्थात् सर्वदा सम्मान या पूजा का विषय

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥ (ऋग्-१-१-२)
गायन्ति त्वा गायत्रिणो अर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद् वंशमिव येमिरे ॥ (ऋग्-१-१०-१)

यतो हि स विष्णुः सत्कृतोऽस्त्यतो जीवाः प्रार्थयन्ते—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरंगैः स्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥
(ऋग्-१-८९-८ । यजुः-२५-२१)

एवं बहुत्र वेदे तस्यैव स्तुतिर्गीता वर्त्तते—तस्माद् स सत्कर्ता विष्णुरुक्तो भवति । भगवद्गुणयुक्तः पुरुषोऽपि सत्कृत उक्तो भवति ।

भवति चात्रास्माकम्—

स सत्कृतो विष्णुरनन्तकर्मा पूर्वैर्नवैश्चाप्यृषिभिः सदैव ।
स्तुतोऽथ गीतो विविधेन साम्ना तं सत्कृतं विष्णुमुदीरयन्ति ॥ ३१६ ॥

लोकेऽपि च पश्यामः—सस्यं क्षेत्रपतिना सत्कृतं भवति । गावो गोपतिना सत्कृता भवन्ति । पुरोहितो यजमानेन सत्कृतो भवति । एवं लोकं दृष्ट्वा विविधोहा ऊहितव्या भवन्ति ।

भगवान् विष्णु । इसमें मन्त्र प्रमाण—"अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुतेत्यादि ऋक् १।१।२ है । तथा "गायन्ति त्वा गायत्रिणो अर्चन्त्यर्कमर्किणः" इत्यादि ऋक् १।१०।१ मन्त्र से भी इस नामार्थ की पुष्टि होती है । क्योंकि वह भगवान् विष्णु सत्कृत=पूजित है, इसलिये मनुष्य प्राणी उससे प्रार्थना करते हैं "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम भद्रं पश्येमाक्षभिरित्यादि । इस प्रकार वेदों में प्रायः सर्वत्र उसी की स्तुति विहित है । भगवद् प्रेमी=सच्चा पुरुष भी भगवद् गुणयुक्त होने से सत्कृत नाम से कहा जाता है ।

भाष्यकार इस भाव को संक्षेप से इस प्रकार व्यक्त करता है—

अनन्तकर्मा भगवान् विष्णु को ही पुरातन तथा आधुनिक महापुरुष सत्कृत नाम का उच्चारण करके अपनी स्तुति का विषय बनाते हैं, तथा सामवेद के द्वारा उस ही का गान करते हैं, इसलिये भगवान् विष्णु सत्कृत शब्द का वाच्यार्थ है ।

लोक में भी देखा जाता है, क्षेत्रपति=जमींदार अपने धान्य का सत्कार करता है, तथा गोस्वामी अपनी गउओं की पूजा करता है, और यजमान पुरोहित आदर=सम्मान करता है । इसी प्रकार अन्य कल्पनायें कर लेनी चाहियें लोक को देख कर ।

साधुः—२४३

साध संसिद्धौ, सौवादिकः, तस्मात् कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् उणादि-१-१ इत्यनेन "उण्" प्रत्ययः। साध्नोतीति साधुः। ण्यन्तो वा साधयतीति वा साधुः।

साध्नोति विश्वसर्जनात्मकं कर्मेति भगवान् सर्वव्यापको विष्णुरिति साधुः। साधयति सिद्धेन जगता जीवानां शुभाशुभोदयं कर्म तस्मात् स विश्वकर्मा साधुरुक्तो भवति। कृतं जगत् सहजस्वभावेन सरलतया वा गमयतीति कृत्वा वा भगवान् विष्णुः साधुरुक्तो भवति। मन्त्रलिंगं च—

बबृदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये। साधुकृण्वन्तमवसे॥ (ऋग्–८-३२-१०)

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद् विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥ ऋग्·१०-८१-७

लोकेऽपि च पश्यामः—प्रतियोनि यद्यद् यथाविधं च शरीरं विविधविकल्पनया विक्लृप्तं सत् जीवाय जीवकृतकर्मफलोदयाय भगवता दत्तमस्ति तच्छरीरं सरलतमं वहति क्रियाम्। साधुकर्मैव जीवोऽपि स्वकानि यन्त्राणि सरलयति क्रियाविधौ, यथा भगवान् विश्वकर्मा तथैव जीवोऽपि विविधवस्तूनां कर्तृत्वात् साधुकर्मा वोच्यते। एवं लोकत ऊहनीयं भवति। भवतश्चात्रास्माकम्—

साधुः—२४३

साधनार्थक स्वादिगणपठित साध धातु से "कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्" इत्युणादि १।१ सूत्र से उण् प्रत्यय करने से साधु शब्द सिद्ध होता है यद्वा ण्यन्त साधि धातु से उण् प्रत्यय करके साधु शब्द बनता है, इस प्रकार जो सिद्ध करता है, या सिद्ध करवाता है, यह साधु शब्द का अर्थ होता है। अर्थात् जो इस विश्व के निर्माणरूप कर्म को करता है तथा जो सिद्ध हुये जीवों से शुभाशुभरूप कर्म करवाता है, उस भगवान् विष्णु का नाम है साधुः। इस भगवन्नाम की "बबृदुक्थं हवामहे······साधुकृण्वन्तमवसे" इस ८।३२।१० ऋग्वेद मन्त्र द्वारा पुष्टि होती है। तथा "वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये······विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा" यह १०।८१।७ ऋग्वेद मन्त्र भी इस ही नामार्थ को पुष्ट करता है। लोक में भी देखा जाता है, लोक में प्रत्येक योनि में जैसा २ विविध विकल्पों से युक्त शरीर कर्मफलों को भोगने के लिये दिया है भगवान् ने, वह शरीर बड़े सौकर्य से क्रिया को करता है। साधुकर्मा जीव भी बनाये हुये अपने यन्त्रों का बड़ी सरलता से कर्म में प्रयोग करता है। जैसे भगवान् विश्व का कर्ता होने से विश्वकर्मा है, उसी प्रकार यह जीव भी बहुत प्रकार के कर्म करने से विश्वकर्मा तथा साधुकर्मा है। इस प्रकार की कल्पनायें लोक को देखकर कर लेनी चाहियें।

इस नाम के भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा संक्षेप से इस प्रकार व्यक्त करता है—

स साधुकर्मा स हि विश्वकर्मा स साधनैः साध्यमिदं तनोति ।
सारल्यसद्भावमुपेत्य विश्वं तत् तं स्तुवन् विष्णुमनक्ति साधुम् ॥ ३१७ ॥
सुज्ञानमेवं सुलभं सुगम्यं कर्मास्ति देवस्य ततः स साधुः ।
तज्ज्ञानसिद्धौ मनुजोऽपि तद्वत् साध्नोति यन्त्राणि यथाकृतीनि ॥ ३१८ ॥

जह्नुः—२४४

ओहाक् त्यागे जौहोत्यादिकः । तस्माज्जहातेर्द्वेऽन्त्यलोपश्च उणादि-३।३६ सूत्रेण नुः प्रत्ययः । जहातीति जह्नुः । भगवतो विष्णोः कर्मणि दोषो नास्तीति कृत्वा जह्नुः शुद्धस्वरूपः । भगवान् स्वके कर्मणि दोषं जहाति त्यजतीति कृत्वा भगवान् जह्नुरुक्तो भवति शुद्धस्वरूपत्वात् तस्य ।

मन्त्रलिंगं च—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
यजुः ३१-१८

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः
यजुः—४०-८

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
यजुः—३०-२

भगवान् विश्वकर्मा ही साधुकर्मा है, वह नाना प्रकार के साधनों से इस विचित्र विश्व को सिद्ध करता है, तथा सिद्ध हुआ विश्व सरलता को प्राप्त कर भगवान् का स्तवन करता हुआ पद पद पर उस साधुरूप परमेश्वर को प्रकट करता है ।

भगवान् विष्णु के कर्म का ज्ञान तथा प्राप्त करना बड़ा सुकर है इसीलिये भगवान् का नाम साधु है, तथा भगवज्ज्ञान के सिद्ध होने पर मनुष्य भी नाना आकारों वाले यन्त्रों का निर्माण करता है इसलिये यह जीव भी साधुकर्मा वा साधु है ।

जह्नुः—२४४

त्यागार्थक जुहोत्यादिगण पठित ओहाक् धातु से "जहातेर्द्वेऽन्त्यलोपश्च" इस ३-३६ उणादि सूत्र से नु प्रत्यय धातु को द्वित्व, तथा अन्त्य का लोप होने से जह्नु शब्द सिद्ध होता है, जहातीति जह्नु इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो काम क्रोध लोभ मोह मत्सरादि दोषों से निर्मुक्त शुद्ध स्वरूप परमात्मा है, उसका नाम जह्नु है ।

इस ही अर्थ को "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परास्तादित्यादि" यजुः-३१-१८ तथा "स पर्यगादित्यादि" यजुः-४०-८ मन्त्र प्रमाणित करते हैं ।

भर्गः शुद्धः। यथा विष्णुः स्वयं शुद्धस्वरूपोऽस्ति तथैव स जीवानां देहान् शुद्धान् भावयितुं तेषां मलान्यपनेतुं कार्ये मलोत्सर्गाय नवद्वारान् निर्ममे, स्त्रीकाये द्वादशद्वारान्। एकं गर्भाशयद्वारम्, द्वे च दुग्धद्वारे। शरीरधातवोऽपि प्रतिधातूत्थं दोषमहरहः स्रोतोभिर्बहिः कुर्वन्ति, एवं कृत्वा जहाति दोषं दोषान् वा जह्नुः शरीरमप्युक्तं भवति। वृक्षादयोऽपि पत्र-पुष्प-फलत्यागेन कर्मणा तमेव जह्नुं प्रतिपदं प्रकटयन्ति, स्तुवन्ति, प्रकाशयन्ति वा।

सारार्थस्त्वयं यद् भगवान् स्वयं शुद्धः सन् तत्कृतिमपि जह्नुरूपेण भावयितुं दोषापहाराय प्रतिपदं दोषनिर्मोचतृभिः स्रोतोभिः संयुनक्ति।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

जहाति दोषानुत वापि दूष्यान् जह्नुः स विष्णुः स विशुद्धरूपः।
अकाय उक्तः स विशोक उक्तो भर्गः स उक्तस्तमसः परस्तात् ॥३१९॥
स जाह्नवं विश्वमिदं वितन्वन् दोषापहृत्यै कुरुते च खानि।
यथार्हदोषस्य परापसृत्यै स्रोतांस्यनल्पानि च वा तनोति ॥३२०॥
स स्थावरेऽनन्तविभेदभिन्ने वृक्षे लतायां किमु वापि गुल्मे।
यथाप्तदोषस्य विमोक्षणाय पत्रावपातं नियतं विधत्ते ॥३२१॥

जह्नुः कश्चिद्राजर्षिर्वा, तद्योगाद् जाह्नवी गंगाप्युच्यते। गंगाजले मानसदोषापहारस्य विशेषशक्तेः सद्भावाद् गंगापि जाह्नवीपदवाच्या भवति। स्वार्थेऽण् जह्नुरेव जाह्नवी वा।

भर्ग=शुद्ध का नाम है। जैसे भगवान् स्वयं शुद्ध स्वरूप है, उसी प्रकार प्राणिशरीरों को शुद्ध बनाने के लिये, उनमें से मल निकलने के नवद्वार=मार्ग बनाये हैं। स्त्रीशरीर में द्वादश १२ द्वारों का निर्माण है। एक गर्भाशय द्वार तथा दो दुग्ध द्वार कुच, ये तीन स्त्री शरीर में अधिक हैं। शरीर के धातु दोष भी स्रोतों के द्वारा शरीर से बाहर निकलते रहते हैं दिन प्रतिदिन। इस प्रकार दोष त्याग की समता से शरीर का नाम भी जह्नु है। वृक्ष आदि उद्भिज्ज भी पत्र पुष्प फलों के त्यागरूप कर्म से भगवान् जह्नु का ही प्रकाशन स्तवन कर रहे हैं। सारांश—स्वयं शुद्ध भगवान् विष्णु अपनी कृति की शुद्धि के लिये, प्राणि शरीरों को दोषों से निर्मुक्त करने के लिये उनको स्रोतों से युक्त करता है। भाष्यकार इस भाव को इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम जह्नु है क्योंकि वह विशुद्ध रूप परमात्मा, इस विश्व को बना कर इसको निर्दोष करने के लिये इस में स्रोतोरूप छिद्रों की रचना करता है। जिन से दोष मल आदि तथा दूष्य=धातु प्रति दिन बाहर निकलते हैं।

वह भगवान् जह्नुनामा विष्णु तम से परे विद्यमान ज्योतिरूप अकाय=शरीर रहित, शोकरहित तथा तेजःस्वरूप है। वह अनन्त भेदों से भिन्न वृक्ष, लता, गुल्म आदि स्थावर वर्ग में होनेवाले दोषों को निकालने के लिये नियम से पत्रझर (पतझड़) अर्थात् उनके पत्रों को गिराता है। किसी राजर्षि का भी नाम जह्नु था, उस ही के सम्बन्ध से गङ्गा का नाम भी जाह्नवी है। वस्तुतस्तु गङ्गा में एक विशेष शक्ति है जो दोषों का अपहरण करती है, इसलिये उसका नाम जाह्नवी है।

नारायणः—२४५

नॄ नये भौवादिकः। नृ नये, इत्यप्येके पठन्ति। नॄ नये रौधादिकः। आभ्यां पचाद्यच्, तेन नर इति। नृणातीति नरः, नयतीत्यर्थः। अयनमाश्रयः। एतेल्युं टि अयनम्, जलानि द्रवन्ति गच्छन्ति गमयन्ति वा। नद्यादिषु नयन्ति वहन्ति स्थानात् स्थानान्तरं प्राप्यं प्रापयन्तीति कृत्वा नरा आपः, जलं वा। सृष्ट्युत्पत्तिवर्णने वेदः—

अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्। (ऋग्-१०-१२९-१)

पुनश्च—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥ ऋग् १०-१२९-३

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमनत्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
(ऋग् १-१२९-७)

एवमृचां पर्यालोचनेन ज्ञायते यत् सृष्टेर्मूर्तावस्थायाः प्राक् सलिलमेव सलिलमासीत्। तेभ्यः सलिलेभ्यः पृथिव्युद्बभूव। यथा साम्प्रतमपि समुद्रे पर्वतानां सद्भाव उपलभ्यते। ते नरास्ता आपो वा कमाश्रयीकृत्यासन्नित्याशंकायां वक्तव्यं भवति यत्—परमात्मानं सर्वलोकाध्यक्षमाश्रयीकृत्यासन्निति। नरो नारो वा शब्दः सलिलार्थेऽप्रसिद्धः। वेदार्थतत्त्वदर्शिना मनुना अपामर्थे नारा शब्दो निर्दिष्टः, विनियुक्तो वा। तद्यथा—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ (मनुः–१-१०)

नारायणः—२४५

नॄ नये यह भौवादिक या क्र्य्यादिक धातु है वस्तुतस्तु क्र्यादिक का ही मित्वार्थ भ्वादिगण में अनुवाद है। उससे पचाद्यच् करने से नर शब्द सिद्ध होता है, नृणाति=जो ले जाता है उसे नर कहते हैं। इण् गतौ, धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से अयन शब्द बनता है, जिसका आश्रय अर्थ है। नर नाम जलों का है, क्यों कि वे अपने में स्थित वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते हैं। सृष्टि प्रकरण के "अम्भः किमासीद" ऋक्–१०-१२९-१ "तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्" ऋक्-१०-१२९-३ इत्यादि वेदवचनों से प्रतीत होता है, मूर्तरूप सृष्टि से पहले तरलावस्थ जल ही था। उन जलों से पृथिवी उत्पन्न हुई, अब भी जलों 'समुद्र' में पर्वतों का सद्भाव है। आदिम जलों का आश्रय क्या था, इस प्रश्न का उत्तर केवल एक ही है कि, वे जल जो नर या नार शब्द से कहे जाते हैं, उनका आश्रय परमपिता सर्वलोकाध्यक्ष परमात्मा ही था। यद्यपि जलके अर्थ में नर या नार शब्द का प्रयोग अप्रसिद्ध है तथापि मनु जी ने नारा शब्द का प्रयोग अबर्थ में किया है। जैसे— "आपो नारा इति प्रोक्ताः"

यतस्ता नराख्यस्य परमात्मनः सूनवोऽपत्यानि, तस्येदम् पा०-४-३-१२० इत्यण् प्रत्ययः। यद्यप्यणि कृते ङीप् प्रत्ययः प्राप्तस्तथापि छान्दसत्वेन स्मृतिषु व्यवहारात् सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते इति पाक्षिको ङीप् प्रत्ययः तस्याभावपक्षे सामान्यलक्षणप्राप्ते टापि प्रत्यये कृते नारा इति रूपसिद्धिः। आपोऽस्य परमात्मनो ब्रह्मरूपेणावस्थितस्य पूर्वमाश्रय इत्यसौ नारायणः। गोविन्दराजेन तु—आपो नरा इति पठितं व्याख्यातं च—नरायण इति प्राप्ते अन्येषामपि दृश्यते पा०—६-३-१३७ इति दीर्घत्वेन नारायण इति रूपम्। अन्ये त्वापो नारा इति पठन्ति।

लोकेऽपि च पश्यामः—जायमानो गर्भो जरायुस्थे जल एव वृद्धिमेति। प्रसवनात् प्राक् तासामपां बहिः प्रस्रवणं भवति। ता आपो यथा मातरमाश्रयीकृत्य सगर्भं तिष्ठन्ति तथैव ससलिला पृथिवी च तमेवैकं सर्वाधारमाश्रयीकृत्यासीदत। स भगवान् नारायण उक्तो भवति।

द्रवतामापन्नयोरेव शुक्ररजसोर्गर्भे बीजं निमग्नं भवति। लोकसम्मितोऽयं पुरुष इति च समानं भवति लोकेन। एवं विविधमुदाहरणानामूहितव्यं भवति। तद्यथा—कृषीवलस्तावत् क्षेत्रं पूर्वं वारिणा सिंचति ततोऽनुवपति बीजमिति समानं भवति सलिले बीजस्य सद्भावः पृथिव्या इव। रूपाणि चिकीर्षुः शिल्पी अयः सुवर्णं ताम्रं वा पूर्वं द्रावयति ततोऽनु संचयेषु संचिनोति। एवं पृथिव्यंशपूर्णानि सलिलानि सर्वत्र रूपाणां बिभृतौ दृश्यानि भवन्ति, सर्वत्रैवैष क्रम ऊहायाः।

इत्यादि। नर नाम परमात्मा के अपत्य=सन्तान होने के कारण नर शब्द से अण् प्रत्यय करने पर यद्यपि अणन्त से ङीप् की प्राप्ति होती है तथापि स्मृतिग्रन्थों में छान्दसत्व का व्यवहार होने से सब कार्य विकल्प से होते हैं, इसलिये ङीप् विकल्प से हुआ तथा तदभाव पक्ष में सामान्य अदन्त लक्षण टाप् प्रत्यय होने से नारा शब्द सिद्ध होता है। यद्वा ये आप=नारा, ब्रह्म के आश्रय हैं इसलिये उनका नाम नारायण है। पं० गोविन्दराज ने "आपो नाराः" के स्थान में "आपो नराः" ऐसा पढ़ा है, तथा नारायण शब्द को "अन्येषामपि दृश्यते" इस सूत्र से दीर्घ करके सिद्ध किया है, और सब आपो नारा ऐसा ही पढते हैं। लोक में भी ऐसा देखने में आता है, गर्भस्थ जीव जरायु=उल्ब (जेर) में स्थित जल में ही बढता है। वह ही जल प्रसव के समय प्रथम बाहर आता है - वे जल जैसे गर्भ सहित जननी के आश्रित रहते हैं; उसी प्रकार यह पृथिवी जलों सहित उस परमात्मा के आश्रित रहती है, इसलिये नाररूप जलों का आश्रय होने से भगवान् का नाम नारायण है। तरलावस्थापन्न शुक्र और रज में ही गर्भबीज की स्थिति होती है। लोक और पुरुष का एक समान ही मान होता है यह वैदिक सिद्धान्त है। इसी प्रकार अन्य विविध उदाहरणों की कल्पनायें कर लेनी चाहियें।

जैसे कृषीवल (किसान) सब से प्रथम भूमि को जलसे सींचता है, तदनन्तर उस भूमि में बीजाधान अर्थात् बीज बोता है। इस प्रकार जल में पृथिवी के समान ही बीज की स्थिति होती है। किसी वस्तु के विविध आकार बनाने की इच्छा से शिल्पी=कारीगर उस वस्तु को पहले अग्नि से तपाकर तरल बनाता है, फिर उसे सञ्चय (मूषा) में डालकर नानाविध आकार बना लेता है। इस प्रकार पृथिवी के अंश से मिश्रित जल रूप=आकार को धारण करके दृष्टिगोचर=दृश्य बन जाते हैं।

भवति चात्रास्माकम् –

नारास्तु यं स्तम्भमुपेत्य गुप्ता नारायणं तं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।
यथाश्रयत्येव जलाप्तगर्भं माता तथा विष्णुरिदं जलाप्तम् ॥ ३२२ ॥

गुप्ता रक्षिताः । यथा गर्भो मातरि गुप्तो रक्षितो भवतीत्यवसेयम् ॥ ये आपो नरा इत्येव पठन्ति, तत्र भवति चास्माकम्—

"नरास्तु यं स्तम्भमुपेत्ये'त्यादिः ।

यथा मातुर्मध्यमे भागे गर्भ आधृतो भवति, अभितश्च मातुः शरीरं तं गर्भ-मावृणोति तथैवायं नारायणो नाम भगवान् विष्णुः स्वयं स्वाधारः सन् अपामाधारो विश्वं व्यश्नुवानो लोकलोकान्तराणि जनयति । उक्तं च—

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान । (अथर्व-१०-८-१३)

नरः—२४६

नर उक्तो प्रकृतिप्रत्ययौ नारायण इति नामव्याख्याने । नयतीति नरः परमात्मा प्रवाहतो विश्वमिदं कल्पकल्पान्तं नयतीति कृत्वा विष्णुः स्वकेन नरति नृणाति वा धर्मेण सर्वं व्यश्नुवानो नर उक्तो भवति ।

इस पूर्वोक्त भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा संक्षेप से इस प्रकार व्यक्त करता है—

जिस स्तम्भरूप परमात्मा को आधार=आश्रय बनाकर ये सब नार=जल रहते हैं, उस परम पिता परमात्मा को विद्वान् पुरुष नारायण नाम से कहते हैं । जैसे जल से व्याप्त गर्भ माता=जननी का आश्रय है, उसी प्रकार यह जल से व्याप्त विश्व उस नारायण विष्णु का आश्रय है, अर्थात् जिस प्रकार जल सहित गर्भ, जननी से व्याप्त है, उसी प्रकार यह जल सहित समस्त विश्व विष्णु से व्याप्त है । गुप्त नाम रक्षित का है जैसे गर्भ माता में रक्षित है उसी प्रकार यह विश्व विष्णु में रक्षित है । जिन के मत में "आपो नराः" ऐसा पाठ है वहां हमारा पद्य भी "नरास्तु यं स्तम्भमुपेत्यादि" रूप से समझना । जैसे जननी के द्वारा अपने उदर में गर्भ धारण किया हुआ होता है, और उसके चारों ओर माता का शरीर होता है, अर्थात् वह जननी के शरीर से आवृत होता है । उसी प्रकार यह विश्व भगवान् के उदर में स्थित भगवान् से आवृत है । भगवान् विष्णु ही स्वयं स्वाधार तथा जलों का आधार विश्व में व्याप्त होकर लोकलोकान्तरों का निर्माण करता है ।

जैसा कि "अर्धेन विश्वं भुवनं जजान ॥ अथर्व-१०-८-१३ वेद वचन है ।

नरः—२४६

नर शब्द की सिद्धि प्रक्रिया, नारायण नाम के व्याख्यान में दिखा चुके हैं । नर नाम परमात्मा का है, क्यों कि वह अपने नयन रूप कर्म से इस समस्त विश्व को व्याप्त करके कल्प कल्पान्तरों तक ले जाता है ।

मन्त्रलिंगं च—

स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्तस्य शमतः ।
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति ॥

साम० पूर्वार्चिके ऐन्द्रकाण्डे–८।६

व्यासवचनं च—

नयतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः ॥

अन्यच्च— *नराज्जातानि तत्त्वानि नारायणान्यतो विदुः ।*
तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः ॥ (महाभारते)

जीवोऽपि नर उच्यते—नयति सर्वांगसमुदितं शरीरं प्राप्तव्यस्य प्राप्त्यै। मनुष्योऽपि नर एतस्मादेवोच्यते—

न कर्म लिप्यते नरे यजुः-४०-२

प्रतिपदं नयतिधर्मेण संश्लिष्टं विश्वं तमेव प्रकटयति । भवति चात्रास्माकम्—

प्रवाहतो विश्वमिदं समस्तं नृणाति विष्णुर्नर उच्यतेऽतः ।
जीवोऽपि सर्वांगसमूढकायं नृणन्नराख्यां लभते सदैव ॥ ३२३ ॥

असंख्येयः—२४७

समुपसर्गः सम्यगर्थे, समानभावैकीभावार्थे वा, सम्यक्-समानभावेन-एकीभावेन वा ख्यातुमर्हः शक्यो वा संख्येयः । न संख्येयोऽसंख्येयो भगवान् विष्णुः ।

इसमें 'स घा यस्ते दिवो नरो धियेत्यादि'–८-६ साम वेद मन्त्र प्रमाण है । इसी अर्थ की "नराज्जातानि तत्त्वानि" इत्यादि महाभारतान्तर्गत वेदव्यास वचन से पुष्टि होती है । जीवात्मा का भी नर नाम है, क्योंकि यह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इस सर्वाङ्गसमुदित शरीर को एक स्थान से स्थानान्तर को ले जाता है । मनुष्य का भी नयनरूप कर्म के सम्बन्ध से ही नर नाम है । वस्तुतस्तु नयनरूप कर्म से अनुस्यूत यह सकल जगत् पद पद पर उसी भगवान् नर का व्याख्यान कर रहा है । नर नाम में 'न कर्म लिप्यते नरे" यह ४०-२ यजुर्वेद वचन प्रमाण है ।

इसी भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा संक्षेप से इस प्रकार व्यक्त करता है—

इस प्रवाह रूप से सदा प्रवाही समस्त विश्व को कल्प कल्पान्तरों तक ले जाने के कारण भगवान् विष्णु का नाम नर है, तथा इस समुदित शरीर को ले जाने के कारण जीवात्मा का नाम भी नर है ।

असंख्येयः—२४७

सम् यह उपसर्ग है, इसका अर्थ है-सम्यक्-समानभाव या एकीभाव, एक होना ऐसा होता है ।

जिसका सम्यक्=उचित रूप से समान भाव से, अथवा एक रूप से कथन किया जा सके उसका नाम है संख्येय । और जो संख्येय, अर्थात् गणना में नहीं आ सके-उसका नाम है असख्येय भगवान् विष्णु का नाम है ।

सम्पूर्वात् ख्या प्रकथन इत्यादादादिकादार्धधातुकविषये चक्षिङः ख्याञादेशे वा "अचो यत्" इति पा० सू ३-१-९७ सूत्रेण यति "ईद्यति" इति पा० ६-४-६५ सूत्रेण यति परे आत ईद्विहितो गुणे च संख्येय इति, नञा समासे नञो नलोपे चासंख्येयः। संख्याविषयमतिक्रान्तोऽसंख्येयः। स्वयं परात्परो भगवान् विष्णुरनन्तसत्तोऽनन्तज्ञानोऽनन्तानन्दोऽनन्तगुणोऽनन्तविभूतिश्च कथमेकद्विरित्यादिसंख्यागोचरः स्यात् सर्वथा देशतः कालतो वस्तुतश्चापरिच्छेद्यः=अपरिमेय इति। अथ च संख्याः-समानप्रख्याः, समानज्ञाना भवन्ति,-अत एव समानप्रख्यावतां समूहः पञ्च, पञ्चायतनं वाभिधीयते। परन्तु यस्माद् भिन्नस्तत्समानप्रख्यः कश्चित् स्यादेव न तत्राभिधेयार्थाभावे संख्यातीते संख्या न प्रवर्तते। एकशब्दस्त्वौत्सर्गिकत्वाद् व्यवहारार्थं प्रयुज्यत एव, तथा चैकमात्रके सर्वव्यापकेऽसंख्येये विष्णौ संयोगवियोगौ गुणनविभजने च न युज्येतेऽतोऽसंख्येय उक्तो भवति भगवान्। व्यवहारार्थमेकशब्दप्रयोगस्तु बहुत्र ब्रह्मणि यथा—

"एको विश्वस्य भुवनस्य राजा" ॥ (ऋग्०६६-३३-४)
"दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः"
(अथर्व० २-२०-१)

"एको दाधार भुवनानि विश्वा" । (ऋक्-१-१५४-४)
"य एक इत्तमु ष्टुहि" । (ऋक्-६-४५-१६)

सम्पूर्वक अदादिगण पठित प्रकथनार्थक ख्या धातु से यद्वा आर्धधातुक विषय में चक्षिङ् को ख्याञ् आदेश होने पर "अचो यत्" पा० ३।१।९७ सूत्र से यत् और यत् परे रहते "ईद्यति" पा० ६।४।६५ सूत्र से आकार को ईत् और गुण करने से संख्येय पद सिद्ध होता है। न संख्येय इस नञ्तत्पुरुष समास करने से असंख्येय पद सिद्ध होता है। असंख्येय पद का अर्थ है, जो संख्या का विषय न हो, अर्थात् परात्पर अनन्तसत्तावाले अनन्तज्ञानवाले अनन्त आनन्द वाले अनन्त गुणों वाले तथा अनन्त विभूति वाले विष्णु का कोई स्वरूपभूत गुण, धर्म, विभूति, आदि संख्या का विषय नहीं अर्थात् गणना में नहीं आ सकता, इसलिये भगवान् का नाम असंख्येय है। एक दो तीन आदि संख्या से देश से काल से तथा वस्तु से उसका परिच्छेद (मान) नहीं हो सकता इसलिये वह अपरिमेय है। संख्या नाम समान प्रसिद्धि वाले वा समान ज्ञानवालों को भी कहते हैं, इसीलिये समान ख्याति वाले वा समान ज्ञान वालों के समूह को पञ्च वा पञ्चायतन कहते हैं। किन्तु जिसके समान ख्यातिमान् ज्ञानवान् दूसरा कोई है ही नहीं वहां अभिधेयार्थ=वाच्यार्थ न होने से संख्यातीत में संख्या की प्रवृत्ति नहीं होती। एक शब्द का प्रयोग व्यवहार के लिये स्वभाव से ही होता है। इस प्रकार से एकमात्र सर्वव्यापक असंख्येय विष्णु में संयोग वियोगादि लौकिक गुण धर्म नहीं हैं इसलिये उसको असंख्येय कहा है। एक शब्द का प्रयोग तो व्यवहार के लिये वेद में बहुत स्थानों में आता है, जैसे "एको विश्वस्य भुवनस्य राजा" ऋ० "दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव" अथर्व "एको दाधार भुवनानि विश्वा" ऋक् "य एक इत्तमु ष्टुहि"।

"एको विभुरतिथिर्जनानाम्" । (ऋक्-७-२१-१)
"यो देवानां नामधा एक एव" (अथर्व-२-१-३)

ब्रह्मणि संख्या न प्रवर्तत इति दार्ढ्येन समर्थयति वेदः—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । १६ ।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते । १७ ।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते । १८ ।
स एष एकवृदेक एव । (अथर्व-१३-४-२०)

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुस्त्वसंख्येयपदेन वाच्यो, विश्वं प्रशास्त्येकरसेन वर्त्मना ।
न तत्समः कोऽपि च दृष्टपूर्वस्तस्मान्न संख्याविषयोऽस्ति विष्णुः ॥ ३२४ ॥

एकरसेन वर्त्मना=परिवर्तितुमशक्येन वेदेनेत्यर्थः । एतद्व्याख्यानेनैव ९१ एक-नवतितमश्लोकोक्तं पञ्चविंशत्युत्तरं सप्तशततममेक इति नाम व्याख्यातं भवति, तथा षोडशोत्तरशततमश्लोकोक्तं पञ्चषष्ट्युत्तरं नवशततममेकात्मेति नाम च व्याख्यातं भवति । आत्मशब्दः स्वरूपवचनः । एकात्मा=एकस्वरूप इत्यर्थः ।

अथापि चैकनवतितमत्रिषष्टितमद्विचत्वारिंशत्तमेषु श्लोकेषूक्तानि षड्विंशत्यु-त्तरसप्तशततमाष्टषष्ट्युत्तरचतुश्शततमद्व्युत्तरत्रिशततमानि नैक नैकात्मनैकमाय-नामानि च व्याख्यातानि भवन्ति । एषां मन्त्रलिङ्गानि च—

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
स धाता स विधर्ता स उ वायु नेम उच्छ्रितम् । ३ । (ऋ०-१-१६४-४६)
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः । ४ ।

ऋक् "एको विभुरतिथिर्जनानाम्" ऋक् इत्यादि में । ब्रह्म में संख्या की प्रवृत्ति नहीं है, इस का वेद दृढता से समर्थन करता है जैसे– 'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते—नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते" 'स एष एकवृदेक एव" इत्यादि अथर्व ।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा संक्षेप से इस प्रकार व्यक्त करता है—

असंख्येय पद भगवान् विष्णु का वाचक है, वह इस विश्व का शासन एक ही रूप से करता आरहा है, तथा उसके समान कोई दूसरा सुनने या देखने में नहीं आया, इसलिये भगवान् संख्येय या संख्या का विषय नहीं है । एकरस वर्त्म=वेद का नाम है क्योंकि यह कभी बदलता नहीं । इस नाम के व्याख्यान से ही ९१ श्लोक में कहा हुआ ७२५ वां एक यह नाम व्याख्यात हो जाता है, तथा ११६ वें श्लोक का ९६५ वां एकात्मक नाम भी व्याख्यात हो जाता है । आत्मा शब्द स्वरूप का वाचक है । एकात्मा=एक स्वरूप । इसी प्रकार—९१ ६३-४२-संख्यक श्लोकों में कहे हुये ७२६—४६८—तथा ३०२ नैक, नैकात्मक नैकमाय, नाम भी व्याख्यात हो जाते हैं । "इन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि ऋक् । "स धाता स विधर्ता स उ वायु नेम उच्छ्रितम् इत्यादि अथर्व, तथा तदेवाग्निस्तदादित्य इत्यादि यजु० इन

सोऽग्निः स सूर्यः स उ महायमः ।५। (अथर्व-१३-४ तः ५)
"तदेवाग्निस्तादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः । (यजुः-३२-१)

वस्तुत एक एवात्मा कर्मभेदात्, शक्तिभेदाच्च बहुधा गीयते, यतः कर्मभेदान्नाम-भेदोऽस्ति ततश्चैतेन नैककर्मकृदिति त्रिषष्टितमश्लोकोक्तमेकोनसप्तत्युत्तर चतुः-शततमन्नाम व्याख्यातं भवति । भवति चात्रास्माकम्—

नैकात्मा नैकमायश्च नैकरूपोऽथ नैककः ।
एकात्मैकश्च नामानि व्याख्यातानि प्रसङ्गतः ॥ ३२५ ॥

अप्रमेयात्मा—२४८

प्रमाणैः प्रमातुमशक्योऽप्रमेयः । आत्मा स्वरूपवचनः । अप्रमेय आत्मा स्वरूप-मस्यास्तीत्यप्रमेयात्मा । अप्रमेय इति नामव्याख्याने विशेषमुक्तं तत्र द्रष्टव्यम् । नामसंख्या—४६, श्लोके १९ एकोनविंशतितमे । लोकोदाहरणं यथा—यावत् प्रमाता प्रमेयाद् भिन्नो न भवति तावन्नासौ प्रमाणैः प्रमेयं प्रमातुं शक्नोति, तद्यथा—जलस्थः कश्चित्— स्वयं जलमयः सन् जलरूपेण मेयेन जलं महाजलाशयं वा मातुं न शक्तो भवतीत्यमुथैव न हि ब्रह्मतो भिन्नं तत् किंचिन्मात्रमप्यस्ति यत्र तद् ब्रह्म न स्यात् । अतः प्रमाणानां तत्राशक्यत्वमुक्तं भवति ।

भवति चात्रास्माकम्—

नामों के क्रम से मन्त्रलिङ्ग हैं ।

वस्तुतः तो एक ही आत्मा कर्म भेद तथा शक्ति भेद से बहुत प्रकार से गाया जाता है, जैसे कि कर्म भेद से नाम भेद है, इसलिये इसी प्रकार से ६३ वें श्लोक में कहा हुआ ४६९ वां नाम व्याख्यात हो जाता है । इस भाव को भाष्यकार इस प्रकार व्यक्त करता है—प्रसङ्ग वश नैकात्मा, नैकमाय, नैकरूप, नैकक, नैकात्मा नामों का भी व्याख्यान हो चुका है ।

अप्रमेयात्मा—२४२

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो न जाना जा सके, अर्थात् जो किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है उसका नाम है अप्रमेय । आत्मा नाम स्वरूप का है, इस प्रकार से प्रमाणों का विषय नहीं है स्वरूप जिसका उसका नाम हुआ अप्रमेयात्मा । इस नाम की कथनीय विशेषतायें अप्रमेय नाम जो कि श्लोक १९ में ४६ वां है, उस में देखनी चाहियें । लौकिक उदाहरण जैसे—स्वयं जल जल के द्वारा किसी महाजलाशय स्थित जल का मान (माप) नहीं कर सकता, क्योंकि प्रमाता प्रमाणों के द्वारा किसी वस्तु का मान वा ज्ञान तब ही कर सकता है, जबकि प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय तीनों भिन्न भिन्न हों, किन्तु ब्रह्म से अतिरिक्त प्रमाता-प्रमाण या प्रमेय कोई वस्तु है ही नहीं । इसीलिये उसको प्रमाणों का अविषय अर्थात् अप्रमेय कहा है । इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा संक्षेप से यों व्यक्त करता है—

को वा स्वयं स्वेन निजात्मकं वा प्रमाणमात्रैः प्रभवेत् प्रमातुम् ।
अतोऽप्रमेयात्मपदेन विष्णुः सनातनः सर्वगतो ह बोध्यः ॥ ३२६ ॥

छन्दोभेदेन भवतः पुनरस्माकम्—

जलं जलं जलेनैव मातुं नार्हति कर्हिचित् ।
मातृमेयप्रमाणानां यावत् सत्ता पृथङ् न स्यात् ॥ ३२७ ॥
न तद् दृश्यं न तच्छ्रव्यं विष्णुर्यत्र न विद्यते ।
अप्रमेयस्वरूपोऽतः परमात्मात्र गीयते ॥ ३२८ ॥

विशिष्टः—२४६

शिष्लृ विशेषणे, रौधादिकः । सर्वं व्यश्नुवानस्य भगवतो विष्णोर्महिमा विविधविशेषणानुस्यूता गीयतेऽतो विशिष्टो विष्णुरुच्यते । मन्त्रलिंगं च—

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि—बृहद्भानो ! यविष्ठ्य ! (ऋग्-१-३६-१५)

इति द्वे संबोधने ।

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किंचनारे महार्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

(ऋग्-१०-११२-९)

कोई भी अपने द्वारा अपने आप को स्वात्मरूप प्रमाण का विषय नहीं बना सकता, अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय प्रमेय होता है। प्रमाण का विषय या प्रमेय बनाने के लिये प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय ये तीनों भिन्न भिन्न होने चाहियें, किन्तु उस परब्रह्म से भिन्न कोई प्रमाता या प्रमाण है ही नहीं; जिसका प्रमेय हो सके, इसलिये वह अप्रमेयस्वरूप है, तथा सनातन और सर्वगत है।

जैसे जल जल के द्वारा जल का मान नहीं कर सकता, क्योंकि वह त्रिरूप एक ही है, अर्थात् वह स्वयं ही प्रमाता प्रमाण तथा प्रमेय रूप है। ऐसा कोई श्रव्य या दृश्य पदार्थ नहीं है, जहां विष्णु न हो, इसलिये भगवान् का नाम अप्रमेयात्मा है।

विशिष्टः—

शिष्लृ विशेषणे, यह विपूर्वक रौधादिक धातु है। सर्वत्र व्याप्त भगवान् विष्णु, जगत् के नाना प्रकार के पदार्थरूप विशेषणों से युक्त होने से विशिष्ट नाम से कहा जाता है, अर्थात् विविध प्रकार के विशेषणों से विशिष्ट भगवान् की महिमा का गान लोक में होता है, इसलिये भगवान् विष्णु का नाम विशिष्ट है।

इस भावार्थ को पुष्ट करनेवाले "पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि नो—बृहद्भानो यविष्ठ्य" ऋक्-१।३६।१५। इस मन्त्र में दो विशेषण हैं, बृहद्भानु और यविष्ठ्य।

तथा "नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् इत्यादि ऋक्-१०।११२।९।

इत्यादिनिदर्शनमात्रमुक्तम् ।

लोकेऽपि च पश्यामः—विशिष्टशक्तिमन्तमर्थिनो बहुविधविशेषणैः स्तुवन्ति योऽयं बहुविधविशेषणविशिष्टप्रयोगोदयः स एतस्यैव भगवतो विशिष्टेति नाम्न एवान्वाख्यानमात्रम् । एवं बहुविधमनुष्योपकारक्रियाकलापसाधकैर्ज्ञानविज्ञानवर्त्मभिरेक एव बहुधा गीयते, तद्यथा—एक एव निम्बो विविधकार्यसाधकः सन् विविधगुणेन तत्त्वज्ञाननिष्णातैर्गीयते । एवं बहुविधमूहानामूहितव्यं भवति लोकं दृष्ट्वा । लोक एव वास्तविकं व्याख्यानं भगवतो विज्ञानस्य ।

भवति चात्रास्माकम्—

> बहुत्र वेदेषु स एक एव विशेषणैर्गीत इहास्त्यनेकैः ।
> लोकेऽर्थिनो ज्ञानधनाप्तमर्थ्यं स्तुवन्त्यलंकारशतैरनुक्षणम् ॥ ३२९ ॥

अलंकारशतैः=विविधविशेषणैरिति ।

शिष्टकृत्—२५०

शासु अनुशिष्टौ आदादिकः, तस्मात् क्त-प्रत्यये शास इदङ्हलोः (पा०६-४-३४) इत्यनेन हलादौ क्ङिति शास उपधाया इत्वम्, तेन शिष्ट इति शब्दः साधुर्भवति । शिष्टं प्रवाहतोऽनुशासितं जगत् करोतीति शिष्टकृद् विष्णुरुक्तो भवति । प्रति प्राणि-

---

मन्त्र मिलते हैं । यहां केवल उदाहरण मात्र दिखाना है । लोक में भी हम देखते हैं, विशेष शक्तिशाली पुरुष की दूसरे प्रार्थी या साधारण जन बहुत प्रकार के विशेषणों से युक्त करके स्तुति करते हैं, इस प्रकार जो विशेषण विशिष्ट वाक्यों का प्रयोग करना है, यह सब भगवान् विशिष्ट का ही व्याख्यान या अनुकरण करना है । इस प्रकार प्राणी या मनुष्य वर्ग के उपकारी क्रिया समूह के साधक ज्ञान विज्ञान रूप मार्गों से उस एक भगवान् का ही बहुत प्रकार से गान किया जाता है । जैसे एक ही निम्ब वृक्ष को, उसके गुणों को जानने वाले महापुरुष, बहुत कार्यों का साधक बतलाते हुये उसके गुणों का गान करते हैं . इस प्रकार लोक को देखकर बहुत प्रकार के उदाहरणों की कल्पना करनी चाहिये क्योंकि भगवान् के विज्ञान का वास्तविक व्याख्यान लोक ही है । इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

वेदों में स्थान स्थान पर भगवान् विष्णु की बहुत प्रकार के विशेषणों से विशिष्ट करके स्तुति की गई है । इसलिये उसका नाम विशिष्ट है । लोक में भी अर्थिजन, ज्ञानरूप धन अथवा ज्ञान और धन से युक्त पुरुष की अलङ्कारशत=विविध विशेषणों से युक्त करके स्तुति करते हैं ।

शिष्टकृत्—२५०

अनुशासनार्थक अदादिगणपठित शासु धातु से क्त प्रत्यय तथा "शास इदङ्हलोः" पा०सूत्र से उपधा को इत्व करने से शिष्ट शब्द सिद्ध होता है । उस शिष्ट=प्रवाह रूप से अनुशासन युक्त जगत् को जो करता है उसका नाम शिष्टकृत् है भगवान् विष्णु का नाम है । प्रत्येक प्राणी

जन्मत एव स्वयं सिद्धं ज्ञानमनुनयन् जन्म लभते, इति तत्त्वविदां निश्चितकरणोयम्। मनुष्यमन्तरा प्रायशः सर्वे एव प्राणिनः स्वतः (जन्मतः) प्राप्तेन ज्ञानेनैव कार्यं प्रवहन्ति। तत्र मनुष्योऽपि स्वय मनुष्यं ज्ञानगुणेनानुवृद्धं कुरुते पशून् पक्षिणश्च योऽयं ज्ञानक्रमः स कुत आयात इति जिज्ञासायां वक्तव्यं भवति यच्छिष्टकृता भगवता सर्वं चतुर्विधयोनिमयं विश्वं प्रवाहतोऽनुशासनानुस्यूतं यथापूर्वं व्यवस्थाप्यते। अत्रेदं ज्ञातव्यं यत् स्वल्पज्ञानवता जीवेन योन्यन्तरमवाप्नुवता भिन्नं भिन्नं ज्ञानं स्वभावोदयेनैव स्व स्व क्रियासाधनाय व्यवह्रियतेऽतोऽवश्यं वक्तव्यं भवति यत् शिष्टं करोतीति शिष्टकृत् स इति। भवतश्चात्रास्माकम्—

स्वल्पान्तरैर्विश्वमिदं विभिन्नं यद्यौनभेदैश्च विभूषितं यत्।
प्रवाहतः शिष्टमिदं समस्तं स शिष्टकृत् तत् कुरुतेऽप्रकम्प्यम्॥ ३३०॥
प्रवाहतोऽशेषधरेण वीणाः सूर्यादयो यान्ति विना प्रमादम्।
न नूतनं शास्ति न कार्यजातं शिष्टानुशिष्टं विधिवद् विधत्ते॥ ३३१॥

वीणाः=भ्रमणाय वेगीकृताः। योनीनां समूहो बहुत्वं वा यौनम्। अप्रकम्प्यम्=अन्यथाकर्तुमशक्यम्।

तद्यथा लोके पश्यामः—वानराणां युद्धम्। वानराणां निर्विषीकरणे बुद्धिवैभवं स्वकस्य भोज्यस्य पदार्थस्य विषये। एकदा १९९१ वैक्रमाब्दे स्नानार्थमक्षयतृतीयायां

प्राणी अपने स्वभावसिद्ध ज्ञान से युक्त ही जन्म लेता है, यह तत्वविदों का निर्णय है। एक मनुष्य वर्ग को छोड़कर और सब पशु आदि प्राणिवर्ग अपने जन्मानुगत ज्ञान से ही यथोचित कार्य करता है। मनुष्य-मनुष्य पशु तथा पक्षी आदिकों को अपने ज्ञान से शिक्षित करता है। यदि पूछा जाये कि यह ज्ञानक्रम कहां से आया तो कहना पड़ेगा कि भगवान् शिष्टकृत् ही इस चतुर्विध योनिमय विश्व को पहले के समान अनुशासन युक्त व्यवस्थित करता है। यहां यह जानने योग्य है कि स्वल्पज्ञानी जीव जब दूसरी योनि को प्राप्त करता है, तब वह वहां अपनी क्रियाओं को सिद्ध करने के लिये, स्वभाव सिद्ध ज्ञान से ही भिन्न भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। इसलिये कहना पड़ता है भगवान् शिष्टकृत् है, क्योंकि वह इस शिष्ट जगत् को बनाता है।

भाष्यकार अपने पद्य से इस भाव को इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् अशेषधर=सर्वाधार शिष्टकृत् के द्वारा वेगयुक्त किये सूर्य आदि ग्रह प्रवाह रूप से बिना प्रमाद के चल रहे हैं, किसी नवीन कार्यसमूह का अनुशासन नहीं हो रहा है, किन्तु यथापूर्व शिष्ट का ही विधान हो रहा है। अनेक प्रकार के योनि भेदों से भिन्न तथा एक योनि में भी कुछ कुछ आकार भेदों से विभूषित इस अनादि परम्परा प्रवाह से अविचल रूप से चलते हुवे इस शिष्ट विश्व को बनानेवाले भगवान् विष्णु का नाम शिष्टकृत् है। तथा वह इस विश्व को पहले से शिष्ट ही बनाता है। उस शिष्टकृत् का विश्व सम्बन्धी अनुशासन लोक में प्रत्यक्ष दीखता है, जैसे वानरों का लड़ना, तथा उनका अपने भोजन को निर्विष करने में बुद्धि चातुर्य। वानरों का अपनी खाद्य वस्तु के निर्विषीकरण में चातुर्य मैंने संवत् १९९१ में तीर्थ स्थान के

गतेन मया प्रत्यक्षं पश्यद्भ्यः श्रुतं यत् बकासुरस्थाने, 'बकसर' इति नाम्ना साम्प्रतं प्रसिद्ध तीर्थे तत्रत्यैर्वानरेभ्यो विविधं दुःखं प्राप्तवद्भिस्तेषां वानराणां मारणाय तेषां कृते निर्मिते क्षीरे विषं संमिश्रितं. क्षीरं च तत् खारीमितमासीत्, तत्र वानरास्तत् क्षीरं घ्रायं घ्रायं त्यजन्ति स्म, तत्रैको वानरो झटिति वनं गत्वा कंचित् काष्ठमानीतवांश्च तत् काष्ठं वानरैर्भित्वा तस्मिन् क्षीरे तावत्कालं निर्वापितं यावत् तन्निर्विषतामुपगतं. पुनः पुनः निर्वापणं कर्म त्यजद्भिस्तैर्वानरैस्तन्नासया घ्रायते स्म, निर्विषे जाते वृद्धवानरेणानुशिष्टैस्तैस्तद् भोज्यं पश्यत्स्वेव जनेषु भुक्तम्। विस्मयचकिताश्च दर्शका अभूवन्। अतो ज्ञायते शिष्टान् करोतीति शिष्टकृत् स्वकेन शिष्टकृद्धर्मेण सकलं विश्वं व्यश्नुवान एवास्ते।

वयो नामा पक्षी स्वनीडनिर्माणे लब्धकीर्तिक एव श्रूयतेतराम्। अन्यच्च श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते। मन्त्रलिंगं च—

यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभिक्रन्द प्रत्रासयाथो चित्तानि मोहय॥
(अथर्व ५-२१-६)

पशवो विविधा ओषधीः स्वत एव जानन्ति। मन्त्रं च यथा—

लिये बक्सर में गये हुए वहां के प्रत्यक्ष द्रष्टाओं से सुना, जो इस प्रकार है—

वहां के वानर वहां रहनेवालों को बहुत कष्ट देते थे, एक बार उन सब ने उन वानरों को मारने का विचार किया, इसलिये उन वानरों को खिलाने के लिये खीर बनवाई और उस में विष मिला दिया, खीर खारी दूध=४८ सेर दूध की थी। जब यह खीर वानरों के सामने रक्खी तब वानरों ने उसे सूंघ सूंघ कर छोड़ दिया उन में से एक वृद्ध वानर वन में गया और वहां से एक लकड़ी लाया, उस लकड़ी को तोड़ कर उस खीर में डाल दिया और तब तक उस में रक्खा जब तक उस में विष रहा, बीच बीच में वे सूंघ कर विष का पता लगाते थे, निर्विष होने पर वृद्ध वानर से अनुशासन पाकर सब लोगों के देखते २ उस खीर को खा गये। वहां पर जो दर्शक थे उन को बहुत आश्चर्य हुआ। इस प्रकार इस शिष्ट विश्व को बनानेवाला भगवान् अपने शिष्टस्वरूप धर्म से सकल विश्व में व्याप्त है। एक वैया नाम का पक्षी अपना घोंसला बनाने में बड़ा चतुर है। तथा सब ही पक्षी श्येन=बाज से डरते है, क्योंकि भागवत अनुशासन ही ऐसा है।

जैसा कि— 'यथा श्येनाद् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा'' इत्यादि अथर्व–५।२१।६। मन्त्र से प्रकट होता है।

पशु स्वत एव बहुत प्रकार की औषधियों को जानते हैं, जैसा की ''वराहो वेद वीरुधं

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥
याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः ।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥
यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥

अथर्व-८।७।२३ ल: २५ ॥

इत्यादि निदर्शनमात्रमुक्तं शिष्टकृतः शिष्टकृत्त्वं विज्ञापनाय । लोकं दृष्ट्वा विविधमुदाहरणानामूहितव्यं भवति. लोक एव वास्तविकं व्याख्यानं भगवतो विज्ञानस्य ।

इति महाभारतानुशासनपर्वान्तर्गतस्य (अ० १४९)
विष्णुसहस्रनामस्तोत्रस्य वेदप्रमाणोपबृंहितस्य
लोकोदाहरणैश्च सम्पुष्टस्य श्री १०८
पण्डितसत्यदेववासिष्ठोपज्ञ —
सत्यभाष्यस्य प्रथमो भागः ।

नकुली वेद भेषजीम्, सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे" इत्यादि अथर्व ८-७-२३ से २५ तक के मन्त्र कहते हैं।

यह शिष्टकृत् के शिष्टकृत्त्व के बोध के लिये केवल उदाहरण मात्र हमने दिखाया है। और उदाहरणों की लोकानुसार कल्पना कर लेनी चाहिये, लोक ही वेद का वास्तविक व्याख्यान है।

महाभारत अनुशासन पर्व (अध्याय १४९) अन्तर्गत भीष्म युधिष्ठिर संवादात्मक विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र के वेद प्रमाणोपबृंहित लोकोदाहरसम्पुष्ट सत्यभाष्य का प्रथम भाग (१ से २५० नाम तक) पूर्ण हुआ।

लेखक की रचनायें

१. नाडीतत्त्वदर्शनम् १०.००

२. सत्याग्रहनीतिकाव्यम् २.५०

३. विष्णुसहस्रनामसत्यभाष्यम् १ भाग १२.५०

प्राप्ति स्थान---

१. सत्यदेव वासिष्ठ, देवसदन, महममार्ग भिवानी, जि० हिसार (हरयाणा)

२. दिव्यौषध भण्डार, रेलवे रोड भिवानी, जिला हिसार (हरयाणा)

३. आचार्य प्रिंटिंग प्रेस, दयानन्दमठ, गोहाना मार्ग रोहतक। फोन ५७४

४. नाथ पुस्तक भण्डार, रेलवे रोड, रोहत